रस-सिद्धान्त और सौन्दर्यशास्त्र

रस-सिद्धान्त और सौन्दर्यशास्त्र

तुलनात्मक विश्लेषण

निर्मला जैन

एम. ए., पी-एच. डी.

अध्यक्ष, हिन्दी-विभाग

लेडी श्रीराम कालिज, नई दिल्ली

नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली-७

वी० एस० के नाम

भूमिका

यह निबंध 'तुलनात्मक सौन्दर्यशास्त्र' की दिशा में अनुसंधान का एक विनम्र प्रयास है, जिसमें रस-सिद्धान्त को आधार मानकर प्राच्य एव पाश्चात्य प्रमुख सौन्दर्यशास्त्रीय अवधारणाओं की तुलनात्मक समीक्षा प्रस्तुत की गई है।

एक स्वतंत्र शास्त्रीय अनुशासन-पद्धति के रूप में 'तुलनात्मक सौन्दर्यशास्त्र' कला-चिन्तन के इतिहास में नवीन घटना है। अभी तक प्राच्य एव पाश्चात्य कला-सिद्धान्तों के तुलनात्मक अध्ययन की दिशा में जो कार्य होता रहा है, उसका संबंध बहुत-कुछ प्राच्य विद्या-विषयक ऐतिहासिक अनुसंधान के क्षेत्र तक ही सीमित था। कला एवं काव्य के सैद्धान्तिक प्रश्नों का तात्त्विक विवेचन करनेवाले सौन्दर्यशास्त्री और साहित्य-समीक्षक या तो इस ओर से उदासीन रहे या फ़िर इस प्रकार के कार्यों के प्रति उनकी रुचि बहुत-कुछ पुरातात्त्विक ही रही। पश्चिम के मनीषी बहुत दिनों तक पाश्चात्य कला-चिन्तन को पर्याप्त समझकर उसकी सार्वभौम वैधता के संबध में प्राय: संतुष्ट और आश्वस्त रहे। किन्तु इधर कुछ वर्षों से पाश्चात्य कला-सिद्धान्तों की सार्वभौमिकता स्वयं पश्चिमी विचारकों की दृष्टि में संदिग्ध हो उठी है और कला एवं काव्य के तत्त्वान्वेषी यह अनुभव करने लगे है कि प्राच्य कला-चिन्तन को अपनी परिव्याप्ति में सम्मिलित किए बिना पाश्चात्य सौन्दर्यशास्त्र सार्वभौमिकता की दिशा में अग्रसर नही हो सकता। उदाहरण के लिए, 'टाइम्स लिटररी सप्लिमेंट' के २६ जुलाई, १९६३ ई० के 'द क्रिटिकल मोमेंट' नामक विशेषाक में विख्यात साहित्यशास्त्री रेने वेलेक ने इसी दृष्टि से 'तुलनात्मक काव्यशास्त्र' की आवश्यकता पर बल देते हुए उसकी परिव्याप्ति मे पूर्व को भी सम्मिलित करने का प्रस्ताव किया है; और सुप्रसिद्ध सौन्दर्यशास्त्री टामस मुनरो का सद्य:प्रकाशित ग्रंथ 'ओरिएंटल एस्थेटिक्स' (१९६५ ई०) सौन्दर्यशास्त्र के क्षेत्र में उसी आकांक्षा का विस्तार है। ऐसी स्थिति में यह आवश्यक है कि इस सहयोगी प्रयास में भारतीय दृष्टि से भी तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया जाए। 'रस-सिद्धान्त और सौन्दर्यशास्त्र' इसी आकांक्षा को मूर्त रूप देने का प्रयास है।

सर्वप्रथम प्रस्तुत विषय का स्पष्टीकरण। 'रस-सिद्धान्त और सौन्दर्यशास्त्र' में दोनों तुलनीय घटक किंचित् व्याख्यासापेक्ष्य हैं। सामान्यत: रस-सिद्धान्त भी भारतीय मनीषा द्वारा निर्मित और विकसित सौन्दर्यशास्त्र ही है, जिसमें नाट्य के व्याज से काव्य, संगीत, नृत्य, चित्र, वस्तु आदि सभी कलाओं से संबंधित आधारभूत तत्त्वों का निरूपण किया गया है, किन्तु अन्तत: इसका चरम विकास मुख्य रूप से काव्य के ही संदर्भ में हुआ। दूसरी ओर पाश्चात्य चिंतन के अंतर्गत एक स्वतंत्र शास्त्र के रूप में सौन्दर्यशास्त्र का विकास होने के कारण, अपने वर्तमान अर्थ में वह पश्चिम के साथ ही अनु-

प्रगत संबद्ध हो गया है इसलिए व्यवहार में सौन्दर्यशास्त्र का अर्थ पाश्चात्य सौन्दर्य शास्त्र ही लिया जाता है। इस दृष्टि से विवेचन की स्पष्टता के लिए 'सौन्दर्यशास्त्र' को पश्चिम तक ही सीमित रखना उचित प्रतीत होता है। रस सिद्धान्त और सौन्दर्य-शास्त्र के इस पारिभाषिक अन्तर को स्वीकार करने से दोनों चिंतन परंपराओं की पारिभाषिक शब्दावली की समस्या भी बहुत कुछ सुलझ जाती है। सौन्दर्यशास्त्रीय अवधारणाएँ कलामात्र के संदर्भ में निर्मित होने के कारण स्वाभाविक रूप से समस्त कलाओं से संबद्ध होने का आभास देती हैं जबकि रसशास्त्रीय अवधारणाएँ प्रायः काव्य शास्त्र शब्दावली में ही निरूपित हुई हैं। विवेचन-क्रम में मैंने दोनों परंपराओं की पारिभाषिक शब्दावली की पृथकता को सुरक्षित रखते हुए अंत में तुलनात्मक निष्कर्ष के समय उभयनिष्ठ तत्त्व के रूप में रसशास्त्रीय काव्यबोधक शब्दावली को ही आधार बनाया है जैसे काव्यास्वाद के संदर्भ में रस सिद्धान्त का पक्ष 'रसानुभूति' के नाम से प्रस्तुत किया गया है तो सौन्दर्यशास्त्र का पक्ष 'सौन्दर्यानुभूति' के नाम से परन्तु तुलनात्मक निष्कर्ष 'काव्यानुभूति' संज्ञा के अंतर्गत निकाला गया, इसलिए स्वभावतः संपूर्ण प्रसंग के लिए काव्यानुभूति संज्ञा ही ग्रहण की गई है। कहना अनावश्यक है कि आद्योपान्त यही विवेचन पद्धति अपनाई गई है।

विवेचन-पद्धति की दृष्टि से यह निबंध अब तक तुलनात्मक सौन्दर्यशास्त्र की दिशा में किए गए प्रयत्नों से भिन्न है। यहाँ न तो इसी बात का आग्रह किया गया है कि प्रत्येक पाश्चात्य मान्यता अपने यहाँ भी पहले ही से प्राप्त है और न संस्कृत काव्य शास्त्रीय अवधारणाओं को पाश्चात्य चिन्तन की शब्दावली में प्रस्तुत करके उन्हें आधुनिक प्रमाणित करने का उत्साह प्रदर्शित किया गया है। यथाशक्ति इस द्विविध लोभ का संवरण करके दोनों चिंतन परंपराओं की निजी विशेषताओं की रक्षा करते हुए उन्हें यथावत प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है। इस प्रकार युक्ति कल्पना की अपेक्षा तथ्य चयन एवं वस्तु निरूपण पर ही दृष्टि केन्द्रित की गई है।

विवेच्य वस्तु के रूप में रस सिद्धान्त के जिस स्वरूप को प्रस्तुत निबंध में आधार बनाया गया है वह भी सामान्यतः प्रचलित रूप से कुछ भिन्न है। अध्येताओं ने अब तक रस सिद्धान्त को प्रायः सहृदयनिष्ठ रसानुभूति के रूप में स्वीकार करके आस्वाद्य काव्यकृति एवं उसकी सृजन प्रक्रिया की उपेक्षा की है जबकि तथ्य यह है कि भरत से जगन्नाथ तक विकास क्रम में रस सिद्धान्त एक समग्र-संपूर्ण काव्य सिद्धान्त के रूप में निर्मित हुआ जिसमें काव्य की सृजन प्रक्रिया से लेकर काव्यकृति के स्वरूप तथा काव्यास्वाद तक के सभी पक्षों का विवेचन सुलभ है। यहाँ रस सिद्धान्त के इसी व्यापक स्वरूप का ग्रहण कर उसका पुनर्निर्माण किया गया है।

विवेचन को व्यवस्थित रूप देने के लिए क्रमशः काव्यानुभूति से आरंभ करके काव्यकृति के स्वरूप का निरूपण करते हुए अंत में काव्य सृजन की प्रक्रिया का विश्लेषण किया गया है। इस योजना के औचित्य के संबंध में कदाचित इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि विवेचक के लिए सर्वप्रथम सहृदयनिष्ठ अनुभूति ही अध्ययन सामग्री के रूप में सुलभ होती है। सहृदय अपनी अनुभूति का विश्लेषण करने के उपरान्त स्वभावतः उस काव्यकृति के स्वरूप को जानने के लिए समुत्सुक होता है जो वस्तुगत सत्ता के रूप

में उसमे अनुभूति उत्पन्न करने मे समर्थ होती है। काव्यकृति के वस्तुगत स्वरूप को जान लेने के उपरान्त सहृदय का जिज्ञासु मन सहज ही उसके स्रष्टा कृतिकार के मनोगत अभिप्रायों को जानने की दिशा मे अग्रसर होता है और इस प्रयत्न मे वह प्रायः अपनी प्रतिक्रिया को कवि के मूल भाव के सान्निध्य में रखकर, दोनों के बीच साम्य-वैषम्य को पहचानने का प्रयत्न करता है। सहृदय के इसी प्रयास की परिणति अन्ततः काव्य की सृजन-प्रक्रिया के विश्लेषण में होती है। काव्य-सृजन एवं निर्माण की प्रक्रिया, निश्चय ही, इसके सर्वथा विपरीत होती है; अर्थात पहले सृजन-प्रक्रिया, फिर काव्यकृति का निर्मित रूप और अंत मे इस निर्मित संपूर्ण कृति के आस्वाद की स्थिति; किन्तु विवेचन के लिए सहृदय की दृष्टि को स्वीकार करते हुए आस्वाद से क्रमशः सृजन की ओर अग्रसर होना ही अधिक समीचीन प्रतीत होता है। इसी दृष्टि से निबंध के अंतर्गत प्रथम खंड में काव्यानुभूति, द्वितीय खंड में काव्यकृति एवं तृतीय खंड मे काव्य-सृजन की योजना की गई है।

पाश्चात्य सौन्दर्यशास्त्र को इस निबंध में तुलना के लिए जिस रूप मे ग्रहण किया गया है, वह भी अब तक तुलनात्मक अध्ययन की दिशा में किए गए प्रयत्नों से कुछ भिन्न है। रस-सिद्धान्त की तुलना के लिए मुख्यतः पश्चिम की रोमाण्टिक और प्रत्ययवादी परंपरा के ही कला-सिद्धान्तों को प्रस्तुत किया जाता रहा है। संभवतः यह रस-सिद्धान्त की आत्मनिष्ठ समझ का अनिवार्य परिणाम था; क्योंकि रस-सिद्धान्त को सहृदयनिष्ठ रसानुभूति-मात्र समझनेवाले विचारकों ने पाश्चात्य सौन्दर्यशास्त्र के उन्ही सिद्धान्तों को प्रासगिक माना, जिनमें सौन्दर्यानुभूति को ही सौन्दर्यशास्त्र का मुख्य विषय स्वीकार किया गया था। किन्तु पाश्चात्य सौन्दर्यशास्त्र की नवीन प्रवृत्तियों एव साहित्य की नव्य-समीक्षा पर दृष्टिपात करने से स्पष्ट हो जाता है कि ये वस्तुनिष्ठ प्रवृत्तियाँ रस-सिद्धान्त के शास्त्रीय स्वरूप के साथ कही अधिक तुलनीय हैं। इस दृष्टि से रस-सिद्धान्त के वस्तुनिष्ठ पक्षों को उभारने के लिए पाश्चात्य सौन्दर्यशास्त्र के नवीनतम वस्तुनिष्ठ सिद्धान्तों को विशेष रूप से प्रस्तुत किया गया है, जो अब तक के तुलनात्मक अध्ययन की परंपरा को अग्रसर करने का प्रयास है।

अन्ततः प्रत्येक तुलना चयनधर्मी होने के लिए बाध्य है। सहस्राधिक वर्षों की दो महान चिन्तन परंपराओं को समस्त ब्योरे के साथ किसी एक तुलनात्मक विवेचन मे समेटना लगभग दुस्साध्य है। अधिक-से-अधिक पृथक-पृथक सांस्कृतिक संदर्भों का संकेत करते हुए केवल प्रमुख अवधारणाएँ ही तुलना के लिए चुनी जा सकती है। इस दृष्टि से यहाँ एक ओर मुख्यतः 'रस', 'अलौकिकता', 'आनन्द', 'शान्तरस', 'सहृदय', 'साधारणीकरण', 'शब्दार्थों का सहित-भाव', 'भाषा का व्यंजना-व्यापार', 'कवि-प्रतिभा' आदि अवधारणाओं पर गहराई से विचार किया गया है, तो दूसरी ओर पाश्चात्य सौन्दर्यशास्त्र से मुख्यतः 'ब्यूटी', 'फ़ॉर्म', 'केथारसिस', 'मिमेसिस', 'एस्थेटिक एक्स-पीरिएंस', 'बैलेंस ऑफ़ इमोशंस', 'एम्पेथी', 'साइकिकल डिस्टेंस', 'सेम्बलेंस', 'आर्गेनिक फ़ॉर्म', 'एफ़ेक्टिव फैलेसी', 'इंटेंशनल फ़ैलेसी', 'ऑब्जेक्टिव कोरिलेटिव', 'आइडियल रीडर', 'एक्सप्रेशन', 'इमैजिनेशन', 'इंट्यूशन', 'नेगेटिव केपेबिलिटी', 'इम्पर्सनैलिटी', 'क्रिएटिव प्रासेस' आदि अवधारणाओं को विवेचन के लिए चुना गया है। निश्चय ही ये

सभी अवधारणाएँ परस्पर सबद्ध हैं और इनके साथ एक निश्चित सास्कृतिक एव दार्शनिक सदर्भ जुड़ा हुआ है। सदर्भच्युत रूप में इनका तुलनात्मक उपयोग भ्रामक हो सकता है। इसलिए चयनवृत्ति अपनाते हुए भी प्रस्तुत निबन्ध में तुलना करते समय प्रत्येक अवधारणा से सबद्ध सदर्भ का भी यथास्थान निर्देश कर दिया गया है।

निस्सदेह पृथक् पृथक् रूप में इनमें से अधिकाश अवधारणाएँ अतिपरिचित हैं किन्तु नितान्त भिन्न एव परस्पर विरोधी प्रतीत होनेवाली इन अवधारणाओं को तुलना के रूप में परस्पर-सबद्ध करने के लिए सूत्र की आवश्यकता है। अब इसे नए तथ्यों का अनुसधान कहा जाए अथवा परिचित मान्यताओं की पुनर्व्याख्या एव अद्यतना इस प्रकार के अध्ययन में इससे अधिक दावा और क्या हो क्या सकता है। यदि विनम्रतापूर्वक काव्यप्रकाशकार के शब्द उधार लेकर कहूँ तो

इत्येष मार्गो विदुषा विभिन्नोऽप्यभिन्नरूप प्रतिभासते यत ।
न तद्विचित्र यदमुत्र सम्यग् विनिर्मिता सघटनैव हेतु ॥

वसन्त पचमी
१४ फरवरी १९६७

निर्मला जैन

आभार-स्वीकृति

प्रणत हूँ श्रद्धेय गुरुवर डॉ० नगेन्द्र के सम्मुख, जिन्होने विषय-चयन से लेकर प्रबन्ध की समाप्ति तक निरन्तर प्रेरणा, प्रोत्साहन और दिशा-निर्देश दिया।

कृतज्ञ हूँ प्रियवर अजित कुमार और उनकी पत्नी स्नेहमयी चौधरी के प्रति, जिनके सहयोग से यह पुस्तक यथासंभव शुद्ध रूप मे छप सकी।

आभारी हूँ बन्धुवर राजेन्द्र यादव और मन्नू भण्डारी के प्रति जिनके सत्प्रयास से ग्रन्थ की मुद्रण-व्यवस्था मे तत्परता सभव हो सकी।

धन्यवाद देती हूँ नेशनल पब्लिशिंग हाउस के सचालक श्री कन्हैयालाल मलिक को, प्रकाशन-भार वहन करने के लिए; और दुर्गा प्रिंटिंग वर्क्स, आगरा के संचालक श्री पुरुषोत्तमदास भार्गव को, त्वरित मुद्रण के लिए।

शुभाशसा व्यक्त करती हूँ अपनी प्रिय शिष्याओ डॉ० कुसुम अग्रवाल और कुमारी स्वर्णप्रभा के लिए, जिन्होने नामानुक्रमणिका आदि तैयार करने मे सहायता की।

विषय-सूची

मुखबंध

प्रथम खण्ड : काव्यानुभूति

द्वितीय खण्ड : काव्यकृति

तृतीय खण्ड : काव्य-सृजन

मुखबंध

- तुलनात्मक सौन्दर्यशास्त्र
- रस-चिन्तन का ऐतिहासिक विकास
- पाश्चात्य सौन्दर्यशास्त्र का विकास

१

तुलनात्मक सौन्दर्यशास्त्र

तुलनात्मक सौन्दर्यशास्त्र की दृष्टि से अमरीका मे 'जर्नल ऑफ एस्थेटिक्स एण्ड आर्ट क्रिटिसिज़्म' नामक पत्रिका के 'प्राच्य सौन्दर्यशास्त्र विशेषांक' (१६६५) का प्रकाशन ऐतिहासिक महत्त्व की घटना है। इससे आधुनिक सौन्दर्यशास्त्रियों की पूर्व और पश्चिम के कला संबंधी तुलनात्मक चिन्तन में बढ़ती हुई रुचि प्रमाणित होती है। विशेषांक के प्रथम निबंध 'ओरिएण्टल ट्रेडीशन्स इन एस्थेटिक्स' में पत्रिका के संस्थापक-सम्पादक, टॉमस मुनरो ने सौन्दर्यशास्त्र में और अधिक 'अन्तर्राष्ट्रीयता' के लिए अपील करते हुए कहा है कि "मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि अब से संसार के पूर्व या पश्चिम, किसी भी भाग में सौन्दर्य-शास्त्र का सामान्य इतिहास केवल अपने भूखंड में उत्पन्न होनेवाले विचारों तक स्वयं को सीमित नही रख सकता।" क्योंकि "कला के इतिहास को विश्वव्यापी सांस्कृतिक विकास के अंग-रूप में समझने की प्रवृत्ति पूर्व और पश्चिम दोनों में सौन्दर्यशास्त्र जैसे पिछड़े विषय मे भी प्रवेश करने लगी है।"

वस्तुतः जैसा कि टॉमस मुनरो ने स्वीकार किया है, सौन्दर्यशास्त्र अन्य प्राचीन शास्त्रों एवं विज्ञानों के समान विश्वव्यापी तत्त्वों के आधार पर अपने सामान्य सिद्धान्तों का निर्माण करने योग्य शास्त्र के रूप में पूर्णतः अन्तर्राष्ट्रीय कभी नही रहा। उन्नीसवीं शताब्दी को इतिहास मे तुलनात्मक विज्ञानो का युग कहा जाता है। यह ऐसा युग था जब यूरोप में तुलनात्मक भाषाविज्ञान, तुलनात्मक दर्शनशास्त्र तथा विश्व-संस्कृतियों का तुलनात्मक इतिहास जैसे विषयों का सूत्रपात हुआ। कहने के लिए विश्व-दर्शन का इतिहास लिखते समय यूरोपीय विद्वानों ने प्रसंगात् यत्र-तत्र कला-दर्शन की दो-एक समान मान्यताओं का भी उल्लेख कर दिया। हेगेल इस दृष्टि से कदाचित प्रथम यूरोपीय विचारक है, जिन्होंने विश्व-सभ्यता के दार्शनिक इतिहास में पौरस्त्य कला का भी उल्लेख किया है, किन्तु समुचित जानकारी के अभाव में यह उल्लेख तुलनात्मक सौन्दर्यशास्त्र का पथ प्रशस्त करने के स्थान पर आपसी गलतफ़हमी को ही अधिक बढ़ावा देता है।

इस दृष्टि से तुलनात्मक सौन्दर्यशास्त्र के विधिवत विकास का श्रेय बीसवीं शताब्दी को है। पूर्वी और पश्चिमी देशों में कला-चिन्तको के बीच परस्पर विचार-विनिमय को सुगम बनाने के लिए देसोइ ने १६१३ में 'कला के सामान्य विज्ञान और सौन्दर्यशास्त्र की प्रथम अन्तर्राष्ट्रीय कांग्रेस' की स्थापना की। प्रथम महायुद्ध के कारण यद्यपि उस कांग्रेस का कार्य कुछ वर्षो के लिए बाधित हो गया, फिर भी शान्ति स्थापित होने पर उस दिशा में प्रगति के प्रयास पुनः हुए।

द्वितीय महायुद्ध के बाद इस प्रकार के विचार-विनिमय के लिए और भी अनुकूल

वातावरण प्राप्त हुआ। पूर्व के भारत, चीन आदि अनेक देशों ने राजनीतिक स्वाधीनता प्राप्त करके अपने स्वतन्त्र व्यक्तित्व के साथ विश्व मंच पर प्रवेश किया। पश्चिम पूर्व को नए सिरे से पहचानने के लिए बाध्य हुआ। इसका प्रभाव कला विषयक चिन्तन के क्षेत्र में भी पड़ा। पूर्व पश्चिम के विचारकों की सम्मिलित विद्वत्-परिषदों के आयोजन का क्रम चल निकला। इस प्रत्यक्ष साक्षात्कार में पूर्वीय देशों में प्रचलित कला विषयक चिन्तन की समृद्ध परम्पराओं का परिचय प्राप्त कर पश्चिम ने भली भाँति समझ लिया कि इन प्राच्य परम्पराओं की उपेक्षा करके सौन्दर्यशास्त्र का समुचित विकास अपूर्ण रहेगा।

इस वातावरण के निर्माण में इस प्रकार की विद्वत् परिषदों के आयोजन का इतना अधिक महत्त्व है कि टामस मुनरो ने उपर्युक्त जिस निबंध में सौन्दर्यशास्त्रगत अन्तर्राष्ट्रीयता की बात उठाई है वह इसी प्रकार की एक अन्तर्राष्ट्रीय विद्वत्-परिषद के आयोजन से संबद्ध है। वह निबंध पहली बार २५ अगस्त १९६४ को एम्सटर्डम में आयोजित सौन्दर्यशास्त्र की पाँचवीं अन्तर्राष्ट्रीय कांग्रेस में पढ़ा गया था।

विद्वत्-परिषदों के अतिरिक्त प्राच्य-कला के बढ़ते संग्रहालयों एवं प्राच्य कलाशास्त्रीय ग्रंथों के अनुवादों ने भी वातावरण के निर्माण में बहुत बड़ा काम किया है। प्राच्य कलाकृतियों का जितना उत्कृष्ट संग्रह पश्चिम के समृद्ध संग्रहालयों में है वह किसी के लिए भी ईर्ष्या की वस्तु हो सकती है। इसी प्रकार प्राच्य कलाशास्त्रीय ग्रंथों के अनुवाद भी इस बीच बड़ी तेजी से हुए हैं। उदाहरण के लिए आर० नोली कृत एस्थेटिक एक्सपीरिएन्स एकार्डिंग टु अभिनवगुप्त (१९५६) जिसमें पहली बार भारत के सबसे महत्त्वपूर्ण कला चिन्तक अभिनवगुप्त की रस विषयक मान्यताओं का सटिप्पण प्रामाणिक अंग्रेजी अनुवाद प्रस्तुत किया गया है।

किन्तु इस दिशा के वास्तविक अग्रणी विचारक आनन्द कुमारस्वामी (१८७७-१९४७) हैं और पूर्व और पश्चिम के कला विषयक तुलनात्मक अध्ययन को गाम्भीर्य प्रदान करने का सर्वाधिक श्रेय भी उन्हीं को है। आनन्द कुमारस्वामी का जन्म श्रीलंका में हुआ था। पिता तमिल और माँ अंग्रेज थीं। इंगलैण्ड से उन्होंने भूगर्भ विद्या की शिक्षा प्राप्त कर उसी विषय में पी-एच० डी० की उपाधि भी ली थी। उन्होंने अपना जीवन एक भूगर्भशास्त्री के रूप में आरंभ किया फिर राजनीतिक सुधारक बने, तत्पश्चात् कला के इतिहासकार और अन्ततः कला में शाश्वत दर्शन (फिलासोफिया पेरेनिस) के व्याख्याकार हो गए। उन्होंने दस वर्षों तक भारत में रहकर भारतीय कला का अध्ययन किया। इसके बाद १९१७ में अमरीका गए और जीवन-पर्यन्त वहीं रहे। अमरीका में बोस्टन म्यूजियम ऑफ फाइन आर्ट्स में भारतीय कला-कक्ष के संरक्षक की हैसियत से तीस वर्षों तक आनन्द कुमारस्वामी ने अनवरत कला संबंधी चिन्तन की साधना की। उन्होंने कुल मिलाकर लगभग ३४१ निबंध और पुस्तकों की रचना की जिनमें मिरर आफ जेस्चर (१९१७), द डान्स आफ शिव (१९१८), हिस्ट्री आफ इण्डियन एण्ड इण्डोनेशियन आर्ट (१९२७) और द ट्रान्सफार्मेशन आफ नेचर इन आर्ट्स (१९३४) मुख्य हैं। तुलनात्मक सौन्दर्यशास्त्र की दृष्टि से आनन्द कुमारस्वामी की अनेक कृतियों में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण द ट्रान्सफार्मेशन ऑफ नेचर इन आर्ट्स (१९३४) है जिसमें उन्होंने पाश्चात्य कला सिद्धान्तों के

साथ भारतीय, चीनी और जापानी कला-सिद्धान्तों की समानताओं और असमानताओं का निर्देश करते हुए कला-विषयक सार्वभौम चिन्तन-पद्धति की रूपरेखा प्रस्तुत की है। पुस्तक के आरंभ में ही अपने उद्देश्य को स्पष्ट करते हुए उन्होंने कहा है कि "पूर्वी और पश्चिमी दृष्टिकोणों को परस्पर संबद्ध करते हुए कला-विषयक एक सामान्य सिद्धान्त के लिए आधार प्रस्तुत किया जा रहा है।"[१]

वे इस तथ्य से भली-भाँति परिचित थे कि "एशियाई विचारों को विना विकृत किये यूरोपीय शब्दावली मे प्रस्तुत करना कठिन है।" इसलिए हठाकृष्ट तुलना के उत्साह में एशियाई कला-संकल्पनाओं को विकृत करने की अपेक्षा उन्होंने बौद्धिक ईमानदारी के साथ एशियाई और प्रासंगिक यूरोपीय विचारों को इस प्रकार साथ-साथ रखा है कि वे कुतूहल-पूर्ण भर प्रतीत न हों। इस प्रयास में उनकी दृष्टि वास्तविक तथ्यों पर ही रही है, तर्कों का वितंडा खड़ा कर किसी मत को साग्रह स्थापित करने की प्रवृत्ति से उन्होंने बराबर बचने का प्रयास किया है, क्योंकि उनका विश्वास था कि "सचेतसां अनुभवः प्रमाणं तत्र केवलम्।"[२]

एशियाई कला संबंधी अपने अन्तरग परिचय के आधार पर आनन्द कुमारस्वामी ने पाश्चात्य अध्येताओं के सम्मुख यह भली-भाँति प्रमाणित कर दिया कि पूर्वीय देशों में भी चीन, जापान की अपेक्षा भारत में सौन्दर्यशास्त्रीय समस्याओं पर व्यवस्थित चिन्तन अत्यधिक विकसित था।[3]

संस्कृत अलंकारशास्त्र की व्यापकता पर प्रकाश डालते हुए आनन्द कुमारस्वामी ने यह महत्त्वपूर्ण धारणा व्यक्त की कि अलंकार-सिद्धान्त मुख्यतः काव्य, नाटक, नृत्य और संगीत के प्रसंग में निरूपित होते हुए भी समस्त कलाओं के उपयुक्त सिद्ध हुआ, क्योंकि इसकी पारिभाषिक शब्दावली का अधिकांश रंग-विषयक अवधारणाओं से युक्त है और इस बात के पर्याप्त प्रमाण हैं कि अलंकार-सिद्धान्त वस्तुतः चित्रकला पर लागू होता है।[४]

रस और ध्वनि के मूल आधार को स्पष्ट करते हुए आनन्द कुमारस्वामी ने यह मान्यता व्यक्त की कि ये दोनों सिद्धान्त मूलतः आध्यात्मिक है और अपनी पद्धति एवं निष्कर्ष में वेदान्ती हैं, यद्यपि उन दोनों सिद्धान्तों को उपनिषदों के शुद्ध वेदान्त की अपेक्षा परवर्ती वेदान्त एवं योग की भाषा में व्यक्त किया गया है।[५]

जैसा कि परवर्ती विचारकों ने संकेत किया है, आनन्द कुमारस्वामी की सौन्दर्य-दृष्टि पर अध्यात्म का गहरा रंग था, इसलिए उन्हें भारतीय कला-सिद्धान्तों में प्रायः अध्यात्म-रंजित तत्त्व ही दृष्टिगोचर हुए। यहाँ तक कि तत्कालीन बौद्धिक वातावरण के अनुकूल पाश्चात्य अध्येताओं की रुचि को तुष्ट करने के लिए उन्होंने प्राच्य कला की पूर्णतः आध्यात्मिक

---

१ ट्रान्सफ़ॉर्मेशन ऑफ़ नेचर इन आर्ट्स, पृ० ३

२ वही, पृ० ४

3 वही, पृ० ५

४ वही, पृ० ४६

५ वही, पृ० ५४-५५

व्याख्या की। यही उनकी शक्ति भी थी और सीमा भी। इसीलिए उन्होंने प्राच्य कला शास्त्र की तुलना के लिए यूरोप से ईसाई कला सिद्धान्तों एवं शास्त्रवादी (स्कॉलैस्टिक) सम्प्रदाय के कला चिन्तन को प्रस्तुत किया। सम्भवतः उनकी धारणा थी कि दोनों में समानता का आधार धार्मिक और आध्यात्मिक प्रवृत्ति है। इसी कारण उन्होंने पुनर्जागरण की तर्कनिष्ठ ऐहिक और मानववादी परंपरा के आधार पर विकसित आधुनिक सौन्दर्य सिद्धान्तों को प्राच्य कलाशास्त्र के साथ तुलनीय नहीं माना और उनके साथ समानता के किसी आधार को ढूंढने का प्रयास नहीं किया। इस विषय में यदि अपवाद-स्वरूप कोई तथ्य है तो भारतीय साधारणीकरण की तुलना में प्रस्तुत यूरोपीय समानुभूति (एम्पैथी) सिद्धान्त है।

रसानुभूति की व्याख्या भी आनन्द कुमारस्वामी ने अध्यात्म प्रधान ही की है और यह आकस्मिक नहीं है कि रसानुभूति के स्वरूप की व्याख्या करने के लिए उन्होंने मुख्य आधार के रूप में अभिनवगुप्त को स्वीकार न करके साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ को ही चुना है जिनका रस विवेचन अपेक्षाकृत अध्यात्मोन्मुख है।

फिर भी तुलनात्मक सौन्दर्यशास्त्र के क्षेत्र में उनका ऐतिहासिक महत्त्व असंदिग्ध है। जैसा कि सर विलियम रोथेन्स्टाइन ने कहा है, आज भारत को प्रथम श्रेणी की कलात्मक शक्ति के रूप में जो स्थान प्राप्त है उसका बहुत-कुछ श्रेय कुमारस्वामी को है। इसी प्रकार प्रसिद्ध कलाविद् एरिक गिल ने अपनी आत्मकथा में कुमारस्वामी की कला विषयक अन्तर्दृष्टि की प्रशंसा में लिखा है कि मेरा विश्वास है कि किसी अन्य जीवित लेखक ने कला और जीवन, धर्म और पावनता के बारे में ऐसी समझ और अन्तर्दृष्टि के साथ नहीं लिखा।

तुलनात्मक सौन्दर्यशास्त्र के लिए आनन्द कुमारस्वामी के निबंध कितने प्रेरणादायक रहे हैं इसका प्रमाण टामस मुनरो का यह कथन है कि इस शताब्दी के तीसरे दशक में जब उन्होंने भारतीय सौन्दर्यशास्त्र का व्यवस्थित अध्ययन आरम्भ किया तो आनन्द कुमारस्वामी के निबंध ही उनके मुख्य मार्गदर्शक बने। मुनरो ने लिखा है कि हम मिले और हमने सौन्दर्यशास्त्र पर विचार विनिमय करने का प्रयास किया किन्तु विशेष सम्प्रेषण सम्भव न हो सका क्योंकि हममें से प्रत्येक आधारभूत अवधारणाओं का प्रयोग भिन्न अर्थों में करता था और सम्प्रेषण के लिए सामान्य शब्दावली ढूंढने के लिए पर्याप्त समय नहीं था। उनके कला विषयक अधिकांश दार्शनिक निबंधों में जो बात मुझे अक्सर नागवार लगी वह थी उनका अपना एशियाई दर्शन—शाश्वत दर्शन (द परेनियल फिलासफी) जिसे वे 'सच्चा दर्शन' भी समझते थे। मुझे यह आश्चर्यजनक लगा कि वे पुनर्जागरण (रेनेसाँ) के बाद की पाश्चात्य कला को समझने और पसन्द करने में सर्वथा असमर्थ थे। उनकी पुस्तकों को बार बार एक ओर फेंक देने की इच्छा होती थी किन्तु सौभाग्य से मैंने उस इच्छा के अनुसार कार्य नहीं किया। जब भी वे भारतीय कला और उसके मूल में निहित विचारों के बारे में लिखते थे तो मुझे एक गहन अध्ययन से युक्त विद्वान और कला मर्मज्ञ के अधिकार का अनुभव होता था। भारतीय कला संबंधी उनका ज्ञान दीर्घ और प्रत्यक्ष अनुभव तथा तीक्ष्ण पर्यवेक्षण पर आधारित था। उनके कुछ आरंभिक निबंध परवर्ती

निबंधों की तुलना में कम रहस्यात्मक हे। उनमे अनुभवपरक ज्ञान का एक व्यापक स्तर है जिस पर बिना किसी आधिभौतिक विवाद में पड़े मै उन्हें समझ सकता हूँ। उनसे मैंने भारतीय कला के मोहक प्रतीकवाद के अनेक अर्थ सीखे है जैसा कि उनके 'डान्स ऑफ़ शिव' की क्लासिक व्याख्या में उपलब्ध है। यद्यपि वे कुछ विचारों को अक्षरश: या प्रतीकात्मक रूप से सत्य समझते थे और मेरी दृष्टि मे उनमे किसी प्रकार का तथ्यात्मक सत्य नही था, फिर भी मुझे इस अन्तर से कोई परेशानी नही हुई। हमारे कला संबंधी मूल्यों के प्रतिमान भिन्न थे, फिर भी हम दोनों के बीच सामान्य आधार पर्याप्त था। अन्ततः हम इस बात मे सहमत थे कि पूर्व की प्रतिभा और कलात्मक अभिव्यक्ति मानव-मस्तिष्क की महान उपलब्धि है और उसके प्रति हम दोनों के मन मे आदर था।"[1]

तुलनात्मक सौन्दर्यशास्त्र के क्षेत्र मे कालक्रमानुसार दूसरा महत्त्वपूर्ण नाम **डॉ० प्रवासजीवन चौधरी** (१६१६–१६६१) का लिया जा सकता है जिनके चुने हुए निबधो के सग्रह को 'द एस्थेटिक एटीच्यूड इन इण्डियन एस्थेटिक्स' के नाम से 'जर्नल ऑफ़ एस्थेटिक्स एण्ड आर्ट क्रिटिसिज्म' ने अपने प्राच्य सौन्दर्यशास्त्र विशेषाक मे पूरक अंक के रूप में प्रकाशित कर समुचित श्रद्धांजलि अर्पित की। डॉ० चौधरी मूलतः दर्शनशास्त्र के अध्येता होने के साथ ही प्राचीन प्राच्य काव्यशास्त्र एवं आधुनिकतम पाश्चात्य सौन्दर्यशास्त्र के मर्मज्ञ विद्वान थे। 'जर्नल ऑफ एस्थेटिक्स एण्ड आर्ट क्रिटिसिज्म' (जिल्द ७, अंक २, दिसम्बर १६४८) में उनका पहला निबंध 'भारतीय सौन्दर्यशास्त्र मे मानसिक अन्तराल' (साइकिकल डिस्टेंस इन इण्डियन एस्थेटिक्स) प्रकाशित हुआ। सभवतः भारतीय रस-सिद्धान्त के साथ एडवर्ड बुलो के 'मानसिक अन्तराल' सिद्धान्त की तुलना करनेवाले पहले विद्वान डॉ० चौधरी ही थे। इसके पहले रस के साधारणीकरण की तुलना मे पाश्चात्य 'समानुभूति' (एम्पेथी) सिद्धान्त ही प्रस्तुत किया जाता था। डॉ० चौधरी पहले विचारक है जिन्होने साधारणीकरण मे निहित तादात्म्य के अतिरिक्त निर्वैयक्तिकता को पहचानकर 'मानसिक अन्तराल' नामक आधुनिक पाश्चात्य कला-सिद्धान्त के आलोक मे उसकी मनोवैज्ञानिक व्याख्या प्रस्तुत की। इसके बाद तो उक्त जर्नल में क्रमशः उनके अनेक निबंध प्रकाशित हुए, यथा : 'द थियरी ऑफ रस' (१६५२), 'केथारसिस इन द लाइट ऑफ इण्डियन एस्थेटिक्स' (१६५६) इत्यादि। यद्यपि रस-निष्पत्ति के संदर्भ में अरस्तू के विरेचन-सिद्धान्त का उल्लेख अन्य विद्वानों ने भी किया है, किन्तु इन दोनो के साम्य-वैपम्य के ब्यौरे मे जितनी गहराई तक जाने का प्रयास डॉ० चौधरी ने किया है, वह अपूर्व है। उनके कार्यों की प्रौढ़ता को देखकर यह निस्सन्देह कहा जा सकता है कि उन्होने आनन्द कुमारस्वामी द्वारा प्रवर्तित तुलनात्मक कार्य को अग्रसर करने के साथ ही परिपक्वता भी प्रदान की।

यद्यपि डॉ० चौधरी ने भी आनन्द कुमारस्वामी के समान ही भारतीय कलाशास्त्र के आध्यात्मिक आधार को उद्घाटित करते हुए पश्चिम के 'प्रत्ययवादी' (आइडियलिस्ट) सौन्दर्यशास्त्र के साथ उसे तुलनीय मानने का प्रस्ताव किया, तथापि जैसा कि टॉमस मुनरो ने कहा है, डॉ० चौधरी की दृष्टि अपेक्षाकृत कम आध्यात्मिक है। वैसे, दार्शनिक दृष्टि से

---

[1] **ओरिएण्टल एस्थेटिक्स, पृ० १३५**

डा० चौधरी के विचार भी बहुत कुछ प्रत्ययवादी ही प्रतीत होते हैं। किन्तु उनकी सौन्दर्यशास्त्रीय व्याख्याओं की प्रकृति मनोवैज्ञानिक है। इसके अतिरिक्त सौन्दर्यशास्त्रीय विचार भी अपेक्षाकृत अधिक आधुनिक हैं। रस की तुलना करते समय उन्होंने प्लेटो-अरस्तू तक ही अपने आपको सीमित न रखकर कोलरिज, कीट्स आदि रोमाण्टिक कवियों एवं टी० एस० इलियट, आई० ए० रिचर्ड्स आदि आधुनिकतम विचारकों के काव्य चिन्तन का भी उपयोग किया है। कहना न होगा कि तुलना के लिए गृहीत इन अद्यतन काव्य सिद्धान्तों के कारण प्राचीन रस सिद्धान्त के कुछ नये पक्षों को उद्घाटित करने में उन्हें सफलता मिली है।

तुलनात्मक सौन्दर्यशास्त्र की दिशा में व्यवस्थित एवं सांगोपांग अध्ययन का पहला विस्तृत प्रयास डा० कान्तिचन्द्र पाण्डे का 'कम्परेटिव एस्थेटिक्स' (१९५०–१९५९) नामक ग्रंथ है। इस विशाल ग्रंथ का प्रथम भाग 'इण्डियन एस्थेटिक्स' १९५० में प्रकाशित हुआ था जो संशोधित एवं परिवर्धित रूप में १९५६ में पुनः प्रकाशित हुआ। द्वितीय भाग 'वेस्टर्न एस्थेटिक्स' १९५९ में आया और तृतीय भाग जिसमें भारतीय और पाश्चात्य सौन्दर्यशास्त्र की तुलना करने की योजना है, अभी तक प्रकाश में नहीं आया। किन्तु तुलनात्मक भाग के अभाव में भी प्रस्तुत दोनों भागों में, मुख्यतः द्वितीय भाग के चतुर्दश अध्याय में तुलनापरक अनेक संकेत सुलभ हैं। इसके अतिरिक्त डा० पाण्डे द्वारा भारतीय सौन्दर्यशास्त्र पर लिखित दो अन्य निबंध[1] भी इस दृष्टि से उल्लेखनीय हैं।

तुलनात्मक सौन्दर्यशास्त्र के क्षेत्र में डा० पाण्डे की विशेष देन है अभिनवगुप्त के काव्य एवं कला संबंधी विचारों का प्रामाणिक व्याख्यान और फिर उनकी मान्यता के साथ काण्ट और हेगेल के कला संबंधी विचारों की तुलना। डा० पाण्डे ने अभिनवगुप्त का विशेष अध्ययन किया है।[2] आधुनिक विद्वानों के समक्ष अभिनवगुप्त के विचारों को व्यवस्थित एवं प्रामाणिक रूप में उपस्थित करने का श्रेय उनको ही है। उनके इस अध्ययन ने भारतीय सौन्दर्यशास्त्र संबंधी विवेचन को एक नया आयाम प्रदान किया। यद्यपि ध्वन्यालोकलोचन एवं अभिनवभारती जैसे ग्रंथ सुसम्पादित रूप में कुछ पहले से ही उपलब्ध थे किन्तु एक तो भाषा एवं शब्दावली की दुरूहता के कारण वे आधुनिक अध्येताओं के लिए अगम्य थे, दूसरे अभिनवगुप्त के दार्शनिक ग्रंथों का पूरा संदर्भ ज्ञान न होने के कारण उनके काव्य एवं कला संबंधी विचारों का सही अर्थ ग्रहण करना कठिन था। डा० पाण्डे ने अभिनवगुप्त के दार्शनिक विचारों को स्पष्ट कर उनके संदर्भ में काव्य कला संबंधी मान्यताओं की प्रामाणिक व्याख्या प्रस्तुत की जिससे भारतीय सौन्दर्यशास्त्र का गहन दार्शनिक और मनोवैज्ञानिक मर्म उद्घाटित हुआ।

जहाँ तक पाश्चात्य सौन्दर्यशास्त्र संबंधी विवेचन का संबंध है डा० पाण्डे ने प्लेटो-अरस्तू से लेकर क्रोचे तक केवल पाश्चात्य प्रत्ययवादी चिन्तनधारा तक ही अपने को सीमित रखा है। इस प्रकार उन्होंने भारतीय एवं पाश्चात्य सौन्दर्यशास्त्र के प्रत्ययवादी पक्षों

---

[1] (अ) 'इण्डियन एस्थेटिक्स', हिस्ट्री आफ फिलासफी : ईस्टर्न एण्ड वेस्टर्न, सं० एस० राधाकृष्णन आदि (२ जिल्द १९५२)
(आ) 'ए बर्ड स आइ व्यू ऑफ इण्डियन एस्थेटिक्स', जर्नल आफ एस्थेटिक्स एण्ड आर्ट क्रिटिसिज्म, ओरिएण्टल एस्थेटिक्स विशेषांक, फाल १९६५

[2] अभिनवगुप्त : एन हिस्टारिकल एण्ड फिलॉसफिकल स्टडी, १९६३

की तुलना पर ही अपनी दृष्टि केन्द्रित की है। इस दृष्टि से उनका कार्य बहुत-कुछ आनन्द कुमारस्वामी और प्रवासजीवन चौधरी की ही परंपरा में है; अन्तर है तो केवल इतना कि उन्होंने कुमारस्वामी से आगे बढ़कर पुनर्जागरणोत्तर कला-चिन्तन को भी अपनी विचार-सीमा में स्वीकार किया है। इसका कारण संभवतः यह है कि जहाँ कुमारस्वामी की कला-दृष्टि मध्ययुगीन धार्मिक एवं आध्यात्मिक दर्शनों से प्रभावित है, वहाँ डॉ० पाण्डे की कला-दृष्टि अभिनवगुप्त के कौल मत पर आधारित होने के कारण अपेक्षाकृत अधिक तर्कसम्मत एवं ऐहिक है। यह अन्तर दोनों की रसानुभूति संबंधी व्याख्या में स्पष्ट देखा जा सकता है। कौल मत के अनुसार ऐन्द्रिय-बोध से लेकर शुद्ध संवित् तक एक ही चित् शक्ति का प्रसार है; इसलिए रसानुभूति में ऐन्द्रिय-बोध से लेकर शुद्ध संवित् की चर्वणा तक का सम्पूर्ण व्यापार समाविष्ट रहता है, जिसमें सौन्दर्य-ग्रहण का कोई भी स्तर अवर अथच त्याज्य नहीं है। अपनी इस धारणा की पुष्टि मे डॉ० पाण्डे ने अभिनवगुप्त का एक प्राचीन चित्र प्रस्तुत किया है जिसमे सौन्दर्यशास्त्र के महान आचार्य स्त्री-पुरुष कलाकारों से घिरे हुए संगीत-सौन्दर्य का रसास्वादन करते हुए दिखाए गए हैं। डॉ० पाण्डे ने अभिनवगुप्त के एक शिष्य धनराज योगी के चार प्रशस्ति-श्लोक भी उद्धृत किए है जिनमें उस चित्र के समान ही अभिनवगुप्त का वर्णन मिलता है। प्रशस्ति के अनुसार अभिनवगुप्त स्वयं नाद-वीणा बजाते हुए वीरासन की मुद्रा में बैठे हुए है। उनके सम्मुख सिद्ध योगिनियों का संघ-गीत, वाद्य, नृत्य कर रहा है। पार्श्व में दो स्त्रियाँ 'शिव-रस' से पूर्ण कलश लिये खड़ी है। रुद्राक्ष-युक्त उनका एक हाथ परम शिव ज्ञान की मुद्रा में ऊपर उठा हुआ है।[1]

डॉ० पाण्डे-कृत अभिनवगुप्त की व्याख्या कितनी ऐहिक है, इसका अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि टॉमस मुनरो अभिनवगुप्त के कला-विषयक विचारों की अभिव्यक्ति पाश्चात्य प्रकृतवादी मनोविज्ञान की भाषा में संभव मानते है। टॉमस मुनरो की इस धारणा का आधार डॉ० पाण्डे का यह मत है कि अभिनवगुप्त शैवागम के जिस कौलमत के विश्वासी थे "वह विषयानन्द और आत्मानन्द के बीच किसी प्रकार का विरोध नहीं मानता था, बल्कि विषयानन्द को आत्मानन्द के साधन के रूप में स्वीकार करता था।" डॉ० पाण्डे की इस व्याख्या ने भारतीय सौन्दर्यशास्त्र का ऐसा रूप प्रस्तुत किया जिससे पाश्चात्य सौन्दर्यशास्त्र की आधुनिक प्रवृत्तियों के साथ उसकी तुलना की संभावनाएँ उद्घाटित हुई। इस दृष्टि से डॉ० पाण्डे की देन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

इसके अतिरिक्त डॉ० पाण्डे की एक महत्त्वपूर्ण देन यह भी है कि उन्होने शैव-दर्शन के आधार पर काव्य के अतिरिक्त संगीत, मूर्ति, चित्र एवं वास्तु-कला-संबंधी विचारों को एकत्र करके व्यापक कला-दर्शन अथवा सौन्दर्यशास्त्र की रूपरेखा पुनर्निर्मित की है। इस प्रकार उन्होने पाश्चात्य विचारको के मन मे भारतीय सौन्दर्यशास्त्र-विषयक इस भ्रम को दूर करने योग्य तथ्य प्रस्तुत किया कि भारत मे सम्पूर्ण ललित-कलाओं के विवेचन में समर्थ कोई व्यवस्थित सौन्दर्यशास्त्र नही है। इस दृष्टि से भी डॉ० पाण्डे का कार्य कुमारस्वामी के कार्यों का अगला कदम कहा जा सकता है। वस्तुतः 'कम्पैरेटिव एस्थेटिक्स' के तृतीय

---

[1] अभिनवगुप्त : 'एन हिस्टॉरिकल एण्ड फ़िलॉसफ़िकल स्टडी', पृ० ७३८ पर उद्धृत मूल छन्द।

ग्रन्थ के प्रकाश में आ जाने पर यह प्रमाणित होने की पूरी सम्भावना है कि भारतीय एवं पाश्चात्य सौन्दर्यशास्त्र के तुलनात्मक अध्ययन की दिशा में डा० कान्तिचन्द्र पाण्डे का कार्य सच्चे अर्थों में विश्वकोशधर्मी है।

जिस समय अभिनवगुप्त पर एक ओर डा० कान्तिचन्द्र पाण्डे कार्य कर रहे थे लगभग उसी समय इटली में आर० नोली ने भी द एस्थेटिक एक्सपीरिएन्स एकॉर्डिंग टु अभिनवगुप्त (१९५६) नाम से अभिनवगुप्त के सौंदर्यानुभूति संबंधी विचारों का अंग्रेजी अनुवाद एवं विस्तृत व्याख्यापरक तुलनात्मक टिप्पणियों के साथ रोमन अक्षरों में मूल पाठ के रूप में प्रस्तुत किया। नोली का यह ग्रंथ आपाततः तुलनात्मक न होते हुए भी अपनी गहराई में अनेक तुलनीय संकेतों से पूर्ण है। यही नहीं बल्कि इस ग्रंथ की भूमिका में उन्होंने एकाधिक बार उन तुलनीय पक्षों का स्पष्ट उल्लेख भी किया है। एक स्थान पर उन्होंने कहा है कि भारतीय विचारक पाश्चात्य प्रत्ययवादी चिंतकों के यदि विपरीत नहीं तो भिन्न पथ का अनुसरण करते हुए एक क्षण विशेष में यह परिलक्षित कर सका था कि सत्—चित या विचार है और हमारे आसपास जो कुछ भी है वह अन्तिम विश्लेषण में स्व या आत्मा पर आधारित है।[1]

अन्यत्र आनन्दवर्धन भट्टनायक भट्टतोत एवं अभिनवगुप्त के काव्य संबंधी विचारों की आधुनिक प्रासंगिकता को रेखांकित करते हुए नोली ने कहा है कि यही नहीं कि उन प्राचीन आचार्यों के विचार आज भी वैध हैं बल्कि पाश्चात्य विचारों की तुलना में वे अपेक्षाकृत नवीन भी हैं। व्यावहारिक प्रयोजनों से मुक्त एवं स्वतंत्र चैतन्य अनुभूति के रूप में कला संबंधी अवधारणा जिसका निरूपण पश्चिम के लिए कान्ट की प्रतिभा ने किया था दसवीं शताब्दी के भारत में भी अध्ययन और विवाद की वस्तु थी।[2]

भारतीय कला सिद्धान्त को पाश्चात्य सौन्दर्यशास्त्र के संदर्भ में रखकर देखनेवाले विचारकों में आर० नोली अकेले नहीं हैं बल्कि उनके पूर्व और पश्चात प्राच्य विद्याविशारदों की एक विशाल परंपरा है जिसमें भारतीय रंगमंच (१८९०) के लेखक फ्रांसीसी विद्वान सिलवाँ लेवी और संस्कृत नाटक (१९२४) के विश्रुत आंग्ल विद्वान डा० ए० बी० कीथ के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इनके ग्रंथों ने पश्चिम के उन सौन्दर्यशास्त्रियों के लिए आधार-ग्रंथ का कार्य किया जो स्वयं तो संस्कृत नहीं जानते किन्तु जो भारतीय कला सिद्धान्तों में गहरी रुचि रखते हैं। उदाहरण के लिए श्रीमती एस० के० लैंगर ने 'नाट्य प्रतिभास' पर विचार करते हुए जहाँ एडवर्ड बुलो द्वारा प्रतिपादित मानसिक अन्तराल नामक सिद्धान्त का उपयोग किया है वहीं सिलवाँ लेवी के भारतीय रंगमंच में निरूपित रस विषयक विचारों को अधिक सन्तोषप्रद एवं अनुकूल समझकर अपनी मान्यताओं के समर्थन में उद्धृत किया है। उन्होंने स्पष्ट शब्दों में स्वीकार किया है कि जहाँ पाश्चात्य विचारक रंगमंच के अन्तर्गत संवेगों के विभिन्न पक्षों में घपला (कनफ्यूज़न) कर देते हैं हिन्दू आलोचक उनमें पारस्परिक संबंधों को कहीं अधिक स्पष्टता से

---

1. द एस्थेटिक एक्सपीरिएन्स एकॉर्डिंग टु अभिनवगुप्त इण्ट्रोडक्शन, पृष्ठ २३
2. वही पृ० ३२

समझते है।[१] परन्तु श्रीमती लँगर की धारणा है कि भारतीय चिन्तकों ने 'रस' संवंधी अवधारणा पर अतिमानवीयता का रहस्यात्मक आवरण डाल दिया, क्योंकि प्राचीन आचार्य *प्रतीक की शक्ति का साक्षात्कार होने पर इतने हतप्रभ अथवा विस्मित हो गए कि* वे उसके वास्तविक रूप को ठीक से देख न सके।[२]

यों तो स्वयं श्रीमती लेंगर के विचार भी सौन्दर्यशास्त्र की वस्तुनिष्ठ प्रत्ययवादी विचारधारा के अन्तर्गत ही आते है, किन्तु भारतीय रस-सिद्धान्त के विषय में उन्हें अतिमानवीयता एवं रहस्यवादिता का जो आभास हुआ, उसका श्रेय बहुत-कुछ सिलवाँ लेवी जैसे व्याख्याकारों की व्याख्याओं को है। यदि भरत और अभिनवगुप्त द्वारा प्रतिपादित रस-सिद्धान्त के मूल रूप तक उनकी पैठ होती तो सम्भवतः उन्हें इस प्रकार का भ्रम न होता। फिर भी यह तथ्य अपने-आप में कम महत्त्वपूर्ण नहीं है कि श्रीमती एस० के० लँगर जैसी गम्भीर सौन्दर्यशास्त्री ने रस-सिद्धान्त की परिपक्वता स्वीकार करते हुए उसे आधुनिक सौन्दर्य-चिन्तन के लिए सन्तोषप्रद सिद्धान्त के रूप में ग्राह्य माना।

जिस प्रकार तुलनात्मक सौन्दर्यशास्त्र के क्षेत्र में भारतीय एवं पाश्चात्य काव्य-सिद्धान्तों के तुलनात्मक प्रयास हुए, उसी प्रकार कालक्रम से विचारकों का ध्यान संगीत, चित्र, मूर्ति आदि कलाओं के सिद्धान्तों की ओर भी गया। क्ले लंकास्टर ने 'कीज टु द अण्डरस्टैंडिग ऑफ़ इण्डियन एण्ड चाइनीज पेंटिंग'[3] शीर्षक निबंध में चीनी चित्रकला के अतिरिक्त भारतीय चित्रकला संबंधी सैद्धान्तिक मान्यताओं का विश्लेषण किया है। उन्होंने चित्रकला के सन्दर्भ में 'रस' की प्रासंगिकता का उल्लेख करते हुए लिखा है कि भारतीय चित्रकला के अंगों में से एक अंग के रूप में 'रस' भी स्वीकृत था। इसी प्रकार ए० बेक[४]

---

१ Some of the Hindu critics, although they subordinate and even duplicate dramatic art in favour of the literary elements it involves, understand much better than their Western colleagues the various aspects of emotion in theatre, which our writers so banefully confuse : the feelings experienced by the actor, those experienced by the spectators, those presented as undergone by the characters in the play, and finally the feeling that shines through the play itself—the vital feeling of the piece. This last they call *rasa* ; it is a state of emotional knowledge, which comes only to those who have long studied and contemplated poetry. It is supposed to be of supernatural origin, because it is not like mundane feeling and emotion, but is detached, more of the spirit than of the Viscera, pure and uplifting. *Feeling and Form*, p. 323.

२ Rasa is, indeed, that comprehension of the directly experienced or 'inward' life that all art conveys. The supernatural status attributed to its perception shows the mystification that beset the ancient theorists when they were confronted with the power of a symbol which they did not recognize as such. *Ibid.*, p. 323.

3 जर्नल ऑफ़ एस्थेटिक्स एण्ड आर्ट क्रिटिसिज्म, जिल्द ११, अंक २ (दिसम्बर १९५२)

४ (क) 'द म्यूजिक ऑफ़ इण्डिया', एंशिएण्ट एण्ड ओरिएण्टल म्यूजिक, सं० इ० वेलेज, लन्दन, १९५७

(ख) 'एस्थेटिक्स ऑफ़ इण्डियन म्यूजिक', ब्रिटिश जर्नल ऑफ़ एस्थेटिक्स, जिल्द ४, अंक १ (जनवरी १९६४)

ने भारतीय संगीत के संदर्भ में रस सिद्धान्त पर विचार किया है। भारतीय सौन्दर्यशास्त्र शीर्षक निबंध में वेंक ने विशेष रूप से चित्रकला और संगीत के अन्तर्गत रागों और रसों के पारस्परिक संबंध पर प्रकाश डाला है। संगीत के अन्तर्गत रस-तत्त्व पर विचार करने की दिशा में डब्ल्यू० जी० राफ का निबंध 'राग्ज एण्ड रागिनीज' ए की टु इण्डियन एस्थेटिक्स'[1] भी उल्लेखनीय है। परन्तु तुलनात्मक सौन्दर्यशास्त्र की दृष्टि से फिलिप रासन के दो निबंध 'द मथडम आफ इण्डियन स्कल्प्चर'[2] और 'म्यूजिक एण्ड डांस इन इण्डियन आर्ट'[3] की भूमिका अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। एक निबंध में उन्होंने मूर्तिकला के संदर्भ में रस और ध्वनि संबंधी सिद्धान्तों को अन्तर्निहित बताते हुए यह प्रतिपादित किया है कि भारतीय मूर्तिकला के रूपगत कौशल में बौद्धिक ग्रहणशीलता विद्यमान होती है। दूसरे निबंध में रस सिद्धान्त की व्यापकता का प्रतिपादन करते हुए काव्य से लेकर संगीत, नृत्य, मूर्ति, चित्र, वास्तु आदि सभी कलाओं तक रस की व्याप्ति के प्रमाण प्रस्तुत किए हैं। एशियन रिव्यू के १९६४ के जिस अंक में फिलिप रासन ने भारतीय मूर्तिकला की पद्धतियों में रस निरूपण किया है, उसी में आर० मार्टिन स्मिथ ने पाश्चात्य और संस्कृत साहित्य सिद्धान्तों के मध्य स्थित कुछ चुनौती भरी विषमताओं की ओर ध्यान आकृष्ट किया है। उनके विचार में पाश्चात्य कला सिद्धान्त के व्यक्ति-स्वातन्त्र्य के विरुद्ध संस्कृत काव्यशास्त्र में टाइप संबंधी मान्यताओं का प्रचलन था जिसके अन्तर्गत शैली शिल्प के अतिरिक्त आध्यात्मिक गहराई के विषय में सृजनशीलता के लिए अवकाश न था।

ऐसे फुटकल प्रयत्नों में वान मीटर एमिस का निबंध 'एस्थेटिक वल्यूज इन द ईस्ट एण्ड वेस्ट'[4] विशेष रूप से उल्लेखनीय है, जिसे उन्होंने हवाई विश्वविद्यालय के जून जुलाई १९५९ में आयोजित तृतीय ईस्ट-वेस्ट फिलासफर्स कान्फरेंस में पढ़ा था। पाश्चात्य कला चिन्तन को रूप केन्द्रित घोषित करते हुए एमिस ने स्पष्ट शब्दों में स्वीकार किया है कि यद्यपि पश्चिम में प्लेटो से ही कला में दार्शनिक रुचि का सूत्रपात हो गया था तथापि अनेक पश्चिमी दार्शनिकों ने कला को कभी भी गंभीरता से नहीं लिया। उन्होंने नैतिक और ज्ञानमूलक प्रश्नों को विशेष रूप से विचारणीय माना। पश्चिमी चिन्तकों ने जब कला को महत्त्वपूर्ण माना तो उस समय वे प्रायः रूपवादी हो गए और इस प्रकार उन्होंने जीवन के अन्य (और अपनी समझ से ऊपर) मूल्यों से पृथक रूप में कला के मूल्य को स्वीकार किया। दूसरे वर्ग के विचारकों की दृष्टि में कला के स्वयं अपने रूप में आध्यात्मिक मूल्य नहीं होते बल्कि वह रूप जब धर्म या किसी विचार-दर्शन के मूल्यों को व्यक्त करता है तभी मूल्यवान होता है। इस वर्ग के विचारकों में एमिस के अनुसार थामस एक्विनास तथा द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी विचारक आते हैं। इन दोनों वर्गों के अतिरिक्त एक तीसरा वर्ग भी है जो जान ड्यूई का अनुसरण करते हुए यह स्वीकार करता है कि कलात्मक अभिव्यक्ति की टकनीक के माध्यम से सभी सामान्य मानव प्रयोजन आध्यात्मिक स्तर प्राप्त

---

१ 'जर्नल ऑफ एस्थेटिक्स एण्ड आर्ट क्रिटिसिज्म' जिल्द ९, अंक २ (जनवरी १९५२)
२ एशियन रिव्यू न्यू सीरीज १, ३ (दिसम्बर १९६४)
३ म्यूजिक एण्ड डान्स इन इण्डियन आर्ट (एडिनबरा रायल स्काटिश म्यूजियम १९६३)
४ जर्नल आफ एस्थेटिक्स एण्ड आर्ट क्रिटिसिज्म जिल्द १९, अंक १ (दिसम्बर १९६०)

कर सकते हैं। इसलिए जीवन में जो मूल्य पहले से मौजूद है, उन्हीं को स्पष्ट एवं तीव्र करने में ही कला के आध्यात्मिक मूल्य निहित है।

इस आधार पर एमिस ने यह निष्कर्ष निकाला है कि कला के प्रति ऐसा कोई एक दार्शनिक दृष्टिकोण नहीं है जिसे नितान्त ठेठ पाश्चात्य दृष्टिकोण कहा जा सके। किन्तु अठारहवी शताब्दी से, जब से आधुनिक सौन्दर्यशास्त्र का अभ्युदय हुआ है, मुख्यत: काण्ट के समय से, पाश्चात्य दार्शनिकों ने कला में अधिकाधिक गंभीर रुचि दिखाई है और अपने दृष्टिकोण को अपेक्षाकृत अधिक व्यापक बनाया है। अब बीसवी शताब्दी में बलपूर्वक यह कहा जा सकता है कि उच्चतर क्षेत्रों में कला का उत्थान करने से अथवा कला को अन्य मूल्यों के अधीनस्थ करने से उसमें आध्यात्मिक मूल्य नहीं आ जाते।

इस भूमिका के पश्चात एमिस ने 'रूप' को पाश्चात्य सौन्दर्यशास्त्र की केन्द्रीय अवधारणा मानकर इसी के अर्थ-संकोच, अर्थ-विस्तार आदि के द्वारा पाश्चात्य सौन्दर्यशास्त्र के विकास की सामान्य दिशा का निरूपण किया है। उस क्रम में उन्होंने हेगेल और क्रोचे की रूपगत मान्यताओं का विवरण देते हुए अभिनवगुप्त प्रभृति भारतीय चिन्तकों के कला संबंधी सिद्धान्तों को तत्तुल्य प्रतिपादित किया है। हेगेल ने जब सौन्दर्यशास्त्र को परमसत्ता के रूपाकार तक विस्तृत किया तो उन्होंने उसके रूप को तार-तार कर दिया। उन्होंने वस्तु और रूप के संघर्ष को रूप की बलि देकर हल किया। हेगेल का अनुसरण करते हुए क्रोचे ने 'रूप' को प्रातिभज्ञान में विलीन कर रूप की सत्ता ही समाप्त कर दी। एमिस के अनुसार इस विचार का विकास भारत में 'रस' संज्ञा को केन्द्र बनाकर किया गया। भरत द्वारा प्रयुक्त 'रस' शब्द को अभिनवगुप्त ने दार्शनिक चिन्तन के सहारे ऐन्द्रिय-बोध के स्तर से क्रमश: उच्च स्तर पर उठाते हुए स्व-संवित् की चर्वणा में पर्यवसित कर दिया, जिसका प्रभाव राधाकृष्णन्, अरविन्द आदि आधुनिक चिन्तको पर आज भी स्पष्टत: परिलक्षित होता है।[१]

---

[१] Much the same idea has developed in India around the term Rasa used by Bharat (Ist century A.D.) and by Abhinavagupta (10th century A.D.) to mean the taste or essence of poetry and drama at the level of ideal beauty, enjoyed intuitively, above ordianary pleasure and any naturalistic attitude in a contemplative mood awakened by various idealizing devices. Raga, in every Indian art, means the (natural and divine) factors of emotion and technique which stimulate the response of Rasa. For Radhakrishnan, art expresses religious and moral truth at a level where the self is most uniquely itself, because also universal...... For Shri Aurobindo, aesthetic experience enables divided beings (which men are) to glimpse the universal harmony ; the beauty beheld by the divine soul. This is still Abhinavagupta's conception of beauty which dominates Indian aesthetics to this day. In Abhinavagupta's theory aesthetic experience rises from sense (sight and hearing) to the transcendental universal, imaginatively and emotionally grasped, which improves the appreciator morally by lifting him into the bliss of the higher self...... Yet the sensuous level is not left behind. Indian art often presents the divine in frankly sensuous forms, with the conviction that all life is one in being and becoming and in the dualism of masculine and faminine.

'Aesthetic Values in the East and West', *Journal of Aesthetics and Art Criticism* Vol. XIX, No. I (Dec. 1960).

तुलनात्मक सौन्दर्यशास्त्र के आधारभूत सिद्धान्तों के विषय में सम्भवतः सबसे महत्त्वपूर्ण एवं अद्यतन निबंध प्रोफेसर आर्ची जे० बाम का 'कम्पैरेटिव एस्थेटिसिज्म' है जो गत वर्ष जर्नल आफ एस्थेटिक्स एण्ड आर्ट क्रिटिसिज्म के प्राच्य सौन्दर्यशास्त्र—विषयक विशेषांक (१९६५) के अन्तर्गत प्रकाशित हुआ था। प्रोफेसर बाम ने आरम्भ में ही कहा है कि बारह वर्षों तक पाश्चात्य सौन्दर्यशास्त्र का अध्यापन और प्राच्य सौन्दर्यशास्त्र का अध्ययन करने के पश्चात् वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि सौन्दर्यानुभूति आन्तरिक मूल्य की सहजानुभूति में निहित है। इस निबंध में उन्होंने हिन्दू, चीनी और पाश्चात्य सौन्दर्यशास्त्र की स्वरूपगत अवधारणाओं की तुलना करते हुए सौन्दर्यशास्त्रीय सिद्धान्त में निहित तत्त्व मीमांसापरक स्रोतों के अन्तर की ओर संकेत किया है।

इस प्रकार के तुलनात्मक प्रयास के खतरे के प्रति सावधान करते हुए प्रोफेसर बाम ने कहा है कि इन तीनों सभ्यताओं का इतिहास अत्यन्त दीर्घ, जटिल और विविध धाराओं में फूटकर रहा है, जिसमें विकास की सामान्य धारा के अनेक अपवाद भी विद्यमान हैं। इसलिए इनमें से प्रत्येक में सांस्कृतिक आदर्शों के विकासशील इतिहास के रूप को देखना चाहिए। इनके बीच पारस्परिक अन्तर को स्पष्ट करने के लिए संक्षिप्त सारांशों और एकांगी सामान्य सिद्धान्तों का सहारा लिया गया तो अतिसरलीकरण का खतरा पैदा होगा। इसलिए इस दिशा में भावी अनुसंधान की आशा में अधिक-से-अधिक साधारण प्रतिज्ञाओं के रूप में ही कुछ मान्यताएँ प्रस्तुत की जा सकती हैं।

प्रो० बाम इस तथ्य से भली भाँति अवगत हैं कि भारत, चीन और पश्चिम में से प्रत्येक का सौन्दर्यशास्त्र अपनी अपनी विशिष्ट संस्कृति एवं चिन्तन पद्धति की उपज है इसलिए इनमें से किसी एक की किसी सौन्दर्यशास्त्रीय अवधारणा को पूर्व संदर्भ से पृथक् करके उसकी समानताओं के आधार पर तुलना के लिए प्रस्तुत करना असम्भव है। इसलिए उन्होंने यथाशक्ति संक्षेप में उक्त तीनों संस्कृतियों के विशिष्ट ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य को स्पष्ट करने का प्रयास किया है। प्रस्तुत प्रसंग में केवल भारतीय और पाश्चात्य परंपराएँ ही विचारणीय हैं।

लेखक के अनुसार अनेक परस्पर विरोधी प्रवृत्तियों के बावजूद पाश्चात्य सौन्दर्यशास्त्र सामान्यतः उन वस्तुगुणों पर केन्द्रित रहा है जिनके कारण कोई कलाकृति अथवा सुन्दर वस्तु ग्राहक में सौन्दर्यानुभूति उत्पन्न करती है। ग्राहक की सौन्दर्यानुभूति पर विचार करते हुए भी पाश्चात्य सौन्दर्यशास्त्री कलावस्तु पर उन मानसिक प्रतिक्रियाओं का प्रक्षेपण करके वस्तुगत रूप से विचार करने की ही ओर विशेष रूप से प्रवृत्त रहे हैं।

दूसरी ओर हिन्दू दर्शन परमसत्ता को सत्, चित् और आनन्द रूप मानता है और तदनुसार सौन्दर्य को उस परमसत्ता की प्रातिभ प्रतीति। इस प्रकार हिन्दू चिन्तन में बल वस्तुगत सौन्दर्य से अधिक उसकी *प्रातिभ प्रतीति* पर है जिसका स्थान सहृदय का अन्तर्जगत है।

इस अन्तर में निहित तत्त्व मीमांसापरक आधार को स्पष्ट करते हुए प्रो० बाम कहते हैं कि पाश्चात्य सौन्दर्यशास्त्र दो विरोधी चिन्तन-परंपराओं पर प्रतिष्ठित है जिन्हें सामान्यतः इच्छापरक और बुद्धिपरक परंपराओं के नाम से अभिहित किया जाता है।

पाश्चात्य दर्शन अपने ग्रीक पूर्वजों का अनुसरण करते हुए प्रायः बुद्धि पर बल देता है और हिब्रू उत्तराधिकार के प्रभाव में इच्छाशक्ति पर। परवर्ती ईसाई परंपरा ने ग्रीक सिद्धान्त को पुष्ट किया जिसके परिणामस्वरूप पुनर्जागरण ने बुद्धि को सबसे मूल्यवान माना। वाम के अनुसार पाश्चात्य चिन्तन आज तक बुद्धि और इच्छा के इस द्वन्द्व से मुक्त नही हो सका है। इस द्वन्द्व ने सौन्दर्यशास्त्रीय अवधारणाओं को भी गहराई तक प्रभावित किया है।

इसके विपरीत हिन्दू चिन्तन में बुद्धि और इच्छा का द्वन्द्व अपेक्षाकृत नगण्य महत्त्व का है। वहाँ दोनो ही या तो भ्रम मात्र है अथवा सत् के विकृत या अधम रूप। हिन्दू दर्शन के अनुसार परमसत्ता बुद्धि के लिए ही नही, बल्कि इच्छा के लिए भी अलभ्य अथवा उन दोनों से ही अतीत एवं परे है। इसलिए हिन्दू दर्शन सौन्दर्यानुभूति की अवस्था को जिस आनन्द के रूप मे निरूपित करता है, वह पाश्चात्य चिन्तन की बुद्धि और इच्छापरक समस्त मानसिक शक्तियों से परे है। इस द्वन्द्व का अतिक्रमण कर सकने में समर्थ होने के कारण ही हिन्दू संस्कृति 'निर्वाण' और 'शून्य' जैसी अवधारणाओ तक पहुँच सकी। संभवतः इसीलिए भारतीय संगीत मे 'मौन' का इतना महत्त्व है जो श्रोताओं के लिए सर्वथा दुर्बोध है। सौन्दर्यानुभूति का द्योतक 'आनन्द' भी सम्भवतः इसी चिन्तन-परपरा से किसी-न-किसी प्रकार संबद्ध है। इसलिए जहाँ हिब्रू, ईसाई और मुस्लिम परंपरा ईश्वर के सम्मुख व्यक्ति की इच्छाशक्ति के समर्पण का विधान करती है, वहाँ हिन्दू परपरा में सीधे-सीधे इच्छाशून्य हो जाने की विधि है। इस प्रकार पाश्चात्य चिन्तन बुद्धि और इच्छा के जिस द्वन्द्व से पीड़ित है, उससे हिन्दू चिन्तन आरभ ही से सर्वथा मुक्त रहा। इसलिए पश्चिम ने उस द्वन्द्व के सामरस्य के लिए जहाँ 'त्रासदी' की रचना का विधान किया, हिन्दू परंपरा में उसके महत्त्व को स्वीकृति ही नही मिली।

उपर्युक्त अन्तर को रेखाकित करते हुए अन्त में प्रो० वाम इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि हिन्दू और पाश्चात्य सभ्यताओं के प्रधान आदर्श इतने परस्पर विरोधी है कि एक मे जो सर्वाधिक वास्तविक और शुभ है, वही दूसरे में न्यूनतम वास्तविक और शुभ है। इसलिए दोनों के सौन्दर्यशास्त्रों की प्रकृति भी परस्पर विरोधी है। इसलिए दोनों की तुलना का कार्य दुस्साध्य ही नही बल्कि असंभव प्रतीत होता है।[१]

तुलनात्मक सौन्दर्यशास्त्र के क्षेत्र में अद्यतन भारतीय प्रयासों मे से विशेषरूप से उल्लेखनीय **कृष्णचैतन्य** का ग्रंथ 'संस्कृतपो एटिक्स : ए क्रिटिकल एण्ड कम्पैरेटिव स्टडी' (१९६५) है। इस ग्रंथ में लेखक ने अपनी समझ से "प्राचीनतावादी विद्वानों की धूल-भरी पोथियों के संसार से संस्कृत काव्यशास्त्र की महान परपरा का जीर्णोद्धार कर उसे विश्व के विचार-प्रवाह के साथ एकात्म करने का प्रयास किया है।" कृष्णचैतन्य को शिकायत है

---

१ The dominating ideals of Hindu and Western civilization oppose each other so completely that what is taken as most real and good in the one is regarded as least real and good in the other........consequently, the aesthetic, as viewed from these opposing moods, is conceived as having antithetical natures. Generalizations about the nature of the aesthetic...........often appears impossible when the seemingly contradictory character of ideals of different civilizations comes to be understood. *Journal of Aesthetics and Art Criticism* (Dec. 1965), pp. 113-14.

कि संस्कृत काव्यशास्त्र पर अभी तक अंग्रेजी में जो ग्रंथ लिखे गए हैं वे बीच बीच में संस्कृत के पारिभाषिक शब्दों से इस प्रकार अन्तर्ग्रथित हैं कि केवल अंग्रेजी जाननेवाले पाठकों के लिए सर्वथा दुर्बोध हैं। इसलिए उन्होंने इन विघ्नों को अलग कर अंग्रेजी जानने वाले आधुनिक अध्येताओं के लिए अपना ग्रंथ लिखा है। उनका अपना विश्वास है कि संस्कृत काव्यशास्त्र की अवधारणाओं एवं मान्यताओं की सार्वभौम वैधता व्यापक तुलनात्मक अध्ययन से ही प्रतिष्ठित की जा सकती है। इसलिए उन्होंने काव्यशास्त्र विषयक भारतीय अनुसंधानों को प्लेटो से लेकर इलियट तक के यूरोपीय चिन्तकों के विचारों के साथ रखते हुए विश्लेषित किया है। किन्तु भारतीय एवं पाश्चात्य विचारों को साथ-साथ रखने की आतुरता ने लेखक नाम-परिगणना का ऐसा कुतूहलपूर्ण प्रदर्शन किया है कि सारा विवरण वास्तविक तुलना के स्थान पर केवल सूचीपत्र मात्र प्रतीत होता है। इस ग्रंथ का लेखक जिस त्वरा के साथ एक ही वाक्य में अभिनवगुप्त, कांट, क्रोचे, मलार्मे, इलियट प्रभृति दर्जनों नामों का उल्लेख करता है, उसमें भाष्य सिद्ध होती है। इस त्वरा में कभी कभी परस्पर विरोधी बातें भी निकल पड़ती हैं, जैसे रस की अलौकिकता निरूपित करने के बाद ही आगे चलकर वे संस्कृत काव्यशास्त्र के रस विषयक मत को प्रकृतवादी ड्यूई के समान बताते हैं। इसी प्रकार भरत के विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्ति को टी० एस० इलियट के ऑब्जेक्टिव कोरिलेटिव के तुल्य कहने के साथ कोई युक्ति व्याख्या या प्रमाण देना भी अपर्याप्त लगता है। फिर भी इन त्रुटियों के बावजूद कृष्णचैतन्य के ग्रंथ में कुछ मान्यताओं का विवेचन महत्त्वपूर्ण है, जैसे ध्वनि सिद्धान्त की तुलना में मलार्मे और पाल वैलेरी के प्रतीकवादी काव्य सिद्धान्त का निरूपण। पार्ट्री एण्ड लिबरेशन शीर्षक अध्याय में पुरुषार्थों के संदर्भ में काव्य के उद्देश्य का तुलनात्मक विवेचन पर्याप्त गम्भीर है। इस ग्रंथ का सबसे मौलिक अध्याय है व्यास का सौंदर्यशास्त्रीय विश्व-दर्शन, जिसमें महाभारत और गीता में निहित सौंदर्यशास्त्र संबंधी मान्यताओं का व्याख्यान किया गया है। निष्कर्षस्वरूप कृष्णचैतन्य का यह कथन उल्लेखनीय है— भारतीय चिन्तन और विश्व चिन्तन में आश्चर्यजनक समानता है किन्तु संस्कृत-परंपरा में पूर्ण सिद्धान्त का जितना ब्यौरेवार, सुनिश्चित, सुव्यवस्थित और पूर्ण विवेचन मिलता है अन्यत्र उसका सादृश्य ढूँढ पाना असम्भव है।[1]

टामस मुनरो का सद्यः प्रकाशित ग्रंथ ओरिएण्टल एस्थेटिक्स (१९६५) अपने भ्रमोत्पादक शीर्षक के बावजूद तुलनात्मक सौंदर्यशास्त्र का नवीनतम एवं युगान्तरकारी ग्रंथ है। इसकी समीक्षा[2] करते हुए प्रो० आर्ची जे० बाम ने इसे तुलनात्मक सौंदर्यशास्त्र के इतिहास में लैण्डमार्क कहा है। इस ग्रंथ की आधिकारिकता के पीछे जर्नल ऑफ एस्थेटिक्स एण्ड आर्ट क्रिटिसिज्म का लम्बा सम्पादकीय अनुभव और प्राच्य कला

---

[1] There is astonishing congruence between Indian thought and world thought though it may not be possible to find a parallel elsewhere for the complete integrated statement of the whole theory as a precise and detailed formulation that we find in the Sanskrit tradition

Sanskrit Poetics, p 13

[2] जर्नल ऑफ एस्थेटिक्स एण्ड आर्ट क्रिटिसिज्म जिल्द २४, अंक ४, १९६६

संबंधी लगभग तीस वर्षों के विस्तृत अध्ययन का आधार है। इसके अतिरिक्त पाश्चात्य सौन्दर्यशास्त्र की ओर से किसी भी अन्य पाश्चात्य कला-मर्मज्ञ के समान ही मुनरो को भी बोलने का अधिकार है। इस ग्रंथ का महत्त्व तुलनात्मक तथ्यों से अधिक तुलनात्मक पद्धति एवं आगे कार्य करने की दिशा की ओर संकेत करने में है।

मुनरो की एक अपनी सौन्दर्यशास्त्रीय दृष्टि है जिसे सामान्यतः प्रकृतवादी कहा जाता है। प्राच्य सौन्दर्यशास्त्र इस प्रकृतवादी दृष्टि के विपरीत प्राय. आध्यात्मिक कहा जाता है। इस विरोध ने मुनरो को वह पैनी अन्तर्दृष्टि प्रदान की, जिससे वह प्राच्य कला की स्वकीय विशेषताओं को भली-भाँति पहचान सके। प्राच्य कला-सिद्धान्तों को सद्‌भावना, मिथ्या प्रशस्ति की अपेक्षा मुनरो ने तीक्ष्ण विश्लेपणात्मक दृष्टि से परखा है और उसकी तथाकथित रहस्यवादिता एवं आध्यात्मिकता की कड़ी आलोचना भी की है। परन्तु यहाँ अनेक अन्य पाश्चात्य विचारकों के समान मुनरो भी भ्रम के शिकार हो गए। जैसा कि इस ग्रंथ के विचक्षण समीक्षक प्रो० वाम ने कहा है, सम्पूर्ण प्राच्य सौन्दर्यशास्त्र को आध्यात्मिक एवं आधिभौतिक समझने में मुनरो से भूल हुई, क्योकि चीनी विचारधारा तो निश्चित रूप से न्यूनतम आध्यात्मिक है और भारतीय चिन्तन भी सौन्दर्यशास्त्र के विपय मे प्रकृतवादी एवं अध्यात्मवादी, दो एकान्त छोरों के बीच मध्यम मार्ग का अनुसरण करता है।

इस एक दृष्टिभ्रम के बावजूद मुनरो के इस ग्रंथ मे यत्र-तत्र अनेक अन्तर्दृष्टिपूर्ण विचार-स्फुलिंग मिलते हैं। उदाहरण के लिए अभिनवगुप्त और उनके अनुयायियो द्वारा निरूपित रस-भेद पाश्चात्य सौन्दर्यशास्त्र की 'सुन्दर', 'विरूप', 'उदात्त', 'त्रासद', 'कामद' आदि परंपरागत सौन्दर्यशास्त्रीय अवधारणाओं के साथ तुलना के लिए प्रेरित करते है।[१]

इसी प्रकार मुनरो के अनुसार "पाश्चात्य मनोवैज्ञानिक सौन्दर्यशास्त्र रस-सिद्धान्त से सौन्दर्यानुभूति के विभिन्न भावमूलक रूपों के वर्गीकरण की पद्धति सीख सकता है।"[२] हिब्रू एव ईसाई परंपरा से उत्तराधिकार मे प्राप्त संस्कार के कारण पाश्चात्य चिन्तन जहाँ ऐन्द्रिय आनन्द और आध्यात्मिक आनन्द को परस्पर विरोधी मानकर ऐन्द्रिय आनन्द में पाप-बोध का अनुभव करता है, वहाँ मुनरो के अनुसार हिन्दू दर्शन ऐन्द्रिय और आध्यात्मिक अनुभवो को परस्पर सम्बद्ध एवं पूर्वापर क्रम में निरूपित कर किसी भी प्रकार के पाप-बोध की पीडा से मुक्त है।[३]

प्रो० वाम के समान मुनरो ने भी इस वात पर वल दिया है कि पाश्चात्य सौन्दर्य-शास्त्र कला-विश्लेपण के विपय मे वस्तुनिष्ठ है तो प्राच्य सौन्दर्यशास्त्र विषयिनिष्ठ। परिणामस्वरूप पश्चिम मे कलावस्तु के वस्तुगत गुणो के अधिकाधिक आकलन मे रुचि ली जाती है तो पूर्व मे ग्राहकगत सौन्दर्यानुभूनि की जटिल दशा का सूक्ष्मतम विश्लेषण करने की ओर विशेष ध्यान दिया जाता है।[४] फिर भी मुनरो इस अन्तर को अतिरंजित करने

---

१ ओरिएण्टल एस्थेटिक्स, पृ० ३६
२ वही, पृ० ३७
३ वही, पृ० ३६
४ वही, पृ० ६६

कि संस्कृत काव्यशास्त्र पर अभी तक अंग्रेजी में जो ग्रंथ लिखे गए हैं वे बीच बीच में संस्कृत के पारिभाषिक शब्दों से इस प्रकार अंतर्ग्रथित हैं कि केवल अंग्रेजी जाननेवाले पाठकों के लिए सर्वथा दुर्बोध हैं। इसलिए उन्होंने इन विघ्नों को अलग कर अंग्रेजी जानने वाले आधुनिक अध्येताओं के लिए अपना ग्रंथ लिखा है। उनका अपना विश्वास है कि संस्कृत काव्यशास्त्र की अवधारणाओं एवं मान्यताओं की सार्वभौम वैधता व्यापक तुलनात्मक अध्ययन से ही प्रतिष्ठित की जा सकती है। इसलिए उन्होंने काव्यशास्त्र विषयक भारतीय अनुसंधानों को प्लेटो से लेकर इलियट तक के यूरोपीय चिन्तकों के विचारों के साथ रखते हुए विश्लेषित किया है। किन्तु भारतीय एवं पाश्चात्य विचारों को साथ-साथ रखने की आतुरता ने लेखक नाम-परिगणना का ऐसा कुतूहलपूर्ण प्रदर्शन किया है कि सारा विवरण वास्तविक तुलना के स्थान पर केवल सूचीपत्र मात्र प्रतीत होता है। इस ग्रंथ का लेखक जिस त्वरा के साथ एक ही वाक्य में अभिनवगुप्त, कांट, वैलरी, मलार्मे, इलियट प्रभृति दर्जनों नामों का उल्लेख करता है उससे प्रायः खिन्नता होती है। इस त्वरा में कभी कभी परस्पर विरोधी बातें भी निकल पड़ती हैं, जैसे रस की अलौकिकता निरूपित करने के बाद ही आप चलकर वे संस्कृत काव्यशास्त्र के रस विषयक मत को प्रकृतवादी ड्यूई के समान बताते हैं। इसी प्रकार भरत के 'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः' को टी० एस० इलियट के 'आब्जेक्टिव कोरिलेटिव' के तुल्य कहने के साथ कोई युक्ति, व्याख्या या प्रमाण देना भी अपर्याप्त लगता है। फिर भी इन त्रुटियों के बावजूद कृष्ण चैतन्य के ग्रंथ में कुछ मान्यताओं का विवेचन महत्त्वपूर्ण है, जैसे ध्वनि सिद्धान्त की तुलना में मलार्मे और पाल वलेरी के प्रतीकवादी काव्य सिद्धान्त का निरूपण। 'पोएट्री एण्ड लिबरेशन' शीर्षक अध्याय में पुरुषार्थों के सन्दर्भ में काव्य के उद्देश्य का तुलनात्मक विवेचन पर्याप्त गम्भीर है। इस ग्रंथ का सबसे मौलिक अध्याय है 'व्यास का सौन्दर्यशास्त्रीय विश्व-दर्शन' जिसमें महाभारत और गीता में निहित सौन्दर्यशास्त्र संबंधी मान्यताओं का व्याख्यान किया गया है। निष्कर्षस्वरूप कृष्ण चैतन्य का यह कथन उल्लेखनीय है— भारतीय चिंतन और विश्व चिन्तन में आश्चर्यजनक समानता है किन्तु संस्कृत-परंपरा में पूर्ण सिद्धान्त का जितना व्यौरेवार, सुनिश्चित, सुव्यवस्थित और पूर्ण विवेचन मिलता है अन्यत्र उसका सादृश्य ढूँढ पाना असम्भव है।[1]

टामस मुनरो का सद्य प्रकाशित ग्रंथ 'ओरिएण्टल एस्थेटिक्स' (१९६५) अपने अमोत्पादक शीर्षक के बावजूद तुलनात्मक सौन्दर्यशास्त्र का नवीनतम एवं युगान्तरकारी ग्रंथ है। इसकी समीक्षा[2] करते हुए प्रो० आर्ची जे० बाम ने इस तुलनात्मक सौन्दर्यशास्त्र के इतिहास में 'लैण्डमार्क' कहा है। इस ग्रंथ की आधिकारिकता के पीछे 'जर्नल ऑफ एस्थेटिक्स एण्ड आर्ट क्रिटिसिज्म' का लम्बा सम्पादकीय अनुभव और प्राच्य कला

---

[1] There is astonishing congruence between Indian thought and world thought though it *may not be* possible to find a parallel elsewhere for the complete *integrated statement* of the whole theory as a precise and detailed formulation that we find in the Sanskrit tradition

Sanskrit Poetics, p 13

[2] जर्नल ऑफ एस्थेटिक्स एण्ड आर्ट क्रिटिसिज्म, जिल्द २४, अंक ४, १९६६

संबंधी लगभग तीस वर्षों के विस्तृत अध्ययन का आधार है। इसके अतिरिक्त पाश्चात्य सौन्दर्यशास्त्र की ओर से किसी भी अन्य पाश्चात्य कला-मर्मज्ञ के समान ही मुनरो को भी बोलने का अधिकार है। इस ग्रंथ का महत्त्व तुलनात्मक तथ्यों से अधिक तुलनात्मक पद्धति एवं आगे कार्य करने की दिशा की ओर संकेत करने में है।

मुनरो की एक अपनी सौन्दर्यशास्त्रीय दृष्टि है जिसे सामान्यतः प्रकृतवादी कहा जाता है। प्राच्य सौन्दर्यशास्त्र इस प्रकृतवादी दृष्टि के विपरीत प्रायः आध्यात्मिक कहा जाता है। इस विरोध ने मुनरो को वह पैनी अन्तर्दृष्टि प्रदान की, जिससे वह प्राच्य कला की स्वकीय विशेषताओं को भली-भाँति पहचान सके। प्राच्य कला-सिद्धान्तों को सद्भावना, मिथ्या प्रशस्ति की अपेक्षा मुनरो ने तीक्ष्ण विश्लेषणात्मक दृष्टि से परखा है और उसकी तथाकथित रहस्यवादिता एवं आध्यात्मिकता की कड़ी आलोचना भी की है। परन्तु यहाँ अनेक अन्य पाश्चात्य विचारकों के समान मुनरो भी भ्रम के शिकार हो गए। जैसा कि इस ग्रंथ के विचक्षण समीक्षक प्रो० वाम ने कहा है, सम्पूर्ण प्राच्य सौन्दर्यशास्त्र को आध्यात्मिक एवं आधिभौतिक समझने में मुनरो से भूल हुई, क्योंकि चीनी विचारधारा तो निश्चित रूप से न्यूनतम आध्यात्मिक है और भारतीय चिन्तन भी सौन्दर्यशास्त्र के विषय में प्रकृतवादी एवं अध्यात्मवादी, दो एकान्त छोरों के बीच मध्यम मार्ग का अनुसरण करता है।

इस एक दृष्टिभ्रम के बावजूद मुनरो के इस ग्रंथ में यत्र-तत्र अनेक अन्तर्दृष्टिपूर्ण विचार-स्फुलिंग मिलते हैं। उदाहरण के लिए अभिनवगुप्त और उनके अनुयायियों द्वारा निरूपित रस-भेद पाश्चात्य सौन्दर्यशास्त्र की 'सुन्दर', 'विरूप', 'उदात्त', 'त्रासद', 'कामद' आदि परंपरागत सौन्दर्यशास्त्रीय अवधारणाओं के साथ तुलना के लिए प्रेरित करते हैं।[1]

इसी प्रकार मुनरो के अनुसार "पाश्चात्य मनोवैज्ञानिक सौन्दर्यशास्त्र रस-सिद्धान्त से सौन्दर्यानुभूति के विभिन्न भावमूलक रूपों के वर्गीकरण की पद्धति सीख सकता है।"[2] हिब्रू एवं ईसाई परंपरा से उत्तराधिकार में प्राप्त संस्कार के कारण पाश्चात्य चिन्तन जहाँ ऐन्द्रिय आनन्द और आध्यात्मिक आनन्द को परस्पर विरोधी मानकर ऐन्द्रिय आनन्द में पाप-बोध का अनुभव करता है, वहाँ मुनरो के अनुसार हिन्दू दर्शन ऐन्द्रिय और आध्यात्मिक अनुभवों को परस्पर सम्बद्ध एवं पूर्वापर क्रम में निरूपित कर किसी भी प्रकार के पाप-बोध की पीड़ा से मुक्त है।[3]

प्रो० वाम के समान मुनरो ने भी इस बात पर बल दिया है कि पाश्चात्य सौन्दर्यशास्त्र कला-विश्लेषण के विषय में वस्तुनिष्ठ है तो प्राच्य सौन्दर्यशास्त्र विषयिनिष्ठ। परिणामस्वरूप पश्चिम में कलावस्तु के वस्तुगत गुणों के अधिकाधिक आकलन में रुचि ली जाती है तो पूर्व में ग्राहकगत सौन्दर्यानुभूति की जटिल दशा का सूक्ष्मतम विश्लेषण करने की ओर विशेष ध्यान दिया जाता है।[4] फिर भी मुनरो इस अन्तर को अतिरंजित करने

---

[1] ओरिएण्टल एस्थेटिक्स, पृ० ३६
[2] वही, पृ० ३७
[3] वही, पृ० ३६
[4] वही, पृ० ६६

का निषेध करते हुए स्वीकार करते हैं कि यह अन्तर बहुत-कुछ मात्रागत है यद्यपि दोनों भागों में इसके अपवाद विद्यमान हैं।[1]

प्राचीन भारतीय कला सिद्धान्त और यूरोप के मध्ययुगीन कला सिद्धान्तों में सादृश्य को परिलक्षित करते हुए मुनरो ने लिखा है कि दोनों का सामाजिक आधार भी बहुत कुछ समान है। जिस प्रकार भारत में जाति व्यवस्था का विकास हुआ उसी प्रकार मध्ययुगीन यूरोप में चर्च और राज्य दोनों से सम्बन्धित क्षेत्रों में सामन्ती व्यवस्था स्थापित हुई। फलस्वरूप इन आधारों पर स्तरीकृत (hierarchical) मूल्यों का सौन्दर्यशास्त्र निर्मित हुआ जिसके अनुसार कुछ कलाएँ अन्य कलाओं से अधिक मूल्यवान तथा उच्चस्तरीय मानी जाती हैं और इसी प्रकार सौन्दर्यानुभूति के भी कई स्तर होते हैं जिनमें से आध्यात्मिक निर्वैयक्तिक एवं साधारणीकृत सौन्दर्यानुभूति का स्तर सर्वोच्च होता है।[2]

अन्त में मुनरो ने प्राच्य सौन्दर्यशास्त्र से उन तत्त्वों का चयन किया है जो उनकी दृष्टि में आधुनिक पाश्चात्य सौन्दर्यशास्त्र के लिए उपयोगी हो सकते हैं। उनके विचार से सौन्दर्यशास्त्रीय मान्यताओं को धार्मिक एवं दार्शनिक विचार प्रणालियों से पृथक् करना सर्वथा सम्भव है। स्वयं प्राच्य दार्शनिक प्राच्य सौन्दर्यशास्त्र में जिन रहस्यवादी और अतीन्द्रिय तत्त्वों पर बल देते हैं वे पश्चिम के लिए विशेष मूल्यवान नहीं हैं। मूल्यवान सिद्धान्त वे हैं जो इस धरती पर कला विषयक प्रत्यक्ष अनुभव के विवरण हैं और जिनमें महान् कलाकारों तथा कला समीक्षकों की मनोवैज्ञानिक सामाजिक अन्तर्दृष्टि सुरक्षित है जैसे रस सिद्धान्त। इसमें निहित अधिकांश ज्ञान और मूल्य बोध कला एवं सौन्दर्य-सम्बन्धी व्यावहारिक दैनन्दिन क्रिया कलाप से निःसृत है जो पाश्चात्य अनुभव से बहुत दूर नहीं है।[3]

फिर प्राच्य एवं पाश्चात्य सौन्दर्यशास्त्रों में निहित अन्तर मुनरो की दृष्टि से अलक्षित नहीं है। उन्होंने स्पष्ट कहा है कि प्राच्य और पाश्चात्य विश्व-दृष्टियों एवं कला सम्बन्धी अवधारणाओं के बीच सरलता से सामंजस्य की कल्पना करना प्रवंचनामात्र है। प्राच्य-पाश्चात्य सम्मेलनों के सद्भावनापूर्ण वातावरण में दोनों भू भागों के अनेक विद्वान् इस आत्मप्रवंचना के शिकार हो जाते हैं। इसलिए तुलनात्मक सहमति और असहमति के क्षेत्रों को स्पष्टतः सीमांकित करना प्रथम आवश्यकता है। जब सभी स्पर्धी सिद्धान्त विश्व मत के प्रांगण में प्रस्तुत कर दिए जाएँगे तो हम देख सकेंगे कि कौन सी कसौटी पर खरा उतरने वाला सर्वोत्तम सिद्धान्त कौन है? इस कसौटी में केवल बौद्धिक युक्तियाँ ही नहीं बल्कि कला एवं जीवन के अन्य क्षेत्रों में व्यावहारिक विनियोग भी सम्मिलित है।[4]

---

[1] ओरिएण्टल एस्थटिक्स पृ० ७१

[2] वही, पृ० ७६

[3] वही, पृ० १३३

[4] It is mere self delusion to suppose that the oriental and occidental world views including their conception of art can be easily reconciled This is a delusion to which many scholars on both sides have succumbed in the warm glow of cordial East West conferences the first step needed is a clearer demarcation of the areas of comparative agreement and disagreement When all competing theories are placed in the arena [illegible] h best survive the test of time [illegible] ectual argument but practical *Oriental Aesthetics* pp 135 36

निष्कर्ष

तुलनात्मक सौन्दर्यशास्त्र के क्षेत्र में विगत आधी शताब्दी में जो कार्य हुआ है, उसका सर्वेक्षण करने से मुख्यतः दो प्रकार के तथ्य उभरकर सामने आते है : १. प्राच्य और पाश्चात्य सौन्दर्यशास्त्र की तुलनीय अवधारणाओं के चयन में निरन्तर वृद्धि, और २. तुलनात्मक पद्धति को अधिकाधिक व्यवस्थित एवं परिष्कृत करने का प्रयास।

जहाँ तक तुलनीय अवधारणाओं के चयन का प्रश्न है, इस विषय में प्रायः सभी विचारक एकमत है कि प्राचीन भारतीय सौन्दर्यशास्त्र की सबसे महत्त्वपूर्ण अवधारणा 'रस' है, और पाश्चात्य सौन्दर्यशास्त्र एवं काव्यशास्त्र से इस 'रस' के विभिन्न अंगों के साथ ही तुलनीय सिद्धान्तों को खोजने की दिशा मे सर्वाधिक प्रयास भी किया गया है। इतना निश्चित है कि पश्चिम में रस-सिद्धान्त के समकक्ष बना-बनाया कोई एक सिद्धान्त प्राप्य नहीं है, इसलिए अनुसन्धाता की अपनी अन्तर्दृष्टि एवं पाश्चात्य सौन्दर्यशास्त्र-विषयक परिचय की व्याप्ति पर यह निर्भर है कि वह कितने तुलनीय तत्त्व ढूँढ निकालता है। कहना न होगा कि चिन्तन-क्रम मे इन तत्त्वों की संख्या में निरन्तर वृद्धि हुई है।

किन्तु तुलनीय तत्त्वों की संख्या-वृद्धि से भी अधिक महत्त्वपूर्ण है तुलनात्मक पद्धति। इस दिशा में प्रगति स्पष्ट है। पहले जहाँ दोनों क्षेत्रो से यदृच्छापूर्वक सन्दर्भ-विच्छिन्न सौन्दर्य-शास्त्रीय तत्त्वो को लेकर बलात् समानता दिखाने का प्रयास किया जाता था, अब उस पद्धति की सीमा स्पष्ट हो चुकी है। अब यह अनुभव किया जाने लगा है कि प्रत्येक सौन्दर्यशास्त्रीय अवधारणा संस्कृति-विशेष की उपज होती है, इसलिए किसी अन्यदेशीय अवधारणा के साथ उसकी तुलना करते समय परिवेष्ठित करनेवाली चिन्तन-प्रणाली, मूल्य-व्यवस्था एवं सांस्कृतिक सन्दर्भ को दृष्टि में रखना नितान्त आवश्यक है। इसलिए पाश्चात्य सौन्दर्यशास्त्रीय सिद्धान्तो के साथ भारतीय रस-सिद्धान्त की तुलना करने से पूर्व दोनों के ऐतिहासिक विकास की पृष्ठभूमि विशेषरूप से द्रष्टव्य है।

२

रस-चिन्तन का ऐतिहासिक विकास

रस सौन्दर्यशास्त्र का विशिष्ट भारतीय प्रमेय है। जिस प्रकार पाश्चात्य कला चिन्तन की केन्द्रीय सकल्पना सौन्दर्य है और सुदूरपूर्व जापान का कला चिन्तन 'यूगेन'[1] पर केन्द्रित है तथा चीनी कला चिन्तन की मुख्य अवधारणा ध्वनि बोधक है उसी प्रकार भारतीय कला चिन्तन का अपना विशिष्ट अन्वेषण रस है। जैसा कि सुप्रसिद्ध फ्रासीसी प्राच्य विद्याविशारद लुई रेनू ने कहा है— भारत की प्रतिभा से ज्ञान की जितनी भी शाखाएँ उत्पन्न हुई हैं उनमें सौन्दर्यशास्त्र जितने गहरे रूप में भारतीय है उतना और कोई नहीं।[2] भारतीय सौन्दर्यशास्त्र की इस ठेठ भारतीयता का सबसे अधिक प्रबल प्रमाण रस सिद्धान्त है। रस की परिकल्पना के पीछे भारतीय मनीषियों की तत्त्वान्वेषी वृत्ति का व्यापक परिवेश है। पदार्थों के सार-तत्त्व के रूप में रस सज्ञा का प्रयोग भारत में आरम्भ से ही सामान्य व्यवहार एव ज्ञान विज्ञान की अनेक शाखाओं में प्रचलित रहा है। वेदों में मधु, दुग्ध, सोम, जल आदि के लिए जिस प्रकार रस शब्द का प्रयोग किया गया है उससे स्पष्ट है कि पदार्थ-सार ही रस है। सम्भवत इसी आधार पर आगे चलकर आयुर्वेद में द्रव्य गुण, धातु शक्ति, पदार्थ स्वाद आदि के लिए रस सज्ञा ग्राह्य हुई जिसका स्थाय पारद तथा वीर्य के रूप में हुआ। उपनिषदों में जिस प्रकार वेदों की अनेक भौतिक सकल्पनाओं का सूक्ष्म आध्यात्मिक रूप लिया गया उसी प्रकार रस का भी आध्यात्मिक रूपान्तर हुआ। बृहदारण्यक उपनिषद में प्राणों का अगारस रस कहकर रस को सारभूत तत्त्व के रूप में स्वीकार किया गया तो तैत्तिरीय उपनिषद में स्वय ब्रह्म को ही रस रूप कहा गया है।[3] छान्दोग्य उपनिषद में रस के आठ प्रकारों का उल्लेख करते हुए क्रमश स्थूल से सूक्ष्म होने की सम्पूर्ण प्रक्रिया का विवरण प्रस्तुत किया गया है— इन भूतों का रस पृथ्वी है। पृथ्वी का रस जल है। जल का रस उस पर निर्भर रहने वाली ओषधियाँ हैं। ओषधियों का रस पुरुष है। पुरुष का रस वाणी है। वाणी का रस ऋचा है। ऋचा का रस साम है। साम का रस उद्गीथ है।[4]

---

[1] जिसका शाब्दिक अनुवाद कठिन है, जो 'कलाकृति के माध्यम से व्यजित पदार्थगत आन्तरिक गहन सौन्दर्य" का बोधक है।

[2] Of all the branches of learning wh ch stem from the genius of India few are as profoundly Indian as Aesthetics *Dıogenes* No 1 1953 pp 129 30

[3] रसो वै स। तैत्तिरीयोपनिषद २।७

[4] एषां भूतानां पृथिवी रस। पृथिव्या आपो रस। अपामोषधयो रस। ओषधीनां पुरुषो रस। पुरुषस्य वाग रस। वाच ऋग रस। ऋच साम रस। साम उदगीथो रस। छान्दोग्योपनिषद १।१।२ ३

उपनिषदों के साथ ही रस संज्ञा का प्रवेश दर्शनशास्त्र के अन्तर्गत हुआ और भारतीय दर्शन की प्राचीनतम धाराओं में से एक सांख्य ने रस को अपनी विचार-प्रणाली में महत्त्वपूर्ण स्थान दिया। सांख्यशास्त्र की विषय-पद्धति मे पंच महाभूतों की प्रकृति पर विचार करते हुए ज्ञातृ-निरपेक्ष वस्तु-मात्र के लिए रस संज्ञा का प्रयोग किया गया है।[१] इस प्रकार काव्यशास्त्रीय प्रमेय के रूप में प्रतिष्ठित होने से पूर्व रस की पदार्थ-वैज्ञानिक, आध्यात्मिक और दार्शनिक परंपराएँ अत्यन्त विकसित रूप में भली-भाँति प्रचलित थीं। वात्स्यायन के 'काम-सूत्र' में भी रस शब्द प्रयुक्त हुआ है। वहाँ रस को रति, प्रीति, राग, वेग आदि का पर्याय कहा गया है।[२] इस आधार पर कुछ विद्वानों ने यह अनुमान लगाया है कि कामसूत्रकार वात्स्यायन के ही युग में या उसके आसपास रस शब्द के शास्त्रीय अर्थ का आविर्भाव हो गया होगा।[३] भरत के 'नाट्यशास्त्र' में रस-सिद्धान्त को जिस प्रकार व्यवस्थित रूप दिया गया है वह विद्वानों के अनुसार तत्कालीन आयुर्वेद के अन्तर्गत विकसित रस-चर्चा के सर्वथा समानान्तर है। विद्वानों ने तो यहाँ तक लक्ष्य किया है कि भरत मुनि ने रस के अतिरिक्त भाव, भावना आदि शब्द भी सुश्रुत-प्रणीत आयुर्वेद-संहिता से ग्रहण किए हैं।[४] अन्य क्षेत्रों से गृहीत होने के कारण ही रस काव्यशास्त्र के अन्तर्गत आरम्भ में कुछ अपरिचित-सा था। इसीलिए 'नाट्यशास्त्र' में भरत को यह प्रश्न करना पड़ा कि 'रस इति कः पदार्थः' ?[५]

भरत : रस इति कः पदार्थः

भरत मुनि का 'नाट्यशास्त्र' (चतुर्थ शताब्दी) ही प्राचीनतम उपलब्ध ग्रंथ है जिससे काव्यशास्त्रीय रस-सिद्धान्त का सूत्रपात होता है। भरत मुनि ने रस का सैद्धान्तिक विवेचन करने के साथ ही अपने ढंग से काव्यशास्त्रीय रस की पूर्ववर्ती परंपरा के इतिहास के भी संकेत दिए है। प्रत्येक अवधारणा के मूल उत्स को वेदों से संबद्ध करने की भारतीय परंपरा के सर्वथा अनुरूप ही भरत मुनि ने रस को अथर्ववेद से गृहीत माना है।[६] इसके अतिरिक्त उन्होंने ब्रह्मा, द्रुहिण, सदाशिव भरत, ब्रह्म भरत, आदि भरत, भरत वृद्ध, तण्डु, नन्दि, नन्दिकेश्वर, वासुकि, शौद्धोदनि, शिलालिन्, कृशाश्व आदि पूर्ववर्ती नाट्याचार्यों एवं रसाचार्यों का ऋण स्वीकार किया है। उन्होने यह भी लिखा है कि उनसे पूर्व रस की दो परंपराएँ प्रचलित थीं। एक थी द्रुहिण की जो आठ रस मानते थे, और दूसरी वासुकि की जो शान्त रस नामक नवाँ रस भी मानते थे। इन दोनों परंपराओं में स्वयं भरत मुनि ने द्रुहिण की अष्ट-रस वाली परंपरा का अपेक्षाकृत अधिक स्पष्टता के साथ निर्देश किया है। किन्तु उन्होने वासुकि की परंपरा का भी यथास्थान आधार ग्रहण किया है।

रस का विवेचन भरत ने नाट्य-रस के रूप में किया है। उनके अनुसार रस नाट्य

---

१ डॉ० सुरेन्द्र बारलिंगे : सौन्दर्य तत्त्व और काव्य-सिद्धान्त, पृ० ६०

२ रसो रतिः प्रीतिर्भावो रागो वेगः समाप्तिरिति रतिपर्यायः। कामसूत्र २।१।६५

३ डॉ० नगेन्द्र : रस-सिद्धान्त, पृ० ८

४ डी० के० बेडेकर : 'रस-सिद्धान्त का स्वरूप', आलोचना, अप्रैल ३, १९५२, पृ० ६८

५ नाट्यशास्त्र, भाग १, पृ० २८८

६ रसानाथर्वणादपि। नाट्यशास्त्र, १।१७

की परिणति है किन्तु प्रयोगसिद्धि के लिए नाट्य में अन्य अनेक बातों की आवश्यकता होती है जैसे आठ रस, उनचास भाव, चतुर्विध अभिनय, द्विविध धर्मी, चार वृत्तियाँ, चार प्रवृत्तियाँ, द्विविध सिद्धि, स्वर, आतोद्य, गान, संगीत तथा त्रिविध रंग आदि।[1] मुनि के अनुसार ये सब मिलाकर नाट्य-संग्रह है। अपने नाट्यशास्त्र में उन्होंने यथाक्रम इन समस्त विषयों का विवरण प्रस्तुत किया है। इस विषय-सूची से भरत-कृत रस विवेचन के व्यापक परिप्रेक्ष्य का ज्ञान होता है। नाट्यशास्त्र के अन्तर्गत उन्होंने नाट्य के साथ ही नृत्य, संगीत, मण्डप रचना, चित्र आदि कलाओं की जैसी विस्तृत चर्चा की है उससे यह निष्कर्ष निकालना अनुचित न होगा कि भरत मुनि ने सम्पूर्ण कलाओं के सन्दर्भ में रस निरूपण किया है। सारांश यह कि भरत निरूपित रस तत्त्व व्यापक सौन्दर्यशास्त्रीय अवधारणा है।

भरत मुनि ने निर्भ्रान्त रूप में रस के महत्त्व पर बल देते हुए कहा है कि रस के बिना कोई अर्थ प्रवर्तित हो ही नहीं सकता।[2] इस कथन से स्पष्ट है कि वे रस को काव्य में सर्वाधिक महत्त्व देते थे। सम्भवतः भरत मुनि रस को नाट्य का सारभूत तत्त्व मानते थे जिसके आधार पर परवर्ती आचार्यों ने रस को काव्यात्मा के रूप में प्रतिष्ठित करने का प्रयास किया।

भरत के सम्पूर्ण रस प्रपंच के आधारभूत विषय दो ही हैं : १. नाट्य में रस की निष्पत्ति और २. नाट्य रस का प्रेक्षक द्वारा आस्वाद। इन दोनों विषयों से संबद्ध क्रमशः दो प्रश्न हैं : १. रस इति कः पदार्थः अर्थात् रस क्या पदार्थ है? और २. कथमास्वाद्यते रसः अर्थात् रस का आस्वाद किस प्रकार होता है? पहले प्रश्न का उत्तर देते हुए भरत मुनि ने कहा है कि जिस प्रकार नाना व्यंजनों, ओषधियों और द्रव्यों के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है अथवा जिस प्रकार गुड़ आदि द्रव्यों, व्यंजनों एवं ओषधियों से षट् रस उत्पन्न होते हैं उसी प्रकार कवि-हृदयगत स्थायी भाव विभिन्न प्रकार के भावों अर्थात् विभावादि के रूप को प्राप्त होने पर ही रसत्व को प्राप्त होते हैं।[3] दूसरे प्रश्न का उत्तर देते हुए उन्होंने यह कहा है कि जिस प्रकार नाना व्यंजनों से संस्कृत अन्न का भोग करते हुए सुमनस पुरुष रस का आस्वाद लेते हैं और हर्षादि के प्रति अग्रसर होते हैं उसी प्रकार नाना भाव और अभिनय इत्यादि से युक्त तथा वागंगसत्त्व से रूपान्तरित स्थायी भावों का सुमनस प्रेक्षक आस्वाद लेते हैं और हर्षादि के प्रति अग्रसर होते हैं।[4] आस्वाद्य और

---

[1] रसाभावह्यभिनया धर्मावृत्तिप्रवृत्तयः।
सिद्धिः स्वरास्तथातोद्यं गानं रङ्गश्च संग्रहः ॥ नाट्यशास्त्र भाग १ ६।१०

[2] न हि रसादृते कश्चिदर्थः प्रवर्तते। वही पृ० २७२

[3] यथा हि नाना व्यंजनौषधिद्रव्यसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः तथा नाना भावोपगमाद्रसनिष्पत्तिः। यथा हि—गुडादिभिर्द्रव्यैर्व्यंजनैरौषधिभिश्च षाडवादयो रसा निर्वर्त्यन्ते तथा नाना भावोपगता अपि स्थायिनो भावा रसत्वमाप्नुवन्तीति। अत्राह रस इति कः पदार्थः। उच्यते आस्वाद्यत्वात्। वही पृ० २८८

[4] कथमास्वाद्यते रसः। यथा हि नाना व्यंजनसंस्कृतमन्नं भुंजाना रसानास्वादयन्ति सुमनसः पुरुषा हर्षादींश्चाधिगच्छन्ति तथा नाना भावाभिनयव्यंजितान् वागंगसत्त्वोपेतान् स्थायिभावानास्वादयन्ति सुमनसः प्रेक्षकाः हर्षादींश्चाधिगच्छन्ति। वही पृ० २८८-८९

आस्वाद, इन दोनों पक्षों की संश्लिष्ट संज्ञा नाट्य-रस है।[1] इस प्रकार भरत मुनि के नाट्य-रस में आस्वाद्य-पदार्थ और आस्वाद-धर्म दोनों का समावेश है।

रस संबंधी ये दोनों पक्ष भरत मुनि को परंपरा से प्राप्त हुए थे, जैसा कि उनके द्वारा उद्धृत दो आनुवंश्य श्लोकों से प्रमाणित होता है।[2] रस के इन दोनों पक्षों में, प्रयोग-दृष्टि प्रधान होने के कारण भरत मुनि ने प्रथम पक्ष अर्थात रस-निष्पत्ति पर अपेक्षाकृत अधिक विस्तार से विचार किया है। इसलिए भरत मुनि के रस-विवेचन में जितना विस्तार स्थायी भाव, व्यभिचारी भाव, सात्त्विक भाव, अनुभाव, विभाव आदि तथा विभिन्न रसों के विवेचन को मिला है, उतना प्रेक्षक की आस्वाद-प्रक्रिया को नहीं। इसलिए कुछ विद्वानों ने भ्रमवश यह निष्कर्ष निकाल लिया है कि भरत मुनि का रस-विवेचन सर्वथा नाट्यगत अथवा रंगमंचगत है।[3] संक्षेप में भरत मुनि के रस-विवेचन की मुख्य विशेषताएँ निम्नलिखित हैं :

१. रस नाट्य का अनिवार्य एवं सार तत्त्व है।

२. नाट्य-रस का आधार 'पाक रस' के सदृश भौतिक है। वह वस्तुतः एक पदार्थ है।

३. नाट्य रस के दो पक्ष हैं : १. आस्वाद्य और २. आस्वाद।

४. रस के आस्वाद का अधिकारी सुमनस् प्रेक्षक होता है और आस्वाद के रूप में रस-प्रेक्षक की मनोमय प्रक्रिया है।

५. नाट्य-रस से हर्षादि की सिद्धि होती है।

काव्यचर्चा में रस

भरत मुनि के द्वारा रस-सिद्धान्त की स्थापना हो जाने के बाद स्वभावतः शास्त्र में रस-चर्चा की परंपरा-सी चल पड़ी। किन्तु भरतोत्तर रस-चिन्तन का इतिहास कालक्रम की दृष्टि से खंडित और विचारक्रम की दृष्टि से विभक्त एवं जटिल दिखाई पड़ता है। यदि 'नाट्यशास्त्र' के संग्रह की परावधि ईसा की चतुर्थ शताब्दी है, तो उसके बाद लगभग दो शताब्दियों तक नाट्यशास्त्रगत रस-चर्चा किस रूप में हुई, इसका कोई प्रमाण आज उपलब्ध नहीं है। 'नाट्यशास्त्र' के बाद रस-चर्चा के दर्शन पहले-पहल जिस ग्रंथ में होते हैं, वह है भामह का 'काव्यालंकार' जिसका रचना-काल लगभग सातवी शताब्दी के आसपास माना जाता है। 'काव्यालंकार' को देखने से ज्ञात होता है कि भामह को भरत का पूरा पता था, किन्तु इसके साथ ही 'काव्यालंकार' से यह तथ्य भी सामने आता है कि नाट्य-

---

[1] तस्मान्नाट्यरसा इत्यभिव्याख्याताः। नाट्यशास्त्र, भाग १, पृ० २८६

[2] अत्रानुवंश्यौ श्लोकौ भवतः
यथा बहुद्रव्ययुतैर्व्यंजनैर्बहुभिर्युतम्।
आस्वादयन्ति भुंजाना भक्तं भक्तविदो जनाः॥
भावाभिनयसंबद्धान्स्थायिभावांस्तथा बुधाः।
आस्वादयन्ति मनसा तस्मान्नाट्यरसाः स्मृताः॥ वही, ६।३२-३३; पृ० २९०

[3] डॉ० सुरेन्द्र बारलिंगे : सौन्दर्य तत्त्व और काव्य-सिद्धान्त, पृ० ७३-७४

चर्चा के समानान्तर काव्य चर्चा की भी एक स्वतंत्र परंपरा चल पड़ी थी जिसके अन्तर्गत मुख्य रूप से काव्यगत अलकारों पर विचार किया जाता था। इस अलकार विचार के कुछ सकेत भरत के नाट्यशास्त्र में भी प्राप्त होते हैं किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि रस चर्चा आरंभ में नाट्य तक ही सीमित थी। काव्य अर्थात् प्रबंध मुक्तकादि के सदर्भ में अलकारों की चर्चा की जाती थी। नाट्यशास्त्र में भी का अभिनय का उल्लेख वाचिक अभिनय के सन्दर्भ में ही हुआ है जो प्रकारान्तर से नाट्यगत काव्य ही है। भामह का महत्त्व इस बात में है कि जो काव्य चर्चा नाट्य चर्चा के अंगभूत और आनुषंगिक थी उसे उन्होंने स्वतंत्र रूप दिया और परंपरा को आगे बढ़ाते हुए अलकारों का विस्तृत विवेचन किया जिसके कारण कुछ विद्वान[1] उन्हें अलकारवादी एवं रस विरोधी समझते हैं। किन्तु जैसा कि डा० ग० त्र्य० देशपांडे ने सप्रमाण कहा है[2]—भामह ने रस के विरोध में सम्प्रदाय निर्माण करने का प्रयास नहीं किया। यह सही है कि भामह ने स्वतंत्र रूप में रस विवेचन नहीं किया किन्तु इसका कारण रस का विरोध नहीं बल्कि पिष्टपेषण से बचने का प्रयास था क्योंकि भामह ने महाकाव्य का लक्षण कहते हुए रसों का स्पष्ट रूप से निर्देश किया है और उनकी यह निश्चित धारणा थी कि काव्य को रसयुक्त होना ही चाहिए जैसा कि निम्नलिखित उद्धरण से स्पष्ट है

> अहृद्यमसुनिर्भेदं रसवत्त्वेऽप्यपेशलम्।
> काव्यं कपित्थमामं यत्केषांचित्सदृशं यथा ॥[3]

अर्थात् कितने ही कवियों का काव्य अहृद्य होता है और उसका अर्थ भी सरलता से नहीं लगाया जा सकता ऐसा काव्य रसयुक्त होने पर भी अपेशल अर्थात् कठोर होता है। ऐसा काव्य कपित्थवत् अर्थात् कठबल के कच्चे फल के समान होता है। इसके विपरीत सत्काव्य द्राक्षापाक के समान सरस होता है। भामह की दृष्टि से काव्य में रसवत्ता का कारण शब्दार्थ का चमत्कार है जिसे वे काव्यालकार विवेचन की परंपरा के अनुसार वक्रोक्ति कहते हैं। उनके अनुसार काव्य में अर्थों का विभावन वक्रोक्ति से ही होता है।[4] स्पष्ट है कि भामह के सामने काव्य में रस निष्पत्ति के लिए कोई अन्य युक्तिसंगत समाधान न था। इतना तो वे जानते थे कि नाट्य के समान ही काव्य में भी अर्थों के विभावन से ही रस निष्पत्ति होती है। किन्तु अर्थों के विभावन के लिए वक्रोक्ति के अतिरिक्त किसी अन्य शब्दशक्ति का ज्ञान उन्हें न था। सभवतः इसीलिए उन्होंने रस का समावेश अपनी अलकार योजना के अन्तर्गत रसवद् अलकार के रूप में करके सतोष कर लिया।

---

[1] (a) The attitude of Bhamaha to Rasa theory is distinctly that of a rival school of criticism, and this is clear from the scanty treatment that he accords to it

Dr Shankaran *Some Aspects of Literary Criticism in Sanskrit* p 24

(b) The attitude of Bhamaha towards the Rasa theory was not only unfavourable but hostile He is the exponent of a rival school of poetry

Shri Ramaswamy *Introduction Bhav Prakashan* p 20

[2] भारतीय साहित्यशास्त्र पृ० ७०-७३

[3] काव्यालकार, ५।६२

[4] सैषा सर्वैव वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते। काव्यालकार, २।८५

दण्डी ने भी भामह के आसपास ही काव्य के सन्दर्भ में रस-चर्चा की किन्तु उनकी रस-चेतना भामह से कुछ अधिक विकसित प्रतीत होती है। यद्यपि दण्डी भी भामह के ही समान रस को रसवद् अलकार के रूप में ही देख सके, तथापि उन्होंने माधुर्यादि गुणों का विस्तृत विवेचन कर काव्य में गुणों के द्वारा रस के लिए पृष्ठभूमि तैयार की है। रस का स्वरूप स्पष्ट करते हुए दण्डी ने स्पष्ट कहा है कि मधुर गुण का संबंध रसों से है और वाक् के साथ ही वस्तु में भी रस स्थित होता है।[1] काव्य में उनकी दृष्टि अन्ततः रस पर ही थी, इसका पता दण्डी के इस कथन से चलता है कि सभी अलंकार अर्थ में रस-सिंचन करते है।[2] इसके अतिरिक्त दण्डी भरत के समान ही विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी से परिपुष्ट स्थायी भाव को रस कहते हैं। श्रृंगार रसवद् की मीमासा करते हुए दण्डी ने स्पष्ट कहा है कि विभावादि सामग्री की प्रचुरता ही स्थायी भावो को रस-कोटि तक पहुँचा देती है।[3]

वामन (लगभग ८०० ई०) ने दण्डी का अनुसरण करते हुए गुणों के आधार पर रीति के सहारे रस-चर्चा को आगे वढ़ाया। उन्होंने भरत का अनुसरण करते हुए 'सन्दर्भेपु दशरूपकं श्रेय:'[4] कहकर काव्यों में नाटक की श्रेष्ठता स्वीकार की। वामन की विशेपता यह है कि उन्होंने भामह-दण्डी के विपरीत रस को अलंकार के क्षेत्र में न रखकर सीधे गुणों के आधार पर प्रतिष्ठित किया। उनकी दृष्टि मे 'कान्ति' नामक गुण में जो दीप्ति होती है, उसका संवंध रस से है।[5] रस-प्रकरण में श्रृंगार का एक उदाहरण देकर वामन ने अपनी रस-दृष्टि की सीमा भी स्पष्ट कर दी है।

रुद्रट (लगभग ८५० ई०) प्रथम आलंकारिक है, जिन्होंने काव्य के सन्दर्भ में लिखित अलंकार ग्रंथ के अन्तर्गत स्पष्ट और विस्तृत रस-विवेचन किया। 'काव्यालंकार' के आरम्भ में ही वे कहते है कि "सरस प्रवृत्ति के जन को चतुर्वर्गो का ज्ञान काव्य के द्वारा शीघ्रता के साथ मृदु रूप में उपलब्ध हो जाता है। अतएव काव्य को निरन्तर रसयुक्त होना चाहिए। अन्यथा वे काव्य से भी विमुख हो जाएँगे।"[6] रुद्रट का वलपूर्वक यह कथन कि "तस्मात् तत्कर्तव्य यत्नेन महीयसा रसैर्युक्तम्" नाट्येतर काव्य के प्रसंग मे रस की प्रतिष्ठा का प्रथम उद्‌घोष है। वे परंपरागत नव-रसो में एक और 'प्रेयान्' को मिलाकर दस रस मानते थे। किन्तु रसों की संख्या वह दस तक ही सीमित नही रखते। उनके विचार

---

[1] मधुरं रसवद्वाचि वस्तुन्यपि रसस्थितिः। काव्यादर्श, १।५१

[2] कामं सर्वोऽप्यलंकारो रसमर्थे निषिचतु। वही, १।६२

[3] प्राक्प्रीतिर्दर्शिता सेयं रतिः श्रृंगारतां गता।
रूपवाहुल्ययोगेन तदिदं रसवद्वचः॥ वही, २।२८१

[4] काव्यालंकारसूत्र, १।२।३०

[5] दीप्तरसत्वं कान्तिः। वही, ३।२।१५

[6] ननु काव्येन क्रियते सरसानामवगमश्चतुर्वर्गे।
लघु मृदु च नीरसेभ्यस्ते हि त्रस्यन्ति शास्त्रेभ्यः॥
तस्मात्तत्कर्तव्यं यत्नेन महीयसा रसैर्युक्तम्।
उद्वेजनमेतेषां शास्त्रवदेवान्यथा हि स्यात्॥ काव्यालंकार, १२।१, २

स आस्वाद्यता को प्राप्त होनेवाली कोई भी वृत्ति रस हो सकती है।[1] रुद्रट का महत्त्व इस बात मे है कि उनके रस विवेचन द्वारा शब्दार्थ और रस परस्पर-सम्मुख हुए।"[2]

इस प्रकार भामह दण्डी वामन रुद्रट आदि भरतोत्तर आलंकारिकों ने 'नाट्यशास्त्र' के अवशिष्ट क्षेत्र प्रबंध मुक्तक काव्य के अन्तर्गत यथाशक्ति रस निष्पत्ति की व्याख्या करने का प्रयास किया। इन तथाकथित अलंकारवादी आचार्यों की मुख्य समस्या यह थी कि काव्यगत शब्द और अर्थ किस प्रकार रस की स्थिति को प्राप्त करते है। इस समस्या के समाधान के लिए उन्होंने एक एक कर अलंकार गुण, रीति आदि अवधारणाओं का उपयोग किया और यथाशक्ति यह प्रतिपादित करने का प्रयास किया कि अलंकार, गुण एवं रीति के द्वारा शब्दार्थ मे ऐसा सौन्दर्य उत्पन्न हो जाता है जिसकी परिणति अन्तत रस मे होती है। ध्यान देने की बात है कि तब तक ध्वनि की अवधारणा आविष्कृत नही हुई थी। इसलिए ये ध्वनि पूर्व प्रयास आज पूर्णत सन्तोषप्रद प्रतीत न होते हुए भी प्रयास की दृष्टि से ऐतिहासिक महत्त्व रखते हैं।

नाट्यशास्त्र के ध्वनि पूर्व टीकाकार

ध्वनि के अभाव मे रस निष्पत्ति की व्याख्या कितनी कठिन है, इसका अनुमान भट्टलोल्लट और शकुक के रस विवेचन से लगाया जा सकता है जिन्होंने भामह आदि आलंकारिकों के समान काव्य मे रस निरूपण करने की अपेक्षा नाट्य रस का विवेचन करने के लिए भरत-कृत नाट्यशास्त्र पर टीकाएँ लिखी। अभिनवगुप्त एवं मम्मट के उद्धरणों से लोल्लट और शकुक के रस विषयक मत का जो रूप उपलब्ध है उससे एक बात स्पष्ट है कि नवी शताब्दी तक आते-आते भरत-कृत रस विवेचन की सूक्ष्मताओं मे प्रवेश करने का कार्य आरम्भ हो चुका था। भरत-कृत 'विभावानुभावसचारिसयोगाद्रसनिष्पत्ति' नामक रस सूत्र लोल्लट एवं शकुक जैसे विचारकों के हाथ मे आकर एक सीधी सरल मान्यता की कोटि से ऊपर उठकर दार्शनिक ऊहापोह की जटिल समस्या बन गया। अभिनवगुप्त की आलोचना के बाद आज लोल्लट और शकुक का रस विवेचन चाहे जितना अपर्याप्त प्रतीत हो किन्तु इस तथ्य का अस्वीकार करना कठिन होगा कि आचार्यद्वय ने रस के वास्तविक स्थान का प्रश्न उठाकर अनुकार्य, नट सामाजिक आदि के सन्दर्भ मे नाट्य की प्रकृति पर गम्भीर विचार का सूत्रपात किया। यहीं से रस चर्चा मे दार्शनिक रंग आया। संक्षेप मे इन आचार्यों के रस-संबंधी मत क्रमश इस प्रकार हैं

रस सूत्र के प्रथम व्याख्याता भट्ट लोल्लट (नवीं शताब्दी पूर्वार्ध) ने निम्नलिखित बातों का अतिरिक्त स्पष्टीकरण किया

१ स्थायी भाव का आश्रय अनुकार्य है।

२ स्थायी भाव की उत्पत्ति अनुकार्य के हृदय मे ही होती है। उत्पत्ति से उनका

---

[1] रसनाद्रसत्वमेषां मधुरादीनामिवोक्तमाचार्यैः।
निर्वेदादिष्वपि तन्निकाममस्तीति तेऽपि रसा॥ काव्यालकार १२।४

[2] ग० त्र्य० देशपांडे भारतीय साहित्यशास्त्र, पृ० ११४

आशय अभाव में भाव की कल्पना है अथवा उद्बुद्धि-मात्र, यह निश्चित रूप से नही कहा जा सकता।[1]

३. अनुभाव की स्थिति स्थायी भावों के कार्यरूप है, रसजन्य नही।

४. व्यभिचारी स्थायी के सहभावी होते हैं। स्थायी भाव वासना-रूप मे स्थित रहते है और संचारी उद्भूत-रूप में।

५. रस मूलतः अनुकार्यगत होता है और गौण रूप में अनुसन्धान के बल से नटगत भी। डॉ० नगेन्द्र ने 'अनुसन्धान' शब्द की व्याख्या नट और सामाजिक दोनों की दृष्टि से की है और स्पष्ट किया है कि संस्कृत आचार्यो द्वारा किए गए अनुसन्धान के अनेक अर्थो : १. आरोप, २. अभिमान, ३. योजन में से नट के सन्दर्भ में तो सभी घटित हो जाते है, किन्तु प्रमाता के सन्दर्भ मे योजनापरक अर्थ सिद्ध नहीं होता, क्योंकि लोल्लट नटगत रस को 'प्रतीयमान' मानते है, सिद्ध नहीं।

इस प्रकार भट्ट लोल्लट स्थायी भाव की उपचिति को रस मानते है। यह उपचिति विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी के योग से सिद्ध होती है। विभाव स्थायी भाव की उद्बुद्धि के, अनुभाव-प्रतीति के और व्यभिचारी पोषण के कारण होते है और इस प्रक्रिया से उपचित स्थायी ही रस होता है। इस प्रक्रिया में उपर्युक्त तीनों क्रियाओं का क्रमिक योग है, अतः यह एक मिश्र अथवा संश्लिष्ट प्रक्रिया है। इस प्रक्रिया का मूल आश्रय अनुकार्य एवं गौण नट होता है। सहृदय को इससे प्राप्त होने वाला आनन्द रागात्मक होते हुए भी उसके अपने स्थायी भाव की उपचिति का आनन्द नही है। रागात्मक वह इस अर्थ में है कि प्राप्त मनोरंजन या चमत्कार का स्वरूप मात्र इन्द्रजालिक के कौशल से भिन्न किसी भावपूर्ण प्रेम-दृश्य या ओजपूर्ण युद्ध-दृश्य को देखने का अनुभव है। संप्रेपण का साधन अभिनेता एवं उसका कौशल है। यह नटगत रस प्रतीयमान रूप में ही प्रतीत होता है, सिद्ध नहीं।

श्री शंकुक (नवीं शताब्दी, मध्य) भरत-सूत्र के दूसरे व्याख्याता आचार्य है। 'अभिनवभारती' एवं 'ध्वन्यालोक-लोचन' मे उद्धृत इनके मत का सारांश इस प्रकार है :[2]

१. स्थायी भाव की स्थिति अनुकार्य में होती है। नट के कुशल अभिनय से उसके द्वारा स्थायी भाव के अनुभव का भ्रम होता है। 'स्थायी भाव की यह नाट्यानुकृति ही रस है।'

२. इस स्थायी भाव का केवल अभिनय के द्वारा उपस्थापन ही संभव है। विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी की उपस्थिति से केवल उसका बोध होता है। अतः 'नट-द्वारा अनुक्रियमाण रामादि के स्थायी भाव का' सामाजिक विभावादि लिंगों से अनुमान करता है।

३. अनुकरण की प्रक्रिया : (क) विभावादि के अनुकरण का आधार, काव्य में कवि द्वारा चित्रित उनका स्वरूप होता है; (ख) अनुभावों का अनुकरण अभिनय-कला की शिक्षा द्वारा संभव होता है; (ग) व्यभिचारी आदि का अनुकरण कृत्रिम अनुभावों के

---

[1] रस-सिद्धान्त, पृ० १४१

[2] वही, पृ० १५०-५२

आधार पर एवं अपने लोकानुभव के आधार पर नट कर सकता है और ये अननुभूत व्यभिचारी कृत्रिम होते हुए भी वास्तविक प्रतीत होने लगते हैं ।

४ नटगत इस कृत्रिम स्थायी भाव से प्रेक्षक का रसास्वादन चित्र-तुरग-न्याय के आधार पर होता है। अभिनेता में अभिनय की प्रतीति सन्देह यथार्थता और भ्रान्ति सबसे भिन्न एक विलक्षण कलात्मक प्रतीति है जिसे शंकुक सम्यक् मिथ्या सन्देह एवं सादृश्य चारों प्रकार के ज्ञान से भिन्न मानते हैं जिसे उन्होंने चित्र-तुरग-न्याय से समझाया है ।

शंकुक के मत में अभिनय-कौशल को रस निष्पत्ति में सर्वोपरि स्थान दिया गया। जहाँ लोल्लट ने नट के द्वारा स्थायी भाव की अनुभूति (भले ही गौण) स्वीकार की थी वहाँ शंकुक स्थायी भाव के कुशल अभिनय को रस निष्पत्ति के निमित्त पर्याप्त मानते हैं ।

शंकुक का सबसे महत्त्वपूर्ण योगदान यही है कि उन्होंने रसानुभूति में अभिनय-तत्त्व के महत्त्व की प्रतिष्ठा की। दूसरी सिद्धि उनकी यही थी कि उन्होंने अनुकार्य रूप ऐतिहासिक पात्रों और कवि निबद्ध पात्रों का अंतर स्पष्ट किया और लोल्लट द्वारा प्रचारित तत्संबंधी भ्रान्ति का निराकरण किया और इस प्रकार एक और सिद्धि की। रस को अनुकार्यगत मानने का आशय प्रत्यक्ष अनुभूति और नाट्यानुभूति में अभेद-स्थापन था। लोल्लट ने यही भूल की थी। शंकुक ने इस भ्रम का निराकरण करते हुए अनुकार्य को काव्य निबद्ध पात्रों से अभिन्न माना और इस प्रकार जीवनगत प्रत्यक्ष अनुभव से नाट्यगत भाव को पृथक् करते हुए उस प्रत्यक्ष भाव की कलात्मक अनुभूति घोषित किया।

डा० नगेन्द्र ने उनके सिद्धान्त की शक्ति यह भी माना है कि रस की घटना में शंकुक का प्रेक्षक लोल्लट के प्रेक्षक की अपेक्षा अधिक सक्रिय रूप से भाग लेता है—वह काव्य में उपस्थित विभावादि लिंगों के द्वारा नट द्वारा अनुक्रियमाण स्थायी भाव—रस की अनुमिति करता है।[1] किन्तु इससे भी रसानुभूति के वास्तविक या मूल सूत्र की व्याख्या नहीं होती। शंकुक ने भी कहीं यह संकेत नहीं किया कि सहृदय प्रमाता की आत्मस्थ स्थायी भाव की उपचिति के द्वारा ही रस सिद्धि होती है।

इसी प्रकार उनकी यह मान्यता कि रस विवेचन को निश्चित दार्शनिक भूमिका पर प्रतिष्ठित करने का श्रेय सर्वप्रथम शंकुक को ही प्राप्त है—इनके उपरान्त रस के स्वरूप विश्लेषण में दार्शनिक चिन्तना का निश्चयपूर्वक प्रवेश हो गया जिससे यद्यपि कुछ हानि तो हुई पर विचार का स्तर सहसा ऊँचा उठ गया[2] कुछ ही दूर तक स्वीकार की जा सकती है। शंकुक की इस उपलब्धि का महत्त्व जितना ऐतिहासिक है उतना तात्त्विक नहीं। रस-संबंधी चर्चा के स्तर को ऊँचा उठाने में तो उसकी दार्शनिक व्याख्याओं का महत्त्व स्वीकार किया जा सकता है किन्तु सौन्दर्यशास्त्र की दृष्टि से अनेक प्रश्नों की व्याख्या करते हुए यही दार्शनिक-आध्यात्मिक व्याख्याएँ आड़े आती रही हैं।

ध्वन्यालोक और रस चिन्तन में क्रान्ति

ध्वनि की खोज के साथ रस चिन्तन में युगान्तरकारी परिवर्तन घटित हुआ जिसकी

---

[1] रस सिद्धान्त पृ० १५६

[2] वही पृ० १५६

स्थापना का श्रेय 'ध्वन्यालोक' के रचयिता आनन्दवर्धन (नवी शताब्दी) को है। इस ग्रंथ की महत्ता के विषय में महामहोपाध्याय पा० वा० काणे ने लिखा है कि : "व्याकरणशास्त्र मे पाणिनि की 'अष्टाध्यायी' का जो महत्त्व है, अथवा वेदान्तशास्त्र मे 'वेदान्त सूत्रो' का जो महत्त्व है, कह सकते है कि वही महत्त्व अलंकारशास्त्र मे 'ध्वन्यालोक' का हे।"[1] आनन्दवर्धन के महत्त्व को सस्कृत के प्राचीन आचार्यो ने भी अत्यन्त श्रद्धा से स्वीकार किया हे। अभिनवगुप्त ने उन्हे 'सहृदय-चक्रवर्ती' कहा है और पंडितराज जगन्नाथ ने ध्वनिकार को 'आलकारिको के पथ,का व्यवस्थापक' कहा है।

तिथिक्रम की दृष्टि से ध्वनिकारिकाएँ लगभग उसी समय वन रही थी जव रुद्रट अपना ग्रथ 'काव्यालकार' लिख रहे थे, किन्तु यह भी प्रतिभा का एक चमत्कार ही हे कि शव्दार्थो से रस की निप्पत्ति का जो सूत्र रुद्रट को दृप्टिगोचर न हो सका उसे आनन्दवर्धन ने व्याकरण के 'स्फोट' से ध्वनि-तत्त्व के रूप मे खोज निकाला। भामह आदि आलकारिको ने वक्रोक्ति, गुण, रीति आदि मान्यताओ के द्वारा शव्दार्थ-चमत्कार-सवधी चर्चा को इस सीमा तक पहुँचा दिया था कि उसके वाद इन सवके अतिक्रमण की दिशा ही शेप रह गई थी और कहना न होगा कि 'ध्वन्यालोक' उसी मानसिक छलॉग का परिणाम है। उद्भट ने यहाँ तक तो कहा ही था कि काव्य-व्यवहार अमुख्य वृत्ति अर्थात गुण वृत्ति से होता है। वामन काव्य-सौन्दर्य के कारक धर्म के रूप मे गुणो की प्रतिष्ठा करके रुक गए थे। रुद्रट को यही आभास हुआ था कि काव्य-सौन्दर्य रसाश्रित होता है। किन्तु अव प्रश्न ये थे कि शव्द की मुख्य वृत्ति का त्याग करते हुए कवि अमुख्य वृत्ति का आश्रय लेता है तो क्यो ? यदि गुण काव्य-शोभा के हेतु है तो शव्दाश्रित गुण रस का निर्माण कैसे कर पाते है ? शव्दार्थमय काव्य से रस-निर्माण होता है तो इसका अर्थ क्या है ? आनन्दवर्धन के सामने ये प्रश्न समाधान के लिए चुनौती के रूप मे उपस्थित थे। ध्वनि के द्वारा उन्होने इन सभी प्रश्नो का समाधान इतने कौशल से प्रस्तुत किया कि एक ओर ध्वनि के अन्तर्गत गुण, वृत्ति, अलकार, वक्रोक्ति आदि यथास्थान अगीकृत हो गए, तो दूसरी ओर इनसे विशेष काव्यनिष्ठ रस की सुसगत व्याख्या भी सम्पन्न हो गई। आनन्दवर्धन के निष्कर्प सक्षेप मे इस प्रकार है :

१. मुख्यार्थ का वाध करते हुए कवि लक्ष्यार्थ अर्थात अमुख्य-वृत्ति का आश्रय लेता है तो अकारण नही। उसके पीछे कवि का कुछ प्रयोजन या हेतु होता है। यह प्रयोजन उन शव्दार्थो के द्वारा अभिव्यक्त होता है। इस कारण वह व्यग्य हे। शव्दार्थो के द्वारा कवि अपना यह प्रयोजन अर्थात व्यग्य ही रसिकहृदय मे सक्रमित करता है।

२ महाकवि के काव्य मे शव्दो का व्यंजना-व्यापार ही प्रधान होता है। काव्य मे पाए जाने वाले व्यापार का विशेप व्यजना ही है। काव्य मे शव्दार्थो का सवध व्यंग्य-व्यंजक होता हे।

३. व्यग्य-व्यजक रूप शव्दार्थ-सवंध ही काव्यगत शव्दार्थो का साहित्य है और इस सवध की ही 'ध्वनि' सज्ञा है। इसी कारण से ध्वनि काव्य की आत्मा है।

४. काव्यगत शव्दार्थो का पर्यवसान रस के आस्वाद मे होता है। वक्रोक्ति और अलंकार के कारण ही शव्दार्थो मे रस ध्वनित करने का सामर्थ्य आता है।

---

[1] ग० त्र्यं० देशपाण्डे द्वारा 'भारतीय साहित्यशास्त्र', पृ० ११६ पर उद्धृत

५. काव्यगत शब्दार्थों के संयोग से रसिक के मन की विशेष अवस्था उदित होती है और वह उस अवस्था का आस्वाद लेता है। रस के आस्वाद के लिए रसिक में योग्यता भी अपेक्षित है जिसे सहृदयत्व कहते हैं। सहृदयत्व प्रतिभा का ही एक गुण है।

६. कुल मिलाकर काव्य का शब्दार्थ साहित्य केवल कविगत व्यापार नहीं है, वह केवल शब्दार्थ व्यापार भी नहीं है और उसे केवल रसिकगत व्यापार भी नहीं कहा जा सकता। वह कवि सहृदयगत अखण्डानुभवरूप व्यापार है।

आनन्दवर्धन के कथन 'काव्यस्यात्मा ध्वनि' के आधार पर कभी-कभी यह भ्रम हो जाता है कि आनन्दवर्धन रस से भिन्न एक अलग ध्वनि सम्प्रदाय की स्थापना का प्रयास कर रहे थे किन्तु 'ध्वन्यालोक' में ऐसे अनेक स्थल हैं जहाँ उन्होंने स्पष्ट शब्दों में यह कहा है कि सम्पूर्ण ध्वनि निरूपण का प्रयोजन रस है।[1] वस्तुतः ध्वनि सिद्धान्त रस सिद्धान्त से अभिन्न संबद्ध ही नहीं बल्कि उसका पूरक है। रस और ध्वनि में साध्य साधन संबंध है। आनन्दवर्धन की प्रखर प्रतिभा ने रस चिन्तन के इतिहास में अन्तिम रूप से स्थापित कर दिया कि रस व्यंग्य ही होता है। ध्वन्यालोक के द्वारा रस निष्पत्ति नाट्येतर काव्य में भी व्यापक हो गई।

रस सिद्धान्त का चरमोत्कर्ष

रस चिन्तन के इतिहास में आनन्दवर्धन के बाद सबसे प्रतिभाशाली विचारक भट्टनायक (दसवीं शताब्दी उत्तरार्ध) हुए। इन्होंने ध्वनि का विरोध करते हुए रस निष्पत्ति की अपनी व्याख्या प्रस्तुत की। भरत-सूत्र के उल्लेखनीय व्याख्यानाओं में कालक्रमानुसार भट्टनायक तीसरे हैं। स्वयं अभिनवगुप्त ने इनके अतिरिक्त उपलब्ध अन्य किसी मत को गम्भीरतापूर्वक ग्रहण करने की भी आवश्यकता नहीं समझी।

भट्टनायक का मत भी पूर्वोक्त अन्य आचार्यों (लोल्लट एवं शंकुक) की भाँति अभिनवगुप्त द्वारा खण्डन के निमित्त उद्धृत रूप में ही उपलब्ध होता है। इसमें भी 'अभिनव भारती' में विवेचित उद्धरण ही अधिक महत्त्वपूर्ण है।

भट्टनायक का मत पूर्ववर्ती आचार्यों की प्रस्तुत एवं सम्भावित व्याख्या के खंडन से आरंभ होता है। वे एक ओर रस की प्रतीति एवं उत्पत्ति का विरोध करते हैं और दूसरी ओर अभिव्यक्ति का।[2] भट्टनायक भरत-सूत्र के व्याख्यानाओं में से पहले हैं जिन्होंने अत्यन्त आग्रहपूर्वक सामाजिक को होने वाली रसानुभूति पर विचार किया है। इसीलिए परगतत्वेन उत्पत्ति का तो वे प्रश्न ही नहीं उठाते। रह गई बात स्वगत प्रतीति की। उसके संबंध

---

[1] (क) रसादिरूपव्यंग्यतात्पर्यमेवैषां युक्तमिति यत्नोऽस्माभिरारब्धो न ध्वनिप्रतिपादनमात्राभिनिवेशेन। ध्वन्यालोक, पृ० ३९९-४००

(ख) व्यंग्यव्यंजकभावेऽस्मिन्विविधे सम्भवत्यपि।
रसादिमय एकस्मिन् कविः स्यादवधानवान्॥ वही, ४।५

[2] भट्टनायकस्त्वाह रसो न प्रतीयते। नोत्पद्यते। नाभिव्यज्यते। स्वगतत्वेन हि प्रतीतौ करुणे दुःखित्वं स्यात्। न च सा प्रतीतिर्युक्ता। सीतादेरविभावत्वात् स्वकान्तास्मृत्यसंवेदनात्। देवतादौ साधारणीकरणायोग्यत्वात्। समुद्रलंघनादेरसाधारण्यात्।

अभिनवभारती, भाग १, पृ० २७६

में उनका कथन है कि ऐसा मानने पर सामाजिक को करुण-रस में दुःखी प्रतीत होना चाहिए। इसी बात को सिद्ध करने के लिए उन्होंने तर्क उपस्थित किया कि सीतादि पात्रों के विभावादि के रूप में उपस्थित न होने से, अपनी स्त्री की स्मृति न होने से, देवतादि के साधारणीकरण के अयोग्य होने से और समुद्रलंघन आदि व्यापारों के असाधारण होने के कारण सामाजिक को रस-प्रतीति स्वगत रूप में होनी असम्भव है।

यह प्रतीति स्मृति-रूप भी नहीं है, क्योंकि रत्यादियुक्त राम पूर्व-उपलब्ध नहीं है। यह प्रतीति शब्द, अनुमान आदि परोक्ष ज्ञान के जनक प्रमाणों पर निर्भर रहने के कारण प्रत्यक्ष ज्ञान से प्राप्त होने वाली सरसता से भिन्न है। यह लौकिक प्रत्यक्ष प्रमाण से भी भिन्न है, क्योंकि प्रत्यक्ष रूप से सम्भोग आदि के दर्शन से अपने-अपने स्वभावोचित लज्जा, घृणा, स्पृहा आदि अन्य चित्तवृत्तियों का उदय होगा। तज्जनित अव्यग्रता के कारण आकाश-रस अर्थात प्रतीति का ही अभाव हो जाएगा। अतः रस को प्रत्यक्ष प्रतीति अर्थात अनुभव-रूप एवं स्मृति अर्थात परोक्ष ज्ञान-रूप मानना अनुचित है। यही दूषण उसकी उत्पत्ति मानने में है।[1]

रस को अभिव्यक्ति-रूप मानने के विरोध में उन्होंने तर्क दिया कि ऐसा स्वीकार करने से विभावादि विषयों के न्यूनाधिक्य से रसानुभूति में भी तारतम्य स्वीकार करना होगा, जो अनुभव से असिद्ध है। इसके अतिरिक्त रस की पूर्व-स्थित शक्ति-रूप में सत्ता स्वीकार करने से पूर्व यह भी निर्णय करना होगा कि यह अनुभूति स्वगत-रूप से होती है अथवा परगत-रूप से।[2]

निषेध-पद्धति से उक्त खंडन के उपरान्त भट्टनायक ने रस-निष्पत्ति की प्रक्रिया के संबंध में निज मत की स्थापना की। उनके मतानुसार नाटक में चार प्रकार के अभिनय के द्वारा प्रमाता अन्तस्थ अज्ञान आदि के निवारण के कारण-रूप विभावादि के साधारणीकृत रूप, अभिधा के उपरान्त द्वितीय अंश पर होने वाले भावकत्व व्यापार के द्वारा भाव्यमान रस का अनुभव, स्मृति आदि से विलक्षण रजोगुण, तमोगुण के मिश्रण के कारण द्रवित, विस्तृत तथा विकास-रूप, सत्वोद्रेक से प्रकाशित, आनन्दमय, साक्षात्कार में विश्रान्ति-रूप एवं परब्रह्म के आस्वाद के सदृश भोजकत्व व्यापार के द्वारा भोग किया जाता है।[3]

---

[1] न च तद्वतो रामस्य स्मृतिःअनुपलब्धत्वात्। न च शब्दानुमानादिभ्यः तत्प्रतीतौ लोकस्य सरसता (प्रयुक्ता) सताऽपि युक्ता प्रत्यक्षादिव। नायकयुगलकावभासे हि प्रत्युत लज्जाजुगुप्सास्पृहादिस्वोचितचित्तवृत्यन्तरोदयव्यग्रतयाकाश(पानेक) रसत्वमयापि स्यात्। तन्न प्रतीतिरनुभवस्मृत्यादिरूपा रसस्य युक्ता। उत्पत्तावपि तुल्यमेतद्दूषणम्।
अभिनवभारती, भाग १, पृ० २७६

[2] शक्तिरूपत्वेन पूर्वं स्थितस्य पश्चादभिव्यक्तौ विषयार्जनतारतम्यापत्तिः। स्वगतपरगतत्वादि च पूर्ववद् विकल्प्यम्। वही, पृ० २७५

[3] नाट्ये चतुर्विधाभिनयरूपेण निविडनिजमोहसंकटकारिणा विभावादिसाधारणीकरणात्मनाऽभिधातो द्वितीयेनांशेन भावकत्वव्यापारेण भाव्यमानो रसोऽनुभवस्मृत्यादिविलक्षणेन रजस्तमोऽनुवेधवैचित्र्यबलाद्द्रुतिविस्तारविकासलक्षणेन सत्वोद्रेकप्रकाशानन्दमयनिजसंविद्विश्रान्तिलक्षणेन परब्रह्मास्वादसविधेन भोगेन परं भुज्यत इति।
वही, पृ० २७७

इसी बात को काव्यप्रकाशकार ने अधिक संक्षिप्त रूप मे कहा है। बात वही है, केवल कथन भंगिमा अधिक स्पष्ट हो गयी है। वे कहते हैं

रस की प्रतीति उत्पत्ति या अभिव्यक्ति न तटस्थ रूप से और न आत्मगत (या स्वगत) रूप से होती है। अपितु काव्य एवं नाटक में अभिधा से द्वितीय विभावादि के साधारणीकरण रूप भावकत्व व्यापार से भाव्यमान स्थायी सत्व के उद्रेक से प्रकाश और आनन्दमय संविदविश्रान्ति के सदृश भोग से आस्वादित किया जाता है[1]

संक्षेप मे उनका मत इस प्रकार है

रस की न प्रतीति होती है न उत्पत्ति और न अभिव्यक्ति। प्रतीति या उत्पत्ति स्वीकार करने से पूर्व यह निर्णय करना आवश्यक है कि वह स्वगत होती है या परगत ? उसे नितान्त परगत अर्थात अनुकार्य एवं नट की प्रतीति नहीं माना जा सकता, क्योंकि वैसी स्थिति मे प्रमाता का प्राप्य क्या होगा ? सामाजिक की प्रत्यक्ष स्वगत प्रतीति भी वह नहीं है क्योकि वैसी स्थिति मे

(क) दु खात्मक प्रसंगो मे दुःख की और शृंगार आदि के साक्षात्कार से विक्षोभ की अनुभूति होगी। काव्य या नाटक के विषय प्रत्यक्ष तो होते नहीं उनके कल्पनात्मक रूप ही सामाजिक के विभावादि या रसानुभूति के कारण होते हैं। ऐसी स्थिति मे कार्य अर्थात उनसे उत्पन्न भाव या अनुभूति के वास्तविक (दुःख मे दुःख) होने का प्रश्न नहीं उठता। अतएव उपर्युक्त कारणो से यह प्रतीति सामाजिक की स्वगत प्रतीति नहीं है।

(ख) यदि इसे काव्यगत विभावादि से उद्दीप्त व्यक्तिगत अनुभवो की स्मृति का परिणाम माना जाए, तो प्रमाता के चित्त की समाहिति शंकास्पद हो जाती है।

(ग) विभावादि यदि पूज्य भाव के आलम्बन हो अथवा उनके कार्यों मे अति-मानवीयता या असाधारणत्व हो तो साधारणीकरण कैसे संभव होगा ? परोक्ष प्रतीति के भी दो संभव रूपो—शब्दार्थ ज्ञान और स्मृति का खंडन भी इसी तर्क के सहारे किया जाता है कि शब्दार्थ-बोध मात्र आस्वादात्मक नहीं होता एवं स्मृति उसी की संभव है जो पूर्वानुभव का विषय रहा हो। इस प्रकार परोक्ष प्रतीति भी असिद्ध ही रहती है।

भट्टनायक ने रस की भुक्ति को समझाने के लिए काव्य के तीन व्यापारो—अभिधा भावकत्व और भोजकत्व की कल्पना की।

अभिधा शब्दार्थ का प्रथम सामान्य एवं सर्वविख्यात व्यापार है जिससे केवल अर्थ-बोध होता है। भावकत्व व्यापार से सहृदय के चित्त मे रसानुभूति के लिए उपयुक्त मनोभूमिका का निर्माण होता है अर्थात (क) उसका अज्ञान दूर होता है। अज्ञान से उनका तात्पर्य व्यक्तिगत राग-द्वेष है, (ख) काव्य एवं नाटकादि मे निबद्ध विभावादि का साधारणीकरण हो जाता है, तथा (ग) स्थायी भाव *भावित* हो जाता है। भावन शब्द

[1] न ताटस्थ्येन नात्मगतत्वेन रसः प्रतीयते, नोत्पद्यते, नाभिव्यज्यते अपि तु काव्ये नाट्ये चाभिधातो द्वितीयेन विभावादिसाधारणीकरणात्मना भावकत्वव्यापारेण भाव्यमानः स्थायी, सत्त्वोद्रेकप्रकाशानन्दमयसंविद्विश्रान्तिसतत्वेन भोगेन भुज्यते।

हिन्दी काव्यप्रकाश, पृ० १०६-७

के अर्थ के सम्वन्ध में विद्वानों में मतभेद है। आचार्य विश्वेश्वर इसका अर्थ करते है— 'साधारणीकृत'। डॉ० नगेन्द्र के अनुसार आधुनिक शव्दावली में 'भावन' का अर्थ है "कल्पनात्मक प्रतीति" और स्थायी भाव के 'भाव' का अर्थ है "भावकत्व व्यापार के फलस्वरूप रत्यादि की प्रत्यक्ष प्रतीति की कल्पनात्मक प्रतीति में परिणति।" कुछ और आगे चलकर उन्होंने इस कल्पनात्मक प्रतीति को साधारणीकरण से अभिन्न मानकर आचार्य विश्वेश्वर से मतैक्य व्यक्त किया है। परन्तु प्रश्न दूसरा है। इस भावन-प्रक्रिया में स्थायी भाव प्रत्यक्ष प्रतीति से क्रमशः कल्पनात्मक प्रतीति में परिणत होता है अथवा काव्य के भावन के क्षणों में होने वाली प्रतीति स्थायी भाव की कल्पनात्मक प्रतीति ही होती है। वे स्थायी भाव जो मूलतः प्रत्यक्ष प्रतीति के विषय होते हैं, कल्पनात्मक प्रतीति में प्रत्यक्षानुभव के उपरान्त क्रमशः परिणत नहीं होते। इस प्रतीति का आरम्भ ही कल्पनात्मक रूप में होता है। यह स्थायी भाव कल्पनात्मक प्रतीति के उपरान्त रस-रूप में परिणत हो जाता है और तदुपरान्त तीसरे व्यापार अर्थात भोजकत्व के द्वारा सहृदय रस का भोग करता है, अर्थात वह कल्पनात्मक प्रतीति क्रमशः अनुभूत्यात्मक संवेदन के रूप में परिणत हो जाती है किन्तु यह अनुभूति प्रत्यक्ष अनुभव, स्मृतिजन्य कल्पनात्मक अनुभव, प्रत्यक्ष तथा परोक्ष लौकिक अनुभव सभी से विलक्षण होती है।

डॉ० नगेन्द्र के अनुसार पहली वार भट्टनायक ने अपनी व्याख्या में उस स्थायी भाव की स्थिति, जो रस-रूप में भोग्य होता है, सहृदय प्रमाता मे मानी। स्थायी भाव ही भावित होकर रस वन जाता है, जिसका भोग सहृदय करता है। यह भोग भोजकत्व व्यापार द्वारा सिद्ध होता है और सहृदय के निजी स्थायी भाव का ही भोग होता है। इस विषय में उनका स्पष्ट कथन है : "इस प्रकार भट्टनायक का अभिप्राय सहृदय के स्थायी भाव से है— सहृदय भावकत्व व्यापार के द्वारा अपने स्थायी भाव का साधारणीकृत रूप में=रस रूप में=अनुभव करता है और फिर इस प्रकार सिद्ध रस का भोजकत्व व्यापार द्वारा भोग करता है—यही भट्टनायक का स्पष्ट अभिप्राय है।"[१]

रसास्वाद की प्रक्रिया की व्याख्या में भट्टनायक का योगदान प्रश्नातीत है। उन्होंने सर्वप्रथम रसानुभूति की प्रक्रिया की तात्त्विक व्याख्या करते हुए ब्रह्मास्वाद से उसके पृथकत्व का निरूपण किया और उसे विशुद्ध आत्मविश्रान्ति से हीनतर आनन्द माना।

साधारणीकरण के सिद्धान्त की महती उद्भावना भट्टनायक की अन्य सिद्धि है। साधारणीकरण की व्याख्या एवं प्रतिष्ठा के द्वारा उन्होंने न केवल व्यक्ति की अनुभूति के सामाजिक-मात्र की अनुभूति होने की प्रक्रिया का व्याख्यान किया, वल्कि रस की आनन्दरूपता का स्पष्ट विवेचन कर करुणादि रसों की आनन्दरूपता सिद्ध की। साधारणीकरण का सिद्धान्त ही काव्यास्वाद की समस्या का मूल या आधारभूत सूत्र है।

अभिनवगुप्त (ग्यारहवी शताब्दी पूर्वार्ध) रस-सूत्र के चतुर्थ व्याख्याता हैं। उनका महत्त्व पूर्ववर्ती विद्वानों के विचारों का परीक्षण करने के उपरान्त संशोधक के रूप में है। अभिनवगुप्त ने भट्टनायक के मत में निम्नलिखित परिशोधन किए :

---

[१] रस-सिद्धान्त, पृ० १६८

१ काव्यार्थ को ही रस मानते हुए उन्होंने कहा कि काव्यात्मक वाक्य से अधिकारी सहृदय को अधिक प्रतीति होती है।[1] अधिक प्रतीति से उनका अभिप्राय व्यंग्यार्थ से था।

२ यह प्रतीति सहृदय को विषय के साधारणीकृत रूप में उपस्थित होने के कारण देश-काल आदि से सर्वथा विमुक्त, मैं और पर, शत्रु, मित्र, मध्यस्थ अथवा सुख-दुःखात्मक अन्य भावों से एवं विघ्नबहुल ज्ञानों से विलक्षण, निर्विघ्न, साक्षात् हृदय में प्रविष्ट होती हुई सी प्रतीत होती है।[2]

३ उपर्युक्त प्रतीति के समय सामाजिक की आत्मा न विशेष रूप से उपेक्षित होती है, न उल्लिखित।[3]

४ विभावादि का साधारणीकरण देश-काल से परिमित रूप में नहीं होता। वस्तुतः वर्तमान एवं काव्य में वर्णित देश-काल, प्रमाता आदि को नियामक हेतुओं के बंधन से अत्यन्त पृथक कर देने पर वह साधारणीकरण व्यापार अत्यन्त पुष्ट हो जाता है।[4]

५ यह रस प्रतीति समस्त सामाजिकों को एकरूप ही होती है, जो रस के लिए अत्यन्त पोषक हो जाती है। समान प्रतीति होने का कारण अनादि संस्कारों द्वारा चित्रित चित्त वाले सारे सामाजिकों का एक समान सवासन होना है।[5]

६ यह निर्विघ्न प्रतीति चमत्कारात्मक होती है। सर्वथा रसात्मक एवं निर्विघ्न प्रतीति से ग्राह्य भाव ही रस है एवं विघ्नों के अपसारक विभावादि होते हैं।[6]

उक्त मत 'अभिनवभारती' में व्यक्त किया गया। 'ध्वन्यालोकलोचन' में अभिनवगुप्त ने रस प्रतीति की प्रक्रिया का विवेचन करते हुए भट्टनायक द्वारा मान्य भोजकत्व और भावकत्व व्यापार के पृथकत्व का निषेध किया और इस प्रतीति को व्यंजनाश्रित माना। उनका मत संक्षेप में इस प्रकार है

१ रस की प्रतीति आस्वादन रूप में होती है। वाच्य-वाचक का यह व्यापार वहाँ पर अभिधा से पृथक् व्यंजनात्मक ध्वनन व्यापार के रूप में ही होता है।[7]

---

[1] तत्काव्यार्थो रसः। काव्यात्मकादपि शब्दादधिकारिणोऽधिकास्ति प्रतिपत्तिः। अभिनवभारती, भाग १, पृ० २७८

[2] तस्यां च देशकालाद्यनालिंगितम्। तत एव 'भीतोऽहं भीतोऽयं शत्रुर्वयस्यो मध्यस्थोवा' इत्यादिप्रत्ययेभ्यो दुःखसुखादिकृतहानादिबुद्ध्यन्तरोदयनियमवत्तया विघ्नबहुलेभ्यो विलक्षणं निर्विघ्नप्रतीतिग्राह्यं साक्षादिव हृदये निविशमानं वही, पृ० २७९

[3] सा नात्यन्ततिरस्कृतो न विशेषत उल्लिखितः। वही, पृ० २७९

[4] तत एव न परिमितमेव साधारण्यम्। अपि तु विततम्। यस्य वस्तुसतां काव्यार्पितानां च देशकालप्रमात्रादीनां नियमहेतूनाम् यो प्रतिबन्धबलादत्यन्तमपसरणं स एव साधारणीभावः सुतरां पुष्यति। वही, पृ० २७९

[5] सर्वसामाजिकानामेकघनतयैव प्रतिपत्तिः सुतरां रसपरिपोषाय। सर्वेषामनादिवासनाचित्रीकृतचेतसां वासनासंवादात्। वही, पृ० २७९

[6] सा चाविघ्ना संवित्। चमत्कारः सर्वथा रसनात्मकवीतविघ्नप्रतीतिग्राह्यो भाव एव रसः। तत्र विघ्नापसारका विभावप्रभृतयः। वही, पृ० २८०

[7] सा च रसनारूपा प्रतीतिरुत्पद्यते। वाच्यवाचकयोस्तत्राभिधादिविविक्तो व्यंजनात्मा ध्वननव्यापार एव। ध्वन्यालोक, पृ० १६८-६९

२. भट्टनायक द्वारा मान्य काव्य का भोगीकरण व्यापार रस-विषयक ध्वन्यात्मकता के अतिरिक्त और कुछ नहीं होता तथा भावकत्व का आशय गुणालंकार-परिग्रहात्मक ही होता है।[1] इस ध्वनन व्यापार की उन्होंने विस्तारयुक्त व्याख्या की है।

३. भोग रस्यमानता से उत्पन्न चमत्कार से अतिरिक्त नही होता। अर्थात भावकत्व और भोजकत्व व्यापार के पृथक अस्तित्व की कल्पना उन्हे अमान्य है।[2]

४. आस्वाद की गणना सत्त्व इत्यादि के अंगांगिभाव-वैचित्र्य की अनन्तता के कारण द्रुति इत्यादि के रूप में उचित नहीं है।[3]

५. यह रसास्वादन परब्रह्मास्वाद के सदृश होता है।[4]

६. रस अभिव्यक्त ही होते है और प्रतीति के द्वारा ही आस्वादगोचर होते है।[5]

दूसरे शब्दों में, प्रमाता के चित्त में वासना के रूप मे विद्यमान स्थायी भाव नाट्य तथा काव्यगत विभावादि के सम्पर्क से अभिव्यक्त होकर रसनीय बन जाता है या रस-रूप में परिणत हो जाता है। अतः विभावादि व्यंजक है, रस-रूप में परिणत स्थायी भाव या रस व्यंग्य है। निष्पत्ति का अर्थ है—अभिव्यक्ति, और संयोग का अर्थ है—व्यंग्य-व्यंजक सम्बन्ध।

संक्षेप में, अभिनवगुप्त ने पहली बार रसास्वाद के कलात्मक प्रश्न को दृढ़ दार्शनिक आधारभूमि प्रदान की। रसास्वाद को शैवाद्वैत के आधार पर उन्होने लगभग आत्मास्वाद से अभिन्न घोषित किया। इसी स्थापना का एक शुभ परिणाम यह भी हुआ कि उन्होंने शैव आनन्दवाद के आधार पर रस की एकान्त आनन्दरूपता की स्थापना की। व्यंजना के आधार पर रसानुभूति और अभिव्यक्ति का संश्लिष्ट रूप प्रतिपादित कर एक ओर उन्होंने रस की नितान्त व्यक्तिपरक या आत्मपरक सत्ता का निर्भ्रान्त आख्यान किया, दूसरी ओर अद्वैत-सिद्धान्त के आधार पर रस के अन्तरंग एवं वहिरंग को परस्पर सम्वद्ध कर दार्शनिक भित्ति प्रदान की।

डॉ० नगेन्द्र के अनुसार अभिनवगुप्त की अन्य सिद्धि 'समष्टिगत रस की प्रकल्पना' है। किन्तु इस प्रसंग मे उनका यह कथन विवादास्पद प्रतीत होता है : "जिस सामाजिक कलानुभूति की स्थापना आधुनिक युग में साम्यवाद अथवा समाजवाद के प्रभाव के द्वारा हुई है, अभिनव ने अपने ढंग से उसका अपूर्व व्याख्यान किया है।"[6] सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाए तो एक स्थूल समानता होते हुए भी दोनों दृष्टियों में तात्त्विक भेद है। अभिनवगुप्त की दृष्टि सामाजिक होते हुए भी रस-परिकल्पना मे प्रेयात्मक ही थी और साम्यवाद एवं समाजवाद के कला-सिद्धान्त समाज के प्रति श्रेयात्मक दृष्टि पर ही वल देकर चलते है।

---

[1] भोगीकरणव्यापारश्च काव्यस्य रसविषयो ध्वननात्मैव, नान्यत्किंचित्। भावकत्वमपि समुचितगुणालंकार परिग्रहात्मकमस्माभिरेव वितत्य वक्ष्यते। ध्वन्यालोक, पृ० १९९

[2] रस्यमानतोदितचमत्कारानतिरिक्तत्वाद्भोगस्येति। वही, पृ० २००

[3] सत्त्वादीनां चांगांगिभाववैचित्र्यस्यानन्त्याद् द्रुत्यादित्वेनास्वादगणना न युक्ता। वही, पृ० २००

[4] परब्रह्मास्वादसब्रह्मचारित्वं चास्त्वस्य रसास्वादस्य। वही, पृ० २००

[5] तस्मात्स्थितमेतत्-अभिव्यज्यन्ते रसाः प्रतीत्यैव च रस्यन्त इति। वही, पृ० २००

[6] रस-सिद्धान्त, पृ० १७५

अभिनवगुप्त की विपुल सिद्धियों के उपरान्त भी उनकी व्याख्या आक्षेपमुक्त नहीं है। उन पर सबसे प्रबल आक्षेप तो यही है कि उन्होंने भरत एवं पूर्ववर्ती व्याख्याता आचार्यों के मतों को कुछ इस तरह अपने रँग में रँगकर प्रस्तुत किया कि मूल का वास्तविक स्वरूप जानना दुष्कर हो गया। अतः रस सिद्धांत के क्षेत्र में स्वयं प्रतिष्ठाता एवं व्याख्याता आचार्यों के सही मत जानने दुर्लभ हो गए, विशेषकर व्याख्याता आचार्यों के। इस प्रकार अनेक कला विषयक अमूल्य संकेत या तो धूमिल हो गए या परिवर्तित-रूप में सामने आने के कारण व्यर्थप्राय हो गए।

उनके मत की दूसरी परिसीमा वह है, जिसे डा० नगेन्द्र ने उनकी शक्ति माना है, अर्थात् रस सिद्धान्त को गंभीर दार्शनिक धरातल प्रदान करना। उनके शब्दों में "अभिनव के मत की सबसे बड़ी शक्ति तो यही है कि पूर्ववर्ती सभी आचार्यों के सिद्धान्तों की अपेक्षा उसका दार्शनिक आधार अत्यधिक गंभीर एवं प्रामाणिक है। जिस प्रकार अधिकांश दार्शनिक मतवादों का पर्यवसान अद्वैत में हो गया, उसी प्रकार रस-विषयक सभी मान्यताएँ भी आत्मास्वाद की कल्पना में अन्तर्लीन हो गई।"[1] अभिनव की यह सिद्धि केवल इतनी ही दूर तक मानी जा सकती है कि उन्होंने रस सिद्धान्त को गंभीर आधार प्रदान किया, किन्तु काव्यास्वाद को आत्मास्वाद की कोटि तक पहुँचा देना बहुत समीचीन नहीं कहा जा सकता।

स्वयं डा० नगेन्द्र ने भी अभिनवगुप्त के मत की एक अन्य परिसीमा का संकेत किया है: रस का स्वरूप एकान्त आत्मपरक मान लेने पर पूरा बल सहृदयता पर पड़ जाता है और काव्य की सत्ता गौण हो जाती है। वास्तव में अभिनव ने कवि के आत्म-तत्त्व के आधार पर काव्य की भी आत्मपरक व्याख्या की है, परन्तु वह आगे चलकर प्रायः उपेक्षित हो गई जिससे सन्तुलन बिगड़ गया।[2] परन्तु यदि अभिनव ने कवि के आत्म-तत्त्व को ध्यान में रखकर अपनी व्याख्या प्रस्तुत की और वह आगे चलकर उपेक्षित हो गई तो यह परिसीमा परवर्ती विद्वानों की है, उनकी नहीं।

अभिनवगुप्त रस चिन्तन की पराकाष्ठा हैं। भरत के 'नाट्यशास्त्र' पर 'अभिनव-भारती' नामक टीका लिखकर एक ओर उन्होंने नाट्य रस सम्बन्धी विवेचन को अन्तिम रूप दिया तो दूसरी ओर आनन्दवर्धन के 'ध्वन्यालोक' पर 'लोचन' नामक टीका लिखकर काव्य रस-सम्बन्धी चिन्तन को पूर्णता प्रदान की। काव्यशास्त्र में रस ध्वनि को पूर्णतः प्रतिष्ठित करने का श्रेय अभिनवगुप्त को है। उन्होंने काव्य-सृजन से काव्यास्वाद तक अखंड रसानुभूति को सुसंगत रूप देकर रस सिद्धांत को स्वतः सम्पूर्ण और सर्वग्राही काव्य सिद्धान्त के रूप में स्थापित किया। व्याकरणशास्त्र में जो स्थान महाभाष्यकार पतंजलि का है और वेदान्त दर्शन में 'प्रस्थानत्रयी' के महान भाष्यकार शंकराचार्य का है, वही स्थान काव्यशास्त्र में 'अभिनवभारती' एवं 'ध्वन्यालोक-लोचन' के प्रणेता अभिनवगुप्त का है।

---

[1] रस सिद्धांत, पृ० १७५
[2] वही, पृ० १७७

भोज (ग्यारहवीं शताब्दी का पूर्वार्ध)

अभिनवगुप्त के द्वारा रस-चिन्तन इस चरम विन्दु पर पहुँच गया था कि उस दिशा में सहसा किसी नए या मौलिक विचार की आशा कठिन प्रतीत होती थी। किन्तु यह प्रीतिकर विस्मय का विषय है कि इधर कश्मीर में अभिनवगुप्त ने शान्त-पर्यवसायी रसानुभूति की स्थापना करके विराम लिया ही था कि उधर धारा नगरी के राजा भोज ने यह घोषणा की कि एकमात्र रस श्रृंगार ही है : "वयं तु श्रृंगारमेव रसनाद्रसमामनामः।" भोज की इस मान्यता ने तत्काल ही पंडितों का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट किया क्योंकि व्यवहार में श्रृंगार की ही प्रधानता थी और सामान्यतः रस का अर्थ श्रृंगार ही समझा जाता था। भोज का महत्त्व इस बात में है कि उन्होंने इस लोक-प्रचलित धारणा को दार्शनिक और मनोवैज्ञानिक आधार प्रदान करके सुदृढ़ सैद्धान्तिक रूप दिया। भोज के व्यापक प्रभाव का एक कारण यह भी है कि उनका कृतित्व विश्वकोश-प्रकृति का है। 'सरस्वती-कण्ठाभरण' और 'श्रृंगारप्रकाश' सहस्रों श्लोकों में लिखे हुए विशाल ग्रंथ है जिनमें काव्यशास्त्र-विषयक समस्त ज्ञातव्य बातों को संकलित एव संग्रहीत करने का विराट प्रयास किया गया है।

भोज की मौलिकता पर प्रश्नचिह्न लगाते हुए डॉ० एस० के० डे ने यह प्रमाणित करने का प्रयास किया है कि उन्होंने श्रृंगार को एकमात्र रस स्वीकार करने की मान्यता 'अग्निपुराण' से ली है, किन्तु महामहोपाध्याय पां० वा० काणे एवं डॉ० वी० राघवन ने इस मत का सप्रमाण खंडन करते हुए प्रतिपादित किया है कि 'अग्निपुराण' का उक्त मत भोज के बाद का है।

भोज जब श्रृंगार को एकमात्र रस मानते हैं तो उनकी श्रृंगार-सम्बन्धी धारणा भी विशिष्ट है। भोज के श्रृंगार का आधार अहंकार है, जिसे वे कभी-कभी अभिमान भी कहते हैं। उनकी दृष्टि में अहंकार, अभिमान, श्रृंगार और रस परस्पर-पर्याय है। उनकी रस-विषयक सम्पूर्ण धारणा इस श्लोक से स्पष्ट हो जाती है :

"आभावनोदयमनन्यधिया जनेन यो भाव्यते मनसि भावनया स भावः।
यो भावनापथमतीत्य विवर्तमानः साहंकृते हृदि परं स्वदते रसोऽसौ ॥"[1]

जैसा कि डॉ० राघवन एवं डॉ० कान्तिचन्द्र पाण्डे का मत है, भोज का अहंकार 'आत्मरति' अथवा 'आत्म-काम' का ही पर्याय है। फ्रायड की 'लिबिडो' संबंधी मनोविश्लेपणात्मक स्थापनाओं के बाद भोज का 'अहंकार-श्रृंगार-सिद्धान्त' आधुनिक युग के विचारकों के लिए और भी अधिक आकर्षक हो उठा है।

भोज की यह मान्यता अनुयायियों के अभाव मे भी अपनी विलक्षणता के लिए रस-चिन्तन के इतिहास में विशेष महत्त्वपूर्ण है।

रस-सिद्धान्त की पुनर्व्यवस्था

अभिनवगुप्त के पश्चात रस के इतिहास में किसी नई मान्यता के लिए अवकाश नहीं रह गया था क्योंकि सामान्यतः सभी विचारक काव्यात्मा के रूप में रस को स्वीकार

---

[1] डॉ० राघवन, भोज का श्रृंगारप्रकाश, पृ० ४६२

कर चुके थे। यदि किसी को आपत्ति थी तो ध्वनि पर और आपत्ति करनेवाले भी साधारण प्रतिभा के नहीं थे। ध्वनि विरोधियों में महिमभट्ट जैसे असाधारण प्रतिभा-सम्पन्न तर्क-कर्कश दुर्द्धर्ष नैयायिक थे। ऐसी स्थिति में ध्वनि विरोधियों का तर्कसम्मत उत्तर देते हुए रस के साथ ही ध्वनि की प्रतिष्ठा का प्रश्न पुनः उठ खड़ा हुआ। यह ऐतिहासिक कार्य काव्यप्रकाशकार मम्मट (लगभग ११वीं शताब्दी) ने अत्यन्त दक्षता के साथ सम्पन्न किया। मम्मट ने आनन्दवर्धन और अभिनवगुप्त की रस ध्वनि सम्बन्धी मान्यताओं का संक्षिप्त किन्तु अत्यन्त स्पष्ट ढंग से पुनर्कथन किया। इन गुणों के कारण काव्यप्रकाश आनेवाले युगों के लिए काव्यशास्त्र का मानक ग्रंथ बन गया। काव्यप्रकाश के महत्त्व पर प्रकाश डालते हुए महामहोपाध्याय पा० वा० काणे ने उचित ही कहा है कि "काव्यप्रकाश साहित्यशास्त्र विषयक अनेक मतों का उद्गम-स्थान भी है। इस ग्रंथ का विशेष गुण यह है कि इसमें विवेचन पूर्ण एवं सर्वांगीण होने पर भी यथासंभव अधिक-से अधिक संक्षेप में किया गया है।"[1] काव्यप्रकाश की लोकप्रियता का सबसे बड़ा प्रमाण तो यही है कि आज तक जितनी टीकाएं इस ग्रंथ की हुई हैं उतनी दूसरे किसी साहित्य ग्रंथ की नहीं। पण्डितों के बीच मम्मट की प्रतिष्ठा वाग्देवतावतार के रूप में है।

रस सिद्धान्त की पुनर्व्यवस्था करनेवाले परवर्ती आचार्यों में साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ महापात्र (१४वीं शताब्दी) का नाम भी उल्लेखनीय है। विश्वनाथ के पाण्डित्य में मम्मट जैसा गाम्भीर्य तो नहीं है किन्तु अपनी सरल-सुबोध शैली के कारण साहित्य दर्पण काव्यशास्त्र के अध्येताओं के बीच पर्याप्त लोकप्रिय रहा है। रस चर्चा में साहित्य दर्पण का महत्त्व विशेष रूप से इस बात के लिए है कि एक ही ग्रंथ में काव्य के साथ ही नाट्य रस की भी विवेचना उपलब्ध है। इसके अतिरिक्त रस चिंतन में विश्वनाथ *कवलानंद* की प्रतिष्ठा के लिए भी स्मरण किए जाते हैं। किन्तु विश्वनाथ की व्यापक कीर्ति का प्रतीक उनका प्रायः उद्धृत किया जानेवाला वाक्य 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' है। संभवतः भारतीय काव्यशास्त्र में रस की ऐसी निर्व्याज घोषणा करनेवाला कोई दूसरा परिभाषा-सूत्र नहीं है।

पण्डितराज जगन्नाथ (१७वीं शताब्दी) रस सिद्धान्त के पुनर्व्यवस्थापकों में अंतिम और अन्यतम हैं। उनका प्रसिद्ध ग्रंथ 'रसगंगाधर' अपूर्ण होते हुए भी इस योग्य समझा जाता है कि पंडित-मण्डली उसे 'ध्वन्यालोक', 'लोचन', 'काव्यप्रकाश' आदि ग्रंथों की पंक्ति में स्थान देती है। पण्डितराज इतने भेद के बावजूद रस संबंधी अनेक मान्यताओं में अभिनवगुप्त के अनुमोदक हैं किन्तु प्रत्येक प्रसंग में उन्होंने कुछ-न-कुछ मौलिक उद्भावना का साहस दिखाया है। अभिनवगुप्त के बाद सैद्धान्तिक दृष्टि से मौलिक चिन्तन पण्डितराज में ही दिखाई पड़ता है। उनकी विवेचन क्षमता असाधारण थी। उनमें पाण्डित्य और वैदग्ध्य का अपूर्व समन्वय पाया जाता है। 'रसगंगाधर' अत्यन्त जटिल न्यायशैली भाषा में लिखा गया है। संस्कृत काव्यशास्त्र का यह संभवतः अकेला ग्रंथ है जिसमें तत्कालीन भाषाओं की आलंकारिक प्रकृति से परिचय का आभास मिलता है। पण्डितराज की रस विषयक कुछ मौलिक मान्यताएं निम्नलिखित हैं:

[1] ग० त्र्यं० देशपांडे द्वारा भारतीय साहित्यशास्त्र पृ० १२३ पर उद्धृत

१. वे शब्दार्थ को काव्य मानने की प्रचलित परिपाटी के विपरीत केवल शब्द को काव्य मानते हैं। इस विषय में वे काव्य को श्रुति की परंपरा में प्रतिष्ठित करते है और इस प्रकार उक्त मान्यता की संगति 'रसो वै सः' के साथ बिठाते है।

२. अभिनवगुप्त द्वारा निरूपित चिद्‌विशिष्ट-भाव के विपरीत पंडितराज भाव-विशिष्ट-चित् को रस मानते हैं।

३. 'भग्नावरण चित्' सूत्र के द्वारा पडितराज ने रस-निष्पत्ति की नवीन व्याख्या प्रस्तुत की है, जो स्पष्टतः अभिनवगुप्त से भिन्न है।

४. काव्य-हेतु के रूप में एकमात्र प्रतिभा को प्रतिष्ठित कर पंडितराज ने रससृष्टि और रसास्वाद दोनों ही क्षेत्रों में अपनी मौलिक प्रतिभा प्रमाणित की है।

५. पंडितराज ने विशिष्ट अर्थ से सम्पृक्त रमणीयता की अवधारणा से रस-चिन्तन को समृद्ध किया है।

आधुनिक युग : रस-सिद्धान्त के पुनरुत्थान एवं पुनर्व्याख्या

आधुनिक पुनर्जागरण के प्रभाव से अन्य अनेक प्राचीन विचारधाराओ के समान रस-सिद्धान्त के भी पुनरुत्थान का प्रयास हुआ और हिन्दी में इस ऐतिहासिक कार्य का श्रेय **आचार्य रामचन्द्र शुक्ल** (२०वी शताब्दी पूर्वार्ध) को है। इस दृष्टि से आचार्य शुक्ल कृत 'रस-मीमांसा' जिसे वे अपने जीवन-काल मे पूर्ण न कर सके और जो उनकी मृत्यु के उपरान्त प्रकाशित हुआ, रस-सिद्धान्त की आधुनिक पुनर्व्याख्या का युग-प्रवर्त्तक ग्रंथ है। शुक्लजी के रस-निरूपण की पृष्ठभूमि मे मुख्यतः मध्ययुगीन हिन्दी भक्ति-काव्य और आधुनिक छायावादी काव्य था। भक्तिनिष्ठ लोकमंगल और छायावादी रागात्मकता को काव्य के आदर्श के रूप में परिलक्षित करते हुए आचार्य शुक्ल ने इन आदर्शों के अनुरूप प्राचीन रस-सिद्धान्त की रागात्मक और लोकमंगलमयी पुनर्व्याख्या प्रस्तुत की। रस में निहित रागात्मकता की बोधगम्य व्याख्या करने के लिए जब उन्होने आधुनिक मनोविज्ञान का आश्रय लिया, तो लोकमंगल की व्याख्या करने के लिए राष्ट्रीय जागरण से उत्पन्न व्यापक लोक-चेतना को आधार बनाया। चिन्तन के इस आधुनिक सदर्भ से रस-सिद्धान्त को पुनर्नवता प्राप्त हुई। आचार्य शुक्ल की रस-विषयक कतिपय नवीन मान्यताएँ इस प्रकार हे :

१. भाव को 'प्रत्ययबोध, अनुभूति और वेगयुक्त प्रवृत्ति इन तीनो के गूढ़ सश्लेष' के रूप में परिभाषित करते हुए शुक्लजी ने प्राचीन रसशास्त्र मे निरूपित भाव से भिन्न परिभाषा दी जो आधुनिक मनोविज्ञान द्वारा समर्थित है।

२. रस-निष्पत्ति में आचार्य शुक्ल ने काव्यगत विभावो को सर्वाधिक महत्त्व दिया और फिर बिम्ब-विधान जैसी आधुनिक परिकल्पना के द्वारा परंपरा-प्राप्त विभाव-पक्ष का क्षेत्र-विस्तार किया।

३. रसानुभूति को आचार्य शुक्ल सस्कृत आचार्यो के समान चर्वणा-विश्रान्त मानने के स्थान पर कर्तव्योन्मुखी मानते है। इस विषय मे उनका स्पष्ट कथन है कि "आनन्द का अर्थ हृदय का व्यक्ति-बद्ध दशा से मुक्त और हल्का होकर अपनी क्रिया मे तत्पर होना ही उपयुक्त समझता हूँ।"

४ साधारणीकरण का अर्थ आचार्य शुक्ल मुख्यतः विभावों का साधारणीकरण मानते हैं जिसके अंतर्गत विशेष सामान्य होता है और व्यक्ति जाति। इस प्रक्रिया में पाठक अपने अहं का विसर्जन करके लोकहृदय हो जाता है। शुक्लजी का साधारणीकरण व्यापार आधुनिक उपन्यासों और नाटकों के व्यक्ति वैचित्र्यवाद का विरोध करते हुए लोक-सामान्य नायकों का समर्थन करता है। साधारणीकरण की इस व्याख्या से शुक्लजी के 'लोकमंगल' वाले आदर्श की भी सिद्धि होती है।

५ शुक्लजी ने रस की अलौकिकता के आत्मगम्भीर रूप को आधुनिक युग की ऐहिकता एवं वैज्ञानिकता के अनुरूप आध्यात्मिक आवरण से मुक्त रूप में पुनः प्रतिष्ठित किया।

६ रसानुभूति और प्रत्यक्षानुभूति के बीच खड़ी की गई कलावादी दीवार को तोड़कर आचार्य शुक्ल ने दोनों के पारस्परिक संबंध पर बल दिया।

७ काव्यालोचन में रस के यांत्रिक प्रपंचों का निवारण करते हुए उन्होंने रस के मूल रागात्मक तत्त्व को प्रमुखता दी।

८ रस की उत्तम और मध्यम दो कोटियाँ स्वीकार करके आचार्य शुक्ल ने काव्य के तारतमिक मूल्यांकन में रस सिद्धान्त की उपयोगिता स्थापित की।

९ उन्होंने सौन्दर्यानुभूति और रसानुभूति की अभिन्नता निरूपित की।

आचार्य शुक्ल के समकालीन रस सिद्धान्त के द्वितीय व्याख्याकार कविवर जयशंकर प्रसाद हैं जिन्होंने आधुनिक युग में रस की शैव परंपरा का समय पुनरुत्थान किया। रस पर प्रसादजी ने अलग से कोई स्वतंत्र ग्रंथ नहीं लिखा किन्तु उनके रस विषयक दो तीन ही निबंध चिन्तन-गाम्भीर्य की दृष्टि से विशेष स्थान रखते हैं। प्रसादजी का रस चिन्तन अनेक बातों में शुक्लजी से भिन्न ही नहीं सर्वथा विपरीत है। वे स्वयं शैव-दर्शन के अनुयायी थे और जीवन दर्शन तथा काव्य दोनों में सामरस्य सिद्धान्त के प्रतिपादक थे। इसीलिए उनका रस भी सामरस्य का पर्याय है। इस सामरस्य का मूल आधार आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति है जिसे प्रसादजी अपने रहस्यवादी आग्रह के कारण रहस्यानुभूति भी मानते हैं। अपनी इस विशिष्ट मान्यता की पुष्टि के लिए प्रसादजी ने संपूर्ण रस चिन्तन की परंपरा की नई व्याख्या की जिसके अनुसार रस की दो समानान्तर धाराएँ थीं—एक बुद्धिवादी और दूसरी आत्मवादी। बुद्धिवादी रस धारा रस को सुख-दुखात्मक मानती थी तथा उसकी दृष्टि उक्ति वैचित्र्य आदि पर थी। इसके विपरीत आत्मवादी रस धारा आनंद की पोषक थी और अभिव्यक्ति की दृष्टि से काव्य में ध्वनि को स्वीकार करती थी। स्वयं प्रसादजी रस की इस द्वितीय धारा के समर्थक थे। इसलिए जहाँ आचार्य शुक्ल रस की कोटियाँ स्वीकार करते हैं प्रसादजी रस को एक, अखंड और अविभाज्य मानते हैं। शुक्लजी की रस-दृष्टि से प्रसादजी की रस-दृष्टि के भेद का मुख्य आधार दार्शनिक है। प्रसादजी का रहस्य दर्शन शुक्लजी के व्यावहारिक प्रवृत्तिवादी अथवा अनुभववादी दर्शन के सर्वथा विपरीत था।

रस चिन्तन में प्रसादजी की मुख्य देन है—रस की सामरस्यपरक व्याख्या। उनके अनुसार साधारणीकरण का अर्थ है—सामरस्य। स्वयं प्रसादजी के ही शब्दों में सामरस्य

मूलक रस की विशेषता इस प्रकार है—"रसवाद में वासनात्मकतया स्थित मनोवृत्तियाँ जिनके द्वारा चरित्र की सृष्टि होती है, साधारणीकरण के द्वारा आनन्दमय वना दी जाती हैं, इसलिए यह वासना का संशोधन करके उनका साधारणीकरण करता है। इस समीकरण के द्वारा जिस अभिन्नता की रस-सृष्टि वह करता है, उसमें व्यक्ति की विभिन्नता, विशिष्टता हट जाती है और साथ ही सव तरह की भावनाओं को एक धरातल पर हम एक मानवीय वस्तु कह सकते है। सव प्रकार के भाव एक-दूसरे के पूरक वनकर चरित्र और वैचित्र्य के आधार पर रूपक वनकर रस की सृष्टि करते हैं। रसवाद की यही पूर्णता है।"

पुनर्व्याख्या की दिशा मे अद्यतन योगदान डॉ० नगेन्द्र का 'रस-सिद्धान्त' है जिसमें शास्त्रीय मान्यताओं का युक्तिसंगत पुनर्कथन करते हुए रस-विपयक समस्त मतों का यथा-सम्भव सर्वांगीण समंजन प्रस्तुत किया गया है। यद्यपि इस ग्रंथ में काव्य के सृजन-पक्ष और काव्य के अधिकारी संबंधी रस-सिद्धान्त की विशिष्ट अवधारणाओं का उल्लेख नही है, तथापि आस्वाद-पक्ष की दृष्टि से इस ग्रंथ में रस-विवेचन अपनी पूर्णता में मिलता है। डॉ० नगेन्द्र की विचारधारा में आचार्य शुक्ल और जयशंकर प्रसाद की रस-विषयक व्याख्याओं का एक विशेष ढंग से समन्वय प्राप्त होता है। प्रसादजी ने रस की जो व्याख्या दर्शन के आधार पर प्रस्तुत की थी, डॉ० नगेन्द्र ने उसी व्याख्या को मनोवैज्ञानिक धरातल प्रदान किया। इस प्रकार उन्होंने शुक्लजी का आधार और प्रसादजी की व्याख्या अपनाई।

यही नहीं, शताब्दियों के व्यवधान के कारण रस का अभिनवगुप्त द्वारा निरूपित शास्त्रसम्मत स्वरूप अपने मूल प्रामाणिक रूप में प्रत्यभिज्ञेय नहीं रह गया था, अतः इस ग्रंथ में रस के शास्त्रविहित रूप को पूरी प्रामाणिकता के साथ पुनः प्रतिष्ठित कर वड़े ऐतिहासिक महत्त्व का कार्य किया गया है। इसके साथ ही डॉ० नगेन्द्र ने रस-विपयक कुछ नई पुनर्व्याख्याएँ भी की है, जिनमें से मुख्य मान्यताएँ निम्नलिखित है :

१. आचार्य शुक्ल ने रस के आस्वाद की जो सुख-दुःखवादी व्याख्या की थी, डॉ० नगेन्द्र ने रसानुभूति को उससे ऊपर उठाकर एक वार पुनः अभिनवगुप्त के साक्ष्य पर आनन्द की भूमिका पर स्थापित किया। काव्य में यह आनन्दवादी मूल्यों की पुनः प्रतिष्ठा थी। परन्तु भारतीय परंपरा के अनुकूल उन्होने आनन्द को अन्य सभी मूल्यों का आधार मानते हुए उसे मंगल और कल्याण से ही अभिन्न नही, वल्कि रस का भी पर्याय घोषित किया।

२. रस-सिद्धान्त में 'साधारणीकरण' के सिद्धान्त को लेकर जो प्रश्न दीर्घकाल से विवाद का विपय था कि 'साधारणीकरण किसका होता है' उसका अत्यन्त स्पष्ट तर्कसम्मत समाधान प्रस्तुत करते हुए डॉ० नगेन्द्र ने सर्वांग का साधारणीकरण स्वीकार किया। भट्टतोत यद्यपि इस दिशा में संकेत कर चुके थे किन्तु इस मान्यता की तर्कयुक्तिसम्मत व्याख्या करते हुए उन्होंने सर्वांग के साधारणीकरण का अर्थ प्रकारान्तर से कवि की अनुभूति का साधारणीकरण कहा।

३. आचार्य शुक्ल की रस-विपयक विषयनिष्ठ दृष्टि के विपरीत डॉ० नगेन्द्र ने रस

की विषयिनिष्ठ व्याख्या की, जिसके अनुसार सृजन-पक्ष मे काव्य आत्माभिव्यक्ति है और ग्रहण पक्ष मे सहृदय का आत्मास्वाद।

४ आइ० ए० रिचर्ड्स द्वारा प्रतिपादित 'विरोधो के सामजस्य' सिद्धान्त के तुल्य डॉ० नगेन्द्र ने भारतीय रसानुभूति मे भी विरोधो के समजन पर जोर दिया।

५ शुक्लजी द्वारा प्रतिपादित रस सिद्धान्त मे निहित रागात्मिका वृत्ति को रोमाण्टिक रूप देते हुए, उन्होने रस सिद्धान्त को प्रबध के व्यापक क्षेत्र के अतिरिक्त प्रगीत के वैयक्तिक क्षेत्र तक भी विस्तृत किया।

६ डॉ० नगेन्द्र ने आधुनिक मनोविज्ञान के आधार पर शास्त्रनिरूपित भाव-विवेचन का पुन परीक्षण करते हुए उसे आधुनिक पाठक के लिए सहजबुद्धि-ग्राह्य रूप प्रदान किया।

७ रस सिद्धान्त की पुनर्व्याख्या और पुन प्रतिष्ठा करते हुए उन्होने दावा किया कि रस सिद्धान्त साहित्य मात्र के मूल्याकन मे समर्थ, सार्वकालिक, सार्वभौम मानदण्ड है।

निष्कर्ष

रस चिन्तन के इस ऐतिहासिक सर्वेक्षण से स्पष्ट हो जाता है कि भारत मे रस-विषयक विचार की परपरा विच्छिन्न प्रवाह के रूप मे आरभ से ही उपलब्ध होती है। सहस्रो वर्षों की कालावधि मे अनेक मनीषियो ने वाद विवाद, खडन-मडन के द्वारा रस-सिद्धान्त को समृद्ध किया है। विचार-क्रम की दृष्टि से रस सिद्धान्त क्रमश नाट्य-रस से काव्य रस और काव्य मे भी प्रबध काव्य से मुक्तक मे निष्पन्न होने वाली अवधारणा की दिशा मे विकसित हुआ। इसके साथ ही यह भी प्रमाण मिलता है कि काव्य-रस के प्रभाव से कालान्तर मे सगीत-कला और वास्तु-कला मे भी रस सिद्धान्त को विकसित करने का प्रयास किया गया। जिस प्रकार रस-ब्रह्मवाद काव्य के सदर्भ मे प्रचलित था, उसी प्रकार नाद-ब्रह्मवाद और वास्तु-ब्रह्मवाद का प्रचलन हुआ। वैसे तो नाद-ब्रह्मवाद की स्थापना दार्शनिक स्तर पर स्वय अभिनवगुप्त 'तत्रालोक' मे कर चुके थे, किन्तु सगीत के क्षेत्र मे रस-तुल्य नाद-ब्रह्म की प्रतिष्ठा का श्रेय 'सगीत रत्नाकर' के रचयिता शार्ङ्गदेव को है। इसी प्रकार वास्तु-ब्रह्म की स्थापना भोज ने 'समरागण-सूत्रधार' नामक ग्रथ मे की, जिसके अनुसार वास्तु ब्रह्म दर्शक मे अद्भुत रस की सृष्टि करता है, किन्तु जैसा कि डॉ० कान्तिचन्द्र पाण्डे का कहना है, रस-विषयक इन तीनो अवधारणाओ को एक व्यवस्थित सौन्दर्यशास्त्रीय प्रणाली के रूप मे समन्वित करने का प्रयास प्राचीन भारत मे न हो सका।[1]

जहाँ तक काव्य रस का सबध है, वह काव्य-सृजन से लेकर आस्वाद तक की सम्पूर्ण प्रक्रिया के रूप मे विकसित हुआ। आरभ मे जो रस मुख्यत विषयगत था, उसकी परिणति अन्तत विषयिगत रस के रूप मे हुई। भरत का नाट्य रस अभिनवगुप्त के

---

[1] No system of philosophy of 'Fine Art', systematizing the three philosophies of the three recognized independent or fine arts into a well integrated whole could develop *Indian Aesthetics*, p 612

सहृदयगत रस के रूप में पर्यवसित हुआ। रस-निष्पत्ति की व्याख्या के क्रम में 'साधारणी-करण-व्यापार' और 'व्यंजना-व्यापार' अथवा 'ध्वनि' जैसी दो महत्त्वपूर्ण अवधारणाओ की सृष्टि हुई। मनोवैज्ञानिक स्तर पर जो रस आरंभ मे लौकिक सुख-दु.खात्मक भावों के रूप में निरूपित हुआ था, वह प्रौढ दार्शनिक चिन्तन के आलोक मे अन्ततः आत्मा के आस्वाद के रूप में प्रतिष्ठित हुआ। रस-सिद्धि को ज्ञान, आनन्द और मंगल के समन्वित रूप में निरूपित कर काव्य को पुरुपार्थ-सिद्धि में समर्थ माना गया। इस प्रकार निरन्तर विकास, परिष्कार और संशोधन के द्वारा रस-सिद्धान्त एक सर्वांगपूर्ण, सार्वभौम सौन्दर्यशास्त्रीय सिद्धान्त के रूप में प्रतिष्ठित हुआ। आधुनिक युग के विचारकों ने अपनी इस मूल्यवान विरासत को युग की आवश्यकताओं के अनुरूप यथासम्भव विकसित करने का प्रयास किया जिससे यह प्रमाणित होता है कि रस-सिद्धान्त संग्रहालय मे सुरक्षित कोई जड़ वस्तु नही, बल्कि विकास की अमित सम्भावनाओं से युक्त अनुभवसिद्ध जीवन्त विचार-प्रणाली है।

●

३

पाश्चात्य सौन्दर्यशास्त्र का विकास

एस्थेटिक्स अर्थात सौन्दर्यशास्त्र पाश्चात्य चिन्तन परम्परा का अपना विशिष्ट आविष्कार है। प्राच्य-कला के प्रति पूरी सहानुभूति रखने वाले टामस मुनरो ने भी कहा है कि एशियाई दर्शन के अधिकांश इतिहासों में 'सौन्दर्यशास्त्र' 'कला' 'सौन्दर्य' तथा इनसे संबंधित शब्दों का उल्लेख तक नहीं मिलता।[1] यदि इस कथन में पूरी सच्चाई न भी हो तो यह तथ्य है कि एस्थेटिक्स संज्ञा के निर्माण का श्रेय पश्चिम को ही है और हिन्दी शब्द सौन्दर्यशास्त्र एक अवधारणा के रूप में बहुत पुराना नहीं है बल्कि वह पाश्चात्य संज्ञा का अनुवाद मात्र है। किन्तु पश्चिम में भी १८वीं शताब्दी से पहले इसका अस्तित्व न था। अलेक्जेण्डर बाउमगार्टन (१७१४–६२) पहले व्यक्ति हैं जिन्होंने आधुनिक अर्थ में एस्थेटिक शब्द का प्रयोग किया किन्तु समस्त कलाओं में निहित सामान्य आधारभूत तत्वों के दर्शन के रूप में एस्थेटिक्स की प्रतिष्ठा का श्रेय हेगल (१७७०–१८३१) को है इसलिए कुछ विचारक एस्थेटिक्स को मुख्यतः उन्नीसवीं शताब्दी का हेगलीय आविष्कार मानते हैं।[2] वस्तुतः पाश्चात्य चिन्तन के इतिहास में उन्नीसवीं शताब्दी व्यापक विचार प्रणालियों के निर्माण के लिए प्रसिद्ध है और इस प्रवृत्ति का चरमोत्कर्ष हेगल में हुआ। अपने विश्वकोशानुमय ज्ञान एवं सार्वभौम मेधा के बल पर हेगल ने अनेक बिखरे हुए विचार सूत्रों को व्यवस्थित कर सिद्धान्त का विराट प्रासाद निर्मित करने का प्रयास किया। उनके ऐसे ही प्रयासों में से एक है समस्त ललित-कलाओं के आधारभूत तत्वों का दर्शन।

किन्तु विराट प्रयास से पूर्व पृथक-पृथक ढंग से भिन्न भिन्न कलाओं के विषय में चिन्तन की परंपरा पश्चिम में बहुत प्राचीन काल से चली आ रही थी। यही नहीं बल्कि सौन्दर्य और कला के विषय में भी दर्शन के अन्तर्गत पहले से ही विचार होता आ रहा था। 'सौन्दर्य' अनेक पाश्चात्य दार्शनिकों के विचार का प्रमुख विषय रहा है। शिल्प और कौशल के रूप में कला की व्याख्या ग्रीक-दर्शन के उदय-काल से मिलती है किन्तु उपयोगी कलाओं से भिन्न ललित-कला के रूप में सौन्दर्यशास्त्रीय कला की अवधारणा १८वीं शताब्दी से प्राचीन नहीं है।[3] फिर भी स्थिति यह है कि सौन्दर्य और कला दोनों संज्ञाएँ आज तक अस्पष्ट हैं यहाँ तक कि इनके द्वारा अभिहित क्षेत्रों का भी स्पष्ट सीमांकन नहीं हो सका है।

---

१ ओरिएण्टल एस्थेटिक्स पृ० १७
२ वही
३ वही

वस्तुतः सौन्दर्यशास्त्र का विकास पश्चिम में दर्शनशास्त्र की एक शाखा के रूप में हुआ और आज भी उसे दर्शनशास्त्र की अनिवार्य और प्रधान शाखाओं में से एक के रूप में मान्यता प्राप्त नहीं हो सकी। क्रोचे (१८६६–१९५२) प्रथम दार्शनिक है, जिन्होंने दर्शनशास्त्र के क्षेत्र में सौन्दर्यशास्त्र को स्वतंत्र एवं स्वतः सम्पूर्ण विचार-प्रणाली के रूप में प्रतिष्ठित किया।

वाउमगार्टेन के समय से ही सौन्दर्यशास्त्र को 'कला और प्रकृति में निहित सौन्दर्य, उसकी प्रकृति, उसकी स्थितियाँ एवं उसकी नियमानुरूपता के ज्ञान' के रूप में परिभाषित किया गया है। इस परिभाषा में सौन्दर्यशास्त्र की दार्शनिक और मनोवैज्ञानिक दोनों दृष्टियों का समावेश है। प्लेटो के समय से ही दार्शनिक कला और सौन्दर्य की समस्याओं पर ऊहापोह करते आ रहे हैं। उनके सम्मुख विचारणीय प्रश्न ये थे : कला क्या है? सौन्दर्य क्या है? क्या सौन्दर्य वस्तुनिष्ठ है? सौन्दर्य तथा अन्य मूल्यों में क्या संबंध है अर्थात सत्य और शिव से सौन्दर्य का क्या संबंध है? इन प्रश्नों पर विचार करने की पद्धति, स्पष्ट ही, निगमन की रही है। तदनुसार सौन्दर्यशास्त्रीय अवधारणाएँ भी कुछ इस प्रकार की रही हैं, जैसे सौन्दर्य-प्रत्यय, भव्य, उदात्त, त्रासद, कामद, विरूप आदि। सौन्दर्य-संबंधी दार्शनिक चिन्तन-क्रम में नया मोड़ आया फ़ेचनर (१८०१–८७) के द्वारा, जिन्होंने सौन्दर्यशास्त्र में आगमन-प्रणाली का सूत्रपात करते हुए उसके अनुभवपरक अध्ययन को विज्ञान की दिशा में मोड़ने का प्रयास किया। इस प्रकार फ़ेचनर मनोवैज्ञानिक और प्रायोगिक सौन्दर्यशास्त्र के जनक के रूप में प्रतिष्ठित हुए। मनोवैज्ञानिक सौन्दर्यशास्त्र दो बड़ी समस्याओं को अपने अध्ययन का विषय मानता है : १. सौन्दर्य की अनुभूति अथवा आनन्द, तथा २. कला-सृजन अथवा कला-वृत्ति।

आधुनिक युग में दार्शनिक सौन्दर्यशास्त्र के विरुद्ध तीव्र प्रतिक्रिया परिलक्षित हुई। यह प्रतिक्रिया पूर्ववर्ती प्रत्ययवाद, भाववाद एव तत्त्ववाद के विरुद्ध व्यापक दार्शनिक प्रतिक्रिया का ही अंग है। 'सौन्दर्य' और 'कला' पर विचार करने के क्रम में प्रत्ययवादी दार्शनिक ऐसे वायवी लोक में चले गए कि वे अपने ठोस इन्द्रियगोचर कला-रूपों से विच्छिन्न हो गए। इस प्रतिक्रिया की व्यापकता का अनुमान इतने से ही चल सकता है कि जब आग्डेन और रिचर्ड्स ने सौन्दर्य को 'व्यर्थ से भी हीनतर' अवधारणा घोषित किया तो उन्हें तत्काल ही व्यापक सहमति प्राप्त हुई।

इसलिए दार्शनिक सौन्दर्यशास्त्र को अब कुछ विद्वानों ने 'मेटाक्रिटिसिज्म' के रूप में स्वीकार करने का प्रस्ताव रखा है जिसमें सौन्दर्यशास्त्रीय अवधारणाओं की अर्थवत्ता की परीक्षा करते हुए सौन्दर्यशास्त्र को 'कला-समीक्षा का दर्शन' मानने का आग्रह स्पष्ट है।[1] इस प्रकार सौन्दर्यानुभूति एवं कला-सृजन संबंधी प्रश्न मनोवैज्ञानिक सौन्दर्यशास्त्र के अन्तर्गत चले जाते है, क्योंकि अब इन प्रश्नों का उत्तर ठोस अनुभवपरक तथ्यों के आधार पर ही देना समीचीन है। इस कार्य-विभाजन के बाद स्पष्ट ही दार्शनिक सौन्दर्यशास्त्र का विषय सौन्दर्यशास्त्रीय अवधारणाओं का परीक्षण-मात्र बच रहता है। यह प्रवृत्ति भी

---

[1] **मुनरो सी० बियर्डस्ले : एस्थेटिक्स, पृष्ठ ४**

दर्शनशास्त्र की वर्तमान प्रवृत्ति के सर्वथा समानान्तर है, क्योंकि वहाँ भी दर्शनशास्त्र भाषा-विश्लेषण को अपना मुख्य विवेच्य कार्य मानता है।

प्रारम्भिक काल

पश्चिम में कला विषयक चिन्तन का आरम्भ प्लेटो (४०७–३४७ ई० पू०) से हुआ। प्लेटो ने कलाओं को स्वतन्त्र विषय के रूप में महत्त्व न देकर उन पर अपनी दार्शनिक और नैतिक प्रणाली के अंग रूप में विचार किया है, अतः उनके विवेचन में कला-संबंधी तात्त्विक चिन्तन को प्रधानता न देकर मानव जीवन पर कलाओं के प्रभाव और धर्म-दर्शन, राजनीति, आचारशास्त्र आदि के अन्तर्गत कलाओं के स्थान पर ही विचार किया गया है। रोचक बात है कि जिस सौन्दर्यशास्त्र को बाद में दार्शनिक चिन्तन की एक शाखा के रूप में स्वीकार किया गया, उसी दर्शन और कला के बीच घोर विरोध की पृष्ठभूमि में प्राक् कला चिन्तन का आरम्भ हुआ। अतः ग्रीक आचार्यों के प्रारम्भिक चिन्तन में समाज में कलाओं के स्थान निर्धारण का प्रश्न ही प्रमुख था। एक विशेष ऐतिहासिक संदर्भ की देन होने के कारण प्लेटो के कला चिन्तन का स्वर प्रमुख रूप से निषेधात्मक है। उन्होंने कला विषयक प्रश्नों का उत्तर सौन्दर्यशास्त्र एवं काव्यशास्त्र की शब्दावली में न देकर नीतिशास्त्रीय शब्दावली में दिया है। वे कलाओं पर सामान्य रूप से और काव्य पर विशेष रूप से विचार करते हुए भी उन पर तात्त्विक दृष्टि से विचार नहीं करते। न प्लेटो ने काव्य एवं अन्य कलाओं के शिल्प पक्ष पर ही विशेष विचार किया है। विवेच्य विषयों के आयाम की दृष्टि से उनका क्षेत्र अत्यन्त परिसीमित एवं संकुचित है। उन्होंने समग्र कलाओं में काव्य, और काव्य के भी कुछ अत्यन्त सीमित प्रश्नों पर ही विचार किया है। इस प्रकार उनका विवेचन अत्यन्त एकांगी है। कवि या कलाकार की कोई पृथक् सत्ता या महत्त्व उनकी दृष्टि में नहीं था। परन्तु उन्होंने खंडन के स्वर में भी काव्य के जिन आनुषंगिक प्रश्नों पर विचार किया है, वे ही अरस्तू के विवेचन के विधेयात्मक और निषेधात्मक, दोनों रूपों में आधार बने। उदाहरण के लिए, अनुकरण-सिद्धान्त, विरेचन-सिद्धान्त तथा कवि चारण और श्रोता के मध्य भावतादात्म्य की स्थिति की ओर भी उन्होंने अत्यन्त सफलतापूर्वक निर्देश किया था। काव्य में लोकमंगल के नैतिक मूल्यों की साग्रह स्थापना और एकान्त ऐहिक मनोरंजनपरक मूल्यों का निषेध भी प्लेटो की अत्यन्त महत्त्वपूर्ण देन है।

प्लेटो के काव्यशास्त्रीय विवेचन पर सबसे बड़ा आक्षेप उसमें क्रमबद्धता का अभाव है। उन्होंने व्यवस्थित काव्यशास्त्र-रचना के रूप में काव्यालोचन नहीं किया। इसके अतिरिक्त उनके कवि हृदय और दार्शनिक मेधा के बीच सतत द्वन्द्व के कारण उनके विवेचन में अनेक स्थलों पर अस्पष्टता, असम्बद्धता और स्वतोव्याघात का आभास है, परन्तु यह स्वतोव्याघात न होकर 'द्वन्द्वमय सामंजस्य' है जो उनकी स्थापनाओं में आद्यन्त वर्तमान है।

प्लेटो ने काव्यालोचन के क्षेत्र में सबसे घातक काम यह किया कि उन्होंने कवि को अनुकर्ता घोषित करते हुए उससे सृजन और निर्माण का तो नहीं, बल्कि पुनर्निर्माण का गौरव भी छीन लिया। इस प्रकार सृजन प्रक्रिया से आत्म-तत्त्व का पूर्णतः निषेध कर,

उन्होंने वस्तु-तत्त्व के महत्त्व की प्रतिष्ठा की, जिससे काव्य-सृजन में उभय तत्त्वों के सम्यक् सन्तुलन एवं परस्पर-सापेक्ष स्थिति की उपेक्षा हो गई। प्लेटो काव्य-रचना को कौशल-मात्र मानते थे। स्पष्ट ही इसका अर्थ था काव्य में आत्मानुभूति आदि रागात्मक तत्त्वों की उपेक्षा। परन्तु विचित्र बात तो यह है कि काव्य की सृजन-प्रक्रिया की चर्चा करते हुए उन्होंने काव्य को सहज निसर्ग एवं अचेतन मन की सृष्टि भी माना है और साथ ही पाठक पर उसका प्रभाव अत्यन्त रागात्मक या भावोत्तेजक स्वीकार किया है। कदाचित इसी कारण रोमाण्टिक कवियों ने जितनी प्रेरणा प्लेटो से ग्रहण की, उतनी अरस्तू से नहीं। ऊपर से प्रतीत होता है कि काव्यालोचन की रोमाण्टिक पद्धति को उनके चिन्तन में कोई अवकाश नही था, परन्तु सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो वे शास्त्रीय और रोमाण्टिक दोनों चिन्तन-पद्धतियों के जनक थे।

उदारमना चिन्तक होने के कारण उन्होंने आत्यन्तिक निर्णय बहुत कम प्रश्नों पर दिए, किन्तु जो मूल प्रश्न उन्होंने पहली बार उठाए, वे आज तक अनुत्तरित हैं—उदाहरण के लिए काव्य और सत्य का संबंध तथा काव्य का रागात्मक प्रभाव एवं उसके सृजन के मूल में प्रकृत शक्तियों का महत्त्व।

अरस्तू (३८४–३२२ ई० पू०) को प्रायः पाश्चात्य काव्यशास्त्र एवं सौन्दर्यशास्त्र में आद्याचार्य होने का गौरव दिया जाता है। उनकी सबसे बड़ी सिद्धि यही थी कि उन्होंने काव्य को राजनीति, धर्म, आचारशास्त्र आदि की पराधीनता से मुक्त कर उस पर स्वतन्त्र दृष्टि से विचार किया। उनसे पूर्व प्लेटो मानव-मन पर कला का प्रभाव उत्तेजनात्मक अतः हानिकर मानकर कलाओं का तिरस्कार कर चुके थे। अरस्तू ने काव्य का संबंध आनन्द से जोड़कर इस दोष का मार्जन किया।

प्लेटो कलाओं को सत्य के अनुकरण का अनुकरण कहकर मिथ्या क़रार दे चुके थे। अरस्तू ने न केवल काव्य-सत्य को एक स्वतन्त्र भूमि प्रदान की, बल्कि उसे विज्ञान के तथ्य से भव्यतर सिद्ध किया। अरस्तू ने 'काव्यशास्त्र' के अतिरिक्त भी अनुकरण-संबंधी अवधारणा का उल्लेख अन्य प्रसंगो में किया है। जहाँ वे अनुकरण का अर्थ केवल बाह्य प्रकृति का अनुकरण न मानकर, मानव की अन्तःप्रकृति का अनुकरण भी मानते थे, वहाँ वे अनुकरण में तथ्य का ही नहीं, संभावना का अनुकरण भी स्वीकार करते थे। इतना ही नहीं, उन्होंने 'काव्यशास्त्र' के अतिरिक्त अन्य रचनाओं में तो यहाँ तक कहा है कि प्रत्येक कला और शिक्षा-पद्धति का लक्ष्य उन अधूरे कार्यो की पूर्ति है, जो प्रकृति से व्रत्र रहते है[१] अथवा क़ला प्रकृति के असफ़ल कार्यो की पूर्ति करती है या वह विलुप्त अंगों का अनुकरण करती है।[२] इस प्रकार अरस्तू ने अनुकरण शब्द का अर्थ-विस्तार करते हुए काव्य और कलाओं को एक सम्मानित स्तर प्रदान किया।

यही बात काव्य के प्रभाव की व्याख्या के विषय में भी सत्य है। 'विरेचन सिद्धान्त'

---

१ Every art and educational discipline aims at filling out what nature leaves undone. *Politics*, IV [VII], 17.

२ Art finishes the job when nature fails, or imitates the missing parts.
Physics, II, 8.
(Quoted by Wimsatt and Brooks in *Literary Criticism : A Short History*, p. 26.)

की ओर संकेत कर उन्होंने काव्यास्वाद के मूल में उन मनोवैज्ञानिक सत्यों की ओर इंगित किया, जिनका उद्घोष विचारक-वर्ग अनेक रूपों में विभिन्न धरातलों पर निरंतर करता रहा है और जिनमें व्याख्या की असीम संभावनाएँ आज भी निहित हैं।

अरस्तू ने भी प्लेटो की ही भाँति काव्य के प्रसंग में ही मुख्य रूप से अपना सिद्धान्त-विवेचन किया। उन्होंने नाटक के विभिन्न भेदों—विशेषकर त्रासदी के रचना-तत्त्व के विषय में विस्तृत रूप से विचार किया एवं त्रासदी के संबंध में कुछ विशिष्ट स्थापनाएँ कीं। उन्होंने पहली बार त्रासदी के तत्त्वों—कथानक, चरित्र, पद-रचना, विचार-तत्त्व, दृश्य विधान, गीत आदि पर विस्तृत विचार किया, साथ ही उन्होंने यथासंभव महाकाव्य, कामदी आदि अन्य विधाओं का भी रचना-शिल्प की दृष्टि से विवेचन ही नहीं किया, त्रासदी से उनका साम्य वैषम्य निरूपण भी किया।

अरस्तू की स्थापनाओं में से अनेक आज भी विवादास्पद हैं। उदाहरण के लिए 'अनुकरण' शब्द की अर्थ परिधि, विरेचन विषयक उनकी अवधारणा, अथवा त्रासदी में चरित्र चित्रण एवं अन्य तत्त्वों की अपेक्षा कथानक या वस्तु-तत्त्व की महत्त्व प्रतिष्ठा आदि। परंतु अरस्तू ने पाश्चात्य काव्यशास्त्र एवं सौन्दर्यशास्त्र की चिन्तन धाराओं को इतना अधिक प्रभावित किया है कि शास्त्रवादी वर्ग के यूरोपीय आलोचकों में कोई आलोचक शायद ही उनके प्रभाव से अछूता रहा हो।

अरस्तू की दृष्टि की वस्तुनिष्ठता पर जहाँ एक ओर यह आक्षेप प्रायः लगाया जाता रहा है कि उन्होंने आत्मपरक साहित्य की मूल चेतना की उपेक्षा की है, वहाँ यह भी उतना ही सत्य है कि उनकी वस्तुपरक दृष्टि तथ्य पर आश्रित रहने के कारण निर्भ्रान्त थी। इसके अतिरिक्त वह अपनी विवेचन-पद्धति की सरसता और काव्यात्मकता के लिए भले ही न जाने जाते हों, किन्तु स्पष्टता और तार्किकता के लिए वे आज भी आदर्श हैं।

लोंजाइनस (तीसरी शताब्दी) पाश्चात्य सौन्दर्यशास्त्र की धारा जब ग्रीक आचार्यों से रोमन विचारकों के बीच आई, तो काव्यशास्त्रीय विषय की विवेचन-दृष्टि में भी अन्तर उपस्थित हुआ। विचित्र संयोग है कि जिस प्रकार भारतीय काव्यशास्त्र शास्त्र-चर्चा से आरंभ होकर बाद में भामह आदि अलंकारवादी आचार्यों के हाथों काव्य चर्चा की ओर स्थानान्तरित हो गया और उसमें अलंकारों का विवेचन ही प्रमुख हो गया, उसी प्रकार लोंजाइनस ने भी अपनी सिद्धान्त-चर्चा त्रासदी, कामदी या महाकाव्य जैसी किसी विशिष्ट विधा तक परिसीमित न कर व्यापक काव्य-रचना के संदर्भ में की। उनके विवेचन में भी शैली के ही तत्त्वों का निरूपण प्रधान रहा एवं उन्होंने भी पहली बार काव्य में प्रयुक्त अलंकारों का सूचीबद्ध विवेचन किया।

काव्य में उदात्त तत्त्व नाम से भ्रम होता है कि उन्होंने इसमें उदात्त कला की प्रेरक भावनाओं और धारणाओं का विवेचन किया होगा, किन्तु वस्तुतः ऐसा है नहीं। लोंजाइनस के विवेचन में उदात्त शैली के आधार तत्त्वों के विश्लेषण की ही प्रधानता है। मुख्य रूप से 'अभिव्यक्ति की विशिष्टता और उत्कृष्टता' उनका विवेच्य विषय है। यद्यपि लोंजाइनस आत्मा के उत्कर्ष और 'उद्दाम-प्रेरणा प्रसूत आवेग' को उदात्त का प्राण-तत्त्व मानते हैं किन्तु उनके उपलब्ध काव्यालोचन का प्रतिपाद्य उदात्त शैली का विवेचन ही है। इस मुख्य विषय

के अतिरिक्त उन्होंने कुछ अन्य प्रश्नों पर भी विचार किया है—जैसे कला और प्रकृति, शिल्पगत परिशुद्धता और प्रतिभा, कला और नैतिकता आदि। यद्यपि इन समस्याओं का स्वरूप अधिक व्यापक है और इनका संबंध कलागत आधारभूत प्रश्नों से है, तथापि इन्हें उनके निबंध की योजना में गौण स्थान मिला है। इन प्रश्नों पर व्यक्त उनके विचारों में गंभीरता एवं मौलिकता है।

लोंजाइनस के समग्र विवेचन का बल काव्य के सृजन-पक्ष पर है। 'उन्होने उदात्त का स्वरूप-विवेचन जिस रूप में किया है, उसमें उदात्त काव्य के साधक अन्तरंग अर्थात आध्यात्मिक तत्त्व, अभिव्यक्ति के प्रसाधक बहिरंग तत्त्व और उदात्त के विरोधी तत्त्वों का विवेचन किया गया है। वे उदात्त कला की प्रेरक आत्मा का उदात्त विचारों और भव्य प्रेरणाओं से परिपूर्ण होना अनिवार्य मानते थे। औदात्य को उन्होने महान आत्मा की प्रतिध्वनि कहा है। यद्यपि वे औदात्य का स्वरूप-निरूपण मुख्यत: सृजन के धरातल पर करते है, तथापि जब वे भव्य आवेग को औदात्य का जनक मानते हुए उसकी कसौटी निर्धारित करते है कि उससे "हमारी आत्मा जैसे अपने-आप ही ऊपर उठकर गर्व से उच्चाकाश में विचरण करने लगती है तथा हर्ष और उल्लास से परिपूर्ण हो उठती है," तो उससे उदात्त कला के आस्वाद से पाठक के मन पर पड़ने वाले प्रभाव की व्यंजना भी हो जाती है। लोंजाइनस ने अन्यत्र भी उदात्त की व्याख्या तज्जन्य प्रभाव के आधार पर की है। लोंजाइनस ने माना है कि शोक, दया, भय आदि का प्रभाव मन पर उदात्त नहीं बल्कि हीन पड़ता है। इस प्रकार ध्यान से देखा जाय तो वे काव्य के उचित आलम्बन उन्ही को मानते हैं, जिनका प्रभाव उदात्त हो। आलम्बन के गुणों को सूत्रबद्ध करते हुए उन्होंने कहा है: "जीवन्त आवेग, प्रचुरता, तत्परता, जहाँ उपयुक्त हो वहाँ गति, तथा ऐसी शक्ति और वेग जिसकी समता करना संभव नहीं।"

इस प्रकार के आलम्बन के प्रति होने वाली उदात्त अनुभूति के आन्तरिक तत्त्वों को उन्होंने इस प्रकार कहा : "मन की ऊर्जा, उल्लास, संभ्रम और अभिभूति। अर्थात उदात्त विषय हमारे हृदय को उल्लास, संभ्रम से युक्त कर आत्मा का उत्कर्ष करने वाली ऊर्जा से भर दे, इस सीमा तक कि हमारी संपूर्ण चेतना कृति के इस उन्नयनकारी प्रभाव से अभिभूत हो जाय।"

लोंजाइनस ने विशेष रूप से उदात्त प्रभाव की साधक शैली का विवेचन किया है जिसमें भाषा और अलंकार प्रधान है। उदात्त के विरोधी तत्त्वों के विवेचन में भी वे शैली की ही परिसीमाओ का या उदात्त-विरोधी विशेषताओं का उल्लेख करते हैं।

संक्षेप में, लोजाइनस ने काव्य में उदात्त तत्त्व की चर्चा करते हुए उदात्त-भाव के साधक शैलीगत तत्त्वों का ही विस्तृत रूप से विवेचन किया है। कदाचित उनके पूर्ववर्ती आचार्य शैली की अपेक्षा अन्य प्रश्नों पर अधिक गंभीर और विस्तृत रूप में विचार कर चुके थे। इसलिए इस आवश्यकता की पूर्ति लोंजाइनस ने की। परन्तु साथ ही यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि लोंजाइनस का सारा बल काव्य से हृदय पर पड़ने वाले उदात्त प्रभाव पर ही था, शेष विषयों का विवेचन उन्होंने उसी के साधक-तत्त्वों के रूप में किया है।

नव्य प्लेटोवाद

प्लेटो के लगभग सात शताब्दियों के बाद होने वाले दार्शनिक विचारक प्लोटिनस (२०५-२७० ई०) ने दर्शन और सौन्दर्यशास्त्र के क्षेत्र में आधारभूत सिद्धान्तों की दृष्टि से नव्य-प्लेटोवाद का प्रवर्तन किया। उन्होंने सत्य के अनेक रूपों का स्रोत 'एक' अखंड परम सत्य को माना। इसी एक मूल स्रोत से मस्तिष्क या बुद्धि-तत्त्व, तदुपरान्त आत्मा और फिर पदार्थ की उत्पत्ति हुई। प्लोटिनस ने इसी मूल दार्शनिक सिद्धान्त के समानान्तर अपने सौंदर्य सिद्धान्त की व्याख्या की। उनके अनुसार प्रत्यय के रूप में सौन्दर्य अखंड और पूर्ण है। आध्यात्मिक और भौतिक जैसे अन्य सौन्दर्य उसमें अवर हैं, किन्तु वे भी उस एक परम सौन्दर्य के सहभागी हैं। सौन्दर्य के जिस गुण पर उन्होंने सबसे अधिक बल दिया है, वह है भास्वरता (स्प्लेण्डर)। भास्वरता से उनका तात्पर्य किसी सुन्दर वस्तु से उद्भासित होने वाले आध्यात्मिक तत्त्व की कान्ति से है। वे अन्विति को ही सत्ता का लक्षण मानते थे और इस अन्विति का विधायक घटक है 'आदर्श रूप' (आइडियल फॉर्म) जिसके द्वारा वस्तु के बिखरे हुए अवयवों का संयोजन होता है। अन्ततः इसी अन्विति में सौंदर्य का निवास होता है। निष्कर्ष रूप में प्लोटिनस के अनुसार अन्विति का अर्थ है सत्ता, और सत्ता का अर्थ है सौन्दर्य और सौन्दर्य का विधायक है 'आदर्श-रूप'।

सौन्दर्य का लक्षण आत्मिक कान्ति मानने के कारण प्लोटिनस ने सौंदर्य का कारण कलात्मक श्रम को नहीं माना, बल्कि व्यक्तियों के सद्गुणों को माना है। प्लोटिनस प्लेटो की भाँति काव्य-रचना को मात्र अनुकरण या कौशल नहीं मानते थे, इसलिए उन्होंने कहा कि कलाकार अपने विषय का अनुकरण मात्र न कर उस मूल प्रत्यय को ग्रहण करने का प्रयास करता है जिससे स्वयं प्रकृति ग्रहण करती है। इसके अतिरिक्त उसका अधिकांश कार्य उसका निजी होता है। इस प्रकार वह सौन्दर्य-निर्माता होता है और कलाकृति के माध्यम से प्रकृति के अभावों की पूर्ति करता है। प्लोटिनस की इसी मान्यता के कारण सौन्दर्यशास्त्र के इतिहासकारों ने उन्हें सृजनात्मक कल्पना की व्यवस्थित व्याख्या करने वाला पहला दार्शनिक माना है। प्लोटिनस कलाकृति को सृजन मानते हैं जिसका रूप सृजन से पूर्व अनगढ़ सामग्री में नहीं, स्रष्टा या कर्त्ता में निहित होता है, जहाँ से वह कलाकृति में रूपान्तरित हो जाता है।

प्लोटिनस के समान ही सेण्ट आगस्टाइन (३५३-४३० ई०) ने भी कलाकृति के सौन्दर्य का निवास उस अन्विति में ही माना है, जो उसमें खंडों के या अनेकता के रहते भी बनी रहती है।

सेण्ट आगस्टाइन के नौ सौ वर्ष बाद होने वाले सेण्ट थॉमस एक्वीनस ने सौंदर्य की मुख्य विशेषताएँ—पूर्णता या अखंडता तथा संगति या सामरस्य को माना। इन बौद्धिक गुणों के लिए वस्तु में समग्रता और कलाकार के अभिप्राय की सिद्धि आवश्यक है। इसके साथ ही सुगठित और संतुलित संघटना भी अभीष्ट है। इस संदर्भ में सेण्ट थॉमस एक्वीनस की एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण देन यह है कि आनन्द को सुन्दर की कसौटी बना कर उन्होंने अपनी सौन्दर्य विषयक धारणा को एक विषयिपरक रंग दिया। सुन्दर वस्तु वही है जिसकी अवधारणा आनन्दपूर्वक की जाय। सुन्दरता का ज्ञान और उससे आनन्द की अनुभूति विषय और विषयी के मध्य एक प्रकार के समागम से उत्पन्न होती है।

सौन्दर्यशास्त्र की बुद्धिवादी धारा

मध्य-युग के बाद यूरोप में पुनर्जागरण की लहर फैली और इसके प्रभाव से धार्मिक शास्त्रीयतावादी चिन्तन के स्थान पर बुद्धिवादी विचार का आन्दोलन आरम्भ हुआ। कला और सौन्दर्य संबंधी चिन्तन भी इससे अप्रभावित न रह सका।

देकार्त (१५९६–१६५०) के दार्शनिक-सिद्धान्तों पर बाइबिल का प्रभाव है, परंतु वे कट्टर बुद्धिवादी थे। उनके सौन्दर्यशास्त्रीय सिद्धान्तों पर इस बुद्धिवाद का प्रभाव प्रचुर है। सौन्दर्यानुभूति में उन्होने विभिन्न आवेगों की उत्तेजना के परिणामस्वरूप होने वाली अनुभूति को आनन्दपरक तो कहा, किन्तु उसे बौद्धिक आनन्द कहकर विशिष्ट बना दिया। काव्य या नाट्य-कलाओं से उत्तेजित आवेगों को वे आनन्दपरक मानते है क्योंकि वे पूर्णतः अहानिकर होते है।

देकार्त के अनुसार किसी विषय से हमें आनन्द की अनुभूति इस कारण होती है, कि हमारी चेतना में इस बात का बोध होता है कि वह हमारी श्रेष्ठ सम्पदा है। देकार्त ने सामान्य आनन्द और सुन्दर वस्तु से होने वाले आनन्द में भी भेद करते हुए कहा है कि वह विशुद्ध बौद्धिक आनन्द से भिन्न होता है, अतएव जब आनन्द की अनुभूति किसी सुन्दर विषय के संबंध में होती है तो उसे सौन्दर्यानुभूति या कलात्मक आनन्द कहा जा सकता है। कलात्मक आनन्द की इस प्रक्रिया को समझाते हुए उन्होंने कहा कि विषयों की विविधता के अनुसार हममें विभिन्न आवेग और सवेग जाग्रत होते है और उनसे हमे आनन्द की अनुभूति होती है। हमारी समझ काल्पनिक चित्रों को उसके समस्त अन्तः संबंधो सहित समग्रता मे ग्रहण कर लेती है। हमारी चेतना को उस सिद्धि के शिवत्व का बोध तभी होता है जब प्रेरक तत्त्व और प्रतिक्रिया दोनों के बीच पूर्ण समरसता हो। इस प्रकार देकार्त के अनुसार कलात्मक आनन्द संवेग से युक्त बौद्धिक आनन्द है और इसलिए वह ऐन्द्रिय, काल्पनिक और सवेगात्मक आनन्द के अन्य रूपों से भी युक्त होता है। विशुद्ध बौद्धिक आनन्द और कलात्मक आनन्द में यही भेद है कि विशुद्ध बौद्धिक आनन्द, सौन्दर्यानुभूति के समान आवेग से संवलित नही होता। इन दोनो में एक अन्तर यह भी है कि निपट बौद्धिक आनन्द चेतना की स्वतःसभूत क्रिया है और कलात्मक आनन्द चेतना का वह कार्य-व्यापार है जो कल्पना मे अंकित नाटक या कविता के प्रभाव से उत्पन्न होता है। दूसरे शब्दो मे, चेतना कलात्मक आनन्द का केवल आधार है, कारण नही; कारण काव्य का कल्पनाग्राह्य रूप है। विचार के भी देकार्त ने दो रूप माने है—स्पष्ट और अस्पष्ट। स्पष्ट विचार वे है जिनकी सत्ता शरीर-संबंधो से निरपेक्ष केवल मस्तिष्क में होती है। अस्पष्ट विचार वे है जो चेतना पर शरीर के प्रभाव से उत्पन्न होते है।

अन्तत देकार्त ने यह भी स्वीकार किया कि भाषा में वास्तविक घटनाओ के सदृश ही तत्काल विचारो और संवेगो को जाग्रत करने की क्षमता होती है। संक्षेप में देकार्त के अनुसार :

१. कलात्मक आनन्द मूलतः बौद्धिक आनन्द है। २. वह संवेगात्मक ऐन्द्रिय व काल्पनिक आनन्द से सवलित होने के कारण चेतना के स्वत.संभूत विशुद्ध बौद्धिक आनन्द से भिन्न होता है। ३. यह आनन्द सामान्यत. इस बोध से उत्पन्न होता है कि हमारे

सन्निधि या समय के द्वारा प्रस्तुत यह अनुभूति हमारी आत्मा की श्रेष्ठ सम्पत्ति है। ४. जो संवेग या आवेग रस अनुभूति के द्वारा जाग्रत होता है उसका आधार हमारी कल्पना शक्ति होती है। ५. भाषा में संवेग या आवेग को सरलता से जाग्रत करने की क्षमता किसी भी अन्य विषय की ही भाँति होती है।

बोइलो (१६३६–१७११) देकार्त की बौद्धिक विचारधारा का प्रभाव परवर्ती चिन्तकों पर पड़ा और बोइलो एवं कुछ अन्य विद्वानों ने कविता के लिए नैतिक प्रयोजन की अनिवार्यता को स्वीकृति दी। उनके मतानुसार कविता का विषय भी इस दृष्टि से चुना जाना चाहिए कि वह उक्त उद्देश्य की सिद्धि कर सके। नैतिक प्रयोजन कलात्मक रीति से कृति में कान्तासम्मित उपदेश के रूप में व्यक्त हो ऐसा इन विचारकों का मत था। बौद्धिकता का आग्रह इस काव्यावधि में इतना बढ़ा कि आविष्कार का अर्थ इन्होंने मौलिक सृष्टि न कर उपलब्ध सामग्री की नए रूप में व्यवस्था, निर्माण आदि किया कि वह अवसर के अनुकूल हो और निश्चित उद्देश्य की सिद्धि कर सके। इसीलिए देशकालानुरूप औचित्य पर भी विशेष बल दिया गया। इस दृष्टि से नाटक एवं अन्य शिल्पगत प्रसाधनों के चयन पर बल दिया गया कि वे जनता को सहज रूप में नैतिक सत्य के ग्रहण के लिए तत्पर कर सकें। जिस प्रकार देकार्त ने कलात्मक आनन्द में संवेग के मिश्रण को महत्वपूर्ण स्वीकार किया था उसी प्रकार बोइलो ने भी संवेग को काव्य का सर्वाधिक आवश्यक तत्त्व माना।

कलात्मक आनन्द को देकार्त ने संवेग-संवलित बौद्धिक आनन्द माना था। उनके तत्काल परवर्ती विचारक लाइबनित्स (१६४६–१७१६) ने कलात्मक आनन्द के चार सोपान स्वीकार किए—१. सौन्दर्यानुभूति का प्रथम और सबसे नीचा सोपान उन्होंने अनुभूति को माना। २. दूसरे सोपान पर उनके अनुसार कलात्मक अनुभूति बौद्धिक धरातल ग्रहण करती है। इस सोपान पर ग्राहक कलाकृति में निहित उपदेश ग्रहण करता हुआ प्रस्तुत विषय को पूर्णतः बौद्धिक रूप में ग्रहण करता है। ३. विषय का बौद्धिक ग्रहण ग्राहक को प्रातिभ अन्तर्दृष्टि की ओर उन्मुख करता है। यही सौन्दर्यानुभूति का तीसरा सोपान है। ४. चौथे और अन्तिम सोपान पर पहुँच कर सौन्दर्यानुभूति एवं सार्वभौम सामरस्य की अनुभूति हो जाती है जिसका साधन कलाकृति की प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति होती है। इस प्रकार कला सार्वभौम समरसता की प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति है।

लाइबनित्स ने व्यक्तिगत और सार्वभौम समरसता में भी अन्तर किया है। सम्पूर्ण विश्व के बौद्धिक प्रतिदर्शन में ही सार्वभौम सामरस्य प्राप्त होता है। कलानुभूति की इस चरम या अन्तिम स्थिति तक पहुँचते-पहुँचते लाइबनित्स की मान्यताओं में रहस्यात्मकता का समावेश प्राप्त होने लगता है। सौन्दर्यानुभूति के इस स्तर पर व्यक्ति का सार्वभौम में विस्तार होता है और लाइबनित्स के अनुसार यह आत्मविस्तार अनासक्तिमूलक होता है। फिर भी दार्शनिक बुद्धिवाद के प्रतिनिधि के रूप में वे कला को विज्ञान की अपेक्षा कम मूल्यवान मानते हैं।

आंग्ल अनुभववादी सौन्दर्यशास्त्र

देकार्त और लाइबनित्स की बुद्धिवादी परम्परा के विपरीत इंगलैण्ड में १७वीं शताब्दी

में हॉब्स, लॉक और ह्यूम प्रभृति अनुभववादी दार्शनिकों ने ऐसे सौन्दर्यशास्त्र को जन्म दिया जिसमें कला और सौन्दर्य के ऐन्द्रिय गुणों को विशेष महत्त्व दिया गया। इन दार्शनिकों के आधार पर एडिसन ने 'कल्पना के सुख' की स्थापना की।

अनुभववादी दार्शनिकों में जॉन लॉक के विचारों का प्रभाव सबसे अधिक पड़ा। 'मानव-बोध से संबंधित निबंध' में उन्होंने सौन्दर्य की प्रकृति का निरूपण करते हुए उसे 'जटिल' माना। उनके अनुसार सौन्दर्य रंगों और आकारों का ऐसा संयोजन है जिससे दर्शक को सुख की अनुभूति होती है। लॉक जब सौन्दर्य को 'जटिल प्रत्यय' कहते हैं तो उसके साथ ही वे उसे 'वास्तविक' मानने से इनकार भी करते हैं, क्योंकि उनके विचार से केवल सरल प्रत्यय ही वास्तविक होते हैं। सौन्दर्य जटिल प्रत्यय इसलिए है कि न तो मस्तिष्क से स्वतंत्र उसकी कोई निजी सत्ता है, न वह किसी बाह्य वस्तु की यथावत अनुकृति ही है। सौन्दर्य की जटिलता का कारण है कल्पना, और लॉक की चिन्तन-प्रणाली में सौन्दर्य बहुत-कुछ कल्पना की सृष्टि है। सौन्दर्य की यह अवास्तविकता ही दर्शक के चित्त में एक प्रकार का 'सुखद भ्रम' उत्पन्न करती है। इस प्रकार लॉक सौन्दर्यानुभूति को सुखद मानते हुए उसे भ्रान्ति के रूप में देखते हैं।

लॉक के विचारों का परिष्कृत साहित्यिक रूप **एडिसन** के 'कल्पना के सुख' निबंध में मिलता है जिसे उन्होंने 'स्पेक्टेटर' (क्रम-संख्या ४११-२१) में धारावाहिक रूप से प्रकाशित किया। एडिसन लॉक के समान दार्शनिक न थे, इसलिए वे सौन्दर्य की परिभाषा करने के चक्कर में नहीं पड़े। एक साहित्यकार के नाते उन्होंने कला-संबंधी अनुभव के ठोस तथ्यों के आधार पर सौन्दर्यानुभूति का ही विवरण उपस्थित किया, जिसे उन्होंने 'कल्पना के सुख' के रूप में परिभाषित किया। एडिसन के अनुसार प्रथम और द्वितीय कल्पनाओं में से केवल द्वितीय कल्पना ही कलानुभूति से सबद्ध है। एडिसन के अनुसार कल्पना की विशेषता यह है कि वह बाह्य वस्तुओं को बिम्ब-रूप में ग्रहण करती है। ये बिम्ब मस्तिष्क मे अनेक प्रकार से सुप्त पड़े हुए भावों को उद्बुद्ध करते हैं। इस भावोद्बोधन को ही एडिसन सुखानुभूति कहते हैं। एडिसन के अनुसार यह अनुभूति ऐन्द्रिय और बौद्धिक दोनों प्रकार के बोधों से भिन्न होती है। कल्पनाजन्य अनुभूति ऐन्द्रिय बोध से अधिक सूक्ष्म और बौद्धिक बोध से अधिक मांसल होती है। कल्पनाजन्य अनुभूति के विषय के रूप में एडिसन ने महानता, नवीनता और सौन्दर्य का उल्लेख किया है। एडिसन के सौन्दर्यानुभूति संबंधी विवेचन की एक और विशेषता है कि वे उसे नितान्त विषयिनिष्ठ नही मानते। इसके साथ ही यह भी उल्लेखनीय है कि वे सौन्दर्यानुभूति में ऐन्द्रिय बोध के अतिरिक्त संवेगों का महत्त्व भी स्वीकार करते हैं।

इंगलैण्ड में इस अनुभववादी परंपरा को आगे चलकर **एडमण्ड बर्क** (१७२९–९७) ने अत्यन्त विकसित रूप में उपस्थित किया। पाश्चात्य सौन्दर्यशास्त्र में बर्क का महत्त्व इसलिए है कि उन्होंने पहली बार सौन्दर्य के सदर्भ में अभिरुचि (टेस्ट) की आधुनिक परिभाषा स्थिर की, जिससे संकेत ग्रहण कर आगे चलकर जर्मनी में काण्ट ने 'निर्णय-मीमांसा' (क्रिटीक ऑफ़ जजमेण्ट) में अभिरुचि पर गहराई से विचार किया। बर्क की दूसरी देन है लोंजाइनस की 'उदात्त' की अवधारणा के सूत्र को पकड़कर भाव के धरातल

पर उदात्त की अनुभूतिपरक व्याख्या अर्थात् लांजाइनस का निरूप जहाँ समाप्त हो जाता है वर्क ने अपूर्ण विचार को वहीं से पूर्णता की ओर अग्रसर किया है।

जर्मन प्रत्ययवाद और सौन्दर्यशास्त्रीय संयोजन

जर्मनी में सौन्दर्य विषयक चिन्तन में जान्सेनिस्ट की बुद्धिवादी परंपरा तो पहले से वर्तमान थी ही अठारहवीं शताब्दी तक आते-आते इंगलैण्ड की अनुभववादी परंपरा के प्रभाव भी वहाँ अनुप्रवेश कर गए। परिणामतः अठारहवीं शताब्दी के जर्मन सौन्दर्यशास्त्र में प्रत्ययवाद के दार्शनिक आधार पर उपर्युक्त दोनों विचार प्रणालियों के द्वन्द्वात्मक संयोजन के विकास के लिए पूरी तरह भूमि तैयार थी। इस दिशा में पहला उल्लेखनीय नाम अलेक्जण्डर बाउमगार्टेन (१७१४–६२) का है जिन्होंने लाइबनित्सवादी होते हुए भी अनुभववाद का अवलम्ब लेकर ऐन्द्रिय ज्ञान के रूप में सौन्दर्यशास्त्र को प्रतिष्ठित किया। बाउमगार्टेन का महत्त्व इसलिए है कि अपनी पुस्तक एस्थेटिका (१७५०) के द्वारा उन्होंने 'सौन्दर्यशास्त्र' विषय का नामकरण किया।

जी० ई० लेसिंग दूसरे जर्मन विचारक हैं जिन्होंने अपने विख्यात ग्रंथ 'लाओकून' (१७६६) के द्वारा ललित-कलाओं के दर्शन को सुदृढ़ सैद्धान्तिक आधार प्रदान किया। अपनी शैली अन्तर्दृष्टि मौलिक चिन्तन और सैद्धान्तिक गरिमा के लिए लेसिंग का लाओकून आज भी पाश्चात्य सौन्दर्यशास्त्र का क्लासिक ग्रंथ माना जाता है। काव्य और चित्रकला के बीच अन्तर करते हुए लेसिंग ने ऐसी मूलभूत सैद्धान्तिक कसौटी प्रस्तुत की जिसके आधार पर आगे चलकर कलाओं का उचित वर्गीकरण संभव हो सका।

किन्तु सौन्दर्यशास्त्र को दर्शन के गंभीर क्षेत्र में सम्मानित स्थान दिलानेवाले प्रसिद्ध दार्शनिक काण्ट (१७२४–१८०४) हैं। काण्ट मूलतः सौन्दर्यशास्त्री न थे। जहाँ तक उनके जीवन चरित संबंधी तथ्य सुलभ हैं कला और साहित्य में उनकी रुचि भी कुछ विशेष न थी। फिर भी अपनी विचार प्रणाली को पूर्णता प्रदान करने के लिए उन्होंने शुद्धबुद्धि मीमांसा और व्यावहारिकबुद्धि मीमांसा नामक दो मीमांसाओं की रचना के बाद निर्णय मीमांसा नाम से तीसरा मीमांसा-ग्रंथ लिखा जिसमें सौन्दर्य कला अभिरुचि आदि विषयों पर गहराई से विचार किया। सौन्दर्यशास्त्र के इतिहास में काण्ट की सबसे बड़ी देन यह है कि उन्होंने अनुभववादी और बुद्धिवादी दो विरोधी धाराओं के बीच सन्तुलन स्थापित करने का गंभीर प्रयास किया। एक ओर उन्होंने सौन्दर्य निर्णय के अन्तर्गत अनुभववादियों की सुखानुभूति को ग्रहण कर उसमें से आसक्ति-तत्त्व को निकाल कर आसक्तिहीन आसक्ति के रूप में निर्णय का प्रतिपादन किया। दूसरी ओर उन्होंने बुद्धिवादियों का अनुसरण करते हुए 'प्रयोजनहीन प्रयोजन' के रूप में मनुष्य की व्यवस्थापिका बुद्धि को निर्णय का आधार बनाया। इस प्रकार काण्ट के सौन्दर्य विषयक निर्णय में हृदय और बुद्धि का कठिन सन्तुलन स्थापित हुआ। इतना होते हुए भी काण्ट का झुकाव बुद्धिवादी परंपरा की ओर ही विशेष था। उनके अनुसार शुद्ध सौन्दर्य रूपात्मक होता है और आनुषंगिक सौन्दर्य में अर्थ तथा प्रयोजन का भी योग होता है। उदात्त भावना इसको नैतिक गरिमा प्रदान कर क्षतिपूर्ति करती है। यद्यपि काण्ट की सौन्दर्यशास्त्रीय अवधारणा में गौणतः प्रयोजन आसक्ति और नैतिकता का भी समावेश है फिर भी

'शुद्ध रूप' को सर्वोपरि मानने के कारण प्रायः उनके सौन्दर्यशास्त्र को 'अतीन्द्रिय' जाता है ।

इतनी बौद्धिकता के रहते हुए भी विचित्र बात है कि काण्ट की सौन्दर्यशास्त्रीय मान्यताओं ने जर्मनी में रोमाण्टिक सौन्दर्यशास्त्र को प्रेरित किया। जर्मन रोमाण्टिक कला-सिद्धान्त के विख्यात विचारक **श्लेगेल** काण्ट से प्रेरित माने जाते हैं। श्लेगेल का नाम इसलिए उल्लेखनीय है कि उन्होंने 'रोमाण्टिक' सज्ञा का निर्माण ही नही, बल्कि प्रसार भी किया। उन्होंने 'नाट्य-कला और साहित्य-संबंधी व्याख्यान' (१८०८) नामक पुस्तक में 'क्लासिसिज़्म' का विरोध कर 'रोमाण्टिसिज़्म' की हिमायत की। काण्ट के कला-संबंधी विचारों को किंचित संशोधन के साथ **गेटे** और **शिलर** जैसे महान साहित्यकारों ने भी साहित्य के संदर्भ में विकसित किया ।

किन्तु जर्मन सौन्दर्यशास्त्र को काण्ट के बाद सबसे सुदृढ़ सैद्धान्तिक आधार और सार्वभौम परिप्रेक्ष्य प्रदान करने का कार्य **हेगेल** (१७७०—१८३१) ने किया। उनका 'सौन्दर्यशास्त्र-संबंधी भाषण' (१८३५) जो अंग्रेजी में 'ललितकला-दर्शन' (फ़िलॉसफी ऑफ़ फ़ाइन आर्ट) नाम से विख्यात है, एक प्रकार से रोमाण्टिक कला-दर्शन का ही संशोधित रूप है। ऐतिहासिक दृष्टि से कला के युगों का विभाजन करते हुए हेगेल ने पहली अवस्था प्रतीकात्मक कला की मानी तो दूसरी क्लासिक कला की और तीसरी अवस्था रोमाण्टिक कला की। प्रतीकात्मकता के नमूने मिस्र के पिरामिड हैं, जिनमें जड़-तत्त्व प्रधान है, चेतना-तत्त्व गौण। क्लासिक कला के उदाहरण ग्रीक प्रतिमाएँ हैं, जिनमें जड़ और चेतन का अद्‌भुत सामंजस्य है। रोमाण्टिक कला के उदाहरणस्वरूप आधुनिक संगीत, चित्र और सबसे अधिक काव्य है जिनमें जड़-तत्त्व के ऊपर चेतना की प्रधानता दिखाई पड़ती है। इस प्रकार कला के ऐतिहासिक विकास की दिशा की ओर संकेत करते हुए परोक्षतः हेगेल ने रोमाण्टिक कला को अपना समर्थन दिया। किन्तु, सौन्दर्यशास्त्र के इतिहास में हेगेल का महत्त्व विशेष रूप से इसलिए है कि उन्होंने समस्त ललित-कलाओं के सामान्य तत्त्वों के आधार पर एक व्यवस्थित कला-सिद्धान्त का निर्माण किया जिसके अन्तर्गत प्रत्येक ललित-कला की व्यावर्त्तक विशेषताओं का निरूपण करते हुए उनके बीच अन्तरावलम्बन एवं तारतम्य की स्थापना की गई।

बीसवीं शताब्दी : कलावादी सौंदर्यशास्त्र

बीसवीं शताब्दी से पूर्व सौन्दर्यशास्त्र के क्षेत्र में मुख्यतः दो धाराएँ थीं—प्रत्ययवादी या बौद्धिक तथा अनुभववादी या भावात्मक। इनसे भिन्न बीसवीं शताब्दी में **क्रोचे** के अभिव्यंजनावाद के द्वारा एक नई धारा का जन्म हुआ जिसे कलावादी कहा जाता है। क्रोचे से पूर्व काव्य के सृजन और ग्रहण में बुद्धि और अनुभव को प्राथमिकता दी जाती थी, परन्तु एडिसन तक आते-आते कल्पना की महत्त्व-प्रतिष्ठा का स्वर सुनाई पड़ने लगा था। क्रोचे ने एक बार ही कलानुभूति में कल्पना-तत्त्व को सर्वोपरि प्रतिष्ठित कर दिया। वैसे तो क्रोचे काव्यानुभूति को ज्ञान-रूप मानकर चले, परन्तु उनके अनुसार यह ज्ञान बौद्धिक (इंटेलेक्चुअल) न होकर प्रातिभ या स्वयंप्रकाश (इंट्यूटिव) होता है। साथ ही यह ज्ञान निश्चयात्मिका बुद्धि द्वारा प्राप्त तर्क संबंधी ज्ञान, अथवा प्रमेय ज्ञान से भिन्न होता है।

उक्त प्रातिभ ज्ञान के सांचे में ढलकर होने वाली आंतरिक अभिव्यक्ति कल्पना है और वही मूल अभिव्यंजना है जो शब्द रंग आदि के माध्यम से बाहर प्रकाशित हो जाती है। इस प्रकार प्रातिभ ज्ञान और अभिव्यंजना पर्याय हैं। जो शिल्पगत अलंकारादि हैं वे शोभा के लिए जोड़ी हुई या ऊपर से पहनाई हुई वस्तुएं हैं।

क्रोचे ने काव्यानुभूति को अखंड एवं सर्वथा विलक्षण स्वीकार किया और साथ ही सौन्दर्य शब्द का विशेष अर्थ में प्रयोग भी किया। सौंदर्य के अंतर्गत वे केवल अभिव्यंजना के सौंदर्य का अथवा उक्ति के सौन्दर्य का स्वीकार करते थे वस्तु या विषय में सौन्दर्य की स्वीकृति वे नहीं करते। इसी सिद्धान्त के आधार पर उन्होंने दुःखात्मक भावों की आनन्दरूपता सिद्ध की है। यद्यपि क्रोचे ने कला सम्बन्धी उद्भावना को ज्ञान रूप माना अनुभूति-रूप या भाव रूप नहीं तथापि उन्होंने इस ज्ञान के साथ एक विशेष प्रकार के आनन्द की निरन्तर अवस्थिति भी स्वीकार की है। यह आनन्द और सब प्रकार के आनन्द से विलक्षण होता है।

क्रोचे ने कला में वस्तु या भाव किसी के अन्तर्गत भेदों की स्वीकृति नहीं की। वस्तुगत भेदों का संबंध वे जीवन से मानते हैं और भावगत भेदों का मनोविज्ञान से। कला विषयक विवेचन के लिए ये सभी विभाजन निरर्थक हैं।

अभिव्यंजना का भी क्रोचे की दृष्टि में विशिष्ट अर्थ है। वे प्रचलित अर्थ में उसे बाह्य अभिव्यक्ति न मान कर कल्पना का पर्याय मानते हैं। शेष बाह्य प्रसाधन तो केवल इस मूलतः आध्यात्मिक क्रिया को प्रकाशित करने वाली भौतिक अभिव्यंजना के उपकरण मात्र हैं। कलात्मक अभिव्यंजना की प्रक्रिया का क्रम अन्तःसंस्कार (इम्प्रेशन्स) से आरंभ होता है। तदुपरान्त ये अंतःसंस्कार अभिव्यंजना या कलापरक आध्यात्मिक संश्लेष (एक्सप्रेशन आर स्पिरिचुअल एस्थेटिक सिन्थेसिस) का रूप धारण करते हैं जो सौंदर्य की भावना से उत्पन्न आनन्द (हिडोनिस्टिक एकाम्पनिमेन्ट आर प्लेजर आफ द ब्यूटिफुल) से युक्त रहता है। अन्ततः इस कलापरक आध्यात्मिक वस्तु का स्थूल भौतिक उपादानों—शब्द स्वर रंग आदि के माध्यम से अवतरण होता है।

क्रोचे की उपर्युक्त मान्यताओं से पश्चिम के सौन्दर्यशास्त्र में जिस कलावाद का जन्म हुआ उसका अनुसरण बाद में रोजर फ्राइ क्लाइव बेल ए० सी० ब्रैडले वाल्टर पेटर और आर० जी० कॉलिंगवुड प्रभृति चिंतकों ने किया। क्रोचे से कलानुभूति की विलक्षणता और काण्ट से रूपवाद के सिद्धान्त का ग्रहण करते हुए क्लाइव बेल और रोजर फ्राइ ने एक ओर तो कलानुभूति के लिए जीवनगत संवेगों अनुभूतियों संसर्गों और सन्दर्भों का सर्वथा अप्रासंगिक घोषित करते हुए उसे सर्वथा वैयक्तिक और लोक विलक्षण अनुभूति माना और दूसरी ओर इस अनुभूति के लिए सार्थक रूप (सिग्निफिकेंट फार्म) के महत्त्व पर बल दिया। इनके अनुसार सार्थक रूप वह है जो इस प्रकार की लोक विलक्षण अद्वितीय कलानुभूति को उद्बुद्ध करे और कलानुभूति वह है जो इस सार्थक रूप से उद्बुद्ध हो। कहना न होगा कि इन विचारकों के मन में रूप के महत्त्व के प्रति बढ़ते आग्रह के मूल में क्रोचे के उस सिद्धान्त का प्रभाव है जिसके अनुसार सौंदर्य और अभिव्यंजना को पर्याय एवं प्रातिभ ज्ञान और अभिव्यंजना को अभिन्न माना गया है।

ए० सी० ब्रैडले ने भी 'ऑक्सफर्ड लेक्चर्स ऑन पोएट्री' मे उन्ही दो सिद्धान्तो को कुछ अधिक स्पप्ट रूप से आगे वढाया है जिनकी प्रतिष्ठा क्रोचे द्वारा हो चुकी थी। एक ओर उन्होने 'कला कला के लिए' सिद्धान्त का पोपण अत्यन्त प्रवल शव्दो मे किया और दूसरी ओर शुद्ध कविता की अवधारणा की व्याख्या करते हुए विपय और रूप को इस सीमा तक अभिन्न माना कि उस अभिन्नता को लगभग अविभाज्य और कलात्मक उत्कर्प का माप एवं मूल्य समझ लिया। जिस कविता मे रूप और विषय जितने अभिन्न होगे, उतनी ही वह सफल स्वीकार की जाएगी, यदि किसी कविता का विपय उसके रूप-विशेप के अतिरिक्त भी सप्रेष्य हो सकता है तो वे उसे असफल कविता (?) कहेगे।

क्रोचे के अभिव्यंजनावाद का इंगलैण्ड में अधिक स्पष्ट, सुवोध और सहज-ग्राह्य व्याख्यान करने के लिए आर० जी० कॉलिगवुड का नाम प्रसिद्ध है। उन्होने अपने ग्रथ 'प्रिसिपल्स ऑफ आर्ट' मे क्रोचे के अभिव्यजनावाद की परिशोधित रूप में प्रतिष्ठा की। क्रोचे से उनका मतान्तर दो दृप्टियो से परिलक्षित होता हे। एक ओर तो उन्होने क्रोचे से अभिव्यंजनावाद ग्रहण किया परन्तु उनका प्रातिभ ज्ञान का सिद्धान्त नही, दूसरी ओर इस अभिव्यंजना की चरम सार्थकता या परिणति उन्होने सप्रेपण (कम्यूनिकेशन) मे मानी। इस प्रकार क्रोचे का अभिव्यंजनावाद सिद्धान्त कॉलिगवुड के सम्प्रेषण सिद्धान्त मे पूर्णता को प्राप्त हुआ।

बीसवी शताब्दी : प्रकृतवाद

कलावादी चिन्तकों ने जीवन और कला के मध्य इतनी वड़ी खाई उत्पन्न कर दी थी कि बीसवी शताव्दी के प्रकृतवादी विचारको—आइ० ए० रिचर्ड्स और जॉन ड्यूई को साग्रह कलागत सन्दर्भो को जीवनगत सन्दर्भो से जोडने की आवश्यकता प्रतीत हुई।

आइ० ए० रिचर्ड्स ने अपनी 'प्रिसिपल्स ऑफ लिटररी क्रिटिसिज्म' मे 'कलानुभूति की किसी वायवी छाया-स्थिति' का कठोर विरोध करते हुए कलानुभूति को किसी भी सामान्य जीवनानुभव के सदृश माना। एक ओर उन्होंने सौन्दर्यानुभूति को किसी विशेप प्रकार की वौद्धिक क्रिया मानने का विरोध किया और दूसरी ओर उसे किसी प्रकार के लोकोत्तर एव अतीन्द्रिय अनुभवो से सम्वद्ध करने का। उन्होने स्पप्ट शब्दों मे अपना मत व्यक्त करते हुए कहा कि काव्य-जगत का सत्य किसी अर्थ मे न शेप सृष्टि से भिन्न ही होता है और न ही उसके कोई लोक-भिन्न नियम और विशेपताएँ ही होती हे। काव्य और कलाओं को उनसे पूर्व के विचारको ने या तो नितान्त बुद्धिगम्य विचार की वस्तु वना दिया था अथवा अतीन्द्रिय अनुभव का विपय। कलाओं को उस नभचारी व्याख्या से झटका देकर पृथ्वी पर ले आने के प्रयासवश रिचर्ड्स ने उसकी तुलना 'गैलरी मे चलने या कपडे पहनने' की अनुभूति से की। परन्तु अनुभूति-विशेप मे घटको की संवध-योजना के आधार पर उन्होने सौन्दर्यानुभूति को अन्य अनुभूतियो से भिन्न माना। उन्होने उसे सामान्य अनुभवो की एक अधिक विकसित अवस्था और ललित सघटना स्वीकार किया।

रिचर्ड्स ने 'सवेग-सन्तुलन' सिद्धान्त का प्रतिपादन करके सौन्दर्यानुभूति के एक विशेष परिमण्डल को मानवीय अनुभव के व्यापक परिवेश के अन्तर्गत सीमाकित करने का प्रयास किया। परन्तु यह मानकर कि यह सन्तुलन कला-इतर वस्तुओ से भी सम्पन्न हो

जाता है तथा कलाकृति के वस्तुगत गुणों एवं रूपाकार से इसका संबंध नहीं है, उन्होंने अपने उपर्युक्त प्रयास को स्वयं नकार दिया।

अन्ततः रिचर्ड्स को जीवन बोध और कला बोध में अंतर स्वीकार करना पड़ा। किन्तु रिचर्ड्स ने इन अनुभूतियों में मूल प्रकार का प्रकृति का भेद नहीं माना। वे दोनों को सजातीय अनुभव मानते हुए उनके द्वारा मन पर पड़ने वाले प्रभाव में स्वरूपगत अंतर मानते थे। सौन्दर्यानुभूति उनके अनुसार जीवनानुभव की अपेक्षा अधिक जटिल और संश्लिष्ट अनुभूति होती है।

रिचर्ड्स के समान ही शब्द भेद से जान डयूई ने भी कलानुभूति को जीवनानुभूतियों का एक प्रकार से बढ़ाव ही माना। अपनी कृति आर्ट एज़ एक्सपीरिएन्स में उन्होंने स्पष्ट शब्दों में कहा कि सौन्दर्यानुभूति साधारण अनुभवों का उत्तर विकास और चारुतर संघटना है। वह साधारण जीवन में प्राप्त गुणों को मात्र तीव्रतर और उच्चतर करती है। सामान्यानुभव और सौन्दर्यानुभूति एक ही निरन्तर जीवन प्रवाह के अंग हैं। रिचर्ड्स की ही भांति वे भी दोनों अनुभूतियों में मूल प्रकृति का भेद नहीं मानते। सौन्दर्यानुभूति भी जीवनानुभूति है किन्तु एक विशेष प्रकार की। कला सामान्य जीवन की अपेक्षा अनुभवों को अधिक सार्थक संबद्ध और जीवन्त रूप में संयोजित करती है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से वह एक संश्लिष्ट अनुभव है। विभिन्न मन शक्तियों से संश्लिष्ट इन कलात्मक अनुभवों का रूप विश्रान्तिमय होता है। अतः कलानुभूति या सौन्दर्यानुभूति का लक्षण है—परितुष्टि एवं पूर्णता का बोध। आन्तरिक संहति और परिताप ही कलात्मक अनुभूति के भेदक लक्षण हैं। वही उसमें निहित सौन्दर्य तत्त्व है। डयूई ने संगठन को अनुभव मात्र का गुण माना और अनुभूति को संगठित बनाने वाला गुण भावात्मकता को माना।

सौन्दर्यानुभूति की प्रक्रिया की व्याख्या भी डयूई ने सविस्तार की है। वे ग्राहक की दृष्टि में सौन्दर्य-वस्तु के ग्रहण को एक प्रकार का प्रयास और पुनरचना मानते हैं। सौन्दर्य बोध के लिए ग्राहक की ओर से समर्पण शक्ति का बहिर्गमन अनिवार्य है। वह एक प्रकार का सहप्रयास है जिसमें बोध के लिए विषय के प्रति स्रष्टा और ग्राहक दोनों के प्रयत्न अपेक्षित हैं। ग्राहक में उसके लिए भावयित्री प्रतिभा का होना अपेक्षित है। सौन्दर्य बोध एक प्रकार का पुनस्सृजन है जिसमें उन्हीं संघटकों का समावेश होना चाहिए जिनसे होकर मूल रचनाकार गुज़रा है।

रिचर्ड्स और डयूई की स्थापनाओं में कहीं कहीं इस कारण विरोध का आभास होने लगता है कि वे दोनों ही एक ओर सौन्दर्यानुभव को जीवनानुभव से अभिन्न कहकर दूसरी ओर दोनों में भेद करने का प्रयास करते हैं। उनका कहना यह है कि सौन्दर्यानुभूति कलात्मक गुण से रंजित सामान्यानुभूति ही है।

अमरीका के कला चिन्तन के इतिहास में डयूई का विशेष स्थान है। अमरीका का कला-दर्शन मुख्यतः प्रकृतवादी दर्शन है अतः डयूई की मान्यताओं का किसी-न किसी रूप में अनुसरण वहाँ अविच्छिन्न रूप से निरन्तर होता आ रहा है। अमरीका के आधुनिक कला दर्शन की आधारभूमि प्रकृतवाद ही है। यही कारण है कि शब्द भेद से डयूई की विचार परंपरा टॉमस मुनरो तथा मुनरो सी॰ बियर्ड्स्ले जैसे अद्यतन विचारकों तक अबाध रूप से चली आई है।

बीसवीं शताब्दी : सन्तुलन का प्रयास

पाश्चात्य सौन्दर्यशास्त्र के इतिहास में बीसवीं शताब्दी के मध्य तक आते-आते प्रकृतवादी प्रवृत्ति इतनी प्रभावशाली हो गई कि प्राचीन प्रत्ययवादी तथा कलावादी सिद्धान्त एक प्रकार से हमेशा के लिए समाप्त-से जान पड़े। किन्तु इस वैचारिक संघर्ष में विजयी होकर प्रकृतवाद ने दैनन्दिन जीवन और कला के संबंधो में कुछ ऐसा घपला पैदा किया कि उसके अतिरेक को सन्तुलित करने की आवश्यकता महसूस होने लगी। इस दृष्टि से प्रसिद्ध विचारक अर्न्स्ट कैसिरिर की शिष्या प्रोफ़ेसर सूजन लैंगर का 'फ़िलॉसफ़ी इन ए न्यू की' (१९४२) युगान्तरकारी ग्रंथ है। लैंगर ने यह भली-भाँति देख लिया था कि प्राचीन कलावाद को पुनरुज्जीवित करना असम्भव ही नही, बल्कि गलत होगा; किन्तु प्रकृतवाद ने कला को जीवन से अभिन्न मानकर कला की निजी विशिष्टता को इस प्रकार धुँधला कर दिया था कि उसकी विशिष्टता की व्याख्या के लिए एक नए सन्तुलित कला-सिद्धान्त की अत्यन्त आवश्यकता थी। इसलिए लैंगर ने यह प्रश्न उठाया कि कला क्या सृजन करती है ? और फिर उन्होंने क्रमशः 'फ़ीलिंग एण्ड फ़ॉर्म' (१९५३) और 'प्रॉबलम्स ऑफ़ आर्ट' (१९५७) नामक ग्रंथों के द्वारा इस बुनियादी प्रश्न का उत्तर दिया। संक्षेप में उनका उत्तर था कि कला 'सिम्बोलिक फॉर्म' की सृष्टि करती है। स्पष्ट ही लैंगर का 'प्रतीकात्मक रूप' (सिम्बोलिक फ़ॉर्म) क्लाइव बेल का 'सार्थक रूप' (सिग्निफ़िकेंट फ़ॉर्म) नहीं है। लैंगर ने इस एक संज्ञा के अन्तर्गत अनुभूति (फ़ीलिंग) और रूप (फॉर्म) का वह सामंजस्य प्रस्तुत करने का प्रयास किया जो पाश्चात्य सौन्दर्यशास्त्र के इतिहास में इससे पहले संभव न हो सका था।

निष्कर्ष

पाश्चात्य सौन्दर्यशास्त्र के ढाई हजार वर्षो के इतिहास का सर्वेक्षण करने से कतिपय मुख्य विशेषताएँ स्पष्टतः उभर कर सामने आती है। सबसे पहले जो विशेषता अपनी ओर ध्यान आकृष्ट करती है वह है पश्चिम में कला-विषयक चिन्तन-प्रवाह की अविच्छिन्नता। पूर्वी देशो में चिन्तन के अन्य क्षेत्रों के समान काव्य और कला संबंधी चिन्तन में भी बीच की अनेक शृंखलाएँ टूटी हुई लगती हैं और आधुनिक युग के उदय के पूर्व एक लम्बी अवधि के लिए प्राचीन चिन्तन-परंपरा अवरुद्ध-सी भी दिखाई पड़ती है। परन्तु इसके विपरीत पश्चिमी चिन्तन मे एक प्रकार का सुखद नैरंतर्य मिलता है।

दूसरी विशेषता है समस्त कलाओं के आधार पर विकसित कला-दर्शन का एक सर्वांग-सम्पूर्ण रूप। विभिन्न कलाओं के संदर्भ में समय-समय पर उत्पन्न होने वाले सिद्धान्तों को संयोजित एवं एकान्वित करके उन्नीसवी शताब्दी तक आते-आते पश्चिम ने सौन्दर्यशास्त्र के रूप में एक व्यापक कला-दर्शन का निर्माण कर लिया। इस दृष्टि से विश्व की समस्त संस्कृतियों में पाश्चात्य संस्कृति की देन अद्वितीय है।

तीसरी विशेषता दर्शन एवं धर्म के अतिरिक्त मनोविज्ञान, समाज विज्ञान एवं भौतिक विज्ञान की अनेक युगान्तरकारी मान्यताओं के आलोक में सौन्दर्यशास्त्र को सैद्धान्तिक स्तर पर समृद्ध करने का प्रयास है। यह तथ्य है कि आधुनिक सामाजिक एवं प्राकृतिक विज्ञानों का विकास सबसे पहले पश्चिम में हुआ। इन विज्ञानों के अभाव में प्राच्य सौन्दर्यशास्त्र

जहाँ बहुत दिनों तक धर्म और दर्शन की अनेक अबुद्धिवादी रूढ़ियों में जकड़ा रहा, पाश्चात्य सौन्दर्यशास्त्र काफी पहले उन रूढ़ियों से मुक्त होकर वैज्ञानिक अनुसंधान से प्राप्त तथ्यों और सत्यों के आधार पर अधिक तर्कसम्मत, अनुभवसम्मत एवं सृजनात्मक हो सका।

चौथी विशेषता यह है कि पश्चिम में कला के स्वरूप के अतिरिक्त कला की सृजन-प्रक्रिया और प्रभाव ग्रहण, तीनों पक्षों पर सांगोपांग रूप से विचार किया गया, जबकि पूर्व में पश्चिम की तुलना में प्रायः सृजन प्रक्रिया संबंधी पक्ष उपेक्षित रहा। इसके साथ ही यह भी उल्लेखनीय है कि प्रायोगिक मनोविज्ञान के आधार पर पश्चिम में कला के प्रभावों का अत्यन्त व्यावहारिक अध्ययन प्रस्तुत कर इस विषय को तथ्यपूर्ण बनाया गया, जबकि पूर्व में इस विषय का विवेचन बहुत-कुछ कल्पनाश्रित एवं 'स्पेकुलेटिव' रह गया। इसी प्रकार कला की सृजन प्रक्रिया पर भी विविध मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों की सहायता लेकर एक अत्यन्त रहस्यपूर्ण क्षेत्र को आलोकित करने का प्रयास हुआ।

पाँचवीं विशेषता है पाश्चात्य सौन्दर्यशास्त्र के विकास में एक आधारभूत द्वन्द्व, जो कभी रूप और वस्तु के द्वन्द्व के रूप में प्रकट होता है तो कभी बुद्धि और भाव के द्वन्द्व के रूप में। इसी द्वन्द्व के आधार पर वहाँ त्रासदी जैसी संघर्षमूलक नाट्यविधा का विकास हुआ और कलास्वाद-विषयक सौन्दर्यशास्त्रीय चिन्तन भी मुख्यतः त्रासदी के आस्वाद के सन्दर्भ में ही किया गया। यही द्वन्द्व कभी सत्य और सुन्दर के बीच विरोध के रूप में प्रकट होता है तो कभी सुन्दर और शिव के बीच विरोध के रूप में। पाश्चात्य सौन्दर्यशास्त्र का समूचा इतिहास इस प्रकार के द्वन्द्वों के समाहार का कठिन प्रयास है। इस द्वन्द्व के ही कारण पश्चिम में अनेक ऐकान्तिक सिद्धान्तों की सृष्टि हुई। जिस 'सौन्दर्य' को पश्चिम ने कला संबंधी चिन्तन का केन्द्र बनाया उसके स्वरूप एवं उसके ग्रहण के प्रति पश्चिमी विचारकों के मन में इतनी द्विधा रही है कि आज भी उसे ठीक से परिभाषित नहीं किया जा सका। 'सौन्दर्य' के समान ही 'रूप' (फार्म) अथवा 'शुद्ध रूप' (प्योर फार्म) नामक दूसरी अवधारणा है जिसके गिर्द पाश्चात्य सौन्दर्यशास्त्र का अधिकांश चिन्तन बहुत दिनों तक चक्कर लगाता रहा। इस दृष्टि से कभी-कभी ऐसा प्रतीत होता है कि पाश्चात्य सौन्दर्यशास्त्र मूलतः बाह्यार्थवादी है—कला की आत्मा तक उसकी पहुँच नहीं हो सकी।

फिर भी, कुल मिलाकर अपनी विविधता और सर्वांगीणता के लिए पाश्चात्य सौन्दर्यशास्त्र अनेक संस्कृतियों के लिए सतत आकर्षण का केन्द्र है।

प्रथम खण्ड

काव्यानुभूति

- काव्यानुभूति का स्वरूप
- काव्यानुभूति की प्रक्रिया
- काव्य का अधिकारी

४

काव्यानुभूति का स्वरूप

रस-स्वरूप

काव्यानुभूति को संस्कृत काव्यशास्त्र मे 'रस' संज्ञा से अभिहित किया गया है। रस-स्वरूप का सर्वांग-सम्पूर्ण परिनिष्ठित निरूपण अभिनवगुप्त की कृतियों में प्राप्त होता है। अभिनवगुप्त ने रस की स्वरूप-बोधक निम्नलिखित विशेषताओं का उल्लेख किया है :

समस्त विघ्नों से विनिर्मुक्त संवित्ति, चमत्कार, निर्वेश, रसन, आस्वादन, भोग, समापत्ति, लय, विश्रान्ति आदि।[1]

अभिनवगुप्त की शैवाद्वैत-परंपरा से भिन्न शांकर अद्वैत-परंपरा के आचार्य विश्वनाथ के अनुसार रस-स्वरूप-विषयक विशेषताएँ इस प्रकार है :

सत्वोद्रेक, अखंड, स्वप्रकाशानन्द, चिन्मय, वेद्यान्तरस्पर्शशून्य, ब्रह्मास्वाद-सहोदर, लोकोत्तर, चमत्कारप्राण, स्वाकारवत् अभिन्न, आस्वाद रूप।[2]

अन्य आचार्यो ने शब्द-भेद से प्रायः इन्ही विशेषताओं को दुहराया है जो संक्षेप में इस प्रकार है :

१. रस आस्वादरूप है, सहृदय जिसका रसन या भोग करता है।

२. यह आस्वाद सत्वोद्रेक की स्थिति में होता है, जिसकी परिणति चित्त की विश्रान्ति, लय, और समापत्ति में होती है।

३. रस निर्विघ्न और अखंड होता है।

४. रस चिन्मय, अन्य-ज्ञानरहित और स्वप्रकाश होता है।

५. रस लोकोत्तर-चमत्कार प्राण है।

६. रस ब्रह्मास्वाद-सहोदर है।

१. आस्वादरूपता : रस काव्यार्थ के रूप में आस्वाद्य और स्वयं आस्वादरूप है, ऐसा निरपवाद रूप से सभी आचार्यो ने स्वीकार किया है। भरत ने रस को रस-संज्ञा ही

---

[1] लोके सकलविघ्नविनिर्मुक्ता संवित्तिरेव चमत्कारनिर्वेश-
रसनास्वादनभोगसमापत्तिलयविश्रान्त्यादिशब्दैरभिधीयते।
अभिनवभारती, भाग १, पृ० २८०

[2] सत्त्वोद्रेकादखण्डस्वप्रकाशानन्दचिन्मयः।
वेद्यान्तरस्पर्शशून्यो ब्रह्मास्वादसहोदरः।
लोकोत्तरचमत्कारप्राणः कैश्चित्प्रमातृभिः।
स्वाकारवदभिन्नत्वेनायमास्वाद्यते रसः। साहित्यदर्पण, ३।२-३

उसके आस्वादन के कारण ही तथा रस की उपमा नाना प्रकार के व्यंजनों से संस्कृत अन्न से देते हुए कहा कि जैसे उक्त प्रकार के अन्न को खानेवाले पुरुष रसों का आस्वादन करते हैं एवं हर्ष को प्राप्त करते हैं उसी प्रकार नाना प्रकार के भावों और अभिनयों के द्वारा व्यक्त किए गए वाचिक आंगिक तथा सात्विक अभिनयों से युक्त स्थायी भाव का सहृदय प्रेक्षक आस्वाद करते हैं और हर्षादि को प्राप्त करते हैं।[१]

अन्न-ग्रहण के आस्वाद और रसास्वाद में अन्तर ग्राहक इन्द्रिय का है यह भी अभिनवगुप्त ने स्पष्ट किया है। भोजनास्वाद रसनेन्द्रिय का व्यापार है और काव्यास्वाद मानस व्यापार है।[२] रसास्वाद के लिए चित्तवृत्ति की एकाग्रता सर्वथा अनिवार्य है। रसास्वाद में विघ्नान्तर सभी अनुभवों से मुक्त सहृदय की चित्तवृत्ति का विषय में पूर्ण निवेश और तन्मयीभवन अनिवार्य है जबकि भोजनास्वाद के क्षणों में भोक्ता अन्यथा चित्तवृत्ति से भी आस्वादन में समर्थ हो सकता है। समानता दोनों में यह है कि दोनों का परिणाम या फल है आह्लादन तथा चर्वण और चवण का अर्थ है सब इन्द्रियों का समवाय सन्तोष।

भट्टनायक ने आस्वादना मानुभवो रस काव्यार्थ उच्यते।[३] कहकर रस को आत्मानुभव का आस्वादन स्वीकार किया।

इसी आस्वादकल्पना को आगे चलकर अभिनवगुप्त ने रस का अन्य प्रतीतियों से भेदक लक्षण बनाया है। उन्होंने एकाधिक स्थानों[४] पर रस का सामान्य लक्षण निरूपित करते हुए आस्वादना को उसका भेदक लक्षण माना है। इसी आधार पर रस तथा भाव को एक मानते हुए वे एक ही[५] सामान्य रस अथवा महारस को स्वीकार करते हैं। भोज ने साधारणीकरण के सिद्धान्त की स्पष्ट स्वीकृति या व्याख्या न करते हुए भी रस को हृदय स्थित अहं का आस्वाद माना है।[६] रस विषयक विविध प्रश्नों का संग्रह सार प्रस्तुत करने वाले विश्वनाथ ने भी रस को निज स्वरूप से अभिन्न आस्वाद रूप माना है।[७]

---

१ यथा हि नाना व्यंजनसंस्कृतमन्नं भुंजाना रसानास्वादयन्ति ... तथा नानाभावाभिनयव्यंजितान् वागङ्गसत्त्वोपेतान् स्थायिभावानास्वादयन्ति ... तस्मान्नाट्यरसा।

नाट्यशास्त्र भाग १, पृ० २८८-८६

२ न रसनाव्यापार आस्वादनम्। अपि तु मानस एव। न चात्राविकलोऽस्ति।

अभिनवभारती भाग १ पृ० २६०

३ वही पृ० २७७

४ (क) रसना गोचरो लोकोत्तरोऽर्थो रस इति। वही पृ० २८५

(ख) सर्वथा रसनात्मकवीतविघ्नप्रतीतिग्राह्यो भाव एव रसः। वही पृ० २८०

(ग) विभावादिनाम सामाजिकधियि सम्यग्योग सम्बधमैकाग्र्य वाऽऽ—सान्ति यदभिरलौकिकनिर्विघ्नसंवेदनात्मकचर्वणागोचरतां नीतोऽर्थश्चर्व्यमाणतैकसारो न तु सिद्धस्वभाव तात्कालिक एव न तु चर्वणातिरिक्तकालावलम्बी, स्थायिविलक्षण एव रस। वही पृ० २८४

५ सर्वथा रसनात्मक भाव एव रस। वही पृ० २८०

६ (क) साहङ्कृत हृदि पर स्वदते रसोऽसौ। डा० राघवन शृङ्गारप्रकाश पृ० ४८१

(ख) तत रसाभिमानाहङ्कारशब्दैः अभिधीयमान स्वादात्मा। सरस्वती कण्ठाभरण अ० ५ (डा० राघवन द्वारा भोज का शृङ्गारप्रकाश पृ० ४२१ पर उद्धृत)

७ स्वाकारवदभिन्नत्वेनायमास्वाद्यते रसः। साहित्यदर्पण ३।३

इसके अतिरिक्त पंडितराज जगन्नाथ[१] भी रस का आस्वादन स्वीकार करते हैं और मानते हैं कि "चैतन्य के ऊपर से अज्ञानरूप आवरण का हट जाना ही रस-चर्वणा (आस्वादन) है, अथवा अन्तःकरण की आनन्दाकार वृत्ति को रस-चर्वणा समझना चाहिए।"

इन आचार्यों के अतिरिक्त उन आचार्यों ने भी, जो प्रत्यक्षतः रस-परंपरा में नहीं माने जाते, रस की आस्वादरूपता का समर्थन किया है। उदाहरण के लिए वक्रोक्तिवादी आचार्य कुन्तक[२] और व्यक्तिविवेककार अनुमितिवादी महिम भट्ट[3] भी रस को आत्मास्वाद-रूप मानते हैं।

२. सत्वोद्रेक, विश्रान्ति, लय और समापत्ति : रस की अभिव्यक्ति होने पर सतोगुण का उद्रेक होता है। भट्टनायक ने रस-भोग की स्थिति का वर्णन करते हुए कहा है कि रस के भावित होने पर वह भोग रज और तम के अनुवेध से विचित्र सत्वोद्रेकमय होता है।[४] उस सत्वोद्रेक में चित्त द्रुति, विस्तार और विकास की स्थितियाँ प्राप्त करता है। इसकी परिणति अन्ततः सहृदय के संवित् की विश्रान्ति में होती है। इसी को आचार्यों ने लय एवं समापत्ति भी कहा है।

३. रसास्वाद को संस्कृत के आचार्यों ने अखंडानुभव कहा है। वे अखंड अनुभूति का दो अर्थों में प्रयोग करते है : (क) आचार्य आनन्दवर्धन ने रस-व्यापार को मात्र रसिकगत व्यापार न मानकर कवि-सहृदयगत अखंडानुभवरूप व्यापार माना है। इसीलिए वे सरस्वती के तत्त्व को भी कविसहृदयरूप मानते हैं और स्वीकार करते है कि रस की यह प्रतीति कवि से सहृदय तक अखंड रूप में आती है।

(ख) अखंडानुभूति का दूसरा अर्थ रसिक की रसानुभूति के पक्ष मे किया गया है। रस-सामग्री के विभिन्न अंगों—विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी आदि की प्रतीति सहृदय को खंड-खंड रूप मे न होकर रसिक का रसास्वाद अखंड एकघन प्रतीति के रूप में होता है। उपर्युक्त खंड, एवं उनका संयोग—इस क्रम से रसिक को रस-प्रतीति नहीं होती। रसिक की दृष्टि से विभावादि की रस-निरपेक्ष रूप में सत्ता ही नहीं है। इन खंडों की

---

१ (क) चर्वणा चास्य चिद्गतावरणभंग एवं प्रागुक्ता, तदाकाराऽन्तःकरणवृत्तिर्वा।
हिन्दी रसगंगाधर, प्रथमानन, पृ० ८६
(ख) आस्वादनस्य रसविषयकत्वव्यवहारस्तु रत्यादिविषयकत्वालम्बनः···।
वही, पृ० ११२

२ वाच्यावबोधनिष्पत्तौ पदवाक्यार्थवर्जितम्।
यत्किमप्यर्पयत्यन्तः पानकास्वादवत् सताम्॥ वक्रोक्तिजीवित, पृ० ६३

3 भावसंयोजनाव्यंग्यपरसंवित्तिगोचरः।
आस्वादनात्मानुभवो रसः काव्यार्थ उच्यते॥ व्यक्तिविवेक, प्रथमो विमर्शः, पृ० ७०

४ (क) भाविते च रसे तस्य भोगः···एव द्रुतिविस्तारविकासात्मा रजस्तमोवैचित्र्यानुविद्धसत्त्वमयनिजचित्स्वभावनिर्वृतिविश्रान्तिलक्षणः···।
ध्वन्यालोक-लोचन, पृ० १९३
(ख) रसो···रजस्तमोऽनुवेधवैचित्र्यबलाद्द्रुतिविस्तारविकासलक्षणेन सत्वोद्रेकप्रकाशानन्दमयनिजसंविद्विश्रान्तिलक्षणेन···भुज्यत इति।
अभिनवभारती, भाग १, पृ० २७७

प्रकार अन्य ज्ञान से राहित्य, जहाँ आत्मेतर तत्त्वों के परत्व के ज्ञान से शून्य स्थिति का बोधक है वहाँ आत्मस्थ एवं स्वकीय तत्त्वों के ज्ञान के परिहार का भी।

५ रस लोकोत्तर चमत्कारप्राण है रस की लोकोत्तरता की परिणति चमत्कार-प्राणता में होती है। इतना तो निश्चित है कि रस न लौकिक अनुभूति है न आध्यात्मिक किन्तु उस अनुभूति में अन्तर्निहित चमत्कृति लोक भिन्न अवश्य है। रसास्वाद चमत्कार-प्राण है और यह चमत्कृति लोकोत्तर कोटि की है। इस प्रकार जब संस्कृत के आचार्यों ने रस को लोकोत्तर चमत्कारप्राण कहा तो लोकोत्तर का प्रयोग चमत्कार के विशेषण रूप में किया और चमत्कार का प्रयोग सौन्दर्यानुभूति के अर्थ में किया। चमत्कार इन आचार्यों के अनुसार, रसानुभूति या रस चर्वणा है।[1] क्रमशः जगन्नाथ तक आते-आते लोकोत्तरता का प्रयोग चमत्कार के पर्याय रूप में होने लग गया।[2] क्योंकि अद्भुत या विस्मयकर होने के लिए लोक विलक्षणता अर्थात् सामान्य में भिन्नता अनिवार्य है। जो चमत्कारक होगा वह लोक भिन्न भी अवश्य होगा। साथ ही चमत्कारित्व का सौन्दर्य के साथ अविभाज्य संबंध है। चमत्कारित्वात् सुन्दर अर्थात् सुन्दर वही है जो चमत्कृत करे ऐसा जयरथ का मत है। आनन्दवर्धन[3] ने भी काव्यगत सौन्दर्य की व्याख्या करते हुए उसे चमत्काररूप माना है। उनका कथन है कि सहृदय को जिस वस्तु के संबंध में नवीन स्फुरण का प्रत्यय हो आस्वादमय चमत्कार जान पड़े उस वस्तु को रम्य (सुन्दर) कहा जाता है। अर्थात् विषय-गत में जो सौन्दर्य है विषयिगत में वही चमत्कार है। सौन्दर्य वस्तुधर्म है और चमत्कृति आस्वादरूप, अतः चेतना का धर्म है। किसी अनुभव में जब चमत्कृति का भाव वर्तमान रहता है तो उसका अर्थ यह है कि वह चमत्कृति सौन्दर्य के प्रति है। यह सौन्दर्य लोकोत्तर अर्थात् लोक विलक्षण या नवीन स्फुरण का प्रत्यय करानेवाला है और उसके प्रति सहृदय की चेतना में होनेवाली प्रतीति विस्मयाभिभूत एवं आस्वाद रूप होती है।

विद्वानों ने चमत्कार के उपर्युक्त अर्थ की व्युत्पत्तिमूलक व्याख्या दो रूपों में की है। एक तो चमत्+कार के संयोग से निर्मित जिसमें 'चमत्' शब्द विस्मय या आश्चर्य का बोधक है और 'कार' चेतना की उक्त स्थिति के कर्तृत्व का या प्रक्रिया का। इस प्रकार चमत्कार शब्द में किसी विषय के प्रति जो सहसा ही हमारी चेतना को अभिभूत या आक्रान्त कर लेता है विस्मय या आश्चर्य का भाव सदैव वर्तमान रहता है। परम्परागत मत के अनुसार चमत् की व्युत्पत्ति 'चम्' से स्वीकार की गई है जिसका अर्थ है भोग या आस्वाद जन्य आनन्द। अतः चमत् का अर्थ हुआ किसी विषय का विशेषकर सौन्दर्यात्मक या

---

[1] The term 'Camatkara' means aesthetic experience, the state of fruition of the Rasa Camatkara is aesthetic experience of Tasting
R Gnoli *The Aesthetic Experience According to Abhinavagupta*, p 72

[2] चमत्कारत्वापरपर्याय । रसगंगाधर, पृ० १०

[3] यदपि तदपि रम्यं यत्र लोकस्य किंचित्-
स्फुरितमिदमितीयं बुद्धिरभ्युज्जिहीते ॥
स्फुरणेयं काचिदिति सहृदयानां चमत्कृतिरुत्पद्यते । ध्वन्यालोक ४।१५ पृ० ५६८

रहस्यात्मक आस्वादजन्य आनन्द में तन्मय होना। अभिनवगुप्त ने उक्त दोनों व्युत्पत्तियों को स्वीकृति दी है।[१] उनकी व्याख्या के अनुसार चमत्कार परनिरपेक्ष आत्मविश्रान्ति की स्थिति है। चमद् विशिष्ट कार्य का द्योतक है। इस शब्द का अर्थ है निर्विघ्न आस्वाद। इस कार्य की घटना आन्तरिक प्रक्रिया के रूप में होती है। अतः काव्य और नाटक से होने वाला निर्विघ्न रसास्वाद भी एक प्रकार का चमत्कार है। चमत्कार, इस प्रकार, चेतना की विशिष्ट अवस्था है जो निर्विघ्न होती है, जिसमें भोक्ता स्वव्यक्तित्व की विशिष्टता का पूर्ण परिहार कर देता है। कदाचित इसी दृष्टि से विश्वनाथ ने चमत्कार को एक प्रकार का आत्मविस्तार स्वीकार किया है।[२]

चमत्कार का प्रयोग प्रत्यभिज्ञादर्शन और अभिनवगुप्त से पूर्व 'योगवाशिष्ठ' में 'चित्तचमत्कार' के लिए किया गया है, जो प्रो० सुरेन्द्रनाथ दासगुप्त के अनुसार 'सेल्फ़ प्लेशिंग ऑफ़ थॉट' है।[3]

काव्यास्वाद के लिए 'चमत्कार' शब्द का प्रयोग संभवतः दर्शन के क्षेत्र से ही अपनाया गया। ठीक उसी प्रकार जैसे काव्यानन्द के लोक-भिन्न स्वरूप की व्याख्या, उसे ब्रह्मास्वाद-सहोदर कहकर की गई और उसे ब्रह्मानन्द का समकक्षी आनन्द ठहराया गया। परमानन्द की अनुभूति से होनेवाली चित्त-चमत्कृति के समकक्ष ही रस के प्रसंग में चमत्कार का प्रयोग किया गया। 'अग्निपुराण' के अनुसार :

"वेदान्त में कहा गया है कि ब्रह्म अक्षर है, परम है, सनातन है, अज्ञ है, विभु है, अद्वितीय है, चैतन्य है, ज्योति है और ईश्वर है। उसका सहज आनन्द जब कभी व्यक्त होता है तो उसकी वह 'व्यक्ति' चैतन्य, चमत्कार अथवा रस कहलाती है।"[४]

प्रत्यभिज्ञादर्शन में चमत्कार का व्यापक अर्थ में प्रयोग चित्त के समस्त रूपों के लिए किया जाता है, उस मूल चेतन-तत्त्व के लिए जो आत्मा या चेतन को जड़ से अलग करता है। अभिनवगुप्त की 'परात्रिंशिका-विवरण' के अनुसार चमत्कार का सर्वथा अभाव

---

[१] (क) चमत्कारो हि इति स्वात्मन्यनन्यापेक्षे विश्रमणम्। एवं भुंजानतारूपं चमत्वं, तदेव करोति संरम्भे विमृशति नान्यत्रानुधावति। चमद् इति क्रियाविशेषणम्, अखण्ड एव वा शब्दो निर्विघ्नास्वादनवृत्तिः चमद् इति वा अन्तरस्पन्दान्दोलनोदितपरामर्शमयाशब्दनाव्यक्तानुकरणम्। काव्यनाट्यरसादवपि भाविचित्तवृत्यन्तरोदयनियमात्मकविघ्नविरहित एवास्वादो रसनात्मा चमत्कार-इत्युक्तम् अन्यत्र।

रेनीरो नोली : एस्थे० एक्स० अभि०, पृ० ७२

(ख) चमत्कृतिरिति आस्वादप्रधाना बुद्धिरित्यर्थः। ध्वन्यालोक, पृ० ५९८

[२] चमत्कारश्चित्तविस्ताररूपो विस्मयापरपर्यायः।

साहित्यदर्पण, अध्याय ३, पृ० ४९

[3] हिस्ट्री ऑफ़ इण्डियन फ़िलॉसफ़ी, जिल्द २, पृ० २३६

[४] "अक्षरं परमं ब्रह्म सनातनमजं विभु।
वेदान्तेषु वदन्त्येकं चैतन्यं ज्योतिरीश्वरम्॥
आनन्दस्सहजस्तस्य व्यज्यते स कदाचन।
व्यक्तिस्सा तस्य चैतन्यचमत्काररसाह्वया॥"

अग्निपुराण, ३३९।१-२; (रेनीरो नोली द्वारा उद्धृत, पृ० ७३)

ही जन्ता है और सहृदयता चमत्कार के आवेश का आधिक्य है। इसीलिए जिनका हृदय ब्रह्मानन्द अथवा काव्यानन्द के अनन्त भोग का अभ्यासी है वही अतिशय चमत्कार का स्वाद जानता है।[1]

सम्भव है संस्कृत के आचार्यों ने चमत्कार शब्द का प्रयोग सौन्दर्यास्वाद के पर्याय रूप में किया। काव्य के संदर्भ में जब जब विभावादि का संयोग होता है सहृदय की चेतना में आस्वाद रूप चमत्कार निष्पन्न होता है। यह चमत्कार एक तो आस्वाद रूप होता है दूसरे विस्मय रूप। रस को चमत्कारप्राण कहने का तात्पर्य यही है।

आनन्दरूपता रस का आस्वाद सुख रूप है अथवा दुःख रूप इस संबंध में संस्कृत के आचार्यों में मत मिलता है। नाट्यशास्त्र के व्याख्याता अभिनवगुप्त सभी रसों को सुख रूप मानते हैं। उनका कथन है कि सब रस सुख प्रधान होते हैं क्योंकि स्वसंविद की चर्वणा ही उनका रूप है तथा यह चर्वणा एकघन एवं प्रकाशमयी होती है और आनन्द इसका सारभूत तत्त्व है। सुख अन्तरायशून्य विश्रान्ति रूप होता है और दुःख अविश्रान्ति रूप। इसीलिए कपिल आदि सांख्य दार्शनिक दुःख को रजोवृत्ति का धर्म मानते हुए चाञ्चल्य को ही दुःख का प्राण मानते हैं। रसास्वाद के क्षणों में सहृदय का चित्त एकघन संवित्ति में विश्रान्त होता है अतएव सभी रस आनन्दरूप होते हैं।[2]

उक्त मत भरत के टीकाकार अभिनवगुप्त का है। अभिनवगुप्त को सभी रसों की आनन्दरूपता की साग्रह व्याख्या इसलिए करनी पड़ी कि उनसे पूर्व कुछ रसों को दुःख रूप मानने की पद्धति भी चल पड़ी थी। कुछ रसों को दुःखात्मक सिद्ध करनेवाले आचार्यों ने अपने मत का आधार भरत के रस विवेचन को ही बनाया। भरत ने रसास्वाद की तुलना नानाव्यंजनसंस्कृतमन्न से प्राप्त होनेवाले रसनास्वाद से करते हुए रसास्वाद और रसनास्वाद दोनों का फल सुमनस प्रेक्षक एवं पुरुष के लिए हर्षादि का अनुभवन माना है।[3]

इसके अतिरिक्त भरत के स्थायिवत् रस के आधार पर भी स्थायी और रस में अभेद मानने की परंपरा प्रचलित हुई। रस को सुख-दुःखात्मक मानने वाले आचार्यों ने कहा कि भरत जब हर्षादि कहते हैं तो वहाँ आदि पद हर्ष से भिन्न दुःखात्मक अनुभव का वाचक है। क्योंकि स्थायी भावों को भरत ने उभय रूप माना है अतः हर्षादि का

---

[1] सर्वतो ह्यचमत्कारे जडत्वं अधिकचमत्कारावेश एव वीप्सशोभा ना सहृदयता उच्यते यस्यैव एतद् भोगाभ्यासनिवेशितान्तब्रह्मास्वादकल्पितं हृदयं तस्यैव सातिशय चमत्क्रिया।

रैनीरो नोली द एस्थे० एक्स० अभि० पृ० ७३

[2] सर्वेऽमी सुखप्रधानाः। स्वसंविच्चर्वणारूपस्यैकघनस्य प्रकाशस्यानन्दसारत्वात्। अन्तरायशून्यविश्रान्तिशरीरत्वात् सुखस्य। अविश्रान्तिरूपतैव दुःखम्। तत एव कापिलैः दुःखस्य चाञ्चल्यमेव प्राणत्वेनोक्तं रजोवृत्तितां वदद्भिरित्यानन्दरूपता सर्वरसानाम्।

अभिनवभारती भाग १ पृ० २८२

[3] यथा हि नानाव्यंजनसंस्कृतमन्नं भुंजाना रसानास्वादयन्ति सुमनसः पुरुषाः हर्षादींश्चाधिगच्छन्ति तथा नानाभावाभिनयव्यंजितान् वागंगसत्त्वोपेतान् स्थायिभावानास्वादयन्ति सुमनसः प्रेक्षकाः हर्षादींश्चाधिगच्छन्ति। तस्मान्नाट्यरसा इत्यभिव्याख्याताः।

नाट्यशास्त्र भाग १ पृ० २८८-८९

अभिप्राय यह हुआ कि स्थायी के अनुसार वह आस्वाद हर्ष से विपरीत भी हो सकता है। इस व्याख्या का खंडन असम्भव नहीं। जिस दृष्टान्त का उपयोग भरत मुनि ने किया है, वही रस की आनन्दरूपता को सिद्ध करने के लिए पर्याप्त है। जिस भोजन का उदाहरण वे देते हैं उसका आस्वाद अप्रीतिकर या अरुचिकर होने का प्रश्न ही नहीं। भोजन के प्रसंग में हर्षादि से अभिप्राय हर्ष की सजातीय अनुभूतियों—परितोष, तृप्ति आदि से है; उसी प्रकार काव्य के संदर्भ में भी रसास्वाद का रूप आनन्दमय के अतिरिक्त और कुछ नहीं हो सकता।

रसों को सुख-दुःखात्मक मानने की भ्रान्ति का जन्म सम्भवतः हर्षादि प्रयोग से उतना नहीं हुआ जितना 'स्थाय्येव रसः' कहने से। इसके अतिरिक्त भी नाटक की स्वरूप-व्याख्या करते हुए जब भरत ने उसे लोकवृत्त का अनुकरण कहा और साथ ही यह भी कि जिस प्रकार लोक-स्वभाव सुख-दुःख समन्वित होता है, उसी प्रकार नाटक में उसका अभिनय किया जाता है।[1]

यह सुख-दुःखात्मक लोक-स्वभाव नाटक में अभिनीत होकर किस प्रकार आनन्दप्रद बन जाता है, इस प्रक्रिया का स्पष्ट व्याख्यान करने की आवश्यकता सम्भवतः भरत मुनि ने नहीं समझी। इसलिए परवर्ती आचार्यों में रस को सुख-दुःखात्मक और एकान्त आनन्द-रूप माननेवाली दो परंपराएं प्रचलित हुईं। उनमें मतभेद का आधार यही था कि एक परिपुष्ट स्थायी को ही रस मानती थी और दूसरी रस को स्थायी से विलक्षण स्वीकार करती थी।

पहली में दण्डी, वामन, लौल्लट, श्रीशंकुक, सांख्यवादी, भोज और जैन आचार्य रामचन्द्र-गुणचन्द्र आते हैं। रस को केवल आनन्द-रूप माननेवाली परंपरा में—आनन्द-वर्धन, भट्टतोत, भट्टनायक, अभिनवगुप्त, मम्मट, हेमचन्द्र, विश्वनाथ, मधुसूदन सरस्वती एवं जगन्नाथ आते हैं।[2] इस विषय में प्रो० देशपाण्डे का मत है कि सुख-दुःखवादी परंपरा ध्वनि-सिद्धान्त को, अतएव व्यंजना-व्यापार को अस्वीकार कर लौकिक प्रमाणों की सहायता से ही रस की सुख-दुःखात्मकता सिद्ध करने का प्रयास करती है, जबकि ध्वनिवादी रस का भेदक लक्षण चर्वणा या आस्वाद्यता मानते हुए उसे 'स्थायिविलक्षण' स्वीकार करते हैं।[3]

स्थायी व्यक्ति-संबद्ध है। सुख-दुःखवादी आचार्यों की मान्यता है कि इसी लौकिक स्थायी का परिपोष रस है और इसलिए रस भी लौकिक, परिणामतः सुख-दुःख-रूप है। इस समस्या का तर्कपुष्ट व्याख्यान शैव-परंपरा के आचार्यों ने किया और स्थापना की

---

[1] नानाभावोपसम्पन्नं नानावस्थान्तरात्मकम्।
लोकवृत्तानुकरणं नाट्यमेतन्मयाकृतम्॥
योऽयं स्वभावो लोकस्य सुखदुःखसमन्वितः।
सोऽङ्गाद्यभिनयोपेतो नाट्यमित्यभिधीयते॥

नाट्यशास्त्र, १।११२, पृ० ११६

[2] ग० त्र्यं० देशपाण्डे, भारतीय साहित्यशास्त्र, पृ० ३३७, ३४०

[3] वही, पृ० ३४१

कि रस जो हृदयसंवाद आस्वाद है लौकिक भूमिका पर होता ही नहीं। वस्तुतः रसिक यदि लौकिक भूमिका का विगलन नहीं करता तो वह रसविघ्न है। लौकिक-सृष्टि सुख-दुःख मोहात्मक है, प्रवृत्ति निवृत्ति रूप है एवं व्यक्ति-संबद्ध है। इसके विपरीत रस साधारण्य संबद्ध है, चित्त की विश्रान्ति के कारण आनन्द रूप है। वह अखंड आनन्दघनसंवेदन का ही आस्वाद है। कवि-सृष्टि ह्लादैकमयी है।

अभिनवगुप्त के तर्क में कवि-सृष्टि इसलिए आनन्दरूप है कि स्वात्मविश्रान्ति ही आह्लाद का स्वभाव है। वही आनन्दरूप है और कवि-स्वतन्त्रता की निदर्शक है।[1] काव्य रचना को अभिनवगुप्त अनन्य परतन्त्र मानते थे। उनके अनुसार आनन्द से उच्छलित कवि शक्ति स्वयं ही अपना निर्माण करती है।[2] जो काव्य-सृष्टि कवि की स्वतन्त्र इच्छा शक्ति का चमत्कारमय वैखरी रूप है वह सहज आनन्दरूपिणी ही होगी। सर्जन-पक्ष में जो काव्य सहज आनन्द रूप है वही आस्वाद के रूप में भी कैसे एकान्त आनन्द रूप होता है इसकी व्याख्या करते हुए अभिनवगुप्त ने हृदय को स्पन्द शक्ति में युक्त स्वीकार किया है। यही स्पन्द शक्ति आनन्द शक्ति है। सहृदय का लक्षण वे इसी आनन्द शक्ति को मानते हैं। मधुर गीत आदि के श्रवण से तथा चन्दनादि के स्पर्श से ताटस्थ्य का परिहार होकर हृदय की जो स्पन्दमान अवस्था होती है उसी को आनन्द शक्ति कहते हैं जिसके कारण मनुष्य सहृदय कहलाता है।[3]

काव्य के श्रवण के क्षणों में भी सहृदय को इसी आनन्दरूप स्पन्द का अनुभव होता है। जिनको तन्मयीभवन होकर देहमान नहीं छूटता वे अहृदय हैं।[4]

प्रचलित मत है कि अभिनवगुप्त सभी रसों को आनन्द रूप मानते थे। विद्वानों ने प्राय यह स्वीकार कर लिया है कि जब वे रस को आनन्द रूप कहते हैं तो आनन्द संबंधी उनकी अवधारणा सुखात्मक ही है। यह प्रश्न विचारणीय है। अभिनवगुप्त की दार्शनिक मान्यता के प्रकाश में इसकी व्याख्या करनी वाञ्छ सम्भव है। अभिनवगुप्त ने तन्त्रालोक में स्पष्ट किया है कि आनन्द शक्ति के स्पन्द का बोध ही 'चमत्कार' है और कवि और रसिक का हृदय-संवाद इस स्पन्द या चमत्कार की भूमि पर ही होता है। कवि और रसिक दोनों के संदर्भ में इस आनन्द शक्ति का आविष्कार काव्य तथा कलाओं की सौन्दर्य भूमि पर होता है। इस स्पन्द या चमत्कार के तारतम्य से ही सौन्दर्य के अनुभव तथा सौन्दर्य वस्तु का मूल्य निश्चित किया जाता है।

---

१ आनन्दः स्वातन्त्र्यम्। स्वात्मविश्रान्तिस्वभावाह्लादप्राधान्यात्।
डा० क्य० देश पाण्डे भारतीय साहित्य शास्त्रातील सौन्दर्य-कल्पना पृ० १७

२ आनन्दोच्छलिता शक्तिः सृजत्यात्मानमात्मना । वही पृष्ठ १७

३ तथा हि मधुरे गीते स्पर्शे वा चन्दनादिके
माध्यस्थ्यविगमे यासौ हृदये स्पन्दमानता
आनन्दशक्तिः सैवोक्ता यतः सहृदयो जनः । तन्त्रालोक ३।२१०

४ येषां न तन्मयीभूतिस्ते देहादिनिमज्जनम् ।
अविदन्तो भग्नसंविन्मानास्त्वहृदया इति ॥ वही ३।२४०

अभिनवगुप्त ने आनन्द की आठ कोटियाँ मानी है—प्रागानन्द, निजानन्द, निरानन्द, परानन्द, ब्रह्मानन्द, महानन्द, चिदानन्द और जगदानन्द। इनमे से चमत्कार की भूमिका वे प्रागानन्द को मानते है। आनन्द की इस भूमि पर पूर्णता का संस्पर्श होता है, पूर्णता मे प्रवेश करने की ओर आकर्षण होता है, किन्तु प्रवेश नही हो पाता। प्रागानन्द आनन्दमय विश्व का प्रवेश-द्वार है। काव्य का रसास्वादन करते समय रसिक भी इसी चमत्कार-भूमि पर आरूढ़ होता है। इस अवस्था में देहवध छूट जाने के कारण निर्विघ्न सविन्मय प्रतीति होती है। इसी प्रकार रसावेश के क्षणों मे सहृदय भी इसी चमत्कार-भूमि पर स्थित रह कर रसास्वाद करता है।[1]

यह बात ध्यान देने की हे कि अभिनवगुप्त जहाँ इस आनन्द को ब्रह्मानन्द और लौकिक आनन्द से भिन्न मानते है वहाँ इसे चिदानन्द से भी पृथक करते है, अर्थात वे उसे विशुद्ध चित् का आस्वाद नहीं मानते। रस के प्रसंग में दु:खरूपता या सुखरूपता का प्रश्न ही नही उठता। सुख और दु ख लौकिक अनुभूतियों के वाचक शब्द है। इसीलिए आचार्यो ने रस के संदर्भ में जहाँ उसे अलौकिक कहा है वहाँ उसके लिए आनन्द शब्द का प्रयोग किया हैं। यह आनन्द लौकिक दुःख से जितना भिन्न हे, उतना ही सुख से भी। रति की लौकिक अनुभूति और शृंगार-रस की अनुभूति से प्राप्त सुख और आनन्द के स्वरूप मे निश्चय ही भेद है। इसलिए जहाँ वे सुख और दुःख का प्रश्न उठाते है वहाँ सदर्भ सहृदय के स्थायी भावो का होता है, और संभवतः इसी दृष्टि से उन्होने निर्वेद के अतिरिक्त सभी स्थायी भावों के उभयात्मक स्वरूप का विवेचन किया है। किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि अभिनवगुप्त के मन में इस प्रश्न को लेकर द्वन्द्व अवश्य था। वे सुखात्मक स्थायी भावों के आधार पर निष्पन्न रसो मे सुख और दुःखात्मक से दुःख की अनुभूति स्वीकार नही करते। उन्होने यह स्पष्ट कहा है कि शोक भी संवित् की चर्वणा के कारण निर्विघ्न विश्रान्ति-रूप होने से आनन्द-रूप होता है, और इसी प्रकार अन्य सभी रस भी।[2] परन्तु उसी के साथ वे यह भी लगे हाथो कह देते है कि उपरंजक विपयो के कारण वीर रस के समान उनमे भी दु:ख का स्पर्श रहता है। क्योंकि वह क्लेश सहिष्णुतादि-प्रधान होता है। इस प्रकार रति आदि मे भी प्राधान्य होता हे।[3] एक ओर सभी रसों की आनन्दरूपता घोपित करते हुए भी आचार्य कदाचित् 'सर्वेऽमी सुखप्रधानाः' का साभिप्राय प्रयोग करते है। यहाँ 'सुख की प्रधानता' से तात्पर्य रस-विशेप मे सुख के मात्राधिक्य से होता है, दुःख के सर्वथा निपेध से नही। वे उसे ब्रह्मास्वाद का समकक्षी तो मानते है, शुद्ध आत्मास्वाद नही, साथ ही उसे 'चिदानन्द' से भिन्न 'प्रागानन्द' कह कर शुद्ध चित् का आस्वाद भी नही मानते। इसलिए वह विशुद्ध आनन्द-रूप भी नही है। यह आनन्द चिद्-विशिष्ट भाव का आस्वाद है। ब्रह्मास्वाद या विशुद्ध आत्मास्वाद सच्चिदानन्द रूप होता है। रस सत् इसलिए नही है कि

---

१ ग० त्र्यं० देशपाण्डे : भारतीय साहित्य शास्त्रांतील सौन्दर्य-कल्पना, पृ० ३६

२ एकघनशोकसंविच्चर्वणेऽपिलोके स्त्रीलोकस्य हृदयविश्रान्तिरन्तरायशून्यविश्रान्तिशरीरत्वात्…… इत्यानन्दरूपता सर्वरसानाम्। अभिनवभारती, भाग १, पृ० २८२

3 किन्तूपरंजकविषयवशात्तेषामपि कटु किं नास्ति। स्पर्शो वीरस्य। स हि क्लेशसहिष्णुतादिप्राण एव। एवं रत्यादीनां प्राधान्यम्। वही, पृ० २८२

वह नित्यानित्य है, चित् इसलिए नहीं कि वह चिद् विशिष्ट भाव है। अतएव उससे प्राप्त आनन्द भी विशुद्ध आत्मास्वाद नहीं है। वह चिद् विशिष्ट भाव का—संविद् का आस्वाद है, जिसमें भाव के स्वरूप के अनुसार दुःख का अंश मिश्रित रहता है।

प्रश्न उठता है कि भाव का यह अंश रसास्वाद के क्षणों में आनन्द-रूप कैसे हो जाता है? इसका उत्तर है कि दुःखात्मक स्थायी भाव भी आस्वाद-रूप या चर्वणा-रूप होकर सुखदायक हो जाते हैं। जीवन के प्रत्यक्ष दुःखात्मक अनुभव कला का विषय बन कर कैसे सुखदायक हो जाते हैं, इसके साम्य के लिए कवि कालिदास की निम्न पंक्तियाँ अप्रासंगिक न होंगी:

तयोर्यथाप्रार्थितमिन्द्रियार्थानासेदुषोः सद्मसु चित्रवत्सु।
प्राप्तानि दुःखान्यपि दण्डकेषु संचिन्त्यमानानि सुखान्यभूवन्॥[1]

वे दोनों उस भवन में इच्छानुसार विलास करते थे जिसमें वनवास के समय के चित्र टँगे हुए थे। उन चित्रों को देखकर वनवास के दुःखों का स्मरण करके भी उन्हें सुख ही मिलता था।

अतः अभिनवगुप्त ने भी यही स्वीकार कर लिया है कि स्थायी भावों का, जो सामान्यतः सुख-दुःखात्मक होते हैं, काव्य में अत्यन्त आह्लादकारी संविद् की चर्वणा या आत्मास्वाद के रूप में सहृदय द्वारा भोग किया जाता है।[2]

अभिनवगुप्त का यह मत परवर्ती आचार्यों में मम्मट, धनिक-धनंजय, पंडितराज आदि के द्वारा मान्य हुआ। पंडितराज जगन्नाथ ने रस की आनन्दरूपता के पक्ष में दो प्रमाण दिए: १. श्रुतिस्मृति, तथा २. सहृदय प्रत्यक्ष।[3] वेद-वाक्य को तर्कातीत रूप में ग्रहण कर प्रत्यक्ष को प्रमाण मानते हुए उन्होंने तर्क दिया कि यदि सहृदयानुभूति इस बात का प्रमाण है कि करुण रस प्रधान काव्यों से भी केवल सुख ही प्राप्त होता है, तब कार्य के अनुरोध से कारण की कल्पना करते हुए यह भी मान लेना चाहिए कि जिस प्रकार काव्य का लोकोत्तर व्यापार आह्लाद जनक होता है, उसी प्रकार दुःख-प्रतिबंधक भी।[4]

दुःख में सुख की उपलब्धि कैसे होती है इसकी व्याख्या करते हुए पंडितराज ने इसी को अलौकिक काव्य-व्यापार की महिमा कहा है जिसके द्वारा ज्ञान किए गए अरमणीय शोक आदि पदार्थ भी अलौकिक आनन्द उत्पन्न करने लगते हैं।[5] कहना न होगा कि यह अलौकिक व्यापार व्यंजना व्यापार है।

---

[1] रघुवंश, १४।२५

[2] विलक्षणाकारसुखदुःखादिविचित्रवासनानुवेधोपनतहृद्यतातिशयसंविच्चर्वणात्मना भुज्यते। अभिनवभारती, भाग १, पृ० २९०

[3] 'रसो वै सः', 'रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दीभवति'
इत्यादिश्रुति, सकलसहृदयप्रत्यक्षं चेति प्रमाणद्वयम्। रसगंगाधर, प्रथम आनन, पृ० ६१

[4] सत्यम्, शृंगारप्रधानकाव्येभ्य इव, करुणप्रधानकाव्येभ्योऽपि यदि केवलाह्लाद एव सहृदय-हृदयप्रमाणक, तदा कार्यानुरोधेन कारणस्य कल्पनीय काव्यलोकोत्तरव्यापारस्यैवाह्लादप्रयो-जकत्वमिव, दुःखप्रतिबन्धकत्वमपि कल्पनीयम्। वही, पृ० १०६

[5] अयं हि लोकोत्तरस्य काव्यव्यापारस्य महिमा, यत्प्रयोज्या अरमणीया अपि शोकादयः पदार्था आह्लादमलौकिकं जनयन्ति। वही, पृ० १०६

सौन्दर्यानुभूति का स्वरूप

सौन्दर्यानुभूति की अवधारणा

पाश्चात्य चिन्तन में कलास्पद के लिए 'सौन्दर्यानुभूति' संज्ञा प्रचलित है। जिन विचारकों ने 'सौन्दर्यानुभूति' संज्ञा का सूत्रपात किया है उनका यह विश्वास रहा है कि सौन्दर्यशास्त्र की आधारभूत सामग्री कलाकृति नहीं बल्कि एक विशेष प्रकार के अनुभव है जो समस्त प्रकार की कलाकृतियों के साथ विशेष रूप से संबद्ध तो है, किन्तु जो अनिवार्यत. उनकी प्रतिग्राह्यता से उत्पन्न नहीं है। उदाहरण के लिए क्लाइव बेल का यह कथन : "सौन्दर्यशास्त्र की समस्त प्रणालियों का आरंभ-बिन्दु एक विलक्षण संवेग का वैयक्तिक अनुभव होना चाहिए। इस संवेग को जो वस्तुएँ उद्दीप्त करती है उन्हे हम कलाकृति कहते है।"[1] किन्तु यह सौन्दर्यानुभूति कलाकृति पर इतनी निर्भर है कि अनेक विचारकों को इसे सौन्दर्यशास्त्र का आरंभ-बिन्दु मानने में आपत्ति है, यहाँ तक कि कुछ विद्वान इसकी सत्ता में भी संदेह करते हैं।[2] संभवतः इसी आशंका का उत्तर देते हुए कैरिट ने लिखा है कि "आत्मचिन्तन के द्वारा किसी अनुभव की कलात्मक प्रकृति के प्रमाणित हो जाने के बाद भी उस अनुभव को कलात्मक मानने से इन्कार करने का अर्थ है उस सामग्री की उपेक्षा करना जिसके आधार पर वह सिद्धान्त स्थापित है।"[3] किन्तु कठिनाई यह है कि ऐसी वस्तु आत्मचिन्तन के द्वारा प्रमाणित कैसे हो सकती है ? यदि कोई यह कहना चाहता है कि सौन्दर्यानुभूति का अस्तित्व होना ही चाहिए क्योंकि उसके बिना सौन्दर्यशास्त्र एक डग आगे नहीं बढ़ सकता तो इसे कोरा आग्रह ही माना जाएगा। यदि कलात्मक अनुभूति की कलात्मकता किसी कृति के कलात्मक होने पर ही निर्भर है तो 'कलात्मक अनुभूति' से कला-चिन्तन को आरंभ करना कठिन है।

इसके अतिरिक्त 'अनुभव' शब्द भी निरापद नहीं है। अनुभव से सामान्यतः वह समझा जाता है जो कुछ किसी व्यक्ति के अन्दर घटित होता है। कलात्मक अनुभव केवल किसी चित्र का दिखलाया जाना ही नही है बल्कि अनुमानतः वह कुछ ऐसा है जो किसी कलाकृति का साक्षात्कार होने पर हमारे अंदर विशेष रूप से घटित होता है। किन्तु इससे भी यह स्पष्ट नही होता कि अंदर जो कुछ घटित होता है उसका कितना अंश इस 'कलात्मक अनुभव' में विद्यमान रहता है। यहाँ पर्याय-रूप में प्रायः 'संवेग' शब्द का प्रयोग किया जाता है। किन्तु 'संवेग' शब्द भी कम अस्पष्ट नहीं है। इसके विपरीत यदि सौन्दर्यानुभूति को सौन्दर्य-दर्शन से उत्पन्न होनेवाले रोमांच या कंपन का वाचक मान लें तो उसका महत्त्व ही घट जाएगा।

एक कठिनाई यह भी है कि सौन्दर्यानुभूति सदैव समान नहीं होती। विभिन्न कृतियाँ विभिन्न अनुभूतियो को जन्म देती है, फिर भी कुल मिला कर उनमें इतनी समानता

---

१ आर्ट, पृ० ६

२ एफ़० ई० स्पार्शाट : द स्ट्रक्चर ऑफ़ एस्थेटिक्स, पृ० २६४

3 इंट्रोडक्शन टू एस्थेटिक्स, पृ० १६

होती ही है कि उनके लिए सामूहिक रूप में एक सौन्दर्यात्मक शब्द का प्रयोग किया जा सके। किन्तु इसके अन्तर्गत ग्राहक के साथ ही रचनाकार के भी अनुभवों को सम्मिलित करना होगा क्योंकि किसी कलाकृति का पहला ग्राहक प्रायः कवि होता है। जैसा कि डॉ० आई० ए० रिचड्स ने कहा है "किसी कविता को परिभाषित करने का एकमात्र व्यावहारिक ढंग यही है कि अनुभवों के उस वर्ग को आधार बनाया जाए जो एक निश्चित मात्रा से अधिक किसी पात्र में भेद स्वीकार नहीं करता और प्रत्येक पात्र में थोड़ा बहुत परिवर्तित होते हुए भी एक परिनिष्ठित अनुभव से भिन्न नहीं होता। हम इस परिनिष्ठित अनुभव को स्वयं कवि के उस प्रासंगिक अनुभव के रूप में स्वीकार कर सकते हैं जिसे वह अपनी रचना के पूर्ण होने पर अनुचिन्तन के द्वारा प्राप्त करता है।"[1] किंचित् अस्पष्टता के बावजूद यह कथन इस दिशा की ओर संकेत करता है कि सौन्दर्यशास्त्र का एक बहुत बड़ा भाग सृजन और ग्रहण के कार्यों को बोधगम्य रूप से परस्पर संबद्ध करने का प्रयास है। इस प्रकार प्रो० स्टुअर्ट हैम्पशायर के शब्दों में "सौन्दर्यानुभूति किसी भी कलाकृति के आस्वाद का अनिवार्य अंग है किन्तु वह संपूर्ण आस्वाद नहीं है।"[2]

एलीसिओ वाइवास के अनुसार सौन्दर्यानुभूति एक प्रतिमानपरक निर्मिति है इसलिए अपने सर्वोत्तम रूप में वह एक आदर्श लक्ष्य है जिस तक सभी ग्राहक पहुँचने का प्रयास करते हैं किन्तु जहाँ तक संभवतः या तो वे सभी नहीं पहुँचते या फिर कभी-कभी ही पहुँच पाते हैं। फिर भी वाइवास के विचार में हमें इस प्रतिमान की आवश्यकता है ताकि हम जीवन के अन्य अनुभवों से विशिष्ट रूप में कला का समाधान का प्रयास करते समय यह जान सकें कि हम किस विषय के बारे में बात कर रहे हैं।

किन्तु किसी कलाकृति से शुद्ध सौन्दर्यानुभूति प्राप्त करने के लिए एक विशेष प्रकार की सतर्कता अपेक्षित है। कलाकृति में निहित एवं उसके माध्यम से आवाहित होनेवाले अर्थ और मूल्य शीघ्र ही पूर्व प्रतिष्ठित संस्कृति के अन्तर्गत संस्कारबद्ध हो जाते हैं और इस प्रकार प्रत्येक कलाकृति अपनी सृष्टि के उपरान्त संस्कृतिगत अर्थों एवं मूल्यों का अंग हो जाता है। इसलिए उसकी सौन्दर्यानुभूति का ग्रहण कभी भी शुद्ध नहीं होता। अस्तु कलाकृति के उस रूप में जो सौन्दर्यानुभूति की अवधि में ग्राह्य होता है और उस रूप में जो परोक्ष रूप से संस्कृति को समृद्ध करता है अंतर करना अत्यन्त आवश्यक होता है। वाइवास के अनुसार सफल सौन्दर्यानुभूति के लिए कलाकृति के इस शुद्ध और निरपेक्ष रूप का पृथक्करण आवश्यक है। जब इतर अनुषंगों से मुक्त होकर कलाकृति स्वतन्त्र्योपेत रूप में ग्राहक के सम्मुख उपस्थित होती है तभी वह अकर्मक अवधान (इन्ट्रांजिटिव अटेंशन) का विषय होती है।[3]

सौन्दर्यानुभूति की प्रमाण मीमांसा

सौन्दर्यानुभूति का स्वरूप क्या है? इस प्रश्न का उत्तर देने से पहले यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि सौन्दर्यानुभूति को जानने का साधन क्या है? यदि हम अपने अनुभव

---

[1] प्रिंसिपल्ज आफ लिटररी क्रिटिसिज्म, पृ० २२६ २७
[2] थाट एण्ड ऐक्शन, पृ० २४४
[3] क्रिएशन एण्ड डिस्कवरी, भूमिका, पृ० १०

के आधार पर किसी कलाकृति के कलात्मक प्रभाव का विवरण प्रस्तुत करते हैं तो उसकी प्रामाणिकता क्या है ? इसी प्रकार यदि हम दूसरे ग्राहकों के कलात्मक अनुभवों के आधार पर सौन्दर्यानुभूति का स्वरूप निरूपित करते हैं तो भी इस प्रश्न का उत्तर देना पड़ेगा कि उन परकीय अनुभवों को जानने का साधन या विधि क्या है ? दूसरे शब्दों में सौन्दर्यानुभूति की तत्त्व-मीमांसा उसकी प्रमाण-मीमांसा से अविच्छिन्न रूप से जुड़ी हुई है।

सौन्दर्यशास्त्र में इन प्रश्नों पर दो दृष्टियों से विचार किया गया है। एक दृष्टि दार्शनिक सौन्दर्यशास्त्र की है जिसके अनुसार कलाकृतियों के ग्रहण-आस्वादन का कार्य अत्यंत प्राचीन काल से होता आ रहा है इसलिए सौन्दर्यानुभूति-विषयक तथ्यों या सूचनाओं की कमी नहीं है। यदि इस विषय में कुछ उलझन या अस्पष्टता है, तो इसलिए नहीं कि सौन्दर्यानुभूति के बारे में हमारी जानकारी कम है, बल्कि इसलिए कि कलाकृति संबंधी वार्ता और कलाकृति की वार्ता संबंधी वार्ता के बीच इतना परस्पर विरोधी साहित्य एकत्र हो गया है कि धैर्यपूर्वक उसके तार्किक विश्लेषण की अत्यंत आवश्यकता है। इस वर्ग के विचारकों के अनुसार सौन्दर्यानुभूति का प्रश्न नितान्त 'दार्शनिक' अथवा 'तार्किक' है और इसी विधि से उसका समाधान पाया जा सकता है। यदि विटगेन्स्टाइन से एक रूपक उधार लेकर कहें तो "सौन्दर्यानुभूति का विषय एक ऐसा प्राचीन शहर है जिसकी गलियाँ तंग और चक्करदार हैं लेकिन हम उन्हें अच्छी तरह जानते हैं; फिर भी यदि कोई दूसरा आदमी अपनी जानकारी के लिए हमसे उनका नक्शा बना देने या वर्णन करने के लिए कहे तो हम अक्सर उलझन में पड़ जाते हैं।" इसलिए दार्शनिक सौन्दर्यशास्त्रियों के अनुसार सौन्दर्यानुभूति का प्रश्न अवधारणाओं एवं परिभाषाओं के 'स्पष्टीकरण' से सुबोध बनाया जा सकता है।

इसके विपरीत दूसरी दृष्टि मनोवैज्ञानिक सौन्दर्यशास्त्र की है, जिसके अनुसार सौन्दर्यानुभूति का प्रश्न अनुभवक्षेत्रीय है, अथच मनोवैज्ञानिक है। मनोवैज्ञानिक सौन्दर्य-शास्त्रियों की धारणा है कि विभिन्न कलाकृतियों के संदर्भ में अनेक ग्राहकों की कलात्मक प्रतिक्रियाओं की निश्चित जानकारी के बिना सौन्दर्यानुभूति का स्वरूप-निरूपण कोरा कल्पनाविलास या शुद्ध अनुमान मात्र है। जिस प्रकार प्रायोगिक मनोविज्ञान की सहायता से विभिन्न प्राणियों एवं व्यक्तियों के 'व्यवहारों' एवं 'आचरणों' का ठोस अध्ययन करके निष्कर्ष निकाला जाता है, उसी प्रकार विभिन्न ग्राहकों की कलात्मक प्रतिक्रियाओं के अध्ययन से प्राप्त तथ्यों के आधार पर सौन्दर्यानुभूति के सामान्य रूप का निश्चय किया जा सकता है। इस धारणा के अनुसार कुछ मनोवैज्ञानिकों ने प्रयोग भी किए हैं। फ़ेचनर[१] ने अपने प्रयोगों का विवरण 'कला का मनोविज्ञान' तथा 'मनोवैज्ञानिक सौन्दर्यशास्त्र' नाम से प्रकाशित किया; और एडवर्ड बुलो[२] ने 'सौन्दर्यशास्त्र और मनोविज्ञान का संबंध' शीर्षक शोध-निबंध के अंतर्गत अपने प्रयोगों का विवरण प्रस्तुत किया है।

इन कार्यों की उपलब्धि और सीमा पर विचार करते हुए मनरो बियर्ड्स्ले ने लिखा

---

१ Vorschule der Aesthetik, 1876

२ 'द रिलेशन ऑफ़ एस्थेटिक्स टु साइकॉलोजी', ब्रिटिश जर्नल ऑफ़ साइकॉलोजी, भाग १०

है कि "सौन्दर्यानुभूति का प्रश्न निश्चय ही अनुभवगम्य है, इसलिए प्रयोग-परीक्षण की अपेक्षा रखता है, इस दिशा में कुछ प्रयोग किए भी गए हैं किन्तु अब भी सौन्दर्यानुभूति विषयक बहुत-सी बातें रहस्यपूर्ण ही बनी हुई हैं। फिर भी कुछ लेखकों के गहन आत्म निरीक्षण से ऐसे सामान्य निष्कर्ष तो उपलब्ध हैं ही जिनके बारे में हम पर्याप्त आश्वस्त हो सकते हैं और हममें से यदि कोई चाहे तो स्वयं अपने अनुभव से उनकी परीक्षा भी कर सकता है।"[1]

परन्तु विवड्स्ले के इस आश्वासन की दुर्बलता तत्काल ही इस तथ्य से उद्घाटित हो जाती है कि उनके छः सौ पृष्ठोंवाले विशाल ग्रंथ में सौन्दर्यानुभूति को केवल चार पृष्ठ प्राप्त हो सके हैं। यदि प्रायोगिक मनोविज्ञान से प्राप्त तथ्य सौन्दर्यानुभूति के स्वरूप के बारे में निश्चित रूप से नई जानकारी देने में समर्थ हैं, तो लेखक ने स्वयं उनका उपयोग करना आवश्यक क्यों नहीं समझा?

कदाचित् इसी असंगति को देखते हुए जार्ज डिकी ने 'मनोवैज्ञानिक सौन्दर्यशास्त्र' के लम्बे चौड़े दावे की निस्सारता सिद्ध करते हुए स्थापित किया है कि सौन्दर्यानुभूति मनोविज्ञान का विषय नहीं, बल्कि कलाशास्त्र का विषय है और सौन्दर्यानुभूति की जिन विशेषताओं को मनोविज्ञानवेत्ता मनोवैज्ञानिक शब्दावली में निरूपित करते हैं उन्हें बिना किसी कठिनाई के परंपरा प्राप्त कलाशास्त्रीय नियमों एवं संज्ञाओं के द्वारा व्यक्त किया जा सकता है। उदाहरण के लिए एडवर्ड बुलो का 'मानसिक अंतराल' का सुप्रसिद्ध सिद्धान्त लिया जा सकता है। जार्ज डिकी के अनुसार, कलावस्तु के ग्रहण अथवा आस्वाद में मानसिक दूरी जैसी कोई मनोवैज्ञानिक घटना घटित नहीं होती, क्योंकि मनोविज्ञान में ऐसी कोई मानसिक दशा नहीं है जिससे किसी को गुजरना पड़े। डिकी के विचार से जब दर्शक कलावस्तु को अपने से दूर रखता है तो कला के एक नियम का निर्वाह मात्र करता है और वह नियम बहुत सीधा है "देखो, सुनो और जो भी करो किन्तु कलाकृति में भाग लेने का प्रयास न करो।" इस नियम में निहित मांग यह है कि कलाकृति अपने-आप में पूर्ण रहे। यदि कलाकृति स्वतःपूर्ण है तो दर्शक का किसी नृत्य या नाटक में स्वयं भाग लेकर उसे पूर्णतर करने का प्रयास या तो व्यर्थ है, या हानिकर। इसी तरह किसी चित्र में स्वयं दर्शक का अपनी ओर से कुछ जोड़ना भी अनावश्यक है। वस्तुतः दूरी और अनासक्ति जैसे शब्द एक अतिरिक्त कठिनाई यह भी उत्पन्न करते हैं कि कोई ग्राहक कलाकृति में एक ही साथ आसक्त और अनासक्त दोनों कैसे हो सकता है? इसलिए ऐसा नहीं है कि हम कलाकृति से निस्संग या अपसृत होते हैं, बल्कि कला के स्वयं अपने नियमों के द्वारा हम उससे वारित होते हैं। इसी दृष्टि से कलाकृति के समुचित ग्रहण के लिए चित्र एक निश्चित दूरी पर रखे जाते हैं और नाटक का रंगमंच दर्शकों से एक निश्चित दूरी और ऊँचाई पर निर्मित होता है। इस प्रकार एडवर्ड बुलो मनोवैज्ञानिक भाषा में जिसे 'मानसिक अन्तराल' कहते हैं, वह सौन्दर्यशास्त्र की भाषा में सौन्दर्यशास्त्रीय वारण है। इस प्रकार मनोवैज्ञानिक शब्दावली सौन्दर्यानुभूति के लिए अनावश्यक ही नहीं, भ्रामक और हानिकर भी है।[2]

---

[1] एस्थेटिक्स, पृ० ५२७

[2] जॉर्ज डिकी 'इज साइकॉलोजी रेलिवेंट टु एस्थेटिक्स', द फिलॉसफिकल रिव्यू, जुलाई १९६२

सौन्दर्यानुभूति : सामान्य और विशिष्ट

जिस प्रकार सभी कलाओं में निहित कतिपय सामान्य तत्त्वों के आधार पर 'सौन्दर्य' नामक एक चरम तत्त्व का वर्णन किया जाता है, उसी प्रकार कलाओं की ग्रहणशीलता पर विचार करते हुए सौन्दर्यानुभूति का विवेचन भी एक चरम इकाई के रूप में होता है। इस प्रकार सौन्दर्यानुभूति को भी एक अखंड अविभाज्य परम सत्ता का रूप प्राप्त हो चला है। यदि एक ओर क्रोचे ने सभी कलाओं को एक अखड अभिव्यंजना के रूप में प्रतिष्ठित करके कला-जगत में किसी भी प्रकार के वर्गीकरण के प्रयास के लिए द्वार बंद कर दिया, तो दूसरी ओर ड्यूई भी सभी कलाओं मे निहित एक सामान्य तत्त्व पर बल देते हुए यही कहते हैं कि "कुछ ऐसी सामान्य स्थितियाँ हैं जिनके बिना वह अनुभव संभव नही है।"[1]

दार्शनिक सौन्दर्यशास्त्र के इस ऊहापोह के समानान्तर प्रायोगिक सौन्दर्यशास्त्र के क्षेत्र में भी एक ऐसी सामान्य सौन्दर्यानुभूति को प्रतिष्ठित करने के वैज्ञानिक प्रयास हुए है। हार्वर्ड विश्वविद्यालय के गणितज्ञ प्रो० जी० डी० बिर्कोफ ने 'सौन्दर्यशास्त्रीय मानक' (एस्थेटिक मेजर) नामक ग्रंथ में एक संगीतात्मक गुण के आधार पर सभी कलाओं में प्राप्त सामान्य विशेपता को गणितीय समीकरणों में निबद्ध करने का प्रयास किया है। परन्तु इस 'मानक' के द्वारा उन्होने एडगर एलेन पो की कविताओ को जो ऊँचा स्थान दिया है उससे इस पद्धति की सीमा स्पष्ट हो जाती है। ऐसे सौन्दर्यशास्त्रीय मानक से किसी साहित्यिक कृति की वह कलात्मक विशेषता जो अन्य कलाओं से मिलती-जुलती है, भले ही उद्घाटित हो जाए किन्तु वह 'साहित्यिक' विशेषता, जिसके कारण कोई कृति अपना विशिष्ट मूल्य रखती है, अलक्षित ही रह जाती है। स्पष्ट है कि सौन्दर्यानुभूति का यह मानक अपर्याप्त है, साथ ही सौन्दर्यानुभूति का परिचय देने की यह सामान्योमुखी प्रवृत्ति भी विशेप उपयोगी नही है।

निःसंदेह संपूर्ण कलात्मक सृजन-व्यापार की तरह उसके भावन एवं ग्रहण में भी एक सामान्य वाचक तत्त्व होता है, किन्तु केवल वही तक रुक जाने से आस्वाद एवं मूल्यांकन संबंधी चिन्तन का विकास अवरुद्ध हो जाएगा। हम अपने व्यावहारिक अनुभव से भी जानते है कि सभी कलाओं का प्रभाव एक-सा नही पडता। उदाहरण के लिए एक ही कलाकार विलियम ब्लेक की कविताएँ मन पर वही प्रभाव नही डालती, जो प्रभाव उनके चित्र डालते हैं। इसी तरह सुप्रसिद्ध कलाकार माइकेल एंजेलो द्वारा निर्मित मूर्तियाँ एवं चित्र उनके सॉनेटों से सर्वथा भिन्न प्रभाव छोड़ते है। इसलिए सौन्दर्यशास्त्रियो तथा साहित्यशास्त्रियों के बीच क्रमशः अब यह धारणा हो चली है कि माध्यम-भेद से कलाओ की सौन्दर्यानुभूति मे भी भेद होता है। लगभग एक ही विषय की कविता और चित्रकला के कलात्मक प्रभावो का अनुभवपरक विश्लेषण किया जाए तो कदाचित यही निष्कर्ष निकलेगा कि दोनो की सौन्दर्यानुभूति पर्याप्त भिन्न है।

वस्तुतः कला का 'माध्यम' एक शिल्पगत बाधा-मात्र नही है, जिस पर विजय प्राप्त करके ही कोई कलाकार अपने व्यक्तित्व की अभीष्ट अभिव्यक्ति कर सके; कला-माध्यम

---

[1] आर्ट एज़ एक्सपीरिएन्स, पृ० २१२

परपरा प्रत्न एक ऐसा पूर्वस्थित तत्व है जो कलाकार की आत्माभिव्यक्ति को नियंत्रित मर्यादित एवं रूपान्तरित करने की क्रिया म महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करता है। किसी कलाकार के मानस म कलाकृति सामान्य मनोवेगो के रूप म नही बल्कि मूल सामग्रियो के रूप म जन्म लेता है और यह तो स्पष्ट ही है कि उस मूल माध्यम का अपना विशिष्ट इतिहास होता है जो प्राय अन्य माध्यमो से पर्याप्त भिन्न होता है।[१]

सौन्दर्यानुभूति यदि कोई अस्पष्ट वायवी प्रभाव मात्र नही है बल्कि कलाकृति विशेष से दृढतापूर्वक सबद्ध एव निश्चित कलात्मक प्रभाव है तो प्रत्येक कला प्रकार का ही नही बल्कि प्रत्येक कलाकृति द्वारा निष्पन्न सौन्दर्यानुभूति का स्वरूप भी विशिष्ट होना चाहिए। जैसा कि प्रो० रने वेलेक[२] ने कहा है—किसी सगीत म प्राप्त आनन्द कोई सामान्य आनन्द या कुछ विशिष्टतायुक्त आनन्द नही होता बल्कि उस सगीत रचना के राग-बध से भली भाति सबद्ध एव अनुवर्ती सवेग विशेष होता है। इसलिए यदि किसी ग्राहक के चित्त म स्थित सभी कलाओ के समानान्तर प्रभावो के बीच सवेगात्मक समानता निरूपित करने का प्रयास किया भी जाए तो उसकी जाच-पडताल असभव है और इस प्रकार हमारे सौन्दर्यानुभूति सर्वथा ज्ञान म कोई वृद्धि भी नही हो सकती।

इसी दृष्टि से कुछ विचारको ने सौन्दर्यानुभूति की एक प्रमुख विशेषता के द्योतक शब्द अनुचिन्तन या कण्टम्प्लेशन को भ्रमात्मक मान कर त्याग देने का प्रस्ताव किया है। इस सन्दर्भ म हेनरी डि एकेन[३] ने कहा है कि किसी मूर्ति या चित्र के ध्यान करने की बात की जाए तो स्वाभाविक है किन्तु यदि कोई किसी उपन्यास या महाकाव्य का ध्यान करने की बात कहे तो अटपटा लगता है। स्पष्ट है कि उपन्यास या महाकाव्य पढा जाता है जबकि मूर्ति और चित्र देखे जाते हैं और ग्रहण की ये दोनो क्रियाए इतनी भिन्न हैं कि एक ही शब्द ध्यान के द्वारा इन दोनो की कलात्मक अनुभव घोषित करना भ्रामक है।

निष्कर्ष यह कि कलाओ म प्राप्त होनेवाली अनुभूति के लिए पश्चिम म प्रचलित सौन्दर्यानुभूति (एस्थेटिक एक्सपीरिएस) सज्ञा की उपयुक्तता विवादास्पद है। आधुनिक विचारक इस सज्ञा को पूर्ववर्ती प्रत्ययवादी चिन्तन का अवशेष मान कर आज के वैज्ञानिक अनुसधानो के आलोक म त्याज्य समझते हैं। इसलिए आधुनिक सौन्दर्यशास्त्र म एस्थेटिक एक्सपीरिएस के स्थान पर प्राय एस्थेटिक एटीट्यूड' शब्द का प्रयोग किया जाता है। फिर भी जैसा कि प्रो० वर्जिल सी० एल्ड्रिच ने हाल ही मे प्रकाशित बैक टु एस्थेटिक एक्सपीरिएस[४] शीर्षक निबंध म कहा है प्राचीन एव अपर्याप्त होते हुए भी एस्थेटिक एक्सपीरिएस नामक सौन्दर्यशास्त्रीय सज्ञा परपरा के द्वारा इतना अर्थ-सस्कार प्राप्त कर चुकी है कि आज भी उपयोगी प्रमाणित हो सकती है। अत यह त्याज्य नही है।

---

१ रेने वेलेक एण्ड आस्टिन वारेन थ्योरी आफ लिटरेचर पृ० १२६

२ वही पृ० १२८

३ 'सम नोटस कनसर्निंग द एस्थेटिक एण्ड द काग्निटिव' द जर्नल आफ एस्थेटिक्स एण्ड आर्ट क्रिटिसिज्म जिल्द १३ न० २ १९५५

४ द जर्नल आफ एस्थेटिक्स एण्ड आर्ट क्रिटिसिज्म जिल्द २४ अक ३ १९६६

सौन्दर्यानुभूति और सामान्य अनुभव

सौन्दर्यानुभूति के स्वरूप-निर्धारण की दिशा में जो प्रश्न सबसे पहले उठाया गया है, वह यह है कि सामान्य जीवन-अनुभव से सौन्दर्यानुभूति कितनी भिन्न अथवा अभिन्न है। इस प्रश्न को महत्त्व कदाचित् इसलिए अधिक मिला कि कला को लोक से विच्छिन्न या सर्वथा असंपृक्त करके देखनेवाले मनीषियों ने जब इस अनुभव को भी सर्वथा विलक्षण, लोक-भिन्न, स्वतःपूर्ण स्वीकार किया, तो जीवन के लिए कला की उपयोगिता संदेहास्पद हो गई। परिणामतः मनोविज्ञान का आधार लेकर प्रकृतवादी चिन्तकों ने जीवन से कला का संबंध स्थापित करते हुए कलानुभूति को जीवनानुभूति का अंग सिद्ध करने का प्रयत्न किया। इस आग्रह के कारण कालान्तर में उनका मत आलोचना का विषय बना और इस प्रकार यह चिन्तन-क्रम सतत वर्द्धमान रहा। इस प्रकार पाश्चात्य सौन्दर्यशास्त्र में सौन्दर्यानुभूति और जीवनानुभूति के पारस्परिक संबंध पर दो चिन्तन-परंपराएँ प्राप्त होती है: रूपवादी और प्रकृतवादी। रूपवादी परंपरा के समर्थ प्रतिष्ठापक काण्ट है और प्रकृतवादी परंपरा के जॉन ड्यूई।

रूपवादी व्याख्या : काण्ट

कलानुभूति को प्रत्यक्ष जीवनानुभूति से सर्वथा विलक्षण और असंपृक्त माननेवाले मनीषियों में पहला उल्लेखनीय मत काण्ट का है। काण्ट को पश्चिम में रूपवादी चिन्ताधारा का जनक स्वीकार किया जाता है। उनका सौन्दर्य-सिद्धान्त सुन्दर वस्तुओं के अनुभवपरक अध्ययन की उपज नहीं है। काण्ट का रूपवाद उनकी दो मान्यताओं का सहज प्रतिफलन है: १. सौन्दर्य की प्रयोजनहीन प्रयोजनीयता (परपजिवनेस विदाउट पर्पज) के रूप में व्याख्या, और २. मुक्त अथवा शुद्ध सौन्दर्य तथा आश्रित या अनुबद्ध सौन्दर्य में भेद-निरूपण। 'प्रयोजनहीन प्रयोजनीयता' में भासित होनेवाले विरोध को काण्ट ने इस प्रकार समझाया कि सौन्दर्य किसी वस्तु में प्रयोजनीयता का वह 'रूप' विशेष है जो किसी अन्य प्रयोजन के उपस्थापन से भिन्न रूप में ग्रहण किया जाए।[१] कला निष्प्रयोजन इस अर्थ में होती है कि किसी फूल या प्रकृति-चित्र का प्रयोजन अपने सौन्दर्य का आस्वादन कराना भी नहीं होता और सप्रयोजन इस अर्थ में कि वह अपने रूप-गुण से कल्पना और बोध के मध्य एक प्रकार का निर्बंध सामरस्य स्थापित करती है जिसके अंतर्गत कल्पना के द्वारा ऐन्द्रिय संवेदन संश्लिष्ट होते है और बोध के द्वारा ज्ञान व्यवस्थित होता है। सौन्दर्य उक्त सामरस्य की सिद्धि केवल अपने रूप के माध्यम से करता है। इसलिए "आस्वाद के स्वरूप-निर्णय का एकमात्र और मूल आधार वस्तु का रूप होता है।"[२]

सौन्दर्यानुभूति के निमित्त कला में विषयवस्तु को वे सर्वथा अप्रासंगिक मानते थे, और इस प्रकार काण्ट ने विषयवस्तु और रूपाकार के मध्य—जो सृजन और आस्वाद दोनों

---

१ The form of purposiveness in an object so far as it is perceived apart from the presentation of a purpose. *Critique of Judgment*.

२ The sole foundation of the judgment of Taste is the Form of Finality of an object. *Ibid.*, p. 62.

दृष्टियो से एक अविभाज्य इकाई है—एक भारी उलझन खड़ी कर दी। सौन्दर्यानुभूति की दृष्टि से एक ओर सुन्दर वस्तुओं में निहित ऐन्द्रिय आकर्षण महत्त्वहीन हो जाता है और दूसरी ओर उद्देश्य और प्रयोजन। महत्त्व होता है तो केवल रूपाकार और संघटना का।

काण्ट ने काव्यानुभूति की भावना के धरातल से भिन्न कल्पना और बोध-वृत्ति के मध्य समरसता के रूप में स्वीकार किया जिसका आधार कलाकृति का रूप विधान मात्र स्वीकार होता है, उसका विषय या कथ्य नहीं।

उपर्युक्त सिद्धान्त की परिसीमा स्पष्ट है। क्या किसी कलाकृति के रूप मात्र को उसके विषय—अन्तर्वस्तु से पृथक् करके देखा जा सकता है? कविता के क्षेत्र में यह विभाजन और भी दुष्कर है। वस्तु और रूप परस्पर इस प्रकार अनुविद्ध रहते हैं कि काव्य एक संघटित इकाई के रूप में भावन का विषय होता है। ऐसी स्थिति में रूप को विषय से अलग करके देखना सौन्दर्यानुभूति की समृद्धि और सघनता का अपहरण करना है। काण्ट ने संभवतः स्वयं अनुभव कर लिया होगा कि उनकी परिभाषा व्यवहार में अत्यन्त संकुचित है। अतः उन्होंने सौन्दर्य के दो वर्ग करके उनमें भेद किया—१ मुक्त या शुद्ध सौन्दर्य, जिसकी अभिव्यक्ति के संबंध में वस्तु की अवधारणा नहीं होती, २ आश्रित या अनुबद्ध सौन्दर्य जिसमें वस्तु ही नहीं बल्कि वस्तु के आदर्श रूप की भी अवधारणा होती है।

काण्ट के इस सिद्धान्त को स्वीकार करने से सौन्दर्यानुभूति से भाव-तत्त्व का पूर्णतः बहिष्कार हो जाता है और वह मात्र रूपवाद तक परिसीमित रह जाती है। किन्तु वे काव्य से बौद्धिक तत्त्व का निषेध करते हैं। उनके अनुसार काव्यगत सौन्दर्य अनुबद्ध सौन्दर्य होते हुए भी श्रेष्ठ इसलिए है कि वह आध्यात्मिक दृष्टि से सौन्दर्य के शुद्ध रूपों से अधिक समृद्ध होता है। वह सौन्दर्य संबंधी विचारों को मूर्त रूप देता है और सौन्दर्य संबंधी विचारों से काण्ट का तात्पर्य मस्तिष्क में वर्तमान उन बौद्धिक आवेगों से है जिनकी सही अभिव्यक्ति शब्द के माध्यम से असंभव है। मनोवेग और आकर्षण आस्वाद को दूषित करते हैं और सौन्दर्यानुभूति की दृष्टि से पूर्णतः अप्रासंगिक हैं, ऐसा उन्होंने अत्यन्त स्पष्ट और दृढ़ शब्दों में कहा है।

काण्ट ने सौन्दर्यानुभूति की चर्चा न की हो ऐसा नहीं है। किन्तु उनके अनुसार यह भावना केवल आनन्द (प्लेजर) है जो कलाकृति के आस्वादन के क्षणों में भावक की मनःस्थिति की द्योतक है। परन्तु भाव और अध्यात्म की दृष्टि से किसी समृद्ध कविता को पढ़ते समय पाठक के मन में होनेवाली भाव-शबलता से इसका कोई संबंध नहीं। काव्यास्वाद की भावात्मकता का निषेध कैसे किया जा सकता है? कला और काव्य का भावन अनुभूति के धरातल से सर्वथा असम्पृक्त या भिन्न भूमि पर कैसे हो सकता है? सौन्दर्यशास्त्र की जटिल समस्या तो इस आस्वाद के स्वरूप निर्धारण और व्याख्या की ही है। प्रश्न यह है कि इसे लौकिक अनुभवों का रूप या उनसे अभिन्न माना जाए अथवा लोक भिन्न और यदि यह अनुभव लोक भिन्न है तो इसकी स्वरूप व्याख्या किस रूप में की जाए?

काण्ट ने एक अतिवाद का विरोध दूसरे अतिवाद से किया। पश्चिमी चिन्ताधारा में क्रमशः भावुकतावाद एक ऐसा रूप धारण कर रहा था जिसमें सौन्दर्य को उस तत्त्व का

पर्याय मान लिया गया था जो भावनाओं को उद्दीप्त करे। निश्चय ही इस प्रकार की भावुकता किसी विवेकसम्मत और सुसंबद्ध चिन्तन-पद्धति का आधार नही हो सकती। रोमानी भावुकता में सौन्दर्यानुभूति का समीकरण एक प्रकार के भावावेश या भाव-ज्वार से कर दिया गया था। इस अतिवाद के विरोध में काण्ट ने दूसरे अतिवाद को जन्म दिया। वे भूल गए कि ऐन्द्रिय और भाव-संवेदनों से सर्वथा असंपृक्त केवल रूप के आस्वाद का कोई अर्थ नहीं होता।

क्लाइव बेल और रोजर फ्राइ

क्लाइव वेल और रोजर फाइ ने काण्ट के रूपवाद को अतिरेक की सीमा तक ले जाकर सौन्दर्यानुभूति को जीवन के अनुभवों से सर्वथा विच्छिन्न रूप में प्रतिष्ठित करने का प्रयास किया। परंतु क्लाइव वेल ने आगे बढ़ कर यह स्थापना की कि "किसी भी कलाकृति में प्रतिदर्शक तत्त्व अहितकर हो या न हो, अप्रासंगिक अवश्य होता है क्योंकि कलाकृति के आस्वादन के लिए जीवनगत विचारों और प्रसंगों का ज्ञान, लौकिक अनुभूतियों से परिचय, यहाँ तक कि किसी रूप में भी लौकिक जीवन का संसर्ग अनिवार्य नहीं है।"[१]

उपर्युक्त मान्यता के अनुसार कला के लिए जीवन सर्वथा अप्रासंगिक है। जब वे कहते है कि कलास्वाद के लिए लौकिक अनुभूतियों से परिचय सर्वथा निरर्थक है, तो उनका उद्देश्य कला के लिए अनुभूति-मात्र का प्रत्याख्यान करना नही है। उनका उद्देश्य कलानुभूति को लौकिक अनुभव से सर्वथा विलक्षण, व्यक्तिगत और विशिष्ट घोषित करना है। "सौन्दर्यशास्त्र की सभी पद्धतियों में चिन्तन का आरंभिक बिन्दु अनिवार्यतः किसी विशिष्ट संवेदन का व्यक्तिगत अनुभव होता है।"[२]

परंतु इस अनुभूति का उद्‌बोधन कलाकृति के रूप से ही संभव होता है। अतएव कलाकृति के लिए 'सार्थक रूप' (सिग्निफिकेंट फ़ॉर्म) का महत्त्व असंदिग्ध है। 'सार्थक रूप' को वे सभी कलाकृतियो की सामान्य विशेषता स्वीकार करते थे। प्रायः जैसा कि क्लाइव वेल के आलोचकों ने संकेत किया है, उनकी परिभाषा वर्तुलावृत्ति से दूषित है। 'सार्थक रूप' वह है जो सर्वथा अनन्य अनुभूति को उद्‌बुद्ध करे और अनन्य अनुभूति वह है जो 'सार्थक रूप' से उद्‌बुद्ध हो। इस प्रकार सार्थक रूप और अद्वितीय अनुभूति की स्थिति प्रवर्तित वृत्त के सदृश है जिससे मुक्ति का एकमात्र उपाय कला को जीवन से संबद्ध रूप में ग्रहण करना है। परंतु क्लाइव वेल के मत की सबसे बड़ी परिसीमा यही है कि वे कला-जगत के सघन और विशिष्ट महत्त्व को जीवनगत महत्त्व से पूर्णतः असंबद्ध मानते हैं। परिणामतः कला-संबंधी इस स्थिति को स्वीकार करने में प्रत्यक्ष रूप से दो बाधाएँ आती है—१. सार्थकता का प्रश्न मूल्यों से जुड़ा रहता है, अतः जब कलागत सार्थकता को जीवनगत सार्थकता से काट कर अलग किया जाता है तो हमारे पास उसके मूल्यांकन के

---

१ The representative element in a work of art may or may not be harmful; always it is irrelevant. For, to appreciate a work of art we need bring with us nothing from life, no knowledge of its ideas and affairs, no familiarity with its emotions. *Art*, p. 25.

२ The starting point for all systems of aesthetics must be the personal experience of a peculiar emotion. *Ibid.*, p. 6.

साधन नहीं रहती। २. सौन्दर्यानुभूति एक संश्लिष्ट अनुभव है, अतः जब कलावादी केवल सौन्दर्यानुभूति की चर्चा इन संश्लिष्ट तत्त्वों से भिन्न स्वतन्त्र और विशिष्ट अनुभव के रूप में करते हैं तो कला निर्माण में सक्रिय विविध तत्त्वों की व्याख्या नहीं होती। सौन्दर्यानुभूति में अन्तर्निहित सूक्ष्म विविधताओं की व्याख्या का अवकाश नहीं रहता और इस प्रकार की पूर्णतः निरपेक्ष स्थिति व्यावहारिक आलोचना को सर्वथा पंगु बना देती है।

स्मरणीय है कि क्लाइव बेल और रोजर फ्राइ ने अपने सिद्धान्तों का निर्माण चित्रकला के संदर्भ में किया था जिसमें पहले से ही प्रतिरूपण वाले तत्त्वों का निषेध करके अमूर्तता की प्रवृत्ति का उदय होने लगा था। शुद्ध कविता और कविता की संगीतात्मक अवधारणा प्रभृति सिद्धान्तों को हिमायत साहित्य के क्षेत्र में इसी एकान्तिक रूपवाद की प्रतिच्छाया है। क्लाइव बेल की यह निरपेक्ष मान्यता साहित्य में प्राप्त होनेवाले अनुभवों के विरुद्ध पड़ती है इसीलिए उन्होंने साहित्य को अशुद्ध कला करार दिया है। उनके शब्दों में "इस विषय में हम सभी सहमत हैं कि साहित्य में बहुत-कुछ ऐसा भी होता है जो शुद्ध सौन्दर्यमूलक नहीं होता और जो बुद्धिगम्य एवं कल्पनाग्राह्य होता है जिसे एक शिक्षित भद्र पुरुष ही नहीं बल्कि कोई साधारण व्यक्ति भी समझ सकता है।"[1]

जीवन के तथ्यों और विचारों से मुक्त होने के कारण कुछ कलाओं को शुद्ध और कला के सर्वाधिकार सुरक्षित क्षेत्र में जीवन मूल्यों के प्रवेश के कारण कुछ कलाओं को अशुद्ध घोषित करने का प्रयास वही लोग करते हैं जो अपने अनुभवों को एकान्तिक भाव बोध के ठोस ढाँचे के अन्तर्गत संघटित करने में सर्वथा असमर्थ हैं। जीवनानुभूत अनुभवों व जीवन संदर्भ की प्रासंगिकता का बहिष्कार करके रूपवाद कला को निर्जीव कर देता है और सौन्दर्य सिद्धान्त को अपंग छोड़ देता है।

प्रकृतवादी व्याख्या

आइ० ए० रिचर्ड्स जीवनानुभव और सौन्दर्यानुभूति के बीच बढ़ती हुई खाई से चिन्तित होकर बीसवीं शती के आरम्भ तक आते आते प्रकृतवादी विचारकों का एक ऐसा वर्ग खड़ा हो गया जिसने कला और जीवन के मध्य उत्पन्न इस खाई को पाटने का साग्रह प्रयास किया और इस प्रकार कलागत संदर्भों को एक बार जीवनगत सन्दर्भों से जोड़ दिया। इस भूमिका में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण मत आइ० ए० रिचर्ड्स का है।

रिचर्ड्स ने सामान्य जीवनानुभूति और सौन्दर्यानुभूति में गुणात्मक भेद का सर्वथा निषेध किया। रिचर्ड्स ने अपने मत की स्थापना कलावादी चिन्तकों के विरोध में की। ब्रैडले ने अपने प्रसिद्ध निबंध 'पोएट्री फार पोएट्रीज सेक' में काव्य-सृष्टि को सर्वथा स्वतन्त्र और स्वायत्त प्रतिपादित किया था। इसके खंडन में रिचर्ड्स ने काव्य-जगत और वास्तविक जगत में अभेद निरूपण किया। उन्होंने जिन कलागत मूल्यों की स्थापना की

---

[1] We all agree that there is in literature an immense amount of stuff which is not purely aesthetic which is cognitive and suggestive which an intelligent bourgeois can understand as well as any one else.

"The Difference of Literature of Literature", New Republic, Nov. 29, 1922. Quoted by Morris Weitz in *Philosophy of Art*, p. 9.

उनका आधार मनोविज्ञान था, स्वरूप परिमाणात्मक था, और इन मूल्यों के अनुसार कलात्मक अनुभूति और जीवनगत अनुभूति मे भेद करने की आवश्यकता न थी। वे अनुभव का मूल्य उसकी समीकरण-क्षमता पर निर्भर मानते थे। जिस अनुभव मे मानव-मन के जितने अधिक मनोवेगों के समीकरण की सामर्थ्य होगी, वह उतना ही मूल्यवान माना जाएगा।

रिचर्ड्स ने इस मान्यता का उन्मूलन करने का प्रयत्न किया कि सौन्दर्यानुभूति मे एक विशिष्ट प्रकार की बौद्धिक क्रिया वर्तमान रहती है। उनकी पुस्तक के दूसरे अध्याय का शीर्षक 'सौन्दर्य की छायास्थिति' (The Phantom Aesthetic State) इसका प्रमाण है। वे स्वीकार करते है कि यह मान्यता उस वायवी चिन्तन का दाय है जो किसी समय 'सत्यं शिवं और सुन्दरम्' के रूप में प्रचलित था।

निस्संदेह इस भेद को अनावश्यक तूल देने के कारण कुछ विचारको ने सौन्दर्यानुभूति को लोकोत्तर और अतीन्द्रिय अनुभवों से संबद्ध कर दिया। इसलिए इस प्रश्न को भाववादियो के अर्ध-रहस्यवाद और आध्यात्मिक शब्दजाल के कुहासे से निकाल कर रिचर्ड्स ने सौन्दर्यशास्त्र का बड़ा भारी उपकार किया। कलावादियो ने जीवन और कला के मध्य किसी भी प्रकार के संबंध का निषेध किया था किन्तु रिचर्ड्स इस भ्रान्त धारणा के ख़िलाफ़ जेहाद बोलने के उत्साह मे दूसरे छोर पर चले गए। उन्होने सामान्य अनुभूति और सौन्दर्यानुभूति के बीच किसी भेदक विशेषता का निषेध करते हुए कहा कि इस ढंग से इस प्रश्न पर विचार करने से कविता और जीवन दो विरोधी छोरों पर स्थित हो जाते है। जबकि "काव्य-जगत का सत्य किसी अर्थ में शेष सृष्टि से भिन्न नही होता। उसके कोई अन्य लोक-भिन्न नियम या विशेषताएँ भी नही होती।" कलात्मक अनुभव को जीवन के सामान्य अनुभवों के सदृश प्रतिपादित करते हुए उन्होंने एक अन्य स्थल पर कहा कि "जब हम किसी चित्र को देखते है या किसी कविता को पढ़ते है अथवा सगीत सुनते है, तो हम गैलरी की ओर जाने से या सुबह कपड़े पहनने से नितान्त भिन्न प्रकार का कोई काम नही करते।"

विचारों की स्पष्टता और स्पष्टवादिता के बावजूद आइ० ए० रिचर्ड्स की मान्यताओ में समझौते का स्वर स्पष्ट है। उन्होने घटकों की संबंध-योजना के आधार पर सौन्दर्यानुभूति को अन्य अनुभूतियो से भिन्न माना। यही नही उन्होंने सौन्दर्यानुभूति को सामान्य अनुभवों की एक अधिक विकसित अवस्था और 'ललित संघटना' स्वीकार किया है।

अनुभूतियों के मूल्यांकन के लिए यदि उनके परिमाणात्मक मूल्य को स्वीकार भी कर लिया जाए तो भी निरंतर परिमाणात्मक वृद्धि का प्रतिफलन अनुभूति के गुणात्मक परिवर्तन में होता है। यद्यपि यह जानना सहज संभव नही है कि कपड़े पहनते समय हमारे कितने मनोवेग सक्रिय रहते हैं तथा किसी नाटक को पढ़ते समय कितने? तथापि जैसे-जैसे इन मनोवेगों की संख्या बढ़ती जाती है और इनकी संघटना सूक्ष्म से सूक्ष्मतर होती जाती है, एक स्थिति ऐसी आती है जबकि भोक्ता की समग्र चेतना का गुणात्मक रूपान्तरण हो जाता है।

रिचर्ड्स के 'सवेग-संतुलन' सिद्धान्त से एक बार ऐसा प्रतीत होता है कि वे

सौन्दर्यानुभूति के एक विशेष परिमंडल को मानवीय अनुभव क्षेत्र के व्यापक परिवेश में अनुगत सीमांकित करना चाहते हैं परन्तु इस निष्कर्ष को उनके दो वक्तव्य नकार देते हैं। एक ओर तो वे विश्वास करते हैं कि संवेग-संतुलन कलेतर और कलात्मक वस्तुओं से भी संभव हो सकता है। दूसरी ओर वे संवेग-संतुलन को कलाकृति के वस्तुगत गुणों एवं रूपाकार से संबद्ध करना अस्वीकार करते हैं।[१]

आलोचना-क्षेत्र में शुद्ध प्रभावाभिव्यंजकता और आत्मनिष्ठता को प्रश्रय देने के अतिरिक्त इस सिद्धान्त के अनुसार कविता विनिमय हो जाता है जिसका स्थान कोई भी दूसरी वस्तु ले सकती है। सौन्दर्यानुभूति के संप्रेषण-व्यापार में आई० ए० रिचर्ड्स निर्वैयक्तिकता, निष्पक्षता, अनासक्ति आदि तत्त्वों का महत्त्व पहचानते थे किन्तु वे सम्प्रेष्य के मूल्य से इनका संबंध नहीं मानते थे। अर्थात् वे यह तो मानते थे कि कलाकृति के आस्वाद के लिए व्यक्तिगत रुचि से निस्संगता और अलगाव सहायक हैं परन्तु वे यह नहीं मानते थे कि उसके उत्कर्षापकर्ष का निर्णय करने के लिए अर्थात् मूल्य निर्धारण के लिए उपर्युक्त गुणों की सार्थकता है।[२]

वस्तुतः रिचर्ड्स सामान्य वस्तु और कलावस्तु में भेद मानते थे। अतएव सामान्य वस्तु और कलावस्तु के बोध में भी उन्होंने अंतर किया।

उदाहरण देकर अपनी बात को स्पष्ट करते हुए उन्होंने कहा कि रंगशाला में अभिनीत वध या हत्या के दृश्य का बोध प्रत्यक्ष जीवन में घटित ऐसी घटना के बोध से सर्वथा भिन्न रूप में संवेगों की संहिति करेगा क्योंकि अनुभूति के विषय के संबंध में यह ज्ञान होते ही कि वह कलावस्तु है हमारी प्रतिक्रिया तत्काल परिवर्तित हो जाएगी और तब उस वस्तु के प्रति निष्पक्षता, निस्संगता, निर्वैयक्तिकता आदि का बोध हमारे संवेगों की संहिति सर्वथा भिन्न रूप में करेगा।

प्रश्न उठता है कि जीवन बोध और कला बोध में इस अंतर का स्वरूप क्या है? तथा इनसे निष्पन्न संवेगों की संहिति में भी भेद है अथवा नहीं? रिचर्ड्स ने उक्त दोनों अनुभूतियों में मूल प्रकार का प्रकृति का भेद नहीं माना। ये दोनों अनुभूतियाँ सजातीय हैं विजातीय नहीं। केवल विषय या वस्तु भेद से दोनों का बाह्य रूप बदल जाता है। यद्यपि उन्होंने स्पष्ट शब्दों में ऐसा कहा नहीं किन्तु अन्य प्रसंगों में उनके द्वारा की गई स्थापनाओं के आधार पर यह कहा जा सकता है कि यह भेद दो रूपों में संभव है—१ परिमाण की दृष्टि से अर्थात् एक अनुभूति में दूसरी की अपेक्षा अधिक मनोवेगों का समीकरण होता है। २ प्रतिमान या समीकरण की विधि की दृष्टि से अर्थात् सौन्दर्यानुभूति में अधिक और विविध संवेगों का समीकरण होने से समीकरण विधि सामान्यानुभव की अपेक्षा कदाचित् अधिक जटिल और संश्लिष्ट होती है।

रिचर्ड्स की सौन्दर्यानुभूति संबंधी मान्यता की सीमाओं की ओर तत्काल ही सौन्दर्यशास्त्रियों एवं साहित्य समालोचकों का ध्यान गया। उनमें प्रसिद्ध सौन्दर्यशास्त्री एलिसिओ वाइवास की आलोचना विशेष रूप से उल्लेखनीय है

---

[१] प्रिंसिपल्ज पृ० २४८

[२] वही पृ० २४८-४६

१. सौन्दर्यानुभूति के स्वरूप-विवेचन की दिशा में रिचर्ड्स द्वारा प्रस्तुत आवेगों के 'संयोजन' की अवधारणा निश्चय ही सौन्दर्यशास्त्र के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण देन है, किन्तु इस अवधारणा की सबसे बड़ी दुर्बलता यह है कि संपूर्ण विवेचन अति सामान्य है। कही भी रिचर्ड्स ने किसी कलाकृति का ठोस उदाहरण देकर यह स्पष्ट करने की आवश्यकता नहीं समझी कि आवेगों का संयोजन किस प्रकार होता है। कोई रचना-विशेष किन-किन और कितने आवेगों का संयोजन करती है और फिर उस संयोजन की प्रक्रिया क्या होती है, यह तथ्य रिचर्ड्स के विवेचन से स्पष्ट नहीं होता। इस प्रकार उन्होंने जिस बात के लिए अपने पूर्ववर्ती सौन्दर्यशास्त्रियों की आलोचना की है, वे स्वयं भी लगभग उसी आलोचना के शिकार हो जाते हैं।

सामान्य सिद्धान्त के रूप में तो त्रासदी से निष्पन्न सौन्दर्यानुभूति में करुणा और भय के संयोजन की बात स्वयं अरस्तू भी सहस्रों वर्ष पहले कह चुके थे, अतः इतनी लम्बी अवधि के उपरान्त उसी बात को दोहराने की कोई सार्थकता नही। आवश्यकता तो इस बात की थी कि जिस मनोविज्ञान के आधार पर वैज्ञानिक सौन्दर्यशास्त्र के पुनर्निर्माण की बात स्वयं रिचर्ड्स करते हैं, उसके आधार पर ठोस उदाहरणों के द्वारा विविध आवेगों के संयोजन का ब्यौरा दिया जाए और विडम्बना यह है कि मनोविज्ञानवेत्ता रिचर्ड्स ने यही कार्य नहीं किया।

२. रिचर्ड्स ने यह कहा कि "जिन विरोधी आवेगों के संयोजन से ऐसी सौन्दर्यानुभूति उत्पन्न होती है प्रायशः उसका विश्लेषण नहीं किया जा सकता।"[१] इतना ही नही इससे भी आगे बढ़ कर बार-बार उन्होंने यह स्वीकार किया है कि "मनोविज्ञान अभी इस अवस्था तक विकसित नही हुआ है कि आवेगों और वृत्तियों (एटीट्यूड्स) के बारे में निश्चित रूप से कुछ कहा जा सके।"[२] जिस मनोविज्ञान के आधार पर रिचर्ड्स आवेगों के संयोजन का स्थापत्य खड़ा करते है, वह स्वय ही जब इतना अविकसित है तो आवेगों के संयोजन का सिद्धान्त निराधार हो जाता है। पुनः उस सौन्दर्यानुभूति को अविश्लेष्य मान कर रिचर्ड्स ने पुराने प्रत्ययवादियों की तरह सौन्दर्यानुभूति को गूँगे का गुड़ बना दिया है। रिचर्ड्स की यह मान्यता एक प्रकार के अनाख्येयवाद को जन्म देती है जो बौद्धिक विवेचन और विश्लेषण के मार्ग को अवरुद्ध करती है, अतः सर्वथा अग्राह्य है।

३. 'आवेगों के संयोजन' वाली अवधारणा की एक परिसीमा यह भी है कि यह सभी कलाकृतियों की सौन्दर्यानुभुति के संबंध में लागू नहीं होती। संयोजन की चर्चा नीत्शे ने भी की है, और उनके निम्नलिखित उद्धरण से स्पष्ट है कि रिचर्ड्स ने लगभग नीत्शे के ही शब्दों को थोड़े हेर-फेर के साथ दोहरा दिया है :

"विरोधों का परिहार हो जाता है। इस प्रकार विरोधों की विजय में ही शक्ति के सर्वोच्च उपलक्षण की अभिव्यक्ति होती है; और यह अभिव्यक्ति किसी प्रकार के तनाव की अनुभूति के बिना ही संपन्न होती है; उग्रता की आवश्यकता नहीं

---

१ प्रिंसिपल्ज़, पृ० २५०

२ वही, पृ० ५०, ८६, ८९, आदि।

रह जाती। प्रत्येक वस्तु समर्पित विनयावनत होती है और वह भी एक सहज गरिमा के साथ।[1]

स्थिति यह है कि नीत्शे ने यह विशेषता केवल एक प्रकार की कला की सौन्दर्यानुभूति के सदर्भ में निरूपित की है जिसे उसने अपोलोवादी कहा है। नीत्शे के अनुसार इससे भिन्न एक अन्य प्रकार की कलाकृतियाँ होती हैं जिनसे उत्पन्न होनेवाली सौन्दर्यानुभूति उग्रतामूलक और विक्षोभकारी होती है। उन कलाकृतियों को नीत्शे ने 'डायोनीसी' कहा है। इससे इतना तो स्पष्ट है ही कि आवेगों के संयोजन के अंतर्गत सभी प्रकार की सौन्दर्यानुभूतियाँ नहीं आतीं और इस प्रकार रिचर्ड्स की आवेगों के संयोजन वाली अवधारणा में अव्याप्ति दोष है। विवरणात्मक सौन्दर्यशास्त्र की नवीनतम शोधों से भी क्रमश यह प्रमाणित हो चला है कि एक सौन्दर्यानुभूति नाम की कोई चीज नहीं होती बल्कि अनेक सौन्दर्यानुभूतियाँ होती हैं जिन्हें अंग्रेजी में (वराइटीज ऑफ एस्थेटिक एक्सपीरिएंस) कहना उपयुक्त समझा जाता है। रिचर्ड्स के सिद्धान्त की सीमा यह है कि सौन्दर्यानुभूति की एकता में भिन्नता जैसा तथ्य उनसे अलक्षित रह गया।

४ रिचर्ड्स की कला के सामाजिक महत्व संबंधी धारणा सौन्दर्यानुभूति के अंतर्निहित मूल्य पर उतनी आधारित नहीं है जितनी उन प्रभावों पर जो आवेगों का संयोजन हमारे दैनंदिन जीवन पर डालता है। इस प्रकार रिचर्ड्स की दृष्टि में सौन्दर्यानुभूति साधन मात्र है—किसी अन्य साध्य का। एक प्रकार से यह सिद्धान्त डयूई के इंस्ट्रुमेंटलिज्म अर्थात् साधनवाद के दोषों से युक्त है।

५ सौन्दर्यानुभूति का स्वरूप स्पष्ट करते हुए रिचर्ड्स ने केवल मनोवैज्ञानिक प्रभावों को ही द्रष्टव्य माना है जिसके कारण कलाकृति की वस्तुगत विशेषता समाप्त हो जाती है। यदि स्वयं किसी कलाकृति में ऐसी वस्तुगत विशेषता नहीं है जिसके आधार पर सौन्दर्यानुभूति का विवरण दिया जा सके और कलाकृति का अस्तित्व केवल ग्राहक के ऊपर पड़नेवाले शारीरिक मानसिक प्रभावों में ही निक्षिप्त है तो सौन्दर्यानुभूति संबंधी यह सारी अवधारणा विमसाट और बियर्ड्स्ले द्वारा निरूपित अफेक्टिव फैलेसी के अंतर्गत आ जाती है। रिचर्ड्स की इस धारणा का स्पष्ट विवरण श्री सी॰ के॰ ओगडन के सहयोग से लिखित 'सौन्दर्यशास्त्र के आधार' नामक पुस्तक के निम्नलिखित उद्धरण में द्रष्टव्य है

समझ में आनेवाली बात तो यही है कि कलाकृति में कोई एक विशेषता होनी चाहिए जिसके कारण हम उसे कलाकृति के रूप में पहचानते हैं किन्तु इस धारणा के विरुद्ध कुछ बहुत ही प्रबल कारण हैं। यह स्पष्ट है कि जब हम सौन्दर्यानुभूति का अनुभव करते हैं तब जो कुछ घटित होता है उसके विवरण के दो भाग होते हैं एक तो आवेगों और मूल वृत्तियों में संयोजन और उनकी कुछ विशिष्ट क्षणिक अवस्थिति में निहित एक नयी मनोवैज्ञानिक क्या होती है जो कुछ तो हमारे वातावरण से निर्धारित होती है और कुछ

---

[1] द विल टु पावर, पृ॰ २४५ ८०३ (वाइवास द्वारा 'क्रिएशन एण्ड डिस्कवरी', पृ॰ २११ पर उद्धृत)

हमारे तात्कालिक व्यतीत इतिहास से। दूसरी ओर कलाकृति का भौतिक-शारीरिक प्रभाव होता है, जो उत्तेजना और तात्कालिक ऐन्द्रिय प्रभावों के रूप में परिलक्षित होता है।"[1]

इस उद्धरण से स्पष्ट है कि रिचर्ड्स कलाकृति के वस्तुगत सौन्दर्य के बारे मे पूर्णतः आश्वस्त नहीं है और वे कलात्मक सौन्दर्य को जीवन-अनुभवों के स्तर पर उतारने के प्रयास में नितान्त शारीरिक प्रतिक्रियाओं की स्थूल स्थिति में निःशेष कर देते हैं।

जॉन ड्यूई : आई० ए० रिचर्ड्स के समान ही जॉन ड्यूई भी, प्रायः एक ही प्रकार के कारणों से, काव्यानुभूति को जीवनानुभूति का ही अंग स्वीकार करते हैं। वे भी सौन्दर्यानुभूति को जीवनानुभव का बढ़ाव मानते हैं। रिचर्ड्स ने कहा है कि सौन्दर्यानुभूति केवल साधारण अनुभवों का उत्तर विकास और चारुतर संघटना है और ड्यूई ने माना कि कलाकृति साधारण जीवन मे प्राप्त गुणों को मात्र तीव्रतर और उच्चतर करती है।[2] ड्यूई के अनुसार जीवन विविध अनुभवों का एक निरंतर प्रवाह है। सामान्य अनुभवों और सौन्दर्यानुभूति में अभिन्नता इस अर्थ में है कि दोनों एक ही जीवन-प्रवाह के अंग हैं; भेद इस अर्थ में है कि सौन्दर्यानुभव जीवनानुभव का एक अधिक चारु, सूक्ष्म और ललित रूप है।

प्रकृतवादी चिन्तक कला और जीवन में अद्वैत की स्थिति के समर्थक हैं। अर्थात दोनों अनुभूतियों में वे मूल प्रकृति का, जाति का भेद नही मानते। यह कहना कदाचित् गलत न होगा कि सौन्दर्यानुभूति को वे जीवनानुभूति ही मानते हैं—यद्यपि एक विशेष प्रकार की। फिर भी सौन्दर्यानुभूति के इस वैशिष्ट्य को उन्होंने यथासंभव स्पष्ट किया है।

ड्यूई स्वीकार करते थे कि कला भी एक अनुभव है परंतु जैसा मेल्विन रेडर ने कहा है : "कला का उद्देश्य सामान्य जीवन की अपेक्षा अनुभवो को अधिक सार्थक, अधिक संबद्ध, अधिक जीवंत रूप मे संयोजित करना हे। कला का अनुभव इस प्रकार अधिक संहित और पूर्ण होता है क्योंकि उसमे प्राणियों के बोध, भावदशा, आवेग और क्रियाओं का संयोग होता है।" ड्यूई कलानुभूति को एक अधिक सश्लिष्ट अनुभव मानते थे, क्योकि उसमे किसी एक मनःशक्ति, भाव या कल्पना की प्रभुता नही होती बल्कि अनेक मनोवैज्ञानिक तत्त्व घुले-मिले रहते हैं।

जीवन और कला मे अद्वैत का प्रतिपादन ड्यूई ने इस विश्वास के आधार पर किया कि कोई भी अनुभव सर्वाधिक संतोषप्रद तब होता है जब उसमे साधन और साध्य परस्पर अनुप्रविष्ट रहते हैं और अनुभव के इस शिखर पर पहुँचने पर ही कला अनुभूति हो जाती है। अर्थात जीवन के वे अनुभव जिनमे विविध मनःशक्तियों का संश्लेष होता है, जिनमे साधन और साध्य परस्पर अनुविद्ध रहते हैं, जिनका रूप विश्रान्तिमय होता है—कलात्मक होते हैं।

जीवन के किसी भी अनुभव मे जहाँ परितुष्टि और पूर्णता का बोध हो, सौन्दर्य तत्त्व वर्तमान रहता है, और यह तभी संभव है जब अनुभव-विशेष में सक्रिय साधन उचित

---

[1] द फ़ाउन्डेशन्स ऑफ़ एस्थेटिक्स, पृ० ६३

[2] आर्ट एज़ एक्सपीरिएन्स, पृ० ११

रूप में सम्पादित हों। अक्सर हमारे अनुभव विशृंखल होते हैं। हम वस्तुओं का अनुभव करते हैं पर इस रूप में नहीं कि वे एक विशिष्ट पूर्णानुभव के रूप में रूपायित हो जाएं। इस असम्बद्धता के बोध के लिए कभी बाह्य बाधाएं कारण होती हैं कभी आन्तरिक।

इसके विपरीत कुछ अनुभव ऐसे होते हैं जब अनुभूत वस्तु तुष्टि की भूमि प्राप्त करती है और तभी यह अनुभव अपने आन्तरिक रूप में सन्निहित और अनुभव के सामान्य प्रवाह में अन्य अनुभवों से सीमांकित होता है।[1] जीवन का कोई भी कार्य व्यापार जब इस रूप में सम्पन्न होता है कि वह सन्तोषप्रद हो और उसकी समाप्ति पर विराम का बोध न होकर अशेषता का बोध हो तब ऐसा अनुभव ही पूर्ण होता है और उसमें वैशिष्ट्य का गुण एवं स्वतः पूर्णता का बोध अन्तर्निहित रहता है। वस्तुतः तभी वह अनुभव होता है।[2]

इस प्रकार ड्यूई ने जीवन के समग्र अनुभवों में कलात्मक गुण की स्थिति स्वीकार की है। यहां तक कि चिन्तन के अनुभव में भी वे सौन्दर्य-तत्त्व स्वीकार करते हैं। सौन्दर्यानुभूति कहे जानेवाले अनुभवों से उसमें केवल उपादानों का अन्तर होता है। स्वयं इस अनुभव में तुष्टिकर भावात्मक गुण होता है क्योंकि उसमें व्यवस्थित और संगठित गतिशीलता द्वारा सम्पन्न अन्तर्गठन और तृप्ति निहित रहती है।[3]

अन्तर्गठन के बिना वे बौद्धिक अनुभव मात्र को अपूर्ण मानते थे और यह अन्तर्गठन सौन्दर्यानुभूति का अनिवार्य तत्त्व है। इस अर्थ में सौन्दर्य-तत्त्व प्रत्येक अनुभव में वर्तमान रहता है। अतः बौद्धिक अनुभव को सौन्दर्यानुभूति से पूर्णतः पृथक् इसलिए नहीं किया जा सकता कि बौद्धिक अनुभव में भी अपनी पूर्ति के लिए उक्त सौन्दर्य-तत्त्व का होना आवश्यक है।[4]

ड्यूई ने व्यावहारिक और बौद्धिक अनुभवों का विवरण प्रस्तुत करके यह सिद्ध किया कि ऐसी अनुभूतियों से जिनमें बौद्धिकता या व्यावहारिकता की प्रमुखता रहती है सौन्दर्यानुभूति का कोई विरोध नहीं है। बल्कि कोई भी अनुभव बिना सौन्दर्य गुण के संगठित नहीं हो पाता।[5] वे सौन्दर्यानुभूति को किसी भी अन्य किन्तु सामान्यतः पूर्ण अनुभव से तद्रूप मानते थे। सौन्दर्यानुभव का विरोध न व्यावहारिक से है न बौद्धिक से। वस्तुतः उसका विरोध साधारण से है।[6]

जिसे ड्यूई ने बार बार पूर्ण और संगठित अनुभूति कहा है उसे यह विशेषता देने वाला गुण भावात्मकता है। भाव वस्तुतः जब महत्त्वपूर्ण होते हैं तो वे ऐसे संश्लिष्ट अनुभव के गुण होते हैं जो गतिमान और परिवर्तनशील हों। अनुभव भावात्मक होता है परन्तु उसमें भाव नाम की पृथक् वस्तु नहीं होती।[7] ड्यूई के अनुसार सम्पूर्ण सौन्दर्य बोध में

---

१ आर्ट एज़ एक्सपीरिएन्स पृ० ३५
२ वही पृ० ३५
३ वही पृ० ३८
४ वही पृ० ३८
५ वही पृ० ४०
६ वही पृ० ४०
७ वही पृ० ४२

आवेग का तत्त्व होता है। फिर भी जब हम इस आवेग से पराभूत हो जाते हैं, जैसा कि अतिशय क्रोध, भय, ईर्ष्या आदि में, तब वह अनुभव निश्चित रूप से सौन्दर्येतर होता है।[१]

ड्यूई ने सौन्दर्य-बोध की ग्रहण-प्रक्रिया की व्याख्या विस्तार से की है। किन्तु सौन्दर्य-वस्तु की ग्रहणशीलता बिना प्रयास के संभव नहीं होती। यह भी एक प्रक्रिया है जिसके अंतर्गत अवग्राही चेष्टाओं की शृंखला होती है, और इन सबकी परिणति वस्तुगत तुष्टि में होती है। अन्यथा, वह अवबोध नहीं बल्कि अभिज्ञान मात्र होता है और इन दोनों मे बहुत अंतर है। अभिज्ञान भी एक प्रकार का अवबोध ही है किन्तु ऐसा अवबोध जो स्वतंत्र विकास का अवसर प्राप्त करने से पूर्व स्तंभित हो गया हो। अभिज्ञान में अवबोध-क्रिया का आरंभ मात्र ही होता है, किन्तु यह आरंभ अभिज्ञात वस्तु के पूर्ण अवबोध के विकास में सहायक नही होने पाता।[२]

सौन्दर्य-बोध एक प्रकार की पुनर्रचना है जिसमें चेतना जीवंत और प्रत्यग्र हो उठती है।[3] सौन्दर्य-बोध में एक नैरतर्य वर्तमान रहता है। सौन्दर्य-बोध की क्रिया तरंग-धर्मी होती है और संपूर्ण शरीर में तरंग-प्रवाह की गति से अग्रसर होती है। इसलिए यह बोध संवेग से संयुक्त दर्शन या श्रवण नहीं है, बल्कि सौन्दर्य-बोध जगानेवाली वस्तु या दृश्य आद्यन्त भाव से परिव्याप्त रहती है।[४]

सौन्दर्य-बोध के लिए समर्पण आवश्यक है किन्तु इसका यथेष्ट समर्पण तभी संभव होता है जब यह क्रिया नियंत्रित होने के साथ ही तीव्र भी हो।[५] सौन्दर्य-बोध ग्रहण के लिए शक्ति का बहिर्गमन है अन्तःस्तंभन नहीं।[६]

इस प्रकार ड्यूई यह स्वीकार करते थे कि सौन्दर्य-बोध एक प्रकार का सह-प्रयास है जिसमें बोध के विषय के प्रति स्रष्टा के समान ग्राहक का प्रयत्न भी बोध के निमित्त अपेक्षित है। यह एक प्रकार की भावयित्री प्रतिभा है, रचनाकार की कारयित्री प्रतिभा के प्रत्युत्तर मे जिसकी वर्तमानता अनिवार्य है। विषयी की संपूर्ण सत्ता एवं विषय के बीच निरंतर क्रिया-प्रतिक्रिया के बिना विषय का सम्यक् बोध नही होता और सौन्दर्य-बोध तो बिल्कुल नही।[७]

सौन्दर्य-बोध को ड्यूई एक प्रकार का पुनस्सृजन मानते है। बोध-ग्रहण के लिए ग्राहक का अपने अनुभवों को रचनात्मक रूप देना आवश्यक है। मूल रचनाकार जिन अनुभवों से होकर गुजरा है, उनके समकक्ष संघटको का, ग्राहक की उस रचना में भी समावेश होना चाहिए।[८] पुनस्सृजन के बिना कोई भी वस्तु कलावस्तु के रूप में बोधगम्य

---

१ आर्ट एज एक्सपीरिएन्स, पृ० ४६
२ वही, पृ० ५२
३ वही, पृ० ५३
४ वही, पृ० ५३
५ वही, पृ० ५३
६ वही, पृ० ५३
७ वही, पृ० ५४
८ वही, पृ० ५४

नहीं होती। जिस प्रकार कलाकार अपनी रुचि के अनुसार सरलीकरण, स्पष्टीकरण एवं संक्षेपण आदि करता है, उसी प्रकार ग्राहक के लिए भी अपनी रुचि और दृष्टि के अनुसार उसी प्रक्रिया से गुजरना आवश्यक है। जो सार्थक है उसे चुन निकालने का कार्य दोनों ही को करना पड़ता है। अनुभूत संपूर्ण के बीच बिखरे हुए ब्यौरों को एकत्र करने का कार्य दोनों ही के लिए करणीय है, जिसे ड्यूई ने 'कम्प्रिहेन्शन इन टर्म्स ऑफ़ इंटरनल सिग्निफिकेशन' कहा है और जो एक प्रकार का 'संकेतग्रह' या 'वाच्यार्थ-बोध' कहा जाएगा।[1]

सौन्दर्य-बोध को जीवनानुभव से अभिन्न मानने के कारण ड्यूई की स्थापनाओं में कहीं-कहीं विरोध परिलक्षित होता है। एक ओर सौन्दर्य-बोध को जीवनानुभव का उज्ज्वलतर और तीव्रतर रूप मान कर उन्होंने अभेद में भेद-निरूपण किया, अर्थात् दोनों में प्रकृत्या भेद न मानते हुए स्तरीय या मात्रात्मक भेद स्वीकार किया। दूसरी ओर सौन्दर्यानुभूति को जीवन के अधिकाधिक निकट और उसका अंग सिद्ध करने के प्रयत्न में उन्होंने उसे किसी भी संश्लिष्ट, पूर्ण, तुष्टिकर अनुभव का पर्याय मान लिया और इस प्रकार उपर्युक्त गुण सौन्दर्यानुभूति के लक्षण बन गए। क्योंकि इस प्रकार के अनुभव जीवन में अन्यत्र भी संभव हैं, इसलिए ड्यूई को उन सभी में सौन्दर्य-तत्त्व को स्वीकार करना पड़ा। सौन्दर्यानुभूति जीवन से अधिकाधिक निकट-संबद्ध रहे, अतएव ड्यूई यह भ्रम उत्पन्न करना चाहते हैं कि जब वे 'सौन्दर्यानुभूति' शब्द का प्रयोग करते हैं तो उसमें सौन्दर्य शब्द मात्र विशेषता वाचक है अर्थात् वह सामान्य अनुभूति की एक अवस्था की विशेषता मात्र सूचित करता है। वे शायद यह कहना चाहते हैं कि सौन्दर्यानुभूति केवल सामान्यानुभूति है जो कलात्मक गुण से रंजित रहती है।

इस प्रश्न को यह कह कर उन्होंने और अधिक उलझा दिया कि सौन्दर्यानुभूति को उसकी विशिष्ट संश्लिति भावात्मक गुण से मिलती है। परन्तु संवेग हमारे जीवन में बहुधा घटित होते हैं, और वे एकाकी रूप में सौन्दर्यानुभूति को संश्लिति और पूर्णता नहीं दे पाते। अतएव, अंततः ड्यूई को इन संवेगों में भी भेद करना पड़ा। एक वे संवेग, जो हमारे नित्यप्रति जीवन के अंग होते हैं और दूसरे वे जो सौन्दर्यानुभूति में अनुभव होते हैं।

सूज़न लैंगर का मध्यम मार्ग

सूज़न लैंगर ने सौन्दर्यानुभूति के प्रश्न पर विचार किया तो उनके सामने इस प्रश्न के कलावादी और प्रकृतवादी दोनों प्रकार के अतिरेक वर्तमान थे। उनसे असहमति की स्थिति के कारण लैंगर का पहला कार्य इन अतिवादों का खंडन था। उन्होंने इस प्रश्न के रूप को बदलते हुए कहा कि समस्या यह नहीं है कि सौन्दर्यानुभूति कोई विलक्षण अनुभूति है अथवा सामान्य जीवनानुभूति। विचारणीय प्रश्न तो यह है कि ग्राहक के मन में संवेग-विशेष की उत्पत्ति का निमित्त क्या है? और यह प्रश्न वस्तुतः यही है कि कलावस्तु को कलात्मक बनानेवाली विशेषता क्या है? यहीं से कला संबंधी दार्शनिक चिन्तन का आरंभ होना चाहिए।[2]

---

[1] आर्ट एज़ एक्सपीरिएन्स, पृ० ५४

[2] फ़ीलिंग एण्ड फ़ॉर्म, पृ० ३४

इस दृष्टि से सौन्दर्यानुभूति पर विचार करने से स्पष्ट है कि प्रश्न का स्वरूप और कोण ही वदल गया और लैंगर ने प्रचलित सिद्धान्तों की तीव्र आलोचना की। प्रकृतवाद के प्रतिष्ठित सिद्धान्त का सारा वल 'अनुभव' पर था। लैंगर ने इस शब्द को व्यंग से उनका 'तकिया-कलाम' कहा और तर्क दिया कि उनका समग्र चिन्तन इस पक्ष पर इतना अधिक वल देकर अग्रसर हुआ है कि यह आग्रह दार्शनिक चिन्तकों और सौन्दर्यशास्त्रियों द्वारा लिखे गए ग्रंथों के शीर्षकों से भी स्पष्ट हो जाता है। इन दार्शनिकों के 'फ्रीडम एण्ड एक्सपीरिएन्स', 'एक्सपीरिएन्स एण्ड नेचर' आदि ग्रंथों में ही 'एक्सपीरिएन्स' पर वल नहीं है, वल्कि उनके सौन्दर्यशास्त्रीय चिन्तन मे भी हमारा साक्षात्कार 'द एस्थेटिक एक्सपीरिएन्स' और 'आर्ट एज एक्सपीरिएन्स' जैसे शीर्षकों से होता है।

सूजन लैंगर ने प्रकृतवादी सौन्दर्यानुभूति की तीव्र आलोचना करते हुए कहा है कि महान कला को अनुभवों का निमित्त मानना और उन अनुभवों को दैनिक जीवन के अनुभवो से तत्त्वतः भिन्न न मानना वस्तुतः प्रश्न के मूल तत्त्व से ही हट जाना है। प्रश्न कला को विज्ञान या धर्म के समान महत्त्व प्रदान करना मात्र नही है वल्कि उस व्यावर्त्तक धर्म को स्पष्टता के साथ निरूपित करना है जिसके कारण कला मानव-मस्तिष्क के विशिष्ट सृजनात्मक व्यापार के रूप में अपनी स्वतंत्र सत्ता प्राप्त करती है। इसलिए यदि सच्चे कलानुरागी एकेडेमिक जगत मे प्रतिष्ठित प्रकृतवादी सौन्दर्यशास्त्रीय मान्यताओं से असंतुष्ट हैं तो इसका कारण, जैसा कि ड्यूई समझते है, कलाओ के गौरव या प्रभामंडल के लिए भावुकतापूर्ण चिन्ता नही है। वस्तुतः यह एक प्रकार की स्वतःस्फूर्त प्रतिक्रिया है। वे स्वयं अपने अनुभव से जानते हैं कि प्रकृतवादियों की स्थापनाओं के विपरीत किसी कलाकृति को देख कर मन में वैसी ही आवेगात्मक प्रतिक्रिया नही होती जैसी किसी नई कार या प्रिय प्राणी अथवा भव्य उषःकाल के साक्षात्कार से होती है। वे सचमुच ही एक भिन्न प्रकार के संवेग का अनुभव करते है। क्योंकि कला एक विशेप प्रकार का 'अनुभव' है जो ऐसे व्यक्तियों के लिए अलभ्य है जिनकी चेतना उसके लिए विशेष रूप से तत्पर नही होती, अतः कला-संरक्षकों के मध्य एक शुद्धतावादी कलावृत्ति सम्प्रदाय का विकास हो गया है।

सौन्दर्यानुभूति के संदर्भ में इस प्रकार की नितान्त असामान्य कलात्मक वृत्ति की कल्पना से एक दूसरी समस्या का जन्म होता है। जो विचारक इस कलात्मक वृत्ति को सर्वथा विलक्षण, विशिष्ट और स्वतःपूर्ण अनुभव मानते हैं उनके अनुसार इस कलात्मक वृत्ति की प्राप्ति ही कठिन है, इसे वनाए रखना कठिनतर है, और इसकी पूर्णता तो सर्वथा विरल है। इस विशिष्ट और विरल 'कलात्मक वृत्ति' के समर्थक विद्वानों ने इसे वर्ग-विशेष की और कठिन साधना की वस्तु वना दिया। एच० एस० लैंगफ़ील्ड ने इस 'सौन्दर्यात्मक मनोदृष्टि' की व्याख्या करते हुए कहा कि हमारे चारों ओर सतत वर्तमान विरोधी और वाधक प्रभावों के वीच इस वृत्ति को यदि वनाए रखना हो, तो अधिकांश व्यक्तियों को इसका उपार्जन करना पड़ता है। इसी प्रकार का मत व्यक्त करते हुए डेविड प्राल ने भी कहा है कि किसी एक विषय से निवद्ध पूर्ण कलात्मक तन्मयता की स्थिति कम से कम विरल अवश्य है। अर्थात प्रकृतवादियों के सर्वथा विपरीत ये कलावादी विचारक सौन्दर्यानुभूति को एक विशिष्ट सौन्दर्यात्मक मनोदृष्टि मानते थे जो कदाचित् इसकी साधना में निष्णात

एक विशेष वर्ग की सिद्धि हो सकती है, इसके लिए कलाकृति में एकतान तन्मयता को वे सर्वथा अनिवार्य मानते थे। इस प्रकार की मनोदृष्टि उपासना और साधना का विषय स्वीकार की जाती थी।

रोजर फ्राइ ने विज़न एण्ड डिज़ाइन में जिस अन्तर्ध्यान की निमग्न मग्नता की व्याख्या की है उस स्थिति के सही रूप में अधिकारी शायद बहुत कम श्रोता और दर्शक हो सकते हैं। इस मनस्थिति को वे कलाकृति के सही बोध और कलात्मक संवेग के अनुभव की एकमात्र स्थिति स्वीकार करते थे। अधिकांश व्यक्ति किसी कलाकृति को देखते समय अपने को पूर्वाग्रह मुक्त नहीं कर पाते। इसीलिए फ्राइ का विचार था कि जिस अनुपात में कला की शुद्धता बढ़ती जाती है उसके प्रशंसकों की संख्या कम होती जाती है।

इस प्रकार की कला का प्रभाव केवल उन व्यक्तियों पर पड़ता है जिनमें कलात्मक ग्रहणशीलता होती है और अधिकांश व्यक्तियों में यह क्षमता अपेक्षाकृत क्षीण होती है।

सूज़न लैंगर ने उपर्युक्त दृष्टिकोण की कड़ी आलोचना करते हुए कहा है कि यदि समस्त सच्ची कला की पृष्ठभूमि इस प्रकार की मिथ्या विरल और कृत्रिम अभिवृत्ति है तो समाज में कलाकृतियों को सार्वजनिक निधि स्वीकार करना करिश्मा ही कहा जाएगा। और जो अन्तर्ध्यानी के गुहावासियों से लेकर आरम्भिक यूनानियों तक आन्तरिक जन निर्भ्रान्त रूप से यह जानते थे कि सौन्दर्य क्या है वह भी इस दृष्टि से बेमानी है।

व्यवहारवादियों के सिद्धान्त की कम से कम यह सिद्धि तो है कि वे कला रुचि को सर्वथा प्रकृत और मानव मानते हैं न कि अत्यन्त शिक्षित और दीक्षित कुछ व्यक्तियों के लिए नितान्त आरक्षित वस्तु। किन्तु उनकी मानवीय रुचियाँ प्राणिशास्त्रीय आधार के द्वारा इतनी संकुचित हो जाती हैं कि वे यह स्थूल तथ्य भी देख नहीं पाते कि एक अत्यन्त स्वतः स्फूर्त यहाँ तक कि आदिम क्रिया भी विलक्षण रूप से मानवीय हो सकती है और हमारी अन्य चेष्टाओं के साथ उसके संबंधों का स्पष्ट पता चलने से पूर्व अपने आप में भी वह हमारे दीर्घकालीन अध्ययन की अपेक्षा रख सकती है। यदि रिचर्ड्स यह सोचते हैं कि स्नायु विज्ञान की अतिशायिक जानकारी हमारे सौन्दर्य बोध संबंधी तथ्यों में वृद्धि कर सकती है तो यह शुद्ध कल्पना मात्र है क्योंकि अभी तक तो स्नायविक सौन्दर्यशास्त्र की दिशा में किसी उल्लेखनीय प्रगति की सूचना नहीं मिली है। इसलिए इस मृग मरीचिका के पीछे भागने से तो यही अच्छा है कि कलावस्तु की अपनी विशिष्टता का ध्यान से अवलोकन किया जाए। स्नायविक प्रतिक्रियाओं के आँकड़ों में उलझने से कहीं उपयोगी है—कलाकृति के उन विशिष्ट गुणों का आकलन जो ग्राहक में प्रतिक्रिया उत्पन्न करते हैं।

एक बार ज्यों ही हम चारों ओर से अपना ध्यान हटा कर सीधे कलाकृति की ओर उन्मुख होते हैं हम कलाकृति से संलग्न उस कलात्मक गुण के संपर्क में आ जाते हैं जिसे सामान्यतः सौन्दर्यानुभूति कहा जाता है। यह अनुभूति उस कलाकृति की साक्षात् अनुभूति नहीं बल्कि उसके अन्तश्चिन्तन से निष्पन्न 'वास्तविक संवेग' है क्योंकि सौन्दर्यानुभूति कलाकृति में अभिव्यंजित नहीं होती बल्कि उसका संबंध तो ग्राहक से है। यह तो निश्चित है कि प्रत्येक कलाकृति ग्राहक को किसी न किसी रूप में प्रभावित करती है किन्तु इस प्रभाव का अर्थ यह नहीं कि वह ग्राहक में संवेग या आवेग उत्पन्न करती है। कलाकृति वस्तुतः

ग्राहक के पूर्वस्थित भावों और विचारों को पुनर्व्यवस्थित, संयोजित एवं विशदीकृत करती है। इसीलिए सौन्दर्यानुभूति में कुछ प्रत्यभिज्ञान की शक्ति होती है।

जैसा कि चार्ल्स मार्गन ने नाट्य-कला द्वारा निष्पन्न सौन्दर्यानुभूति का स्वरूप स्पष्ट करते हुए कहा है : "यह कला दुहरे कार्य करती है : पहले तो वह पूर्वग्रस्त चित्त को स्थिर करती है, उसे समस्त क्षुद्रताओं से रिक्त कर देती है ताकि वह ग्रहणशील और ध्यानलीन हो सके; और फिर उसे भाव-गर्भित करती है। नाट्याभ्यास भावगर्भी शक्ति है। नाट्य-कला में यह वह आध्यात्मिक शक्ति है जो दर्शक के मौन को आपूरित करती है और जो वह स्वयं न हो सकता है, न देख सकता है और न कल्पना ही कर सकता है, वह सब हो सकने, देख सकने और कल्पना कर सकने की क्षमता प्रदान करती है।"[1] मार्गन ने जो बाते नाटक के संबंध में कही है वे प्रभावपूर्ण सौन्दर्यानुभूति के रूप में किसी भी कलाकृति के बारे मे सत्य है। सचमुच ही यह अनुभूति हमारे अतर्जीवन का प्रत्यभिज्ञान कराती है किन्तु यह उससे अधिक भी करती है। अनुभूति-क्षमता और जीवन के लयात्मक रूपों के अनुरूप हमारी बाह्य यथार्थ संबंधी कल्पना को रूप प्रदान करती है और इस प्रकार संसार को सौन्दर्य-मूल्य से आपूर्ण करती है। जैसा कि काण्ट ने 'क्रिटीक ऑफ जजमेंट'[2] मे कहा है—प्रकृति का सौन्दर्य हमारे बोध का परिपोषक है और यह परिपोष ऐसा है जिसे मूलतः हमारा प्रातिभ ज्ञान उस पर मुद्रित करता है।

वस्तुतः कला हमारे व्यक्तिगत जीवन में गहरे प्रवेश करती है क्योंकि विश्व को रूप प्रदान करने की प्रक्रिया में वह मानव-प्रकृति, भावबोध, शक्ति, आवेग, मरणधर्मिता आदि को विवक्षित करती है। कलाएँ अनुभव में, किसी अन्य वस्तु से अधिक, हमारी अनुभूति के वास्तविक जीवन को रूपान्तरित करती है। यद्यपि यह तथ्य है कि कलाकृति के प्रतीक कलाकार के वातावरण से ही गृहीत होते है, फिर भी कला और समकालीन जीवन के सबंध के लिए यह **सर्जनात्मक प्रभाव** कही अधिक महत्त्वपूर्ण होता है। निश्चय ही कला की जडें अनुभव में होती है किन्तु क्रमशः वह अनुभव शक्तिशाली कलाकार की प्रतिभा के अनुरोध से ग्राहक की स्मृति में पुजीभूत होता हे, कल्पना में आकार ग्रहण करता है।[3]

विभिन्न सिद्धांतों की समीक्षा

विलियम के० विमसाट ने काव्यानुभूति तथा वास्तविक जीवनानुभूति के संबंध पर प्रकाश डालनेवाले सिद्धान्तो को मोटे तौर से दो वर्गो में रखा है :

१. यथार्थवादी सिद्धान्त : जिसके अनुसार कविता में अविकल रूप से करुणा, भय आदि प्रत्यक्ष संवेगों की अभिव्यक्ति होती है।

२. कलात्मक संशोधन का सिद्धान्त : जिसके अनुसार कविता में वास्तविक जीवन-संवेगों की अभिव्यक्ति कुछ विशेष परिवर्तन के साथ होती है।

विमसॉट के अनुसार यथार्थवादी सिद्धान्त स्पष्टतः अग्राह्य है, इसलिए उस पर

---

[1] द नेचर ऑफ़ ड्रमेटिक इल्यूजन, पृ० ७०

[2] क्रिटीक ऑफ़ जजमेंट, भूमिका, पृ० ३४

[3] फ़ीलिंग एण्ड फ़ॉर्म, पृ० ४०१

विचार करना अनावश्यक है। अधिकांश विचारक किसी न किसी प्रकार से कलात्मक संशोधन के सिद्धांत की ओर ही उन्मुख दिखाई देते हैं। उनमें यदि मतभेद है तो केवल इस प्रश्न को लेकर कि संशोधन का ठीक ठीक अर्थ या स्वरूप क्या है?

कुछ विचारकों के अनुसार संशोधन का अर्थ है वास्तविक जीवन-संवेगों के वेग को मंद्र कर देना जैसे कविता में अभिव्यक्त क्रोध अपने प्रत्यक्ष क्रोध का वेग रहित एवं मंद्र रूप होता है। कभी-कभी अभिव्यंजना में मूर्त रूप धारण करके भी वह क्रोध अपनी तात्कालिकता खो बैठता है। इस दृष्टि से कलात्मक संशोधन का अर्थ है—जीवन-संवेगों की तात्कालिकता एवं प्रत्यक्षता का न्यून होना।

दूसरे विचारकों के अनुसार कविता में संशोधित एवं अभिव्यंजित वास्तविक जीवन संवेग किसी अन्य विशिष्ट संवेग के लिए आधार वस्तु प्रस्तुत करते हैं। इस दृष्टि से कविता में व्यक्त क्रोध क्रोध न होकर वस्तुतः सौन्दर्यानुभूति होता है। इस प्रकार क्रोध को व्यक्त करनेवाली कलावस्तु के प्रति हमारी सही प्रतिक्रिया क्रोध—यहाँ तक कि परिष्कृत क्रोध—के रूप में भी नहीं होती।

अन्य विचारकों के अनुसार कलात्मक संशोधन के परिणामस्वरूप सौन्दर्यानुभूति स्वयं कलावस्तु का एक अंग न होकर उस कलावस्तु की चरम भावात्मक प्रतिक्रिया होती है। इस दृष्टिकोण के अनुसार संशोधन का अर्थ है नितान्त गुणात्मक परिवर्तन। विमसाट ने विभिन्न मतों की समीक्षा के उपरान्त सौन्दर्यानुभूति के संबंध में निम्नलिखित[1] निष्कर्ष प्रस्तुत किए हैं

१ यह अनुभूति कुछ-कुछ प्रत्यक्ष संवेगों की अभिव्यंजना है—ऐसी अभिव्यंजना जिसका उद्देश्य उन संवेगों को उद्दीप्त करना न हो।

२ सौन्दर्यानुभूति जीवन संवेगों का न तो तीव्र रूप है न मंद्र रूप है और न परिवर्धित रूप ही है। कुल मिलाकर सौन्दर्यानुभूति ग्राहक की भावात्मक प्रतिक्रिया पर किसी भी प्रकार का प्रत्यक्ष आक्रमण नहीं है।

३ सौन्दर्यानुभूति बहुत कुछ परोक्ष मिश्र संवादी और द्वन्द्वात्मक आदि सभी रूपों की एक तारतमिक अवस्थिति है।

काव्यानुभूति और जीवनानुभूति का संबंध

भारतीय आचार्यों की प्रवृत्ति आरंभ से ही काव्यानुभूति को लौकिक अनुभूति से भिन्न मानने की ओर रही है। आरंभ में भरत ने नाट्यधर्मी और लोकधर्मी के बीच भेद करके ही अपना विवेचन प्रस्तुत किया है। उनके उपरांत भी साधारणीकरण और 'रस निष्पत्ति आदि सिद्धान्तों की व्याख्या के संदर्भ में विभिन्न आचार्यों ने इस अनुभूति की नोक विलक्षणता या अलौकिकता का ही निर्देश किया है। इसीलिए भारत में इस अनुभूति को प्रत्यक्ष जीवनानुभूतियों के सदृश मानने का प्रश्न आचार्यों ने उठाया ही नहीं।

इसके विपरीत पश्चिम में प्लेटो ने आरंभ ही में कलाओं का तिरस्कार करते हुए उनका प्रभाव उत्तेजनात्मक माना है। किसी भी सामान्य मनोवेग का अतिरिक्त उत्तेजन

[1] लिटरेरी क्रिटिसिज्म ए शार्ट हिस्ट्री पृ० ७४० ४१

जीवन में जिस प्रकार मानव-मन के लिए हानिकर होता है उसी प्रकार कलाएँ इस प्रकार की उत्तेजना प्रदान करने के कारण उनके मतानुसार त्याज्य है। प्लेटो के उपरान्त कलाओं के संरक्षण और प्रतिष्ठा का आग्रह विद्वानों में बढ़ा तो अरस्तू ने सामान्यानुभव से भिन्न उसका प्रभाव रेचक माना और लोजाइनस ने उदात्त। क्रमशः कलानुभूत्ति को सामान्य जीवनानुभूति से भिन्न और विलक्षण मानने की प्रवृत्ति बलवती होती गई और आधुनिक काल तक आते-आते उसे लौकिक अनुभूति से इतना भिन्न और विलक्षण अतः असंबद्ध माना जाने लगा कि प्रकृतवादी विचारकों को उसे पुनःलौकिक अनुभूतियों के धरातल पर प्रतिष्ठित करने का प्रयास करना पड़ा।

लौकिक अनुभव से वषम्य

पश्चिम में कलानुभूति को लौकिक अनुभूति से भिन्न माननेवाले विद्वानों में पहला उल्लेखनीय मत प्रसिद्ध दार्शनिक काण्ट का है। उनका मत इस रूप में कुछ विशिष्ट है कि वे कलानुभूति को ऐन्द्रिय और भाव-संवेदनों से भिन्न, बोधवृत्ति और कल्पना के मध्य एक प्रकार की समरसता के रूप में स्वीकार करते हैं। इस प्रकार यह अनुभूति उस अर्थ मे लौकिक अनुभूति नही होती जिस अर्थ में सृष्टि के अन्य तत्त्वों और जीवन-व्यापारों के प्रति हमारी भावात्मक प्रतिक्रियाएँ। वस्तुतः उनके मतानुसार वह अनुभूति ही नही है। परन्तु इस अर्थ में वह लौकिक ही है कि बोधवृत्ति और कल्पना भी तो मानव की लौकिक वृत्तियाँ हैं अतः उनकी प्रतिक्रिया भी लौकिक ही स्वीकार की जाएगी। वस्तुतः काण्ट का विरोध लौकिकता से नहीं इस अनुभव की भावात्मकता से है। कला का सौन्दर्य वे रूपगत स्वीकार करते हैं। इसके विपरीत भारतीय रस-सिद्धान्त में रसानुभूति की सत्ता ही भाव-तत्त्व के आधार पर स्वीकृत है। जिन आचार्यों ने स्थायी को ही रस माना है, वहाँ तो यह आग्रह अत्यंत स्पष्ट है ही, जिन्होने उसे स्थायी से विलक्षण माना है, वे भी उसका आधार स्थायी भाव को ही स्वीकार करते है। केवल अन्य तत्त्वों से संयुक्त होकर यह स्थायी भाव विशिष्ट और विलक्षण रूप धारण कर लेता है।

काण्ट के उपरान्त जीवनानुभूति से कलानुभूति को विलक्षण माननेवाली विचार-धारा का अतिरेक और चरम प्रतिफलन कलावादी सिद्धान्त में हुआ। रोजर फ्राइ ने जब यह घोषणा की कि कलानुभूति जीवनानुभव से न केवल भिन्न है बल्कि जीवन उसके लिए सर्वथा अप्रासंगिक है तो एक बार ही उन्होने जीवन से सर्वथा भिन्न, असंपृक्त, स्वत.पूर्ण कला के संसार की प्रतिष्ठा कर दी। भारत में कलाओं की कल्पना जीवन से इस हद तक असंबद्ध रूप में कभी नही की गई। बल्कि वहाँ बार-बार काव्य-रसिक को सामाजिक कह कर उसके व्यक्तित्व-निर्माण मे परिवेश की सार्थकता की ओर निर्देश किया गया है। उसमें एक निश्चित सामान्य संस्कार, जीवनानुभव, शिक्षा और सामाजिक गुणों की अपेक्षा की गई। पश्चिम के कलावादी चिन्तक न केवल इस अनुभूति को लौकिक अनुभूति से भिन्न मानते है, बल्कि उसके लिए जीवनगत मूल्यों को सर्वथा निरर्थक भी मानते है। इससे भिन्न पूर्व के विचारको ने अनुभूति के धरातल पर उसे अलौकिक और विलक्षण तो स्वीकार किया है किन्तु जीवनगत मूल्यों की सार्थकता उसमें निरंतर मानी है। रसाभास, रस-विरोध आदि धारणाओं के मूल में जीवन के नैतिक बोध की ही प्रेरणा अंतर्निहित

रही है। पश्चिमी विद्वानों की भाँति पूर्व में कलानुभूति को जीवनानुभूति से भिन्न तो माना गया, निरपेक्ष नहीं, जबकि कलावादी चिन्तक क्लाइव बेल और रोजर फ्राई कलानुभूति को जीवनानुभूति से सर्वथा विलक्षण, स्वायत्त, पूर्णत निरपेक्ष और कलाकृति के 'सार्थक रूप' पर निर्भर मानते हैं।

भारतीय विद्वानो ने भी यह तो अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में कहा है कि रसानुभूति जीवनानुभूति से भिन्न होती है। अभिनवगुप्त ने स्पष्टत रस की सत्ता नाट्य में ही मानी, लोक में नहीं 'नाट्ये एव रस, न तु लोके,' और इस प्रकार उन्होंने रस की अलौकिकता की साग्रह तर्क-युक्ति-सम्मत प्रतिष्ठा की। वस्तुत उन्होंने जब उसे लोकोत्तर कहा तो उनका अभिप्राय उसे केवल सामान्य लोकानुभव से भिन्न और इतर सिद्ध करना था आध्यात्मिक या लोक निरपेक्ष अनुभूति नहीं। अलौकिक में 'अ' उपसर्ग का अभिप्राय है समान होते हुए भी भिन्न। ऐसा उन्होंने काव्यानुभूति की आस्वादरूपता के कारण माना है। यह अनुभूति लौकिक अनुभवों के सदृश प्रतीत होते हुए भी उनसे इसी अर्थ में भिन्न होती है क्योंकि वह व्यक्ति को क्रिया में प्रवृत्त नहीं करती।

रसानुभूति को जिन कारणों से इन आचार्यों ने लोक विलक्षण माना वे संक्षेप में इस प्रकार हैं

१ विभावादि की अलौकिकता काव्यगत विभावादि इस अर्थ में सामान्य लौकिक व्यक्तियों से भिन्न होते हैं कि उनमें व्यवहारगत अर्थक्रियाकारिता नहीं होती।

२ स्थायी की विलक्षणता रसानुभूति के आधारभूत स्थायी भाव भी इन आचार्यों के अनुसार आपातत लौकिक भावों के समान दिखाई पड़ने पर भी उनसे भिन्न होते हैं। यदि व्यावहारिक अनुभूतियों और सहृदयगत स्थायी भावों में अंतर न माना जाए तो लौकिक भावों की परिणति भी रस-रूप में स्वीकार करनी होगी, जो अनुभव से असिद्ध है। काव्य-रस या सौन्दर्यानुभूति के लिए किसी विशिष्ट सौन्दर्य भाव या रस-भाव (एस्थेटिक इमोशन) की कल्पना का अभाव इस बात का प्रमाण है कि जिन स्थायी भावों के आधार पर रसानुभूति की परिकल्पना की गई वे स्वयं ही सामान्य भावों या अनुभूतियों से विलक्षण थे।

३ विभावादि की साधारण्य प्रतीति सामान्य लौकिक व्यवहार व्यक्ति सबद्ध प्रतीति उत्पन्न करते हैं, जबकि काव्यगत विभावादि साधारण्य सबंध से साधारणीकृत प्रतीति उत्पन्न करते है। यह प्रतीति व्यक्तिगत हानि लाभ से निरपेक्षता के कारण निर्वैयक्तिक होती है।

४ विभावादि से जीवितावधि संबंध रसास्वाद की अवधि उसके उपायों के साथ अभिन्न रूप से जुड़ी रहती है, जबकि सामान्य जीवन में ऐसा नहीं होता। रस का रूप विभावादि की चर्वणा का ही है।

५ रसानुभूति की समूहालम्बनता सामान्य लौकिक अनुभूति में अनुभूति के विषय और अनुभवकर्ता की पृथक और स्वतन्त्र सत्ता होती है, जबकि रस-चक्र में रसिक, विभावानुभाव, स्थायी आदि सब एक ही समवेत प्रक्रिया के अभिन्न अंग होते हैं।

६ रसिक का तन्मयीभवन लौकिक जीवन में परकीय चित्तवृत्ति का ज्ञान हमें

तटस्थता से होता है, जबकि रसास्वाद के क्षणों में हमारी प्रतिक्रिया बोध-रूप न होकर स्वयं अनुभव-रूप होती है। रसिक को विभावादि की अनुभूति का बोध केवल तटस्थता से नहीं होता बल्कि वह स्वयं तन्मय होकर उसका अनुभव करता है।

७. रस की चर्वणारूपता : लौकिक व्यापारों की भाँति रसानुभूति में उत्तरकर्तव्योन्मुखता का अभाव रहता है। वह एकान्त चर्वणा-रूप होती है जिसकी सत्ता न विभावादि के पूर्व होती है न उसके उपरान्त। इस आस्वादरूपता से भिन्न न उसका कोई लक्ष्य है न सत्ता।

८. रस-बोध की लौकिक ज्ञान-निरपेक्षता : रस-बोध के लिए अनुमान-स्मरणादि लौकिक ज्ञान की सरणियों की अपेक्षा नही होती। वह स्वसंवेदन-सिद्ध होता है।

अभिनवगुप्त के उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि भारतीय काव्यशास्त्र में भी रसानुभूति को दैनन्दिन लौकिक अनुभवों से भिन्न और विलक्षण अनुभूति स्वीकार किया गया। यह भी अत्यंत स्पष्ट है कि अभिनवगुप्त ने जिस प्रकार ठोस तर्कों के आधार पर इसके लोक-भिन्न स्वरूप की व्याख्या की है, पश्चिम के आचार्यों में वह अप्राप्य है। न तो उन्होंने दार्शनिक काण्ट की भाँति उसके भावात्मक आधार की सत्ता ही उड़ा दी है और न कलावादी विचारकों की भाँति किसी सर्वथा जीवन-निरपेक्ष कलात्मक अनुभूति की कल्पना की। काव्य में विभावादि, स्थायी, संचारी, अनुभाव—सभी रसावयवों की कल्पना में जीवनगत व्यापारों का आधार अत्यंत स्पष्ट है। इसके अतिरिक्त नाट्य से रसानुभूति में साधारणीकरण के लिए जिस सामूहिक प्रतिक्रिया पर बल दिया गया है वह भी जीवनापेक्षा की द्योतक है। सहृदय में भी जिन गुणों की आवश्यकता का निरूपण किया गया है वह भी उसके लिए जीवन की अपेक्षा तथा अनुभव-समृद्धि की आवश्यकता को ही प्रमाणित करती हैं।

लोकानुभूति से समानता

संस्कृत काव्यशास्त्र में काव्यानुभूति और लोकानुभूति को अभिन्न मानने की भूल प्राय: नहीं की गई। केवल भरत-सूत्र के व्याख्याताओं में भट्टलोल्लट ने अनुकार्य या ऐतिहासिक पात्र में रसानुभूति की सत्ता स्वीकार कर, काव्यगत घटना और लौकिक घटना को अभिन्न रूप प्रदान किया। परन्तु यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाए तो यह भूल रस को लौकिक मानने की उतनी नहीं है जितनी रस की स्थिति संबंधी है। रस की स्थिति यदि वे अनुकार्य में नहीं मानते तो यह भूल न होती। इसी प्रकार शंकुक ने दर्शक की भूमिका को तटस्थ की भूमिका स्वीकार करने की भ्रान्ति की। किन्तु वे भी उसकी अनुभूति को चार प्रकार के न्यायों से विलक्षण 'चित्र-तुरग न्याय' के आधार पर समझाने का प्रयास करते हैं तो शब्द-भेद से उसकी लोक-भिन्नता स्वीकार कर लेते हैं।

लोल्लट और शंकुक के बाद भी जिन आचार्यों ने नाट्य-रस को सुख-दुःखात्मक स्वीकार किया है, उनके संबंध में भी यह कहा जा सकता है कि वे लोकानुभूति के सदृश ही काव्य में भी सुखदायी विषयों से सुख की और दुःखदायी विषयों से दुःख की अनुभूति स्वीकार करते थे। इस प्रकार उनकी रसानुभूति-विषयक धारणा कहीं-न-कहीं लोकानुभूति

के समकक्ष थी, परन्तु इन आचार्यों की उक्त धारणा का आधार प्राय दार्शनिक था, जो पश्चिम के प्रकृतवादी चिन्तकों की मूल दृष्टि से बहुत भिन्न था।

पश्चिम के प्रकृतवादी चिन्तकों ने जीवनानुभव और सौन्दर्यानुभूति में बीच बढ़ती खाई से चिंतित होकर बीसवीं शती में साग्रह कलागत संदर्भों को जीवनगत संदर्भों से पुन जोड़ दिया। इन विद्वानों में रिचर्ड्स और ड्यूई के मत ही प्रधान हैं। रिचर्ड्स ने प्रत्यक्ष जीवनानुभूति और काव्यानुभूति के बीच किसी प्रकार के गुणात्मक भेद का पूर्णत निषेध किया है। एक ओर इन विचारकों ने सौन्दर्यानुभूति को भाववादियों के अंध-रहस्यवाद और आध्यात्मिक शब्दजाल के कुहासे से मुक्त किया, किन्तु जीवन से कलानुभूति का संबंध स्थापित करने के उत्साह में उन्होंने दूसरे अतिवाद का परिचय दिया। यह दृष्टान्त कि कलानुभूति गैलरी की ओर जाने या सुरुह कपड़े पहनने के अनुभव से गुणात्मक दृष्टि से भिन्न नहीं है—केवल चौंकाने का प्रयास है। इस प्रकार की मान्यता भारतीय चिन्तन-परंपरा में, किसी भी स्थिति में, कभी व्यक्त नहीं की गई। इस स्थापना की दुर्बलता इसी बात से स्पष्ट है कि स्वयं इसके प्रतिपादकों को बाद में समझौते का स्वर अपनाना पड़ा। उन्होंने अपने विवेचन में आगे चल कर एक ओर तो कलावस्तु और सामान्य वस्तु में भेद स्वीकार किया और दूसरी ओर कलानुभूति एवं जीवनानुभूति को सजातीय मानते हुए भी दोनों में अंतर किया। कलानुभूति को उन्होंने अधिक जटिल, अधिक संश्लिष्ट अनुभूति माना।

जॉन ड्यूई ने भी रिचर्ड्स की ही भांति सौन्दर्यानुभूति और जीवनानुभूति में इस तर्क के आधार पर अभेद निरूपण किया कि ये दोनों एक ही जीवन-प्रवाह के अंग हैं। परन्तु साथ ही वे उनमें इस अर्थ में भेद भी स्वीकार करते हैं कि सौन्दर्यानुभव, जीवनानुभव का एक अधिक चारु, सूक्ष्म और ललित रूप है। इस प्रकार इन प्रकृतवादी चिन्तकों ने जीवनानुभूति और कलानुभूति में प्रकृति और जाति का भेद मानते हुए भी उसे एक विशेष प्रकार की जीवनानुभूति स्वीकार किया है। यदि कहें कि वे दोनों में आवयविक संबंध स्वीकार करते थे तो कदाचित् अनुचित न होगा। रिचर्ड्स और ड्यूई दोनों ने ही साधारण सामान्य जीवनानुभूतियों की अपेक्षा कलानुभूति को मनोवैज्ञानिक दृष्टि से अधिक संश्लिष्ट अनुभूति स्वीकार किया है और वह इसलिए कि उसमें अनेक तत्त्व समाहित रहते हैं, विविध मन शक्तियों का संश्लेष होता है, साध्य और साधन परस्पर अनुविद्ध रहते हैं और उसका रूप विश्रान्तिमय होता है। अन्य अनुभूतियों में कलात्मक अनुभूति का व्यावर्तक तत्त्व यही है कि वह अपने आंतरिक रूप में संहित होती है। उसमें एक प्रकार के पूर्ण परितोष का, अशेषता का बोध होता है। कलात्मक अनुभूति में एक प्रकार का अंतर्गठन और तृप्ति निहित रहती है। इसी अंतर्गठन या संगठन को वे सौन्दर्य-तत्त्व मान कर किसी व्यावहारिक अथवा बौद्धिक अनुभव में भी उसकी संभावना स्वीकार करते थे।

रिचर्ड्स और ड्यूई की विचारधारा इस विषय में भारतीय चिन्तन-पद्धति की विरोधी प्रतीत होती है। जीवनानुभव और कलानुभूति के बीच बढ़ती खाई से आशंकित होकर उन्होंने दोनों के बीच संबंध-स्थापन के उतावलेपन में जो दृष्टान्त चुने वे ही विवाद का कारण हुए। रिचर्ड्स ने गैलरी में चलने या कपड़े बदलने जैसी स्थूल क्रियाओं से

कलानुभूति की तुलना की और ड्यूई ने सभी व्यावहारिक अनुभूतियों में सौन्दर्य-तत्त्व की संभावना स्वीकार कर ली। एक अतिवाद के विरोध में यह दूसरा अतिवाद था। दोनों विचारक वस्तुतः कलानुभूति को किसी प्रकार का लोकोत्तर या आध्यात्मिक व्यापार मानने के विरोधी थे। साथ ही कला के किसी स्वतःपूर्ण जीवन-निरपेक्ष संसार की कल्पना भी उन्हे अमान्य थी, परन्तु जीवन के दैनन्दिन अनुभवों से कलानुभूति का भेद उन्होने भी शब्द-भेद से स्वीकार किया है।

पहले स्पष्ट किया जा चुका है कि भारतीय विचारकों ने काव्यानुभूति को अलौकिक कहा तो उनका अभिप्राय न आध्यात्मिक से था न लौकिक जीवन से ऊपर किसी अन्य अनुभूति से। उनका आशय ऐसी अनुभूति से था जो समान होते हुए भी भिन्न हो। अर्थात जिसका आधार तो लौकिक जीवन हो, परन्तु जो सामान्य अनुभूतियों से भिन्न हो। दोनों विचारधाराओं में मूल अंतर यह है कि जहाँ भारतीय विचारकों ने इस अनुभूति की लोक-भिन्नता पर अधिक वल दिया, वहाँ पश्चिम के प्रकृतवादी चिन्तकों ने दोनों की समानता पर। विशेपकर रस-सिद्धान्त की प्राचीन शास्त्रसिद्ध आदर्शवादी व्याख्या में इन विचारकों के मत से समानता नही मिलती। आधुनिक काल में अवश्य आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भी कलावादी सम्प्रदाय का प्रबल विरोध करते हुए कलानुभूति को जीवनानुभूति से अभिन्न माना। परन्तु यह भी पश्चिम की प्रकृतवादी चिन्ताधारा का ही प्रभाव था। रसात्मक वोध के विविध रूपों की चर्चा करते हुए उन्होने 'प्रत्यक्ष रूप-विधान' के द्वारा भी रसानुभूति स्वीकार की है।[१] उन्होंने यह प्रश्न उठाते हुए कि : "अनेक प्रकार के प्राकृतिक दृश्यों को सामने प्रत्यक्ष देख हम जिस मधुर भावना का अनुभव करते है, क्या उसे रसात्मक न मानना चाहिए ?"[२] यह निर्णय दिया कि "रसानुभूति प्रत्यक्ष या वास्तविक अनुभूति से सर्वथा पृथक कोई अंतर्वृत्ति नही है, वलिक उसी का एक उदात्त और अवदात्त स्वरूप है।"[३] उनकी यह मान्यता रिचर्ड्स के कितनी निकट है, यह प्रमाणित करना व्यर्थ है। दोनों ने पश्चिम मे कलावादी सिद्धान्त के वर्द्धमान प्रभाव का कड़े शब्दों मे विरोध किया। कलावादियों की अद्वितीयता की इस धारणा का समर्थन भारतीय शास्त्रीय शब्दावली में ढूंढ न लिया जाए इसलिए उन्होने लोकोत्तरत्व और ब्रह्मानन्द-सहोदरत्व की व्याख्या करते हुए कहा : "अलौकिकत्व का अभिप्राय इस लोक से संवंध न रखनेवाली कोई स्वर्गीय विभूति नही। इस प्रकार के केवल भाव-व्यंजक (तथ्य-वोधक नही) और स्तुतिपरक शब्दों को समीक्षा के क्षेत्र में घसीट कर पश्चिम में इधर अनेक प्रकार के अर्थशून्य वागाडम्वर खड़े किए गए थे।"[४] आचार्य शुक्ल की विचारधारा पर रिचर्ड्स का प्रभाव स्पष्ट है।

प्राचीन भारतीय चिन्तको का इस दृष्टि से स्पष्ट विरोध था। उनमे जो संयोगजन्य समानता थी वह रसानुभूति के भावात्मक स्वरूप को लेकर। उन्होने भी सौन्दर्यानुभूति को

---

१ चिन्तामणि, पृ० २४३

२ वही, पृ० २५२

३ वही, पृ० २५३

४ वही, पृ० २४७

एक प्रकार की सहित और संश्लिष्ट अनुभूति माना है। अन्तर केवल इतना है कि रिचर्ड्स ने जहाँ विरोधों के समाहार के रूप में संश्लेष की कल्पना की है, तथा ड्यूई ने अनुभूति के साथ बुद्धि-तत्त्व के संश्लेष की बात की है वहाँ भारतीय विद्वानों ने रस के विभिन्न अवयवों के संयोग की चर्चा की है। इस अंतर का ऐतिहासिक कारण यह था कि पश्चिमी विचारक त्रासदी जैसी विरोधमूलक विधा के संदर्भ में इस प्रश्न पर विचार कर रहे थे और भारतीय विचारक पुरुषार्थ चतुष्टय की साधक सुखान्त नाट्य और प्रबंध विधाओं के संदर्भ में। परन्तु इस विषय में दोनों परंपराओं में सहमति है कि यह अनुभूति विशृंखल या विघटित न होकर पूर्णत: समाहित, अखंड और संश्लिष्ट अनुभूति होती है।

जिस प्रकार भारतीय विचारकों ने भी इस अनुभूति का रूप विश्रान्तिमय, लयात्मक अत: परितोषजनक माना है, उसी प्रकार ड्यूई की दृष्टि में भी सौन्दर्यानुभूति का लक्षण संहिति व संगठन के साथ तृप्ति है।

जिस प्रकार प्रकृतवादी विचारक कलानुभूति को जीवनानुभव का ही एक रूप मानते हुए व्यावहारिक अनुभूतियों से उसकी विलक्षणता—सूक्ष्मता, लालित्य और संश्लेषात्मक प्रकृति के आधार पर निरूपित करते हैं, परन्तु उसे लोक निरपेक्ष, स्वायत्त और सर्वथा स्वतन्त्र नहीं मानते, उसी प्रकार भारतीय मनीषियों ने भी उसे लोक-विलक्षण मान कर भी लोक-निरपेक्ष नहीं माना। सहृदय को सामाजिक, रसिक और सवासन मानना ही उसको लौकिक अनुभव सापेक्ष मानने का प्रमाण है। अन्तर केवल यह है कि जहाँ प्रकृतवादी पश्चिमी आलोचकों ने उसे एक बार पूर्णत: लौकिक अनुभूति कह कर फिर उसकी लोक-भिन्नता प्रतिपादित की, अत: उनके विवेचन में वदतोव्याघात दोष आ गया, वहाँ भारतीय आचार्यों ने उसे आरंभ से ही अलौकिक कह कर उसकी लोक-विलक्षणता निरूपित की। इसके अतिरिक्त भी जितने ठोस, स्पष्ट और प्रचुर तर्कों के आधार पर भारतीय आचार्यों ने जीवनानुभूति से उसका वैषम्य सिद्ध किया है उससे रसानुभूति के लोक-भिन्न स्वरूप निरूपण के प्रति उनका आग्रह स्पष्ट है।

रसास्वाद और ब्रह्मास्वाद

रस अलौकिक है किन्तु आध्यात्मिक नहीं है। रस की अलौकिकता लौकिक भिन्नता में ही नहीं बल्कि पारलौकिक भिन्नता में भी है। रस के आदि आचार्य भरत मुनि ने तो रस के संदर्भ में 'अलौकिक' शब्द का प्रयोग भी नहीं किया है। नाट्य को लोक से भिन्न प्रतिपादित करते हुए भी मुनि ने रसास्वाद का स्वरूप स्पष्ट करने के लिए नितान्त लोक-ग्राह्य षाडव रस का ही उदाहरण दिया है।

यद्यपि उपनिषद के 'रसो वै स:' में आध्यात्मिक संकेत निहित है तथापि काव्यशास्त्र के इतिहास में भट्टनायक कदाचित प्रथम आचार्य हैं जिन्होंने रसास्वाद के संदर्भ में स्पष्ट रूप से ब्रह्मानन्द का उल्लेख किया है।[1] उनके अनुसार रस 'पर ब्रह्मास्वाद-सविध'

---

[1] Bhatt Nayak was perhaps the first to associate aesthetic experience with mystical experience.
R. Gnoli : *The Aesthetic Experience According to Abhinavagupta*, p. 56

है ।[१] स्पष्ट है कि भट्टनायक के मत से रस ब्रह्मास्वाद का निकटस्थ या सदृश है, पर्याय नही । अभिनवगुप्त भी जिन्होने 'लोचन' और 'अभिनवभारती' मे भट्टनायक का यह मत उद्धृत किया है, रस को 'सब्रह्मचारित्व' मानते है ।[2] इसी प्रकार विश्वनाथ ने भी रस को 'ब्रह्मास्वाद सहोदर' कहा है ।[3] भट्टनायक, अभिनवगुप्त एवं विश्वनाथ—सभी आचार्यो के कथन से एक ही तथ्य की पुष्टि होती है कि रसास्वाद ब्रह्मास्वाद का पर्याय नही बल्कि उसके सदृश या 'समान' है । सादृश्य मे समानता के साथ ही असमानता भी होती है । क्योकि सादृश्य का अर्थ ही है दो भिन्न पदार्थो की समानता । एतदर्थ आचार्यो ने यथास्थान इन दोनों पक्षों पर प्रकाश डाला है । शार्ङ्गदेव-रचित 'सगीत रत्नाकर' के कथन 'ब्रह्मसविद् विसदृशी······ सविद्' (७।१२६६) पर टीका करते हुए कल्लिनाथ ने स्पष्ट कहा है कि रत्यादि स्थायी भावों के संबंध के कारण ब्रह्मसंविद् से विसदृश होते हुए भी रस अशतः सच्चिदानन्द के सदृश है ।[४]

प्रस्तुत प्रसंग मे समानता से अधिक महत्त्वपूर्ण असमानता हे, इसलिए आचार्यो ने अनेक प्रकार से ब्रह्मास्वाद से रसास्वाद की भिन्नता एवं विशिष्टता का स्पष्टीकरण किया है ।

ब्रह्मास्वाद से रसास्वाद की पहली विशेपता तो यही है कि जिस आनन्द को योगिजन कठोर साधना से बलपूर्वक प्राप्त करते है उसे सहृदय सुखपूर्वक अनायास ही प्राप्त कर लेता है । अभिनवगुप्त ने इस तथ्य की पुष्टि के लिए भट्टनायक की निम्न कारिका उद्धत की है :

वाग्धेनुर्दुग्ध एतं हि रसं यद्बालतृष्णया ।
तेन नास्य समः स स्याद् दुह्यते योगिभिर्हि यः ।

अर्थात (सहृदयजन रूप) वत्स मे स्नेह के कारण वाग्धेनु इस रस को जो प्रस्तुत करती है उसके समान वह रस हो ही नही सकता जिसे योगी लोग दुहा करते हें ।

इसे और भी स्पष्ट करते हुए अभिनवगुप्त ने आगे अपनी ओर से यह कहा है कि 'जिसे योगी लोग रसावेश के विना ही केवल वलपूर्वक दुहा करते है ।' अपने कथन को पुष्ट करने के लिए इसके साथ ही अभिनवगुप्त ने कालिदास के 'कुमारसभव' का वह छद उद्धृत किया हे जिसमें कहा गया है कि : 'दोहन मे दक्ष मेरु के रहते हुए भी सारे पर्वतो ने जिस

---

१ (क) भाविते च रसे तस्य भोगः······रजस्तमोवैचित्र्यानुविद्धसत्वमयनिजचित्स्वभावनिर्वृतिविश्रान्तिलक्षणः परब्रह्मास्वादसविधः । ध्वन्यालोक, पृ० १६३

२ (ख) भावकत्व-व्यापारेण भाव्यमानो रसो······सत्वोद्रेक-प्रकाशानन्दमयनिजसंविद्विश्रान्ति-लक्षणेन परब्रह्मास्वादसविधेन भोगेन परं भुज्यत एव ।
अभिनवभारती, भाग १, पृ० २७७

3 परब्रह्मास्वादसब्रह्मचारित्वं चास्तवस्य रसास्वादस्य । ध्वन्यालोक, पृ० २००
साहित्यदर्पण, ३।२

४ नानारत्यादिसंगमाद् बहुधाभूतरत्यादिस्थायभावसंबंधाद्धेतोः ब्रह्मसंविदो वैसादृश्यमुक्त्वा अंशान्तरैः सच्चिदानन्दरूपैः तत्सादृश्यमप्याह ।
डॉ० राघवन द्वारा 'भोज का शृंगारप्रकाश', पृ० ४८१ पर उद्धृत

हिमालय को वत्स बना कर पृथु द्वारा उपदिष्ट धरित्री से रत्नों और महौषधियों का दोहन किया।[1] इस कथन को देखते हुए अभिनवगुप्त के अनुसार योगी यदि मेरु है तो सहृदय हिमालय है।

काव्यानन्द योग द्वारा प्राप्त आनन्द की तुलना में अधिक सुखावह एवं सुकुमार है इसका उल्लेख अभिनवगुप्त ने 'लोचन' में ही अन्यत्र भी किया है।[2] 'अभिनवभारती' में भी जहाँ उन्होंने योगिप्रत्यय को विषयास्वादशून्यता के कारण 'परुष' कहा है वहाँ रस प्रतीति को हृद्यतातिशय से युक्त माना है।[3] कदाचित योगज आनन्द की 'एकघनता' के लिए योगियों में एक प्रकार की अतिरिक्त परुषता अपरिहार्य हो जाती है जिससे काव्य का सहृदय मुक्त रहता है। परुषता के कारण ही योगी 'वीर' अथवा 'महावीर' कहलाता है जबकि काव्यशास्त्र में सहृदय के लिए सर्वत्र 'सुकुमार' शब्द का प्रयोग किया जाता है।

इसके अतिरिक्त योग एवं काव्य दोनों के आनन्द के स्वरूप में भी अंतर होता है। योगी दो प्रकार के होते हैं मितयोगी एवं परमयोगी। मितयोगी का ज्ञान तटस्थ एवं परसंवेदनात्मक होता है इसलिए उसमें रसात्मकता नहीं होती। इसी प्रकार परमयोगी सभी विषयों के उपराग से शून्य होकर शुद्ध एकघन आत्मानन्द को उपलब्ध करता है इसलिए वह भी सौन्दर्यरहित होता है।[4] रसास्वाद इन दोनों प्रकार के अनुभवों से इसलिए विशिष्ट होता है कि काव्य का सहृदय काव्य विषयों में तटस्थ रहने के स्थान पर आत्मानुप्रवेश करता है। इसीलिए सहृदय के लिए तादात्म्य एवं तन्मयीभवन आवश्यक है। इस तादात्म्य के कारण ही योगी के शुद्ध आत्मानन्द के विपरीत सहृदय का चिदानन्द विभावादि विषयों से संवलित रहता है। ब्रह्मास्वाद विषयविहीन शुद्ध चिदानन्द होता है तो काव्यानन्द विभावादि संवलित चिदानन्द।[5]

रसास्वाद में रत्यादि भाव और चित् के संबंध के रूप पर दर्शन भेद से आचार्यों में मतभेद हो सकता है किन्तु इस बात पर प्रायः सभी रसवादी एकमत हैं कि रसास्वाद रत्यादि संवलित चिदानन्द है। अभिनवगुप्त प्रभृति शैवाद्वैत मतावलम्बी आचार्य चिद्विशिष्ट रत्यादि स्थायी भाव को रस मानते हैं तो शांकर अद्वैतवादी पंडितराज रत्यादि-अवच्छिन्न भग्नावरण चित् को। एक जगह चित् विशेषण और रति आदि स्थायी भाव विशेष्य हैं और दूसरी जगह चित् विशेष्य है और रति आदि स्थायी भाव विशेषण। इस अंतर के रहते हुए भी रस

---

1 ध्वन्यालोक, पृ० ९३

2 शब्दसमर्प्यमाणहृदयसंवादसुन्दरविभावानुभावसमुचितप्राग्विनिविष्टरत्यादिवासनानुराग-सुकुमारस्वसंविदानन्दचर्वणाव्यापाररसनीयरूपो रसः। ध्वन्यालोक पृ० ५०

3 योगिप्रत्ययाच्च विषयास्वादशून्यतापरुषाद्विलक्षणाकार-सुखदुःखादि विचित्र-वासनानुवेधापतितहृद्यतातिशय-संविच्चर्वणात्मना भुञ्जते बुधाः। अभिनवभारती भाग १, पृ० २६०

4 सा च योगिप्रत्यक्षजतटस्थपरसंवित्तिमानात्सकलवैषयिकोपरागशून्यशुद्धपरयोगिगत-स्वात्मानन्दैकघनानुभवाच्च विशिष्यते। एतेषां यथायोगमर्जनादिविघ्नान्तरोदयताटस्थ्याऽ-स्फुटत्वविषयावेशवैवश्यकृतसौन्दर्यविरहात्। वही पृ० २८५

5 इयं च परब्रह्मास्वादात् समाधेर्विलक्षणा, विभावादिविषय-संवलितचिदानन्दालम्बनत्वात्।
रसगंगाधर, पृ० ९०

में रति आदि स्थायी भाव एवं चैतन्य दोनों का अंशतः विद्यमान होना निश्चित है। चैतन्यांश को लेकर रस नित्य और स्वप्रकाश है और रति आदि भावों के अंश को लेकर अनित्य और परप्रकाश।[१] यह सम्मिश्रण ही रसास्वाद को ब्रह्मास्वाद से भिन्न एवं विशिष्ट सिद्ध करता है।

इसीलिए योगी जहाँ सभी प्रकार के द्वन्द्वों एवं विरोधों को ज्ञानाग्नि द्वारा विनष्ट करके एकघन रूप प्रदान कर लेता है, वहाँ सहृदय के चित्त में वासनादि संस्कारों के साथ ही विभावादि द्वारा व्यक्त भाव भी जीवित्त रहते हैं। ब्रह्मास्वाद में जहाँ द्वन्द्व-रूप तत्वों में से एक का दमन किया जाता है, काव्यास्वाद में दोनों के अस्तित्व को किसी-न-किसी प्रकार सुरक्षित रखते हुए चर्वणा एवं आस्वाद का रूप दिया जाता है।[२]

इसके अतिरिक्त परम योगी के अनुभव का साक्षात्कार स्वगत होता है, अतः वह दूसरों के अनुभव का विषय हो ही नहीं सकता। परन्तु रसात्मक अनुभव सभी सामाजिकों मे समान रूप से अवस्थित रहता है, अतः इसके संबंध में यह नहीं कहा जा सकता कि उसके अनुभव करने के विषय में किसी प्रकार की विवशता अथवा बाधा है। रसास्वाद की यह साधारणीकृत स्थिति उसको मात्र स्वात्मगत अनुभव से भिन्न कर देती है।[3]

रसास्वाद ब्रह्मास्वाद से इस अर्थ में भी भिन्न है कि ब्रह्मानन्द की उपलब्धि जहाँ श्रवण, मनन, निदिध्यासन आदि व्यापारो से ही संभव हो जाती है वहाँ काव्यानन्द काव्य-निर्भर है, जिसकी प्राप्ति काव्य के व्यंजना-व्यापार से होती है। इससे यह प्रमाणित होता है कि ब्रह्मास्वाद और काव्यास्वाद मे कारण के साथ ही व्यापार की दृष्टि से भी भेद है।[४]

इस प्रकार रसानुभूति लोक-भिन्न ही नही वल्कि योग-भिन्न भी है और यही उसकी अलौकिकता अथवा विलक्षणता है।

इतना होते हुए भी यह न भूलना चाहिए कि काव्यशास्त्र के आचार्यो ने रस के स्वरूप का वर्णन करने के लिए प्रायः 'विश्रान्ति', 'निर्वृत्ति', 'लय', 'निर्वेश', 'समापत्ति', 'चमत्कार' आदि उन्ही पारिभाषिक शब्दों की सहायता ली है जिनका प्रयोग मुख्यतः ब्रह्म

---

१ इत्थं चाभिनवगुप्त-मम्मटभट्टादिग्रन्थस्वारस्येन भग्नावरण-चिद्विशिष्टो रत्यादिःस्थायी भावो रस इति स्थितम्। वस्तुतस्तु वक्ष्यमाणश्रुतिस्वारस्येन रत्याद्यवच्छिन्ना भग्नावरणा चिदेव रसः। सर्वथैव चास्या विशिष्टात्मनो विशेषणं विशेष्यं वा हि चिदंशमादाय, नित्यत्वं स्वप्रकाशत्वं च सिद्धम्। रत्यावंशमादाय त्वनित्यभितरभास्यत्वं च।

रसगंगाधर, पृ० ८८-८९

२ Mystical experience involves the annihilation of every pair of opposites, every thing is reabsorbed in its dissolving fire. Sun, moon, night and day, beautiful and ugly, etc., no longer exist in it. The limited 'I' is completely absorbed into Siva or Bhairava, the adored object; every thing vanishes from the field of consciousness. Aesthetic experience, on the other hand, requires the presence of the Patent traces of Delight, etc. (aroused by the operation of the Determinants, etc.)

R. Gnoli : *The Aesthetic Experience According to Abhinavagupta*, p. 100.

3 डॉ० रघुवंश : भरत का नाट्यशास्त्र, पृ० ३०८

४ भाव्या च काव्यव्यापारमात्रात्। रसगगाधर, पृ० ९०

के निरूपण में किया गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि परवर्ती युग में योग एवं धर्म के बढ़ते हुए प्रभाव को देखकर काव्य को उनके समकक्ष गौरवपूर्ण पद दिलाने के लिए आचार्यों ने उसे ब्रह्मास्वाद सविध एवं ब्रह्मानन्द सहोदर प्रमाणित करने का अथक प्रयास किया। अभिनवगुप्त आदि आचार्यों के सारे विवेचन से यही ध्वनित होता है कि जिस आनन्द की उपलब्धि के लिए धर्म दर्शन योग आदि में कठिन साधनाओं का विधान बतलाया गया है उसी को काव्य के माध्यम से सहृदय सहज ही प्राप्त कर लेता है। शैवागम के कश्मीरी आचार्यों ने इसीलिए रस को लगभग शिव रूप सिद्ध कर दिया और बाद में गौड़ीय वैष्णवों ने उनसे भी एक कदम आगे बढ़ कर माधुर्य भाव को कृष्णभक्ति के आधार पर भक्ति रस का एक शास्त्र ही रच डाला जहाँ पहुँच कर रस सिद्धांत रस की पूर्व प्रतिष्ठित लौकिक भूमिका पार कर नितान्त आध्यात्मिक स्थिति में निमज्जित हो गया।[१] एक अतिरेक के होते हुए भी यह उल्लेखनीय है कि इस प्रयास में भी अधिकांश आचार्यों ने काव्य की स्वतंत्र सत्ता अक्षुण्ण रखी।

सौन्दर्यानुभूति और आध्यात्मिक अनुभूति

कला से प्राप्त होनेवाली अनुभूति की उदात्तता गहनता और रहस्यमयता को ध्यान में रखते हुए प्राय उसके स्वरूप का विवरण आध्यात्मिक अनुभूति के रूपकों के माध्यम से किया जाता रहा है। इसका एक कारण संभवत यह है कि पाश्चात्य सौन्दर्यशास्त्र एक दीर्घ काल तक भाववादी दार्शनिक प्रणालियों और धार्मिक मान्यताओं के प्रभाव की छाया में विकसित होता रहा। कैथलिक विचारकों ने कला के सृजन से लेकर ग्रहण तक की सम्पूर्ण प्रक्रिया को प्राय ईसाई धर्म की साम्प्रदायिक संज्ञाओं एवं प्रतीकों की सहायता से निरूपित किया है। उदाहरण के लिए कभी कला को एपिफनी कहा गया है तो कभी उसकी निर्वैयक्तिकता को आइकन की सहायता से समझाया जाता है और कभी काव्यानुभूति को सामान्य सम्प्रेषण (कम्यूनिकेशन) से भी आगे बढ़ कर कम्यूनियन कहा गया है। इसी प्रकार अनेक सृजनशील कलाकारों ने भी अपने सृजनात्मक अनुभवों की तीव्रता को रहस्यमय एवं गूढ़ आध्यात्मिक संवेदन में व्यक्त किया है। इसके अतिरिक्त आधुनिक महत्त्वपूर्ण समीक्षकों ने भी काव्यगत महत्ता को धार्मिक संवेदन के रूप में समझाने का प्रयास किया है। मैथ्यू आर्नल्ड ने तो आधुनिक युग में कविता को धर्म का स्थानापन्न घोषित करते हुए धर्म की भाँति ही कविता को भी सान्त्वना शान्ति और आशा प्रदान करनेवाली माना है। टी॰ एस॰ इलियट ने कैथलिक आस्था स्वीकार करने के बाद स्पष्ट शब्दों में कहा है कि कलात्मक भाव बोध धार्मिक भाव बोध से परित्यक्त होकर दरिद्र हो जाता है और इसलिए कलात्मक भाव बोध का आध्यात्मिक अभिज्ञान में विस्तार आवश्यक है।[२]

एफ॰ आर॰ लीविस ने डी॰ एच॰ लारेन्स के जीवन संबंधी बोध के गाम्भीर्य को स्पष्ट करने के लिए धार्मिक शब्दावली से गृहीत श्रद्धा (रेवरेंस) शब्द का प्रयोग किया है और एक अन्य संदर्भ में उस अर्थ गाम्भीर्य को स्पष्ट शब्दों में धार्मिक गाम्भीर्य की

---

[१] शिवप्रसाद भट्टाचार्य स्टडीज इन इंडियन पोएटिक्स पृ॰ ४५ ५३

[२] नोट्स टुवर्ड्स द डेफिनेशन आफ कल्चर पृ॰ २६

अभिधा प्रदान करते हुए इस प्रकार कहा है : "महान साहित्य के संपर्क में आने पर हमें उस तथ्य का बोध होता है जिसे हम अपने अन्तरतम की गहराई मे सचमुच ही आस्थापूर्वक मानते है। 'किसलिए—अंततः किसलिए ? लोग किसलिए जीवित रहते है'—जैसे प्रश्न विचार और अनुभूति की धार्मिक गहराई को व्यक्त करते हैं। जब डी० एच० लॉरेंस अपने उपन्यास 'इन्द्रधनुष' में नैश आकाश की गहराई के नीचे सोचते हुए टाम ब्रैगवैन के बारे में कहते हैं कि "उसने जान लिया कि अब वह अपना नही रहा' तो वे धार्मिक स्तर की अनुभूति को व्यक्त करते है।"[१]

द्वितीय महायुद्ध से पूर्व फ्रास मे काव्यानुभूति और आध्यात्मिक अनुभूति के पारस्परिक संबंध पर व्यापक रूप से विवाद हुआ था। हेनरी ब्रेमो ने कुछ अर्धसत्य प्रस्तुत किए तो कवि क्लादेल ने इस विषय पर अतिरंजित सत्यो का आख्यान किया। प्रसिद्ध फ्रेंच सौन्दर्यशास्त्री ज्याक मारिते के अनुसार अंततः इस विवाद से यह विवेकसम्मत निष्कर्ष निकला कि काव्यानुभूति और आध्यात्मिक अनुभूति प्रकृत्या भिन्न है। इस भेद पर प्रकाश डालते हुए ज्याक मारितें ने लिखा है कि काव्यानुभूति का संबंध इस सृष्टि के असख्य प्राणियों के अन्तर्वैयक्तिक संबंधों से होता है; जबकि आध्यात्मिक अनुभूति का सबध वस्तुओं की अगोचर और लोकोत्तर अन्विति के सिद्धान्त से होता है। सम-प्रकृति के माध्यम से प्राप्त होनेवाला गुह्य ज्ञान, जो काव्यानुभूति की विशिष्टता है, मानव के अन्तरतम मे स्थित संवेगों को जाग्रत करने से संपन्न होता हे; किन्तु उससे भी गुह्य, स्थायी एवं चरम ज्ञान, जो आध्यात्मिक अनुभूति की अपनी विशिष्टता है, या तो बौद्धिक एकाग्रता के द्वारा शून्य की सृष्टि करके, उस शून्य के साथ आत्मा के अनिर्वचनीय स्पर्श के द्वारा उत्पन्न होता है अथवा प्रभु-प्रसाद से, मानसिक संवेगों का अतिक्रमण करनेवाली आत्मा के साथ प्रभु के सम्मिलन में परिणत होता है। इसके अतिरिक्त काव्यानुभूति आरंभ से ही अभिव्यक्ति की ओर उन्मुख होती है। जिसकी परिणति या तो विवक्षित शब्द मे होती है अथवा एक कृति मे। दूसरी ओर आध्यात्मिक अनुभूति की प्रवृत्ति मौन की ओर होती है और उसकी परिणति सर्वव्यापी परम सत्ता के आस्वाद मे होती है। किन्तु ज्याक मारिते का अपना मत है कि "प्रकृत्या भिन्न होते हुए भी काव्यानुभूति और आध्यात्मिक अनुभूति पास ही पास जन्म ग्रहण करती है। दोनों ही का जन्म आत्मा के केन्द्र के निकट होता है, और दोनो ही का मूल उत्स चेतना का प्राग्बौद्धिक या आधिबौद्धिक स्तर है। आश्चर्य नही जो दोनों ही असंख्य विधियो से एक-दूसरे को काटते हुए परस्पर संप्रेषण-व्यापार में प्रवृत्त रहती हैं। काव्यानुभूति स्वभावतः अनुचिन्तन के लिए अवकाश नहीं छोड़ती और न उस अनुचिन्तन के साथ किसी अन्य वस्तु का मिश्रण ही स्वीकार करती है, जबकि आध्यात्मिक अनुभूति पहले ही से अनुचिन्तन के लिए पथ प्रशस्त किए रखती है, जिसके द्वारा वह मौन भी कभी-कभी काव्यात्मक अभिव्यंजना में परिणत हो जाता है।"[२]

"सौन्दर्यानुभूति और धार्मिक अनुभूति न तद्वत है और न सजातीय। किन्तु अपने सर्वोत्तम रूप मे वे समान होती है, क्योकि उस बिन्दु पर दोनो ही जीवन में महान आस्था

---

[१] टू कल्चर्स : द सिग्निफ़िकेन्स ऑफ़ सी० पी० स्नो, पृ० २३

[२] क्रिएटिव इंट्यूशन इन आर्ट एण्ड पोएट्री, पृ० १७३

द्योतित करती हैं। इस अर्थ में भी दोनों एक हैं कि मनुष्य में जितनी भी क्षमता है उसकी सर्वोच्च सिद्धि प्रायः दोनों ही में उपलब्ध होती है, और सिद्धि के परम शिखर पर पहुँच कर दोनों ही यह विश्वास उत्पन्न करती हैं कि जीवन महानता से वंचित नहीं है। मोज़ार्ट का 'जी माइनर क्विन्टेट' धार्मिकता की ऊँचाई छू लेता है, इसलिए नहीं कि वह विशेष रूप से एक पावन अवसर के लिए निर्मित है बल्कि इसलिए कि वह गायक और श्रोता को बराबर अपनी इस क्षमता के प्रति आश्वस्त करता है कि उसका अनुसरण करनेवाला अपनी सामान्य जीवन-चर्या और जागतिक अर्ध निद्रा का अतिक्रमण करके सच्चे अर्थ में जीवित होने का अनुभव करता है।"[1]

काव्यानुभूति और आध्यात्मिक अनुभूति का संबंध

काव्यानुभूति को पूर्व और पश्चिम दोनों के अधिकांश विद्वानों ने जीवनानुभूति से भिन्न ही नहीं अधिक उदात्त और परिष्कृत अनुभूति स्वीकार किया है। इस अनुभूति की उत्कृष्टता एवं लोक भिन्नता की व्याख्या करने के लिए अध्यात्म तथा दर्शन से शब्दावली ग्रहण करने की प्रवृत्ति स्वदेश विदेश के आचार्यों में अत्यंत प्रिय रही है। यद्यपि इस शब्दावली के प्रयोग का उद्देश्य इस अनुभूति की लोकोत्तरता या आध्यात्मिकता सिद्ध करना उतना नहीं था जितना लौकिक अनुभूति से भिन्नता एवं उदात्तता, तथापि आध्यात्मिक शब्दावली के प्रयोग के कारण यह प्रश्न विचारणीय अवश्य हो जाता है कि इन आचार्यों ने आध्यात्मिक शब्दावली का प्रयोग करने पर भी उसे आध्यात्मिक अनुभूति से किस रूप में भिन्न माना है।

एक बात इस संदर्भ में विशेष रूप से ध्यान रखने की है। भारत में काव्य चिन्तन जहाँ आरंभ से ही धार्मिक मनाग्रहों से बहुत-कुछ मुक्त था वहाँ पश्चिम में कला और साहित्य पर ईसाई धर्म के प्रभाव विस्तार के साथ काव्यानुभूति को धार्मिक अनुभूतियों के रूपकों और शब्दावली से समझाया जाने लगा था। वहाँ इस प्रकार की व्याख्याएँ आस्था मूलक धार्मिक दृष्टि से की गईं जबकि पूर्व में दर्शन की बौद्धिक और तर्कप्रधान दृष्टि से। इसके अतिरिक्त विज्ञान के विकास के साथ, पश्चिम में कलाओं की उपयोगिता शंकास्पद होने लगी। विज्ञान जहाँ ज्ञान का प्रकाश देता हो, वहाँ तुलना में कलाओं की सार्थकता और अस्तित्व के औचित्य की व्याख्या के लिए धार्मिक शब्दावली का आश्रय लेते हुए यह प्रयास किया जाने लगा कि उस वैज्ञानिक युग में उन्हें धर्म का स्थानापन्न सिद्ध कर दिया जाए।

एक बात दोनों चिन्तन परंपराओं में समान है। जिस प्रकार आदि आचार्य भरत मुनि ने काव्यानुभूति को आध्यात्मिक अनुभूति नहीं कहा, उसी प्रकार प्लेटो और अरस्तू ने भी नहीं। वस्तुतः जहाँ भरत आरंभ से ही सावधान रह कर 'नाट्यधर्मी' और 'लोकधर्मी' के बीच एक निश्चित भेद करके चले वहाँ प्लेटो और अरस्तू दोनों ने ही जिस रूप में काव्य का प्रभाव मनोवेगों का उत्तेजन माना है, उससे स्पष्ट है कि वे उस आस्वाद को लौकिक अनुभूतियों से बहुत भिन्न नहीं मानते थे। पश्चिम में काव्य के आस्वाद को उदात्त मानने

---

[1] जेम्स एल० जैरट : द क्वैस्ट फॉर ब्यूटी, पृ० २८६

वाले पहले आचार्य शायद लोंजाइनस थे। किन्तु लोंजाइनस ने काव्यानुभूति को आध्यात्मिक अनुभूति नहीं माना।

एक बात इस संबंध में अत्यंत रोचक है। भारतीय आचार्यों में से रसानुभूति के संदर्भ में आध्यात्मिक शब्दावली का प्रयोग करनेवाले पहले आचार्य भट्टनायक भी इस संबंध में अत्यंत सावधान थे कि वे काव्यानुभूति को पारलौकिक या आध्यात्मिक न बना दें, अतः वे जब रस की व्याख्या करते है तो उसे ब्रह्मास्वाद न कह कर ब्रह्मास्वाद सविध कहते है। यही नही अभिनवगुप्त भी 'ध्वन्यालोक-लोचन' में उनका मत उद्धृत करते हुए स्वयं भी रस के 'सब्रह्मचारित्व' की पुष्टि करते है। विश्वनाथ ने भी रस को ब्रह्मास्वाद न कह कर 'ब्रह्मास्वाद-सहोदर' कहा है। इन आचार्यो के मतों से सर्वथा स्पष्ट है कि वे काव्यास्वाद को आत्मास्वाद या ब्रह्मास्वाद का पर्याय नहीं मानते, बल्कि उसके सदृश मानते है। कहने का सार यह है कि काव्यास्वाद की अलौकिकता की व्याख्या दार्शनिक शब्दावली मे करने पर भी इन आचार्यों का अधिक ध्यान ब्रह्मास्वाद से उसकी भिन्नता सिद्ध करने पर रहा है। रसानुभूति की व्याख्या के संदर्भ में दार्शनिक शब्दावली का अवलम्ब इन आचार्यो ने उसकी आध्यात्मिकता सिद्ध करने के लिए नहीं, बल्कि उसकी लोक-भिन्नता और विलक्षणता सिद्ध करने के लिए लिया है।

विचित्र बात है कि भारतीय मनीषा जहाँ धर्म और दर्शन से अधिक आक्रान्त रही है, वहाँ पाश्चात्य विचार-पद्धति को अधिक वैज्ञानिक और विवेकपुष्ट स्वीकार किया जाता रहा है। परन्तु भारतीय आचार्यो ने जहाँ आरंभ से ही धार्मिक अनुभूति और रसानुभूति के अंतर को अत्यंत सावधानी से बनाए रखा, वहाँ अपेक्षाकृत आधुनिक और वैज्ञानिक युग के पाश्चात्य विचारक कलात्मक बोध को प्रायः धार्मिक अनुभूति से संयुक्त या संवलित मानने की ओर उन्मुख दिखाई पड़ते हैं। उसका कारण जैसा पहले भी स्पष्ट किया जा चुका है, वैज्ञानिक युग की वर्धमान बौद्धिकता ही रही, जिसके कारण विज्ञान के ज्ञानालोक में विज्ञान से इतर सभी व्यापारों की सार्थकता पर प्रश्न-चिह्न लगाया जाने लगा। ऐसी स्थिति में जब धर्म भी शंका का विषय हो गया, कलाओं का औचित्य इसी तर्क के आधार पर सिद्ध किया जाने लगा कि जो आत्मिक शान्ति और मोक्ष धर्म के माध्यम से प्राप्य समझे जाते हैं, वही प्रयोजन आधुनिक युग में कला द्वारा सिद्ध हो सकते है।

मैथ्यू आर्नल्ड ने स्पष्ट शब्दों में कविता को धर्म का स्थानापन्न कहा ही है; परन्तु आश्चर्य की बात यह है कि जिस युग में एक ओर ड्यूई और रिचर्ड्स जैसे विचारक कलानुभूति को जीवनानुभूति से अभिन्न प्रतिपादित कर रहे थे, उसी युग में इलियट 'कलात्मक भाव-बोध का आध्यात्मिक अभिज्ञान में विस्तार' आवश्यक बता रहे थे। अधुनातन विचारकों में एफ़० आर० लीविस ने भी कलानुभूति के संदर्भ में धार्मिक शब्दावली का प्रयोग किया है। भारतीय विचारकों में इस प्रकार का भ्रम काव्यशास्त्र संबंधी चिन्तन के क्षेत्र में नहीं हुआ। इस प्रकार का मत परवर्ती युग में केवल बँगला के वैष्णव आचार्यो की भक्ति रस की प्रकल्पना में उपलब्ध होता है। भक्ति रस या मधुर रस की अनुभूति धार्मिक अनुभूति है, और उसे परम रस या एकमात्र रस स्वीकार करने का अर्थ है—काव्यानुभूति मात्र को धार्मिक अनुभूति मानना।

जिस प्रकार पाश्चात्य विचारकों ने धार्मिक शब्दावली के माध्यम से काव्यानुभूति के स्वरूप की व्याख्या की है, उसी प्रकार भारतीय आचार्यों ने भी। परन्तु जहाँ एक ओर स्वदेश विदेश के आचार्यों का उद्देश्य जीवनानुभव की तुलना में इस अनुभूति की उत्कृष्टता सिद्ध करना है, वहाँ दूसरी ओर भारतीय आचार्यों ने इसे कम-से-कम योगाभ्यास से उपलब्ध अनुभूति की तुलना में हृदयातिशायी होने के कारण अधिक सुकुमार, सौन्दर्य निर्भर अत सुखावह माना है। इस प्रकार कम से-कम व्यावहारिक स्तर पर यह अनुभूति अपेक्षाकृत प्रेय और ग्राह्य सिद्ध होती है।

आत्मानन्द और काव्यानन्द में निश्चित भेद है, इस संबंध में भारतीय आचार्यों के मन में कोई दुविधा न थी। अभिनवगुप्त ने अत्यंत स्पष्ट शब्दों में विषयानन्द, काव्यानन्द और ब्रह्मानन्द के बीच पारस्परिक अन्तर की व्याख्या की है। वे ब्रह्मानन्द को विशुद्ध चित् का, संवित् या आत्मा का आस्वाद मानते हैं, और काव्यानन्द को चित् विशिष्ट भाव का आस्वाद, जिसमें हृदय तत्त्व की प्रधानता रहती है। एक मुख्यत भाव का आस्वाद है, दूसरा विशुद्ध आत्मा का। और-तो और, आत्मेतर सभी सृष्टि और व्यापारों को मिथ्या माननेवाले वेदान्ती आचार्य पण्डितराज जगन्नाथ भी काव्यानन्द को भाव-विशिष्ट चित् का आस्वाद मानते है। इस प्रकार काव्यानुभूति को भारतीय आचार्यों ने कभी आध्यात्मिक अनुभूति से अभिन्न मानने की भूल नहीं की।

पश्चिम में भी अन्तत काव्यानुभूति और आध्यात्मिक अनुभूति के पारस्परिक संबंध को लेकर आधुनिक युग में जो विवाद हुआ, उसका निष्कर्ष यही निकला कि काव्यानुभूति आध्यात्मिक अनुभूति से भिन्न है। जिस प्रकार अभिनवगुप्त ने तर्क प्रस्तुत किया था कि हृदय या भाव तत्त्व की प्रधानता के कारण यह अनुभूति आध्यात्मिक अनुभूति से भिन्न है, उसी प्रकार ज्याक मारितें ने भी शब्द-भेद से यही कहा कि जहाँ काव्यानुभूति का संबंध इस सृष्टि के असंख्य प्राणियों के अन्तर्वैयक्तिक संबंधों से होता है, आध्यात्मिक अनुभूति का संबंध वस्तुओं की अगोचर और लोकोत्तर अन्विति के सिद्धान्त से होता है। सृष्टि के प्राणियों का अन्तर्वैयक्तिक संबंध हार्दिक बौद्धिक आदि आन्तरिक लौकिक वृत्तियों का ही संभव हो सकता है और अगोचर तथा लोकोत्तर अन्विति का संबंध इन्द्रियातीत विषय से ही हो सकता है। ज्याक मारितें ने भी काव्यानुभूति का संबंध मानव के अन्तरतम में स्थित संवेगों की जागृति से जोड़ा है और इस प्रकार उसे संवेग प्रधान माना है, जबकि आध्यात्मिक अनुभूति की विशिष्टता उसका गुह्य, स्थायी एवं चरम ज्ञान रूप होना है, जो या तो आत्मा के धरातल पर बौद्धिक एकाग्रता के द्वारा संपन्न होती है, अथवा प्रभु-प्रसाद से। यह अनुभूति मानसिक संवेगों का अतिक्रमण करके ही संभव है। ज्याक मारितें का यह तर्क अभिनवगुप्त के 'हृदयातिशयता' एवं भाव की प्रधानता के तर्क से बहुत भिन्न नहीं है। किन्तु मारितें ने जहाँ काव्यानुभूति में अनुचिन्तन का अवकाश बिल्कुल नहीं स्वीकार किया है, वहाँ आध्यात्मिक अनुभूति को अनुचिन्तन प्रधान ही माना है। इसके विपरीत भारतीय आचार्य तो काव्यानुभूति को 'रसना च बोधरूपा' कह कर उसमें ज्ञान और अनुचिन्तन का अंश स्वीकार कर लेते हैं। वस्तुत मारितें का अभिप्राय भी कदाचित् ज्ञानरूपता का पूर्णत निषेध न करके, बलाबल का अन्तर निरूपित करना ही था।

मारितें ने दोनों के बीच भेद निरूपित करते हुए एक तर्क और भी प्रस्तुत किया

है। उनका विचार है कि जहाँ काव्यानुभूति की प्रवृत्ति अभिव्यक्ति की ओर उन्मुख होती है, वहाँ आध्यात्मिक अनुभूति की प्रवृत्ति मौन की ओर। पहली की विवक्षा शब्द अथवा कृतित्व के माध्यम से होती है और दूसरी गूँगे का गुड़ है, वह केवल आस्वाद रूप है।

दोनों अनुभूतियों में अंतर स्वीकार करते हुए भी स्वदेश-विदेश के आचार्यों ने कहीं-न-कहीं दोनों में समानता भी स्वीकार की है। जिस प्रकार भारतीय आचार्यों ने उसे ब्रह्मास्वाद-सहोदर आदि कह कर चिन्मय, स्वप्रकाशानन्द आदि विशेषणों से उसके स्वरूप को परिभाषित किया है, वहाँ पश्चिमी विचारकों ने भी उसे एक प्रकार का 'कम्यूनियन', 'एपिफ़ेनी' और 'आइकन' कहा है। जिस प्रकार भारतीय आचार्यों ने उसे लोकोत्तर माना है, उसी प्रकार विदेश के आचार्यों ने भी उसे मनुष्य की क्षमता की सर्वोच्च सिद्धि स्वीकार किया है। दोनों ही ने शब्द-भेद से जीवनानुभूति की तुलना में काव्यानुभूति की उत्कृष्टता, विलक्षणता और अलौकिकता सिद्ध करने के लिए धार्मिक-दार्शनिक शब्दावली का आश्रय लिया है, परन्तु इस संबंध में दोनों ही में मतैक्य है कि वह जीवनानुभूति से जितनी भिन्न है, उतनी ही भिन्न आध्यात्मिक अनुभूति से भी है।

रस की विलक्षणता और अलौकिकता

रसानुभूति का अभिप्राय है काव्यास्वाद। रस आस्वाद-रूप है, जिसे चर्वणा भी कहते है। विभिन्न दृष्टियों से इसी आस्वाद की स्वरूप-व्याख्या का प्रयास संस्कृत आचार्यों ने किया है, जिसमें सर्वाधिक विस्तारयुक्त और सांगोपांग व्याख्या आचार्य अभिनवगुप्त की है। रस के आस्वाद का जीवन के अन्य अनुभवों से क्या संबंध है और उसका अपना स्वरूप क्या है? यही इस विषय से संबद्ध मुख्य प्रश्न है।

रसानुभूति सामान्य लोकानुभव से भिन्न है, अतः इनमें भेद करते हुए आचार्यों ने उसे 'अलौकिक' कहा। स्वयं भरत मुनि 'नाट्यधर्मी' और 'लोकधर्मी' का भेद करते हुए रस को 'नाट्यरस' कह कर उसकी विशिष्टता का संकेत कर चुके थे, जिसका व्याख्यान अभिनवगुप्त ने 'नाट्य एव रसः, न तु लोके' कह कर किया। रस की इसी लोक-भिन्नता या अलौकिकता की व्याख्या उन्होंने अनेक रूपों में की। आचार्य मम्मट ने उन्हीं के मत का सार 'काव्यप्रकाश' में प्रस्तुत करते हुए, रस की अलौकिकता सिद्ध करने के लिए निम्नांकित युक्तियाँ प्रस्तुत की हैं:

१. रस न कार्य है न ज्ञाप्य। उसे कार्य मानने पर विभावादि कारणों का नाश होने पर भी उसकी स्थिति संभव हो जाएगी और ज्ञाप्य मानने पर ज्ञापन से पूर्व उसकी सत्ता सिद्ध हो जाएगी। रस केवल विभावादि से व्यंजित और आस्वाद-योग्य है।[1]

२. कारक और ज्ञापक हेतुओं के अतिरिक्त किसी तीसरे हेतु के अभाव में जिन व्यंजक हेतुओं से रस सिद्ध होता है, वे उपर्युक्त दोनों हेतुओं से विलक्षण अतः अलौकिक

---

[1] स च न कार्यः; विभावादिविनाशेऽपि तस्य सम्भवप्रसंगात्। नापि ज्ञाप्यः सिद्धस्य तस्यासम्भवात्। अपि तु विभावादिभिर्व्यंजितश्चर्वणीयः।

काव्यप्रकाश, पृ० ११०

होते हैं, अतएव रसास्वाद अलौकिक अनुभव है। व्यंजक हेतुओं की यह विलक्षणता अलौकिकत्व की सिद्धि का भूषण है, दूषण नहीं।[1]

३ रस को, लोक में 'कार्य' तथा 'ज्ञेय' केवल उपचार से कहा जाता है। अन्यथा वह अस्मदादि के उस लौकिक प्रत्यक्ष से भिन्न है जो साक्षात्कारात्मक ज्ञान प्रत्यक्षादि प्रमाणों की सहायता से होता है। वह बिना प्रमाणों की सहायता के, योगज सामर्थ्य से सिद्ध युञ्जान योगियों के ज्ञान से भी भिन्न है तथा वेद्यान्तरस्पर्श से रहित, स्वात्म मात्र में पर्यवसित परिपक्व निर्विकल्प समाधि में स्थित परिमितेतर योगियों के ज्ञान से भी भिन्न है। वह प्रत्यक्षादि प्रमाणों से उत्पन्न ज्ञान से, 'प्रमाणताटस्थ्य' वाले मित योगि-ज्ञान से, और निर्विकल्प समाधि में स्थित योगियों की वेद्यान्तरस्पर्श रहित आत्मानुभूति से विलक्षण है।[2]

४ रस की यह प्रतीति, विभावादि के परामर्श की प्रधानता के कारण, निर्विकल्पक ज्ञान से ग्राह्य नहीं है। वह आस्वाद्यमान अलौकिक आनन्दमय के स्वसंवेदनसिद्ध होने के कारण सविकल्पक ज्ञान से भी अग्राह्य है। रस में उक्त उभयाभाव स्वरूप का उभयात्मकत्व भी पहले के समान लोकोत्तरता को ही बोधित करता है, विरोध को नहीं। यही श्रीमान अभिनवगुप्त पादाचार्य का मत है।[3]

उपर्युक्त युक्तियों से सिद्ध है कि रसानुभूति को जब अलौकिक कहा गया तो संस्कृत आचार्यों का अभिप्राय उस अनुभूति की लोक-भिन्नता से था। वे उसे अलौकिक कह कर लोक-इतर मानते थे, लोकोत्तर या आध्यात्मिक अनुभूति नहीं। अलौकिकता से आशय था—वह अनुभूति जो लौकिक अनुभव से विलक्षण हो। अलौकिक में 'अ' उपसर्ग का अर्थ है—'समान होते हुए भी भिन्न'। रसास्वाद में उद्बुद्ध भाव लौकिक भावों के समान प्रतीत होते हुए भी उनसे भिन्न होते हैं। लौकिक अनुभूतियाँ व्यक्ति को क्रिया में प्रवृत्त करती हैं, और रसानुभूति केवल आस्वाद रूप होती है।

रसास्वाद के लोकोत्तर स्वरूप को आचार्यों ने दो रूपों में स्पष्ट किया। एक ओर उसे सामान्य लोकानुभव से भिन्न सिद्ध किया और दूसरी ओर आध्यात्मिक अनुभूति से। रसास्वाद जीवन की सामान्य अनुभूतियों से भिन्न है, ऐसा अनेक युक्तियों के आधार पर स्वीकार किया गया, जिनमें महत्त्वपूर्ण तर्क निम्नलिखित हैं

---

१ कारक-ज्ञापकाभ्यामन्यत् क्व दृष्टमिति चेत? न क्वचित् दृष्टमित्यलौकिकत्व सिद्धेर्भूषण-मेतन्न दूषणम्। काव्यप्रकाश, पृ० ११०

२ चर्वणानिष्पत्त्या तस्य निष्पत्तिरुपचरितेति कार्योऽप्युच्यताम। लौकिकप्रत्यक्षादिप्रमाण-ताटस्थ्यावबोधशालिमितयोगिज्ञान, वेद्यान्तरसस्पर्शरहितस्वात्ममात्रपर्यवसितपरिमितेतर-योगिसंवेदन विलक्षणलोकोत्तरस्वसंवेदनगोचर इति प्रत्येयोऽप्यभिधीयताम्।

वही, पृ० १११

३ तद्ग्राहक च न निर्विकल्पक विभावादिपरामर्शप्रधानत्वात्। नापि सविकल्पक चर्व्यमाण-स्यालौकिकानन्दमयस्य स्वसंवेदनसिद्धत्वात। उभयाभावस्वरूपस्य चोभयात्मकत्वमपि पूर्ववल्लोकोत्तरतामेव गमयति। न तु विरोधमिति श्रीमदाचार्याभिनवगुप्तपादाः॥

वही, पृ० ११२

रस की लोक-भिन्नता

१. विभावादि की अलौकिकता : काव्यगत विभावादि को अभिनवगुप्त लोक से विलक्षण अलौकिक उपाय मानते थे। काव्यगत रसना बोधरूप होने पर भी उपायो की लौकिक विलक्षणता के कारण, वह भी अलौकिक प्रतीति है।[1] सामान्य जीवन मे प्रत्येक व्यक्ति मे 'व्यवहारगत अर्थक्रियाकारिता' होती है, जिसका अभिप्राय है व्यावहारिक प्रभाव-क्षमता। इसी से जीवन में व्यक्ति की सत्ता का ज्ञान होता है। काव्यगत विभावादि इसी अर्थ में सामान्य लौकिक व्यक्तियो से भिन्न होते है कि उनमे यह अर्थ क्रियाकारिता नही होती।

२. स्थायी की विलक्षणता : काव्य के माध्यम से रस-रूप में परिणत होनेवाले स्थायी भी जीवन की सामान्य स्थायी वृत्तियों से विलक्षण होते है। यदि लौकिक स्थायी भावों की परिणति रस-रूप में मान ली जाए तो व्यवहार में भी रस मानना होगा जो अनुभव से असिद्ध है। काव्य मे उपस्थित विभावादि लौकिक अर्थ में कारणत्वादि की भूमिका का त्याग कर रसिक के हृदय में जिस वासना संस्कार को उद्‌बुद्ध या अभिव्यक्त करते है, वह केवल आपाततः लौकिक स्थायी के समान दिखाई पडता है, परन्तु हृदयसंवाद-तन्मयीभवन से उद्‌बुद्ध यह वासना-संस्कार अलौकिक होता है। मधुसूदन सरस्वती ने भी लौकिक भावों और काव्यास्वाद के समय प्रमाता में उद्‌बुद्ध होनेवाले स्थायी भावो मे भेद किया है।[2] रस-सिद्धान्त मे जिन स्थायी भावों की चर्चा की गई—रस-निष्पत्ति का आधार वे ही स्वीकार किए गए—उनसे भिन्न किसी विशिष्ट या पृथक 'सौन्दर्य-भाव' या 'रस-भाव' की कल्पना नही की गई। सवासन सहृदय में वासना-रूप से वर्तमान आठ या नौ स्थायी भावो के ही काव्यगत पात्रों व घटनाओं द्वारा उद्‌बोधन की चर्चा की गई। किन्तु रसास्वाद का स्वरूप इन सभी से भिन्न भी माना गया। आनन्द की उस अनिवार्य सहचारी अनुभूति को, जो रसानुभूति मे सदैव ही वर्तमान रहती है, भाव नहीं कहा जा सकता। वह इनसे विलक्षण होती है और सभी स्थायी भावों की रस-परिणति के समय विद्यमान रहती है। रसास्वाद के समय लौकिक जीवन की अनुभूतियों का स्पर्श भी घातक होता है। अतः रसास्वाद स्थायी से विलक्षण तथा अलौकिक है।

३. विभावादि की साधारणीकृत व सामान्य प्रतीति : सामान्य लौकिक व्यवहार मे व्यक्ति-संबंध तीन प्रकार के होते है : शत्रु, मित्र तथा तटस्थ। इसी संबंध-भावना के आधार पर विपयो के प्रति प्रवृत्ति या निर्वृत्ति होती है। काव्यगत व्यवहार मे विशेपता यही है कि वहाँ भावना व्यक्तिसंबद्ध नही होती। काव्यार्थ की सामान्य प्रतीति रसास्वाद के लिए नितान्त अनिवार्य है। मम्मट कहते है कि ये मेरे ही है अथवा मेरे नहीं है, ये शत्रु के ही है अथवा शत्रु के नहीं है, ये तटस्थ ही के है अथवा तटस्थ के नहीं है, इस प्रकार काव्यगत अर्थों मे संबंध विशेप के स्वीकार अथवा परिहार की कल्पना भी नही रहती।

---

[1] रसना च बोधरूपैव किन्तु बोधान्तरेभ्यो लौकिकेभ्यो विलक्षणैव। उपायानां विभावादीनां लौकिकवैलक्षण्यात्। अभिनवभारती, भाग १, पृ० २८५

[2] काव्यार्थनिष्ठा रत्याद्याः स्थायिनः सन्ति लौकिकाः।
तद्बोद्धृनिष्ठास्त्वपरे तत्समा अप्यलौकिकाः॥ भक्तिरसायन, ३।४

अतएव इनकी प्रतीति भी साधारण्य से होती है।[1] यह साधारणीकरण वस्तुतः स्थिति के साथ सहृदय के तादात्म्य की अवस्था है जिसमें उसकी चित्तवृत्ति व्यावहारिक हानि-लाभ से निरपेक्षता के कारण व्यक्ति संबंधों से मुक्त, निर्वैयक्तिक रहती है।

इसी साधारणीकृत रूप में प्रस्तुत होने के कारण काव्य-सामग्री लौकिक सामग्री से भिन्न होती है। किन्तु निर्वैयक्तिकता का अर्थ काव्य-संदर्भ में तटस्थता नहीं होता। इसमें ठीक भिन्न प्रमाता काव्यास्वाद की स्थिति में काव्य में सक्रिय भाग लेता है, इसी को अभिनवगुप्त ने 'अनुप्रवेश' कहा है।

विभावादि के इस साधारण्य को न्यायशास्त्र के 'जातिलक्षण प्रत्यासत्ति' सिद्धान्त के द्वारा विद्वानों ने समझाया है।[2] काव्यगत विभावानुभाव यद्यपि व्यक्तिगत रूप में दिखाई देते हैं एवं विषयेन्द्रियसंयोग के कारण यद्यपि वे लौकिक प्रत्यक्ष का विषय बनते हैं तथापि वे लौकिक अवस्था में आस्वाद्य नहीं होते। इस लौकिक प्रत्यक्ष के समकाल ही 'जाति-लक्षणप्रत्यासत्ति' के द्वारा हमें उनके सामान्यत्व की प्रतीति होती है। वे इसी रूप में आस्वाद्य होते हैं और 'जातिलक्षणप्रत्यासत्ति' द्वारा होनेवाले इस प्रत्यक्ष ज्ञान ही को न्यायशास्त्र में 'अलौकिक प्रत्यक्ष' कहा गया है।

यह साधारणीकरण काव्य और सहृदय दोनों पक्षों में घटित होता है। एक ओर काव्यगत विभावादि साधारण रूप में प्रस्तुत होते हैं, दूसरी ओर पाठक का 'स्व' विगलित अर्थात् विस्मृत हो जाता है। मम्मट के अनुसार रसास्वाद के क्षणों में सहृदय का 'परिमित प्रमातृत्व' विगलित हो जाता है और उसके स्थान पर सहृदय में 'अपरिमित' भाव का उन्मेष होता है।[3] सारांश में काव्य में वर्णित लौकिक अर्थों व उनके द्वारा उद्‌बुद्ध होने वाले संस्कारों—दोनों का स्वरूप लौकिक नहीं रहता, अतएव का पूरा अनुभव अलौकिक है।

४ विभावादि से जीवितावधि संबंध लौकिक अनुभवों में विशेष कार्य के सिद्ध हो जाने पर उसके 'उपायों' की आवश्यकता नहीं रहती। इसके विपरीत रस के उपायों—काव्यनाट्यगत विभावादि का रसास्वाद होने के उपरान्त त्याग नहीं किया जा सकता। यदि विभावादि नष्ट हो जाएँ तो रसास्वाद भी उनके साथ ही नष्ट हो जाएगा। वस्तुतः विभावादि अभिव्यक्ति-विशिष्ट स्थायी भाव ही रस चर्वणा का विषय होता है। अतएव रसास्वाद की अवधि उसके उपायों के साथ अभिन्न रूप से जुड़ी रहती है। रस इस अर्थ में 'विभावादि जीवितावधि' है और उसका रूप विभावादि की चर्वणा का ही है।

५ रस वस्तुतः समूहालंबित प्रक्रिया है, जिसमें विभावादि से उद्‌बुद्ध रसिक का वासनासंस्कार अभिव्यक्त होता है। इसमें अभिव्यक्ति शब्द स्थायी में उपलक्षण नहीं,

---

[1] ममैवैते, शत्रोरेवैते, तटस्थस्यैवैते, न ममैवैते, न शत्रोरेवैते, न तटस्थस्यैवैते, इति सम्बन्धविशेषस्वीकारपरिहारनियमानध्यवसायात् साधारण्येन प्रतीतैः ।
काव्यप्रकाश, पृ० १०८

[2] ग० त्र्य० देशपाण्डे भारतीय साहित्यशास्त्र, पृ० ३१८

[3] नियतप्रमातृगतत्वेन स्थितोऽपि साधारणोपायबलात् तत्कालविगलितपरिमितप्रमातृभाववशोन्मिषितवेद्यान्तरसंपर्कशून्यापरिमितभावेन प्रमात्रा ।
वही, पृ० १०८

विशेषण के रूप में प्रयुक्त होता है। इस समूहावलंबनता के कारण विभाव आदि तो क्या स्वयं रसिक भी रस-चक्र का अनिवार्य अंग हो जाता है। जैसा रस का स्वरूप-निर्देश करते हुए अनेक आचार्यों ने संकेत किया है, विभावानुभावों से व्यक्त स्थायी का अभिप्राय होता है—विभावाद्यभिव्यक्ति विशिष्ट स्थायी की चर्वणा। स्वयं रसिक इस चक्र का अपरिहार्य अंग होता है। स्पष्ट ही यह अनुभूति लौकिक अनुभूति से अपनी समूहावलंबनता के कारण भिन्न है। सामान्य लौकिक अनुभव में अनुभूति के विषय और अनुभवकर्ता की पृथक और स्वतंत्र सत्ता होती है।

६. रसिक की तन्मयता : व्यावहारिक जीवन में कार्य-कारण आदि के माध्यम से परकीय चित्तवृत्ति का हमें तटस्थता से ज्ञान होता है, किन्तु रसास्वाद के क्षणों मे रसिक की प्रतिक्रिया बोध-रूप मात्र न होकर अनुभव-रूप होती है। विभावादि के समक्ष उपस्थित होने पर केवल तटस्थता से रसिक को तत्संबंधी चित्तवृत्ति का बोध नही होता, उसमे उसका तन्मयीभवन होता है। और यही तन्मयीभवन अनुभावन है।[1] अनुभावन की इस प्रक्रिया में विभावों के लिए उचित चित्तवृत्ति से सजातीय, रसिक की अपनी चित्तवृत्ति उद्बुद्ध होती है।[2]

७. रस की चर्वणोन्मुखता : काव्य का उपर्युक्त अनुभावन चर्वणा या रसनारूप होता है। लौकिक विषयों में अनुभूति का पर्यवसान वस्तु की प्राप्ति अथवा तद्विषयक कर्तव्य में रहता है और रसास्वाद का पर्यवसान केवल प्रतीतिविश्रान्ति में होता है। रस-प्रतीति केवल विभावादि की उपस्थित के काल तक रहती है। न विभावादि की उपस्थिति से पूर्व चर्वणा की सत्ता होती है, न उनके नष्ट हो जाने पर। अतः काव्य की दृष्टि से रसास्वाद के उपरान्त रसिक के लिए कोई कर्तव्य शेष नहीं रहता। इसीलिए अभिनवगुप्त ने विभावादि की चर्वणा की उपमा अद्भुत पुष्प से दी है।[3] काव्यास्वाद में इस प्रकार उत्तरकर्तव्योन्मुखता का अभाव होता है, वह एकान्त चर्वणारूप है। लोचनकार के अनुसार काव्य के विभावादि रसिक को चर्वणोन्मुख करते है और लौकिक विषय, शास्त्र, प्ररोचना अथवा अर्थवाद उसे उत्तरकर्तव्योन्मुख करते हैं।[4] रस की इस आस्वादरूपता या चर्वणा-रूपता से भिन्न न कोई सत्ता है, न लक्ष्य। यह केवल प्रतीति-रूप है, जिसे आस्वाद कहा जाता है और वह स्वयंसिद्ध है।

८. रसानुभूति इस अर्थ में भी लोक-भिन्न है कि वह अनुमान, स्मरणादि ज्ञान की अन्य सरणियों पर आरूढ़ हुए बिना ही सहृदय को विभावादि की चर्वणा में, तन्मयीभवन

---

१ तच्चित्तवृत्तितन्मयीभवनमेवह्यनुभवनम्। ध्वन्यालोक-लोचन, पृ० १६३

२ तच्चित्तवृत्तिभावनया तत्सजातीयस्वीयचित्तवृत्तेरुद्बोधनेनानुभावनम्।
बालप्रिया ध्वन्यालोक, काशी संस्कृत सीरीज १३५, १९४० ई०, पृ० १२६

३ इह तु विभावादिचर्वणाद्भुतपुष्पवत्तत्कालसारैवोदिता न तु पूर्वापरकालानुबन्धिनीति लौकिकादास्वादाद्योगिविषयाच्चान्य एवाय रसास्वादः। ध्वन्यालोक-लोचन, पृ० १६५

४ इह तु विभावाद्येव प्रतिपाद्यमानं चर्वणाविषयतोन्मुखम्…। न च नियुक्तोऽहमत्र करवाणि, कृतार्थोऽहमिति शास्त्रीयप्रतीतिसदृशमदः। तत्रोत्तरकर्तव्यौन्मुख्येन लौकिकत्वात्।
वही, पृ० १६५

की सामर्थ्य प्रदान करती है। रस बोध के लिए अनुमान स्मरणादि अन्य ज्ञान रूपों की अपेक्षा नहीं होती।[1] इसके अतिरिक्त रसास्वाद स्वसंवेदनसिद्ध होता है उसकी रसना के लिए ज्ञान के अन्य प्रकारों की भाँति प्रमाणव्यापार भी अपेक्षित नहीं होता।[2]

रसानुभूति के लोक भिन्न स्वरूप के स्पष्टीकरण की आवश्यकता आचार्य अभिनव गुप्त को इसलिए अधिक प्रतीत हुई क्योंकि रस सूत्र के उनके पूर्ववर्ती व्याख्याता आचार्यों ने रस प्रक्रिया पर लौकिक दृष्टि से विचार करने की भूल की थी। भट्ट लोल्लट ने अनुकार्य या ऐतिहासिक पात्र में रसानुभूति मान कर काव्यगत घटना और लौकिक घटना को अभिन्न रूप दिया शंकुक ने इस भ्रान्ति को दूसरा रूप दिया। उन्होंने दर्शक की भूमिका को तटस्थ की भूमिका स्वीकार कर लिया। इसी कारण अभिनवगुप्त ने इस समस्या पर विस्तार से विचार करते हुए रस की स्वरूप-व्याख्या की। इस क्रम में उसके लोक भिन्न स्वरूप के स्पष्टीकरण के साथ आचार्य ने आध्यात्मिक अनुभव से भी उसका अंतर स्पष्ट किया।

काव्यानुभूति की विलक्षणता

काव्यानुभूति का प्रत्यक्ष जीवनानुभूति और आध्यात्मिक अनुभूति—दोनों से विलक्षण मानने की प्रवृत्ति पूर्व और पश्चिम दोनों में समान है। पूर्व में प्राय सर्वसम्मति से और पश्चिम में आधुनिक प्रकृतवादी चिन्तकों को छोड़ कर बहुमत से इस अनुभव को विलक्षण स्वीकार किया गया है। पश्चिम में इस अनुभव की विलक्षणता की पहली व्याख्या काण्ट हेगेल और क्रोचे आदि दार्शनिकों के द्वारा की गई।

काण्ट का कला चिन्तन 'अतीन्द्रिय सौन्दर्यशास्त्र' (ट्रान्सेडण्टल एस्थेटिक्स) कहा जाता है। इससे स्पष्ट है कि वे कलानुभूति को व्यावहारिक अनुभव से ऊपर मानते थे। उनकी चिन्तन-पद्धति में मानव चेतना के १ शुद्ध बुद्धि २ व्यावहारिक बुद्धि ३ सौन्दर्य निर्णय तीन सोपानों में से सौन्दर्य चिन्तन प्रथम दो अर्थात् शुद्ध बुद्धि और व्यावहारिक बुद्धि से विलक्षण है क्योंकि किसी न किसी रूप में इन दोनों का संबंध प्रयोजन से है जब कि कलानुभूति प्रयोजनातीत है। चेतना के धरातल पर भी काण्ट ने सौन्दर्यानुभूति को अनुभववादी और बुद्धिवादी दोनों एकान्तों से भिन्न सहजबोध पर आधारित बतलाया है जिसमें मुक्त कल्पना और मुक्त बोध-वृत्ति का अद्भुत सामरस्य होता है। इस प्रकार काण्ट की सौन्दर्यानुभूति की अलौकिकता संबंधी धारणा उनकी अन्य दार्शनिक श्रेणियों के समान ही प्रागनुभव (अ प्रायरी) है।

हेगेल भी काण्ट के समान सौन्दर्यानुभूति को विलक्षण मानते हैं किन्तु उनकी विलक्षणता का आधार भिन्न है। निरपेक्ष चेतना के प्रतिष्ठापक हेगेल क्रमश १ कला २ धर्म ३ दर्शन को मानव-चेतना के तीन सोपान मानते हैं जिनमें स्पष्ट ही दर्शन का स्थान सर्वोच्च है और कला का स्थान दर्शन तथा धर्म से नीचे है। यद्यपि हेगेल सौन्दर्य

---

[1] रसास्वादांकुरीभावेनानुमानस्मरणादिसरणिमनारुह्यैव तन्मयीभवनोचितचर्वणाप्राणतया। ध्वन्यालोक पृ० १६३

[2] सा च रसना न प्रमाणव्यापारो । स्वसंवेदनसिद्धत्वात्।
अभिनवभारती भाग १ पृ० २८५

को निरपेक्ष चेतना का पर्याय मानते है, किन्तु सौन्दर्य का बोध करानेवाली कला को उसके समान स्थान नही देते, क्योंकि कला ऐन्द्रिय विषयो के माध्यम से उस निरपेक्ष चेतना का बोध कराती है। इसके अतिरिक्त बोध के स्तर पर भी सौन्दर्यानुभूति मानव-अनुभव के १. ऐन्द्रिय, २. अतीन्द्रिय, ३. बौद्धिक तीनों स्तरो मे ऐन्द्रिय एवं बौद्धिक स्तरों से विलक्षण अतीन्द्रिय स्तर से संबद्ध है। हेगेल के अनुसार सौन्दर्यानुभूति बुद्धि से नीचे और ऐन्द्रिय बोध से ऊपर स्थित है।

क्रोचे अनेक बातो मे हेगेल के अनुयायी होते हुए भी मानव-चिन्तन के अंतर्गत कला की स्थिति के प्रश्न पर हेगेल के आलोचक हैं। कलानुभूति की विलक्षणता का समर्थन वे भी करते हैं, और काण्ट एव हेगेल के समान वे भी कलानुभूति को प्रातिभज्ञान (इट्यूशन) पर आधारित मानते हैं, किन्तु क्रोचे का प्रातिभज्ञान काण्ट और हेगेल से भिन्न मानव-चेतना का सर्वोच्च रूप है। इस प्रकार क्रोचे कलानुभूति को ऐन्द्रिय बोध और बौद्धिक ज्ञान से विलक्षण ही नही वल्कि ऊपर भी मानते है।

उपर्युक्त तीनों दार्शनिकों के मतानुसार :

१. सौन्दर्यानुभूति अतीन्द्रिय अनुभव है।

२. वह ऐन्द्रिय और बौद्धिक दोनो प्रकार के अनुभवो से भिन्न सहजानुभूति का परिणाम है।

३. अतीन्द्रिय अनुभव होते हुए भी काण्ट और हेगेल के अनुसार यह अनुभूति आध्यात्मिक नही है। क्रोचे ने यद्यपि स्पष्ट नही कहा, तथापि वे जिस रूप मे उसे ऐन्द्रिय बोध और बौद्धिक ज्ञान दोनो से ऊपर मानते है, उसमे वह कही-न-कही रहस्यात्मक अनुभूति के निकट है।

जहाँ तक सौन्दर्यानुभूति को अतीन्द्रिय मानने का प्रश्न है, भारतीय आचार्यो ने भी उसे इस अर्थ मे अतीन्द्रिय माना है कि कलावस्तु के प्रति हमारी प्रतिक्रिया लौकिक प्रत्यक्ष ऐन्द्रिय संवेदनों से भिन्न प्रकार की होती है। रस के सभी अवयवो की अलौकिकता का प्रतिपादन इसी बात का प्रमाण है कि भारतीय आचार्य भी इस बात पर बल देना चाहते थे कि माध्यम इन्द्रियाँ होने पर भी, विषय अलौकिक होने के कारण, कला से प्राप्त होने वाला अनुभव प्रत्यक्ष ऐन्द्रिय बोध का अतिक्रमण कर, उनसे परे और विलक्षण होता है।

यह अनुभूति न ऐन्द्रिय है न बौद्धिक, यह भारतीय आचार्यों ने भी स्वीकार किया है। एक ओर उसे वे विशुद्ध संवित् का आस्वाद कहने से बचाते है और दूसरी ओर विशुद्ध भाव का। इस प्रकार वह एक ओर लौकिक मनोविकार-रूप नही रहता और दूसरी ओर विशुद्ध ज्ञान-रूप नही रहता। चिद्विशिष्ट भाव या भावविशिष्ट चित् कहने के मूल में रहस्य यही है। सहृदय मे भावयित्री प्रतिभा की स्वीकृति भी कुछ दूर तक सहजानुभूति की ही स्वीकृति है। परन्तु भारतीय आचार्यो ने पश्चिमी दार्शनिकों की भाँति कलानुभूति को एकान्त प्रातिभज्ञान पर निर्भर नही माना। वे उसे भाव और बुद्धि दोनों से संवलित मानते थे। इन दोनों से सर्वथा असंपृक्त, निरपेक्ष प्रातिभज्ञान के आधार पर रसानुभूति की प्रतिष्ठा उन्हे मान्य नहीं थी। अतीन्द्रिय वह इसी अर्थ मे थी कि वे उसे विशुद्ध बौद्धिक अनुभव की अपेक्षा अधिक भावमय और ऐन्द्रिय अनुभव या लौकिक मनोविकार की अपेक्षा

सूक्ष्म और अतीन्द्रिय स्वीकार करते थे परम योगियों के निर्विकल्प और लौकिकों के सविकल्प ज्ञान दोनों से भिन्न स्वसंवेदन सिद्ध रूप।

विभिन्न अनुभूतियों के मध्य जहाँ तक सौन्दर्यानुभूति के स्थान निर्धारण का प्रश्न है अभिनवगुप्त का मत हेगेल के सर्वाधिक निकट है। न वे काण्ट के समान सौन्दर्यानुभूति को अनुभववादी और बुद्धिवादी—दोनों एकान्तों से भिन्न वस्तु मानते हैं न क्रोचे के समान ऐन्द्रिय बोध और बौद्धिक ज्ञान से सर्वथा विलक्षण व ऊपर बल्कि हेगेल के समान ही उन्होंने कलानुभूति को मानव-अनुभव के ऐन्द्रिय और बौद्धिक स्तरों से विलक्षण अतीन्द्रिय स्तर पर प्रतिष्ठित किया है।

दार्शनिकों के अतिरिक्त पश्चिम में एक वर्ग उन आधुनिक कलावादियों का भी था जिन्होंने सौन्दर्यानुभूति को सर्वथा विलक्षण स्वायत्त एवं जीवन निरपेक्ष माना। इनमें ब्रैडले क्लाइव बेल और रोजर फ्राइ के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। जहाँ काण्ट आदि दार्शनिकों ने इस अनुभव की ऐन्द्रियता और भावात्मकता का निषेध किया था वहाँ इन कलावादियों ने इस अनुभव के लिए लौकिक जीवन की प्रासंगिकता का ही पूर्णतः निषेध कर दिया। वे कला के लिए अनुभूति मात्र का प्रत्याख्यान न करके उसे लौकिक अनुभवों से सर्वथा विलक्षण नितान्त व्यक्तिगत और विशिष्ट घोषित करना चाहते थे। इसके अतिरिक्त भी इस प्रकार की अनुभूति के लिए कलाकृति के रूप (सार्थक रूप) को महत्त्वपूर्ण मानते थे। इस प्रकार के एकान्तिक रूपवाद और लौकिक जीवन निरपेक्ष कलानुभूति की बात अनुभव से अपुष्ट होने के कारण ही अततः इनको स्वयं साहित्य को अशुद्ध कला करार देना पड़ा।

कहना न होगा कि भारतीय चिन्तन में न इस प्रकार के ऐकान्तिक रूपवाद को कभी प्रश्रय मिला और न ही इस रूप में कभी रसानुभूति की कल्पना की गई कि जीवन उसके लिए सर्वथा अप्रासंगिक हो उठे। समस्त रसगत प्रपंच के मूल में जीवन का आधार अत्यन्त स्पष्ट रहा है। इस अर्थ में उक्त सिद्धान्त को भारतीय चिन्तन के समीप कहा जा सकता है कि भारतीय विचारकों ने भी कलानुभूति को लोक निरपेक्ष नहीं किन्तु लोक भिन्न अवश्य माना है। इसके साथ ही यह भी निश्चित है कि वे उसे प्रकृत जीवनानुभूति के समतुल्य मानने के पक्ष में कभी नहीं रहे। केवल इसी अंश में भारतीय अवधारणा कलावादी सिद्धान्त के समीप और प्रकृतवादी व्याख्या से अपेक्षाकृत दूर है।

भारतीय चिन्तन में आरम्भ से ही जिस सन्तुलित दृष्टि का परिचय दिया गया पश्चिमी विचारधारा में उस सन्तुलन की उपलब्धि बहुत बाद में की गई। उपर्युक्त दो अतिवादों के बीच मध्यम मार्ग खोजने का प्रयास अधुनातन विचारकों के द्वारा ही हुआ।

सूज़न लैंगर ने प्रकृतवादी विचारधारा का विरोध करते हुए कहा कि कलाकृति से अनुभूत होनेवाले सवेग दैनंदिन विषयों और व्यापारों में भिन्न होते हैं यह अनुभव से सिद्ध है। परन्तु यह अनुभव भिन्न क्या होता है इसका उतना तर्कपुष्ट उत्तर वे प्रस्तुत न कर पाईं जितना भारतीय आचार्यों ने किया है। दूसरी ओर उन्होंने एक नितान्त असाधारण कलात्मक वृत्ति की कल्पना को भी उचित नहीं माना। इस मान्यता को ग्रहण करने में उनके अनुसार एक व्यावहारिक कठिनाई यह थी कि इसको स्वीकार करने पर कला एक

वर्ग-विशेष की ओर कलात्मक वृत्ति कठिन साधना की वस्तु हो जाती है। एच० एस० लैंगफ़ील्ड और डेविड प्राल आदि ने भी कलात्मक अनुभूति को इस प्रकार एक वर्ग-विशेष की सिद्धि बनाने का विरोध किया है।

सामान्य रूप से यह विरोध उचित प्रतीत हो सकता है, परन्तु कुछ दूर तक कला को एक विशेष वर्ग के पाठक की सिद्धि किसी-न-किसी रूप में पूर्व और पश्चिम दोनों के विचारकों ने माना है। कलानुभूति को जीवनानुभूति से अभिन्न माननेवाले आइ० ए० रिचर्ड्स भी, ग्राहक के रूप में 'आइडियल रीडर' की कल्पना कर उसमें अनेक गुणों की अपेक्षा करते है। ठीक इसी प्रकार भारतीय विद्वानों ने जिस सहृदय, सामाजिक या रसिक की कल्पना की, उसमें कला-ग्रहण की क्षमता के लिए कतिपय गुणों की अवस्थिति अनिवार्य मानी है। अतः कुछ दूर तक तो कला एक वर्ग-विशेष की वस्तु होती ही है, इस तथ्य से इन्कार करना कठिन है। यह अपने आप मे स्वतन्त्र प्रश्न है, जिसका संबंध कलानुभूति की विलक्षणता की सीमा या मात्रा से है। यह कथन कि कला की शुद्धता के अनुपात मे उसके प्रशंसकों की संख्या कम होती जाती है, वस्तुतः सहज ग्राह्य नहीं हो सकता। परन्तु साथ ही यह भी सत्य है कि कला के ग्राहक के लिए कुछ आधारभूत गुणो से संपन्न होना अनिवार्य है, उदाहरण के लिए—सुरुचि-संपन्नता, संवेदनशीलता, शिक्षा, सवासन चित्त आदि। जिस कला के सृजन के लिए प्रतिभा के साथ भारतीय विचारकों ने हेतु-रूप में व्युत्पत्ति और अभ्यास की आवश्यकता बताई, उसके ग्रहण के लिए सहृदय का भी कुछ दूर तक इन गुणों से सम्पन्न होना अनिवार्य है। किन्तु भारतीय आचार्यो ने इस अनुभूति की लोक-विलक्षणता को इतनी दूर तक नही घसीटा कि कला की शुद्धता की माप उसके प्रशंसको की घटती हुई संख्या हो जाए। कुल मिला कर उनका सहृदय रोजर फ्राइ की अपेक्षा आइ० ए० रिचर्ड्स के 'आइडियल रीडर' के अधिक समीप आएगा।

पश्चिम के अधुनातन चिन्तकों का विरोध प्रकृतवादी और कलावादी दोनों चिन्तन-पद्धतियों के अतिवाद से है। वे कलानुभूति का स्वरूप कही इन दोनों के बीच स्वीकार करने के पक्ष में है। कलानुभूति की इसी लौकिकता में अलौकिकता का प्रतिपादन भारतीय आचार्यो ने भी किया है। जिस प्रकार सूजन लैंगर ने कला की जड़ें अनुभव में स्वीकार करते हुए भी उस अनुभव को आकार ग्रहण करने के लिए कल्पनापेक्षी माना, उसी प्रकार जब अभिनवगुप्त ने स्थायी और विभावादि की अलौकिकता की ओर निर्देश किया था तो उनका अभिप्राय भी विभावादि की कल्पनापेक्षी स्थिति से ही था। भारतीय मत के अनुसार सौन्दर्यानुभूति साक्षात लौकिक अनुभूति की अपेक्षा कम मांसल और ऐन्द्रिय तथा अधिक कल्पनापेक्षी और सूक्ष्म होती है तथा कलावादियों की अद्वितीय कलानुभूति की अपेक्षा कम वायवी और अधिक अनुभूतिपरक होती है।

काव्यानुभूति के स्वरूप की जो व्याख्या शताब्दियों पूर्व भारतीय चिन्तकों ने अत्यंत विवेकसम्मत रूप में प्रस्तुत कर दी थी, उसका किंचित् आभास पश्चिम के अद्यतन विचारकों में एक लम्बी ऊहापोह के उपरान्त मिलने लगा है। विमसॉट ने यथार्थवादी और कलावादी काव्यानुभूति को क्रमशः जीवनानुभूति से अभिन्न और विलक्षण माननेवाले दोनों अतिवादों का विरोध करते हुए भी अपना झुकाव कलात्मक संशोधन के सिद्धान्त की ओर दिखाया है। पश्चिम में भी अब यह मान्यता ग्राह्य हो चली है कि कलानुभूति किसी-न-किसी रूप में

जीवनगत सवेगो का परिष्कृत रूप है। इस संशोधन का स्वरूप क्या है इसकी व्याख्या करते हुए विमसॉट ने तीन सभावनाओ की चर्चा की है

१ संशोधन का अर्थ जीवन सवेगो की तात्कालिकता और प्रत्यक्षता का न्यून होना और इस प्रकार वेग रहित एव मथन हो जाना है।

२ कविता से प्राप्त होनेवाली सौन्दर्यानुभूति मे जीवन सवेग केवल सौन्दर्यानुभूति नामक अन्य विशिष्ट सवेग के लिए आधार मात्र प्रस्तुत करते हैं।

३ सौन्दर्यानुभूति जीवन-सवेगो में नितान्त गुणात्मक परिवर्तन की द्योतक है।

विमसॉट के अपने मतानुसार काव्यानुभूति कुछ-कुछ प्रत्यक्ष सवेगो की अभिव्यजना है किन्तु उससे ये सवेग अपने प्रत्यक्ष रूप म उद्दीप्त नहीं होते। इसके अतिरिक्त सौन्दर्यानुभूति का कार्य प्रत्यक्ष जीवन-सवेगो को किसी भी रूप म तीव्र सघन एव परिवर्धित करना नहीं होता अत वह प्रत्यक्ष जीवन सवेग न होकर बहुत कुछ परोक्ष भिन्न सवादी और द्वद्वात्मक आदि सभी रूपो की एक तारतमिक अवस्थिति है।

जिस सौन्दर्यानुभूति की सही स्थिति का निर्धारण विमसॉट ने लौकिक और अलौकिक के बीच अत्यन्त अनिश्चित द्विधाग्रस्त शब्दावली मे किया उसी को भारतीय आचार्य अत्यन्त निर्भ्रान्त और स्पष्ट शब्दो मे जीवन के सदर्भ म प्रतिपादित कर चुके थे। लौकिक प्रतीत होनेवाले विषय और भाव काव्य का विषय बन जाने पर किस प्रकार अलौकिक बन जाते हैं यह इन आचार्यों ने अनेक युक्तियाँ देकर समझाया। अत काव्यानुभूति के सदर्भ म जीवन की सापेक्षता और निरपेक्षता को जैसा स्पष्ट एव निश्चित अर्थयुक्त शब्दावली में भारतीय आचार्यों ने व्यक्त किया वैसी यथातथ्यता आज भी पाश्चात्य विवेचन म दुर्लभ है

सौन्दर्यानुभूति की आनन्दरूपता

सौन्दर्यशास्त्र मे सौन्दर्य और आनन्द को प्राय पर्याय माना गया है। सौन्दर्यशास्त्र का विषय ही वह सौन्दर्य है जो इन्द्रियो को सुख देता है। सौन्दर्य की परिभाषा करते हुए प्लेटो ने कहा है कि सुन्दर वह है जो दर्शन या श्रवण के माध्यम से आनन्द देता है।[१] चक्षुप्रिय को ही सुन्दर माना जाता था किन्तु कालक्रम से सौन्दर्य का विस्तार अन्य इन्द्रियो के विषयो के लिए भी हो गया। तॉल्सताय ने सौन्दर्य के इस अर्थ विस्तार पर किंचित खीझ कर लिखा है कि रूसी भाषा म वर्तमान क्रासीवी शब्द का अर्थ है चक्षुओ को आनन्द देने वाला। किन्तु अब बहुत-से लोग असुन्दर कार्य और सुन्दर सगीत जैसे शब्दों का भी प्रयोग करते हैं जो निश्चित रूप से अच्छी रूसी नहीं है।[२] स्थिति यह है कि तॉल्सताय जैसे विचारकों की आपत्ति के होते हुए भी प्राय सभी भाषाओ में सुन्दर शब्द का प्रयोग सभी इन्द्रियो के सुखद या आनन्ददायक विषयो के लिए होने लगा है और अब शास्त्र मे सुन्दर और सुखद पर्याय हो गए हैं जिस पर यद्यपि कुछ विद्वानो को आपत्ति है तथापि अनेक दृष्टियो से यह धारणा महत्त्वपूर्ण मानी जाती है।[3]

---

१ ग्रेटर हिप्पियस २९९ सी

२ कला क्या है पृ० १३८

३ एच० ई० स्वार्ट्ज द स्ट्रक्चर आफ एस्थेटिक्स पृ० ६९ ७०

इस संदर्भ में यदि सबसे अधिक विवादास्पद कोई शब्द है तो आनन्द। प्रो० गिलबर्ट राइल ने इस अर्थ के वाचक शब्द 'प्लेज़र' और तत्संबंधी क्रिया 'टु प्लीज' के प्रयोग पर आपत्ति करते हुए कहा है, कि ये भ्रामक है। इसके अंतर्गत प्रायः उस प्रकार का अनुभव-विशेष आता है, जिसमें ऐन्द्रिय तुष्टि अथवा तोष-वृत्ति होती है। इससे यह प्रमाणित होता है कि सौन्दर्य से प्राप्त होनेवाले आनन्द का प्रथम सोपान ऐन्द्रिय तुष्टि है। संभवतः इसीलिए प्रायः सभी सौन्दर्यशास्त्रियों ने प्रत्यक्षता अथवा सद्यःशीलता (इमिडियेसी) को सौन्दर्य का आवश्यक गुण माना है। अरस्तू ने भी 'नीतिशास्त्र' मे 'आनन्द' पर विचार करते हुए यही माना है कि ऐन्द्रिय बोध के लिए परिनिर्मित वस्तु ही सुन्दर होती है और इसलिए वह इन्द्रियों के लिए आनन्ददायक भी होती है।[१]

सौन्दर्यशास्त्र में इस विषय पर मतभेद नहीं है कि सौन्दर्यानुभूति आनन्दप्रद होती है। जो वैचारिक भिन्नता मिलती है, उसका संबंध इस आनन्द के स्वरूप-निर्धारण से है; इसकी स्वरूप, गुण और मात्रा विषयक विशेषताएँ निश्चित करने से है। सौन्दर्यानुभूति को यद्यपि समान रूप से सभी विचारकों ने आनन्दप्रद माना है, फिर भी भोगवादी (हिडोनिस्ट) वर्ग के विद्वानों का ध्यान इस प्रश्न पर स्वभावतः अधिक रहा है। इस वर्ग के प्रमुख विचारक जॉर्ज संटायना ने तो आनन्द को मूल्य मानते हुए उसे कलाकृति से अभिन्न कहा है। और चूंकि कला का विषय सौन्दर्य होता है इसलिए अन्ततः कला और आनन्द तद्वत है। उन्होने विषयिगत और अनुभूति-रूप आनन्द की वस्तुगत सत्ता निरूपित की और सौन्दर्य की परिभाषा निश्चित करते हुए कहा : "सौन्दर्य का निर्माण आनन्द को वस्तुबद्ध करने से होता है।" इसलिए वह "वस्तुबद्ध आनन्द है।"[२] अर्थात संटायना के अनुसार सौन्दर्य और आनन्द पर्याय है। आनन्द सौन्दर्यानुभूति है, जो विषयपक्ष में सौन्दर्य है, वही विषयी पक्ष मे आनन्द है। कला-विषयक आनन्द को आनन्द के अन्य प्रकारों से वे इसी आधार पर भिन्न करते हैं कि "सभी प्रकार का आनन्द सहज और विधेयात्मक मूल्य होता है, परन्तु सभी प्रकार का आनन्द सौन्दर्यबोध नहीं होता'।[3]

कला का आनन्द दूसरे शब्दों में सौन्दर्य-बोध का आनन्द है। सामान्य आनन्द और सौन्दर्य-बोध में कभी-कभी इस आधार पर भेद किया जाता है कि "सौन्दर्य-बोध कलात्मक परितोष की निस्वार्थता में निहित रहता है। आनन्द के दूसरे रूपों मे हम अपनी इन्द्रियों और वासनाओं का परितोष करते है; सौन्दर्य के भावन में हम अपने से ऊँचे उठ जाते है, वासनाएँ शान्त हो जाती है, और हमें ऐसे शिवत्व के अभिज्ञान का सुख होता है, जिसे स्वायत्त करने की इच्छा नही होती।"[४] कलात्मक आनन्द को इसी निर्वैयक्तिकता के आधार पर आनन्द के अन्य रूपो से भिन्न किया जाता है, परन्तु संटायना के अनुसार यह भेद 'सघनता और लालित्य का है, प्रकृति का नही।' वह आनन्द निर्वैयक्तिक केवल इस अर्थ में

---

१ Nicomachean Ethics, X 4.

२ द सेन्स ऑफ़ ब्यूटी, पृ० ५२

3 वही, पृ० ३५

४ वही, पृ० ३७

है कि प्रकृति और मूर्तिविधायिनी कलाओं के सौन्दर्य या आस्वाद से क्षय नहीं होता और किसी दूसरे द्रष्टा को प्रभावित करने की पूरी सामर्थ्य बनी रहती है।[१]

सौन्दर्यपरक आनन्द को निर्वैयक्तिक कहने का अभिप्राय शायद इतना ही है कि सौन्दर्यपरक आनन्दानुभूति के क्षणों में हमारे मन में किसी अपर आनन्द की भावना नहीं होती हम स्वाधिकार और अहं के परिलोप की भावना को भावन के आह्लाद से मिला कर नहीं भोगते।[२]

सौन्दर्य और आनन्द की स्थिति को वे परस्पर निर्भर मानते हैं। जहाँ आनन्द वस्तु निर्भर होता है वहाँ सौन्दर्य को वे संवेगात्मक तत्त्व और ऐसा आत्मानन्द जिसे हम वस्तुओं का गुण समझते हैं कह कर उसकी विषयिगत सत्ता निश्चित करते हैं। कलात्मक अवबोध में सौन्दर्यजन्य संवेग और ऐन्द्रिय बोधयुक्त आनन्द सुरक्षित रहते हैं। और ये दोनों तत्त्व बोध्य वस्तु के अभिन्न अंग होते हैं।

आनन्दरूपता सौन्दर्यानुभूति का इतना अनिवार्य लक्षण है कि सटायना उस वस्तु को जो किसी को आनन्द न दे सके सुन्दर नहीं मानते।[3] इतना ही नहीं आनन्दरूपता को वे विधेयात्मक मूल्य मानते हैं क्योंकि यह किसी शुभ विशेषता की उपस्थिति की और असौन्दर्य की अनुपस्थिति की अनुभूति है। इसलिए ये नैतिक मूल्यों से जो प्रायः निषेधात्मक होते हैं भिन्न है। नैतिकता शुभ के पालन पर जितना बल देती है उतना ही अशुभ से बचने पर। सौन्दर्यशास्त्र का संबंध केवल आनन्द से होता है।

काव्य को आनन्दमूलक स्वीकार करने की यह प्रवृत्ति आधुनिक युग के अन्य विचारकों में भी यथावत उपलब्ध है। जिस युग में काव्य के प्रयोजन के संबंध में बड़े बड़े दावे किए जा रहे थे उस युग में इलियट ने काव्य का प्रयोजन मनोरंजन प्रतिपादित करके बड़े साहस का परिचय दिया।[४] टी० एस० इलियट ने काव्य का लक्षण निरूपण उसे उत्कृष्ट मनोरंजन कह कर किया। उत्कृष्ट मनोरंजन से कहीं यह भ्रम न हो जाए कि इस विशेषण का प्रयोग वे पाठकों के लिए कर रहे हैं अतएव इस बात का स्पष्टीकरण करते हुए उन्होंने कहा कि उत्कृष्ट मनोरंजन से मेरा अभिप्राय उत्कृष्ट व्यक्तियों के लिए मनोरंजन नहीं है। मैं इसे मनोरंजन इसलिए नहीं कहता कि यही काव्य की सच्ची परिभाषा है बल्कि इसलिए कि इसे कुछ और कहना और भी गलत होगा।[५] इस प्रकार काव्य के प्रयोजन की दृष्टि से वह मनोरंजन से इतर कोई दावा स्वीकार्य नहीं है।

अस्तित्ववादी विचारक ज्याँ पाल सार्त्र ने भी सौन्दर्यानुभूति की आनन्दमयता को स्वीकार किया है किन्तु उन्होंने सौन्दर्यात्मक सुख (एस्थेटिक प्लेजर) के स्थान पर सौन्दर्यात्मक आनन्द (एस्थेटिक ज्वाय) शब्द को अधिक उपयुक्त माना है। सार्त्र ने

---

[१] द सेंस ऑफ ब्यूटी पृ० ३८
[२] वही पृ० ३९
[३] वही पृ० ४६
[४] सेक्रेड वुड १९२८ संस्करण की भूमिका पृ० ८९
[५] वही पृ० ८९

लिखा है कि : "अन्य सभी कलाकारों के समान लेखक का उद्देश्य भी अपने पाठक को एक निश्चित अनुभूति प्रदान करना होता है जिसका परिपाटी-विहित नाम 'सौन्दर्यात्मक सुख' है किन्तु जिसे मैं 'सौन्दर्यात्मक आनन्द' कहना पसंद करूंगा। इस अनुभूति का प्रकट होना कलाकृति की सिद्धि का लक्षण है।"[1] सार्त्र के अनुसार रचनाकार एक रचनाकार होने के नाते इस आनन्द से वंचित रहता है, जबकि वह दर्शक या पाठक की सौन्दर्य-चेतना का अंग होता है। उनके मत से यह एक जटिल अनुभूति है : 'जिसके सघटन और संदर्भ परस्पर अविच्छिन्न होते है।' यह आनन्द उस अभिज्ञान का समानधर्मा है जिसका विपय वह परात्पर और निरपेक्ष लक्ष्य है जो साधन-साध्य, और साध्य-साधन के उपयोगितावादी वृत्त को एक क्षण के लिए स्थगित कर देता है।[2]

सार्त्र की सौन्दर्यात्मक आनन्द संबंधी धारणा उनकी स्वातंत्र्य संबंधी मान्यता पर आधारित है। उनका विश्वास है कि कला का आस्वाद लेखक और पाठक दोनों की स्वतंत्रता पर निर्भर है, और स्वतंत्रता अपने आप मे एक आनन्द है। इस विचार-सूत्र को आगे वढ़ाते हुए उन्होंने कहा है कि "पाठक की सौन्दर्य-चेतना में सुरक्षा की भावना होती है और प्रवल-से-प्रवल सौन्दर्यात्मक संवेगों पर भी सर्व सत्तात्मक शान्ति की छाप होती है।"[3] उनके अनुसार इस आनन्द का मूल कारण यह है कि इसमे आत्मनिष्ठता और वस्तुनिष्ठता के वीच दृढ़ सामंजस्य की प्रामाणिकता होती है। सार्त्र की दृष्टि में कलात्मक आनन्द की चरम सिद्धि इस तथ्य में निहित है कि कलाकृति के रूप में रचित एक स्वतंत्र संसार को पाठक पढ़ने की प्रक्रिया मे स्वयं भी एक स्वतंत्र संसार की पुनः सृष्टि करने का सुख प्राप्त करता है, और उसके अभिज्ञान द्वारा अपने साथ ही अपने समान अन्य व्यक्तियों की स्वतंत्रता का अनुभव करता है। इस प्रकार सार्त्र की विचार-प्रणाली मे कलात्मक आनन्द स्वतंत्रता का पर्याय है, जो उनकी दृष्टि में सर्वोच्च मूल्य है।[4]

'कलात्मक आनन्द' शब्द में महत्त्वपूर्ण 'आनन्द' नहीं, वल्कि 'कलात्मक' है, क्योंकि यह विशेपण ही उस आनन्द की विशिष्टता निर्धारित करता है। वास्तविक कलात्मक आनन्द वही है जिसकी उपलव्धि के वारे में यह निर्भ्रान्त रूप से कहा जा सके कि इसे केवल कला ही दे सकती है, अन्य कोई वस्तु नहीं।

इतना होते हुए भी आनन्द के साथ कला को संवद्ध करते हुए अनेक सौन्दर्यशास्त्रियो को एक प्रकार की हिचक होती रही है, क्योंकि कला के अतिरिक्त अन्य वहुत-सी वस्तुएँ भी आनन्दप्रद मानी जाती है। जो विचारक यह मानते है कि कला कोई-न-कोई कार्य करती है, वे भी आनन्द प्रदान करने को कला का कार्य मानते हिचकते है। दूसरी ओर जो कला को सर्वथा निष्प्रयोजन एवं 'अपने-आप में आस्वाद्य' मानते है, उन्हे भी कला को आनन्दप्रद मानने पर इस समस्या का सामना करना पड़ता है कि आनन्द यदि कला का

---

१ ह्वाट इज लिटरेचर, पृ० ४१
२ वही, पृ० ४१-४२
३ वही, पृ० ४२
४ वही, पृ० ४३

प्रयोजन नहीं है तो क्या है ? वस्तुत जैसा कि स्पार्शाट ने कहा है, एक साधक उद्देश्य के रूप म आनन्द को अन्य सबसे पृथक करके विचार करना भ्रामक है क्योंकि उस स्थिति में अन्तत हम जॉन स्टुअर्ट मिल के साथ यही कहते पाए जाएँगे कि आनन्द की मात्रा समान हो तो 'पुशपिन' उतनी ही अच्छी है, जितनी कविता।[1]

इसलिए आनन्द न तो कला का कार्य है, न प्रयोजन, बल्कि धर्म है। हुकाम के शब्दो मे यदि कलाकृति ऐसी वस्तु है जो 'गोया कि देखने के प्रयोजन से ही बनी है' तो आनन्द इस प्रयोजन का उपजात है।[2] कलात्मक आनन्द निष्प्रयोजन इसी अर्थ मे है कि वह किसी अन्य साध्य का साधन नहीं है। जब कोई कहता है कि कला उपयोग करने की वस्तु नहीं बल्कि आनन्द लेने की वस्तु है तो उसका यही अर्थ होता है कि आनन्द कलात्मक अनुभूति का धर्म है, कला यदि एक अनुभव है तो उस अनुभव का धर्म आनन्द है।

कला की आनन्दरूपता का सबसे सबल प्रमाण तो यह है कि दुःखान्त कही जाने वाली 'त्रासदी' को भी सौन्दर्यशास्त्रियो और समालोचको ने आनन्दप्रद माना है।

काव्यानुभूति और आनन्द

काव्य एव अन्य कलाओ से होनेवाला अनुभव एक प्रकार का आस्वाद है। पूर्व मे काव्य के सदर्भ मे 'रसानुभूति' के रूप मे, और पश्चिम मे समग्र कलाओ के व्यापक सदर्भ म 'सौन्दर्यानुभूति' के रूप मे इस अनुभूति का विवेचन किया गया है। यह आस्वाद मूलत एक 'अनुभव' (एक्सपीरिएन्स) है जो पौरस्त्य मनीषियो के शब्दो मे चर्वणारूप है, और पाश्चात्य विद्वानो के अनुसार 'अनुचिन्तनप्रधान' (कन्टेम्प्लेटिव) है। इसी आस्वादरूप अनुभव की विशेषताओ का निर्देश करते हुए इसकी आनन्दरूपता की ओर विद्वानो ने प्राय सकेत किया है। रसानुभूति की जिन अन्य विशेषताओ का उल्लेख आचार्यों ने किया है, वे भी आनन्द की समानधर्मा है, और उनसे भी इस अनुभूति की आनन्दरूप प्रकृति की ही पुष्टि होती है। उदाहरण के लिए रसानुभूति को जब चमत्कारप्राण, लोकोत्तर, ब्रह्मास्वाद-सहोदर, विस्मय आदि विशेषणो से परिभाषित किया जाता है, तो न केवल उसकी आनन्द-परक प्रवृत्ति व्यजित होती है, बल्कि यह आनन्द सामान्य लौकिक अनुभव से कुछ अपर कोटि का प्रतीत होता है। कदाचित् सुख, हर्ष, प्रसन्नता आदि साधारण सामान्य अनुभूतियो के वाचक शब्दो को बचा कर रसानुभूति के प्रसग म आनन्द शब्द के प्रयोग के मूल मे भी यही रहस्य है।

इसके अतिरिक्त, जिस अनुभूति का आस्वादन चित्त की सत्त्वोद्रेकमय अवस्था म ही स्वीकार किया जाए एव जिसकी परिणति चित्त की विश्रान्ति, लय और समापत्ति म हो, वह अनुभूति निश्चय ही आनन्दरूप होगी, ऐसा प्राय सर्वसम्मति से स्वीकार कर लिया गया है।

पश्चिम मे सौन्दर्य और आनन्द को पर्याय मानते हुए इन्द्रियो को परितुष्ट करने वाले विषयो को सुन्दर कहा गया। अर्थात्, दूसरे शब्दो मे, आनन्द का अर्थ हुआ—वह

---

[1] द स्ट्रक्चर ऑफ एस्थेटिक्स, पृ० २०३

[2] द फिलोसफी ऑफ आर्ट, पृ० २४०

अनुभूति जो ऐन्द्रिय परितोष प्रदान कर सके। पूर्व और पश्चिम के आचार्यों के बीच इस मतभेद के संभवतः दो कारण थे। पूर्व मे रसानुभूति की व्याख्या काव्य के संदर्भ में की गई। काव्य का ग्रहण चित्र, संगीत, वास्तु आदि कलाओं की भाँति पूर्णतः इन्द्रिय-निर्भर नही होता। चित्र चक्षुओं को जिस प्रकार तुष्ट करता है, काव्य के पढ़ने से हमारे नेत्र उसी रूप में तुष्ट नही होते। यही बात संगीत के संबंध में भी सत्य है। संगीत का नाद-निर्भर ध्वन्यात्मक सौन्दर्य कर्णेन्द्रिय के लिए जिस प्रकार सुखदायक होता है, उसी अर्थ में काव्य-पाठ का श्रवण नही। एक में इन्द्रिय केवल चित्त तक संवहन का माध्यम या साधन मात्र है, जहाँ अन्ततः चित्त का परितोष और आत्मतोष साध्य है। दूसरी स्थिति मे स्वयं इन्द्रिय का प्रसादन साध्य है, और चित्त की परितुष्टि अन्तस्संबंधित होने के कारण उसकी परिणामी स्थिति है। काव्येतर कलाओं में इन्द्रियेतर आनन्द मुख्यतः ऐन्द्रिय आनन्द पर अवलंबित रहता है और काव्य मे मनःतोष से भिन्न इन्द्रिय-सुख की कोई सार्थकता नही।

पश्चिम मे पूर्व के आत्मवाद के सदृश कोई दर्शन-प्रणाली न थी। इसके अतिरिक्त भारतीय आनन्दवादी मनीषियों ने काव्यास्वाद को ब्रह्मास्वाद का समकक्षी या सहोदर आनन्द घोषित किया तो ब्रह्मविद्या से ही उसकी व्याख्या के लिए पारिभाषिक शब्दावली का ग्रहण करते हुए, उसे आत्मास्वाद या आत्मानन्द कहा। पश्चिम के सौन्दर्यशास्त्रियों ने भी उसे धार्मिक रंग दिया किन्तु उसे भारतीय आध्यात्मिकता और आत्मानन्द की भूमि प्राप्त न हो सकी। इस प्रकार रसानुभूति और सौन्दर्यानुभूति की आनन्दरूपता के प्रश्न को लेकर विभिन्न दृष्टियों से उस पर विचार किया गया है। इस संदर्भ में मुख्य विचारणीय प्रश्न इस प्रकार है :

आनंद की सुख-दुःखरूपता

आनंद के प्रसंग में सुख-दु:खरूपता प्रश्न उठाना कदाचित् विरोधाभास है, किन्तु विवशता है कि यह विरोधाभास, किसी-न-किसी रूप मे, पूर्व और पश्चिम के चिन्तन मे निरंतर वर्तमान रहा है। विचित्र समानता है कि जिस प्रकार भरत मुनि के नाट्यशास्त्रगत विवेचन के आधार पर विद्वानों के एक वर्ग ने यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि उनका आशय प्रेक्षको के आस्वाद की सुख-दु:खरूपता का प्रतिपादन करना था, उसी प्रकार पश्चिम के सौन्दर्यशास्त्र मे भी काव्यानुभूति को सुख-दु:खात्मक मानने का मूल बीज आदि ग्रीक आचार्यों—प्लेटो और अरस्तू के विवेचन में ही प्राप्त होता है।

काव्यानुभूति सुख-दु:खात्मक होती है—इस मान्यता का आधार पूर्व में तो भरत मुनि का कथन 'स्थाय्येव रसः' था और पश्चिम की चिन्तन-परंपरा मे प्लेटो द्वारा काव्य का इस आक्षेप के कारण आदर्श राज्य से निष्कासन कि वह हमारे संवेगों को अनैतिक रूप से उत्तेजित करता है। दोनो में एक बात स्पष्ट रूप से समान है—काव्यानुभूति की व्याख्या इन आचार्यों ने लौकिक जीवन के अन्य व्यापारों के परिवेश में, दैनंदिन जीवन की अनुभूतियों के समानान्तर ही की है; और क्योंकि जीवनगत व्यापारो में सुख और दुःख सहचारी अनुभूतियों के रूप में सदैव वर्तमान रहते हैं, इसलिए जीवन की अनुकृति—काव्य से निष्पन्न अनुभूति की भी सुख-दु.खात्मकता सहज संभव है। परन्तु इस संदर्भ में एक बात ध्यान देने की है कि इन आचार्यों ने प्रसंग-भेद से काव्यानुभूति के अलग-अलग

पक्षों पर बल दिया है, जिनसे प्राय या तो असगति के भ्रम की सभावना उत्पन्न होती रही है, अथवा उनको आधार बनाकर विभिन्न विद्वानों ने विरोधी बातें सिद्ध कर दी हैं। भरत जब भाव-प्रसग मे स्थायी का विवेचन करते हैं तो स्थायी के महत्त्व पर बल देने के कारण स्थायी को ही रस कह देते है। वहाँ उनका अभिप्राय यह नहीं होता कि स्वय स्थायी ही रस है, बल्कि शायद यह होता है कि स्थायी ही रस का आधार है, अन्यथा यदि स्थायी मात्र को ही रस निरूपित करना उनका उद्देश्य होता, तो अपने प्रसिद्ध रस सूत्र में विभाव-अनुभाव और व्यभिचारी के सयोग के उल्लेख की क्या आवश्यकता थी ? इस सूत्र मे स्थायी का उल्लेख न करने के मूल मे भी कारण यही होगा कि रस के आधारभूत तत्त्व के रूप मे स्थायी की महत्ता का उन्होंने पृथक रूप से प्रतिपादन किया है। इसलिए यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि सुख दु खात्मक स्थायी मे विभाव-अनुभाव और व्यभिचारी आदि के सयोग से जिस रस की निष्पत्ति होती है, वह भी सुख-दु खात्मक ही होता है—ऐसा भरत का मत था।

यही बात प्लेटो के सबध मे सत्य है। प्लेटो जब सत्य के सदर्भ मे काव्य पर विचार करते हैं, तो दु खात्मक प्रवृत्तियो की असतुलित उत्तेजना को भी उसका कार्य मानते हुए, उसका निषेध करते हैं, परन्तु दूसरी ओर जब वे काव्य के प्रयोजन की चर्चा करते हैं तो शब्द भेद से अनेक रूपो म इस बात को दुहराते हैं कि काव्य और कलाओ का लक्ष्य मनोरजन होता है।[1] इस आनन्द को वे मिथ्या परितोष या चाटुक्रिया का आनन्द कहकर विशिष्ट बना देते है। यह दूसरी बात है। अरस्तू के द्वारा काव्यास्वाद की व्याख्या भी इस बात का प्रमाण है कि वे काव्य का प्रभाव सुख-दु खात्मक मानते थे। जो भाव निपट सुखात्मक होते हैं, उनकी आनन्दरूपता तो सहज सिद्ध है किन्तु विरेचन सिद्धात की प्रतिष्ठा त्रासदी की मूल भावनाओ—त्रास और करुणा की दु ख दशा-मुक्ति की तर्कसम्मत व्याख्या के अभिप्राय मे ही की गई है। परन्तु फिर भी, जैसा कि डा० नगेन्द्र[2] ने स्पष्ट किया है अरस्तू के द्वारा प्रतिपादित विरेचन एक ऐसी मन स्थिति का द्योतक है, जो दुख-मुक्ति की अभावात्मक दशा तो सूचित करता है, कलात्मक परितोष या आनन्द की भावात्मक स्थिति नहीं। अरस्तू कलाओ को आनन्दरूप मानते थे, इसमे फिर भी सदेह नहीं, क्योंकि उन्होने ललित कला मात्र मे लिप्त होने का कारण अनुकरण से प्राप्त होनेवाले आनन्द को माना है।

भारतीय आचार्यों मे काव्यानुभूति को सुख दु खरूप मानने की पद्धति विशेष रूप से दो परपराओ मे मिलती है। एक साख्य दर्शन और दूसरा जैन दर्शन। कहना न होगा कि कला सबधी भारतीय चिन्तन पर दार्शनिक आस्था का प्रचुर प्रभाव रहा है। मनुष्य के चित्त को सत, रज, तम तीनो गुणो से अनिवार्यत युक्त माननेवाले साख्य दार्शनिक और अनिवार्यत सुख दु ख सवलित माननेवाले जैन आचार्यों ने ही स्पष्ट रूप से रसानुभूति मे दुख का अश स्वीकार किया है।

रस की आनन्दरूपता के प्रसग में जैसा पहले भी स्पष्ट किया जा चुका है—रस को सुख-दु ख रूप माननेवाले आचार्यों ने लौकिक प्रमाणो की सहायता से ही रस की

---

[1] विशेष विवरण के लिए देखिए—'प्लेटो का काव्य सिद्धान्त', पृ० ७३–८६

[2] अरस्तू का काव्यशास्त्र, पृ० ६०

सुख-दुःखरूपता सिद्ध की है। प्रचलित मत है कि रसास्वाद को एकान्त आनन्द रूप मानने की पद्धति की प्रतिष्ठा ध्वनिवादी आचार्यों के हाथ हुई, जिनमें रस-संदर्भ में कदाचित् 'आनन्द' शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग आचार्य आनन्दवर्धन[१] ने किया। उन्होने ध्वनि की व्याख्या के प्रयोजन का उल्लेख करते हुए कहा कि वे ध्वनि के स्वरूप का प्रकाशन इस उद्देश्य से कर रहे हैं कि सहृदय जनों के मन में आनन्द प्रतिष्ठित हो।

इसी कारिका की व्याख्या करते हुए लोचनकार ने काव्य-प्रयोजन के रूप में आनन्द की स्थापना उसके मुख्य या मौलिभूत प्रयोजन के रूप में की।[२] उन्होंने कहा कि साधु काव्य के निषेवण से धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष और कलाओं में कुशलता तथा कीर्ति और प्रीति की प्राप्ति होती है किन्तु इनमें प्रीति ही प्रधान है; साथ ही यह भी कि काव्य के प्रयोजनों में आनन्द ही प्रधान कहा गया है तथा चतुर्वर्ग की व्युत्पत्ति का भी आनन्द ही पार्यन्तिक मुख्य फल है।

यदि कहा जाय कि आनन्द की प्रतिष्ठा ध्वनिकार ने ध्वनि-विवेचन के संदर्भ मे की है तो इसका उत्तर देना भी असंभव नही होगा। ध्वनिकार ने स्वयं अपने ग्रंथ की रचना के उद्देश्य का स्पष्ट शब्दों में व्याख्यान करते हुए कहा है कि :

'रसादि रूप व्यंग्य का तात्पर्य ही इनका युक्त है, यह यत्न हमने आरंभ किया है, न कि ध्वनि के प्रतिपादन मात्र के अभिनिवेश से।'[3]

आनन्द भी रस-ध्वनि का ही प्रयोजन या फल होगा, नीरस ध्वनि का नही।

अभिनवगुप्त स्वयं शैवाद्वैत के आनन्दवाद के अनुयायी थे, अतः यह स्वीकृति अत्यंत सहज है कि उन्होंने रसास्वाद की व्याख्या भी आनन्दानुभूति के रूप मे की है। उनके संबंध मे यह मान्यता स्वाभाविक ही नही, बल्कि बहुमत द्वारा समर्थित भी है। परन्तु इस संबंध में कुछ तथ्य महत्त्वपूर्ण और गंभीर रूप से विचारणीय है। अभिनवगुप्त के रसानुभूति संबंधी समग्र विवेचन का सूक्ष्म दृष्टि से अध्ययन किया जाए तो यह निष्कर्ष निकालना असंभव न होगा कि रसानुभूति का विवेचन वे निरंतर दो दृष्टियों से करते है। एक तो साहित्यशास्त्र में विहित शृंगार-हास्यादि नव रसों के संदर्भ में और दूसरे इन सबसे परे विचार और अवधारणा के धरातल पर 'रसानुभूति' की स्वतंत्र, आदर्श, पारमार्थिक या तात्त्विक सत्ता के रूप में। उन्होने एक ओर 'रसः' का विवेचन किया है, दूसरी ओर 'रसाः' का। एकवचन और बहुवचन के बीच व्यावहारिकता और पारमार्थिकता का यह अन्तर अभिनवगुप्त के मन मे निरतर बना ही नही रहा है, उन्होने दोनों के स्वरूप में भी अन्तर माना है। भरत मुनि का मत ग्रहण करते हुए भी वे इस विषय में सावधान थे। उन्होने तो

---

१ तस्य हि ध्वनेःस्वरूपं'''सहृदयानामानन्दो मनसि लभतां प्रतिष्ठामिति प्रकाश्यते ॥१॥
ध्वन्यालोक, पृ० ३७

२ ''''''तथापि तत्र प्रीतिरेव प्रधानम्। ''''''इति प्राधान्येनानन्द एवोक्तः।
चतुर्वर्गव्युत्पत्तेरपि चानन्द एव पार्यन्तिकं मुख्यं फलम् ॥ ध्वन्यालोक-लोचन, पृ० ४१

3 ''' ''रसादिरूपव्यंग्यतात्पर्यमेवैषां युक्तमिति यत्नोऽस्माभिरारब्धो न ध्वनि प्रतिपादनमात्राभिनिवेशेन। ध्वन्यालोक, पृ० ३९९-४००

यह भी सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि स्वयं भरत मुनि नाट्य रसों को व्यवहारतः अनेक और तत्त्वतः एक मानते थे।

रस के संदर्भ में भरत के द्वारा प्रयुक्त एकवचन और बहुवचन के अन्तर को तर्क से समझाते हुए उन्होंने कहा है कि भरत ने भी बहुवचन और एकवचन का प्रयोग इसलिए किया है कि वे भी परमार्थतः एक ही रस की सत्ता मानते थे—'एक एव तावत्परमार्थतो रसः' और रूपक में सूत्र-रूप में व्याप्त यही एक रस प्रतीत होता है 'सूत्रस्थानीयत्वेन रूपके प्रतिभाति।' इसी के भाग की दृष्टि से विभाग होते हैं 'तस्यैव पुनर्भागदृशा विभागः।' ध्यान देने की बात है कि अभिनवगुप्त ने भी स्वयं इस परम रस या महारस की प्रतिष्ठा करते हुए रस का विवेचन दो रूपों में किया है। विभावादि के भेद से विभाजित नवरसों की दृष्टि से, और इस आदर्श परम अनुभूति की दृष्टि से, जिसे वे 'महारस' की संज्ञा देते हुए परम आदर्श, स्वायत्त और अखंड मानते हैं। यह महारस स्फोट-सदृश होता है 'ततश्च मुख्यभूतात् महारसात् स्फोट सदृशीव'। अभिनवगुप्त ने इस 'परम रस' या 'महारस' से भिन्न जहाँ विभावादि-भेद से विभाजित अन्य रसों का विवेचन किया है, वहाँ वे आनन्द शब्द का प्रयोग नहीं करते। यह बात सहज उपेक्षणीय नहीं है। वहाँ वे या तो केवल रस-विशेष की स्थिति का उल्लेख करते हैं, अथवा उस अनुभूति की सुखात्मकता का। इसी प्रकार सब रसों के प्रसंग में उन्होंने 'सर्वे अमी सुखप्रधानाः' कहते हुए भी जब उनकी आनन्द-रूपता सिद्ध की तो एकवचन में रस-तत्त्व की व्याख्या करते हुए उन्होंने उसे आनन्द रूप और स्वसंवित् की चर्वणा कहा। यह एकघन, प्रकाशमान, चर्वणा रूप रसानुभूति, नवरस आदि से भिन्न उस परम रस-तत्त्व की अनुभूति है जो इन भेदों से मुक्त है, और आनन्द उसी का सार है। विविध रसों की आनन्दरूपता उसी एक तत्त्व की व्याप्ति के कारण है, किन्तु विभिन्न भेदों में विभाजित होने पर इनमें दुःख का अंश निहित अवश्य रहता है। ठीक उसी प्रकार जैसे यह सृष्टि शिव-तत्त्व की व्याप्ति के कारण आनन्दमय है, आनन्दरूप है किन्तु परम शिव के सदृश एकान्त आनन्दमयी नहीं। इसीलिए जैसा रस की आनन्दरूपता के संदर्भ में पहले भी स्पष्ट किया जा चुका है अभिनवगुप्त नव रस में सुख की प्रधानता मानते हैं जो कि न केवल दुःखांश की अप्रधानता का या सुख और दुःख की तारतम्यिकता का द्योतक है, बल्कि आनन्द शब्द के स्थान पर विविध रसों के संदर्भ में सुख शब्द का प्रयोग भी यही संभावना उत्पन्न करता है कि क्योंकि दुःख और सुख लौकिक अनुभूतियों के वाचक शब्द हैं और आनन्द लौकिक भूमिका से ऊपर अनुभूति का, इसलिए अभिनवगुप्त ने महारस या रस-तत्त्व को आनन्दरूप माना और नव रसों को सुख-दुःख रूप जिनमें सुख की प्रधानता रहती है। परम रसांश मुख्य होने के कारण जिनकी आनन्दरूपता सिद्ध की जा सकती है, विभावादि संबंध से उन्हीं में दुःख का संश्लेष रहता है। दूसरे शब्दों में ये रस तत्त्वतः आनन्द-रूप और व्यवहारतः सुख-दुःख-रूप होते हैं, जिनमें प्रधानता सुख की ही होती है। रसानुभूति की इस विशिष्ट व्याख्या की संगति अभिनवगुप्त की दार्शनिक मान्यताओं से होती है। शैवाद्वैत में द्वैत से अद्वैत की प्रतिष्ठा की गई है। वहाँ द्वैत का अर्थ है दो की समरस स्थिति। 'अद्वय की इस स्थिर और शांत सतह पर द्वैत की लहर क्रीड़ा करती रहती है जो 'स्वातन्त्र्यमयी' इच्छात्मिका शक्ति की वायु से प्रसूत होती है। यह लहर आकारतः भिन्न प्रतीत होती हुई भी तत्त्वतः भिन्न नहीं है। अद्वैत में द्वैत का यही अर्थ है।'

अभिनवगुप्त जब द्वैत के स्तर पर विभावादि भेद से विभाजित रसों की बात करते है तो वहाँ 'भाव एव रसः' कहते है और जहाँ एक मूल रस की, वहाँ उसे अलौकिकचर्वणा व्यापार, लोकोत्तर, स्थायिविलक्षण तथा सवित् का आस्वाद कहते हैं। दोनों प्रसगों में प्रयुक्त शव्दावली का यह भेद उपेक्षणीय नही है।

पाश्चात्य काव्यशास्त्र मे यह प्रश्न इस रूप मे उठाया ही नही गया। आरंभ से वहाँ कलाओं के द्वारा सुखात्मक और दु.खात्मक दोनो प्रकार की भावनाओं का उद्रेक जितना सहज रूप से स्वीकार किया गया, उतने ही सहज रूप से उनकी मनोरंजकता भी; परन्तु भारतीय दार्शनिकों की भाँति इस मनोरजकता को लोकोत्तर कोटि का आनन्द या आध्यात्मिक आनन्द का समानधर्मा कहकर अलौकिकता का पद प्रदान करने की चेष्टा नही की गई। इस अनुभूति मे दुःख का अंश अनिवार्यतः रहता है, यह त्रासदी के आस्वाद संबंधी विवेचन की दीर्घ परंपरा से स्पष्ट है। साथ ही यह भी कि काव्यास्वाद स्वयं दु.खमय नही होता क्योकि त्रासदी के आस्वाद की समस्या मे मुख्य व्याख्येय या विवेच्य प्रश्न यही रहा है कि त्रास और करुणा जैसी दु.खद अनुभूतियों से संवद्ध होने पर भी त्रासदी आस्वाद्य या रजक क्यों होती है?

अरस्तू ने ही स्पष्ट शब्दों में यह स्वीकार किया है कि जिन विषयों का प्रत्यक्ष दर्शन या अनुभव क्लेशकर होता है, उन्ही की यथावत प्रतिकृति का भावन आह्लादकारी होता है।[१] कलाकृति के भावन को अरस्तू निश्चित रूप से आह्लादकारी मानते थे, यही विरेचन सिद्धान्त के प्रतिपादन का मूल कारण था। परन्तु जैसा पहले भी स्पष्ट किया गया है—अरस्तू के अनुसार अप्रीतिकर भावों की निर्दोष उद्‌बुद्धि और अभिव्यक्ति से निष्पन्न विरेचन और तज्जन्य चित्त-वैशद्य ही त्रासदी का आस्वाद है। यह स्थिति मुक्ति और राहत की स्थिति है, उपलब्धि और सिद्धि की नही; अत. उनकी आनन्द-विषयक धारणा आत्मभोग या आत्मास्वाद की भावात्मक भारतीय धारणा से भिन्न है।

आनन्द की सुखरूपता

अभिनवगुप्त के वाद मम्मटादि आचार्यों के विवेचन में अभिनव का सा सूक्ष्म दृष्टि-भेद नहीं मिलता। उन्होंने भी रस को 'सकलप्रयोजन मौलिभूत' और रसास्वाद को आनन्द-रूप माना है :

सकलप्रयोजनमौलिभूतं समनन्तरमेव रसास्वादनसमुद्‌भूतं विगलितवेद्यान्तरमानन्दम्।[२]

एक वात इस संदर्भ में विशेष उल्लेखनीय है। अभिनवगुप्त के उपरान्त रस की आत्मपरक व्याख्या की परिपाटी विद्वानो मे विशेष लोकप्रिय रही। विश्वनाथ ने तो केवल सहृदय के अनुभव के आधार पर ही सभी रसों की आनन्दरूपता का प्रतिपादन इस व्यावहारिक तर्क के वल पर किया, कि यदि करुणादि रस आनन्ददायक न होते, तो कोई भी उनके प्रेक्षण-अध्ययनादि मे प्रवृत्त न होता।[3]

---

१ अरस्तू का काव्यशास्त्र, पृ० १४

२ काव्यप्रकाश, १, २ वृत्ति, पृ० १०

3 साहित्यदर्पण, ३।४-५, पृ० ५२

पंडितराज में अभिनवगुप्त और विश्वनाथ के मतों का समन्वित रूप मिलता है। रस की आनन्दरूपता जब वे दो प्रमाणों के आधार पर सिद्ध करते हैं तो उनमें से एक विश्वनाथ के अनुरूप सहृदय समाज का प्रत्यक्ष है और दूसरा श्रुति का साक्ष्य। जिस प्रकार अभिनवगुप्त ने रस को तत्त्वतः शैवाद्वैत की अद्वय आनन्द की परिकल्पना के आधार पर आनन्दरूप माना और उसे संवित की चर्वणा या आस्वाद कहा है उसी प्रकार पंडितराज ने शांकर वेदान्त के आधार पर वेद वाक्य का साक्ष्य देकर आत्मास्वाद को ही रस कहा है। दोनों ही पारमार्थिक भूमि पर रस की आनन्दरूपता सिद्ध करते हैं।

संस्कृत काव्यशास्त्र के उपजीवी रीतिकालीन आचार्यों ने आनन्दवादी परंपरा को ही दुहराया और आधुनिक विचारकों में जयशंकर प्रसाद पं० केशवप्रसाद मिश्र बाबू श्यामसुन्दरदास बाबू गुलाबराय पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी एवं डॉ० नगेन्द्र सभी रस की आनन्दरूपता का समर्थन करते रहे।

कलामिती वर्ग के पश्चिमी विचारकों में यदि कोई मत भारतीय रसानुभूति की एकान्त आनन्दवादी धारणा के सर्वाधिक निकट प्रतीत होता है तो वह लोंजाइनस की उदात्त विषयक अवधारणा है। औदात्य के प्रभाव से आत्मा जैसे अपने-आप ही ऊपर उठकर गर्व से उच्चाकाश में विचरण करने लगती है तथा हर्ष और उल्लास से परिपूर्ण हो उठती है।[1] इसके अतिरिक्त वे औदात्य के उन उदाहरणों को ही श्रेष्ठ और सच्चा मानने के पक्ष में थे जो सब व्यक्तियों को सर्वदा आनन्द दे सकें।[2]

इस प्रकार लोंजाइनस काव्य का प्राण-तत्त्व उदात्तता को मानते थे और औदात्य का प्रभाव आत्मोन्मेषकारी—आत्मा को हर्ष और उल्लास से पूर्ण करनेवाला एवं आनन्ददायक मानते थे। लोंजाइनस की औदात्य विषयक अवधारणा से इतना तो स्पष्ट ही है कि वे प्लेटो अरस्तू आदि की अपेक्षा काव्य का प्रभाव अधिक उन्नयनकारी विशद और आनन्ददायक मानते थे। लोंजाइनस की उदात्त विषयक अवधारणा भारतीय आनन्द की धारणा से किंचित भिन्न है। काव्य में जिस उदात्त तत्त्व का प्रतिपादन उन्होंने किया है वह कुछ ऐसा है जो अपने पाठक को रमण न कराके विस्मयाभिभूत कर ले उसकी वृत्तियों का उन्नयन करके उसकी आत्मा को चमत्कारमूलक उल्लास से भर दे। भारतीय चिन्ताधारा में चमत्कार की स्वीकृति तो की गई किन्तु उसका पर्यवसान रमणजन्य आत्मविश्रान्ति और लय में होता है अभिभूति में नहीं। चमत्कार में विस्मय के भाव की स्वीकृति भी भारतीय आचार्यों में केवल आचार्य विश्वनाथ ने की है। अभिनवादि अन्य आचार्यों ने उसे आनन्द का पर्याय माना है।

जर्मन विद्वान गेटे ने भी शेक्सपियर के नाटकों के प्रति मन में होनेवाली प्रतिक्रिया के संबंध में कहा है कि शेक्सपियर के नाटक पढ़ने के उपरान्त उन्हें ऐसा गहरा अनुभव हुआ मानो किसी असीमता के द्वारा उनके अस्तित्व का विस्तार हो गया हो। स्पष्ट ही यह अनुभूति अत्यंत उदात्त और भव्य तथा उल्लासजन्य होगी।

---

[1] काव्य में उदात्त-तत्त्व सं० डॉ० नगेन्द्र, पृ० ५२

[2] वही पृ० ५३

लोंजाइनस के उपरान्त भी काव्यास्वाद को आह्लादरूप मानने की परंपरा प्रायः चलती रही। कुछ आलोचकों ने उसे सिद्धि या साध्य माना तथा अन्य विद्वानों ने लोक-कल्याण आदि अन्य उपयोगितावादी सिद्धियों का साधन। परन्तु काव्य की आह्लादरूपता का निषेध वहाँ भी आधुनिक युग तक नहीं किया गया। रचनाकारों में रोमाण्टिक वर्ग के कवियों—विक्टर ह्यूगो, शिलर, कोलरिज, शेली, वर्ड्स्वर्थ आदि ने, और सौन्दर्यशास्त्रियों में भोगवादी वर्ग के संटायना ने काव्य की आह्लादरूपता का समर्थन किया।

संटायाना ने अत्यंत स्पष्ट शब्दों में कला को मनोरंजन की मानवीय माँग का पूरक माना है और यह भी स्वीकार किया है कि हमारी इन्द्रियों और कल्पना पर कला का प्रभाव उत्तेजक होता है।[१]

संटायना के अनुसार कलास्वाद से प्राप्त आह्लाद का मुख्य कारण यह है कि हमारी अन्तश्चेतना काव्यास्वाद के क्षणों में भौतिक शरीर के प्रतिबंधों और संबंधों से मुक्ति का अनुभव करती है। शरीर की स्थिति में किसी सचेतन स्थानीय परिवर्तन के अभाव में हम कल्पना के उन्मुक्त लोक में कहीं भी विचरण कर लेते हैं। उनके अनुसार शरीरबंध के भंग का यह भ्रम अत्यधिक आनन्ददायक होता है। इतना ही नहीं, संटायना शारीरिक सुखों से संबद्ध संबंधों को सामान्यतः निम्नतर और कलात्मक सुखों की अपेक्षा अनगढ़ मानते थे।[२]

संटायना की आनन्द-विषयक धारणा में एक बात और ध्यान देने की है। उन्होंने काव्यानुभूति को भरत की भाँति वस्तुबद्ध अतः आस्वाद्य नहीं माना, बल्कि अभिनवगुप्त की भाँति सहृदयनिष्ठ अतः आस्वाद स्वीकार किया है। उन्होंने स्पष्ट कहा है: "वह सौन्दर्य जिसका भावबोध नहीं होता, वह अननुभूत आनन्द है।"[3] जो वस्तु किसी को आनन्द न दे सके, उनके अनुसार, सुन्दर ही नहीं है। इसी प्रकार जब वे सौन्दर्य को वस्तुबद्ध आनन्द कहते हैं तो उसकी विषयिगत सत्ता और भी निश्चित कर देते हैं। परन्तु इससे इतना तो स्पष्ट हो ही जाता है कि वे कला, सौन्दर्य और आनन्द को एक-दूसरे का पर्याय मानते थे। ललित कलाओं को आनन्दप्रद मानने की धारणा पश्चिम के विद्वानों में कुछ इतनी निरपवाद रूप से स्वीकृत थी कि 'एन्साइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका' में ललित कलाओं की परिभाषा ही आनन्दपरक शब्दावली में की गई: "ललित कलाएँ मानवीय कलाओं में वे है जिनका उद्भव मानव की उस संरचनात्मक वृत्ति से होता है जिससे वह विशेष वस्तुओं का निर्माण प्रत्यक्ष उपयोगिता से भिन्न एक विशिष्ट प्रकार के आनन्द के लिए करता है। यह आनन्द उसे कर्तृत्व या निर्माण-प्रक्रिया में ही मिलता है। और दूसरे—अन्य व्यक्तियों द्वारा कृत या निर्मित कलाओं के प्रेक्षण और भावन से उसे सजातीय आनन्द की उपलब्धि होती है।"[४]

---

१ सेन्स ऑफ़ ब्यूटी, पृ० २२

२ वही, पृ० ३६-३७

3 वही, पृ० ४५

४ ...the art of man springs from his impulse to create, and thereby associates with creation the kindred pleasure that of witnessing and appreciating what is made to attract that interest.

Encyclopaedia Britanica, 1957, Vol. 9, p. 243.

पश्चिम के जिन विचारकों ने ललित कलाओं का संबंध सौन्दर्य के साथ सत् से भी जोड़ा है वे भी अनिवार्यतः उसमें आनन्द का समावेश करते हैं। श्लेगल ने कहा कि सौन्दर्य सत् की आनन्दमयी अभिव्यक्ति है। इसी प्रकार सिसरो ने सर्वश्रेष्ठ भाषणकर्ता उसे माना जो अपने श्रोताओं को शिक्षा के साथ आह्लाद भी प्रदान करे और उनके मस्तिष्क को सक्रिय बनाए। स्पष्ट ही उनकी यह मान्यता 'कान्तासम्मित उपदेश' को काव्य प्रयोजन स्वीकार करने वाली भारतीय मान्यता से बहुत भिन्न नहीं है।

ड्राइडन के मत में भी इसी मान्यता की अनुगूंज है। उन्होंने भी कविता के प्रयोजन की चर्चा करते हुए कहा है कि यदि आनन्द कविता का एकमात्र नहीं तो भी मुख्य प्रयोजन अवश्य है।

काव्यास्वाद की दु:खरूपता

भारतीय काव्यशास्त्र में रसों को सुख-दु:खात्मक माननेवाले प्राचीन आचार्यों में सबसे ऊँचा स्वर 'नाट्यदर्पण' के रचयिता आचार्यद्वय रामचन्द्र गुणचन्द्र का है। उन्होंने रसों को सुख-दु:खात्मक मानते हुए करुण, रौद्र, बीभत्स और भयानक इन चार रसों को दु:खात्मक माना है और शेष पाँच को सुखात्मक। उनके अनुसार "भयानक आदि से सामाजिक को घबराहट होती है। सुखास्वाद से तो किसी को उद्वेग नहीं होता है।"[1]

जैसा पहले स्पष्ट किया जा चुका है अभिनवगुप्त ने भी व्यावहारिक स्तर पर रसों की सुख-दु:खरूपता का समर्थन किया है। परन्तु उनके अनुसार शान्त के अतिरिक्त जो महारस है, शेष सभी रसों में सुख और दु:ख दोनों का अंश निहित रहता है, जबकि नाट्य-दर्पणकार विभाजित करके कुछ रसों को एकान्त दु:ख-रूप और दूसरों को एकान्त सुख-रूप मानते हैं।

इनके अतिरिक्त भट्टलोल्लट, भट्टशंकुक तथा 'अभिनवभारती' में उल्लिखित सांख्य आचार्यों और रुद्रभट्ट आदि का उल्लेख इस प्रसंग में किया जा सकता है। परन्तु यह भारतीय चिन्तन का प्रधान स्वर नहीं था इसलिए परिमाण और महत्त्व दोनों दृष्टियों से यह परंपरा विशेष समर्थन प्राप्त न कर सकी।

आधुनिक आचार्यों में इस परंपरा का पोषक एकमात्र अपवाद-रूप स्वर आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का था, जिन्होंने रस की आनन्दरूपता का प्रबल शब्दों में खंडन किया। वे 'साधारणीकरण' का अर्थ विशेष का सामान्य होना अर्थात् आश्रय से तादात्म्य की स्थिति में आलम्बन का—उसके जैसा भाव का आलम्बन हो जाना मानते थे। स्पष्ट ही काव्य-निबद्ध आलम्बन के प्रति आश्रय का भाव सदैव सुखकर नहीं होता। ऐसी स्थिति में दु:खात्मक भाव से सहृदय के मन में भी दु:ख ही उत्पन्न होगा। इसीलिए आचार्य शुक्ल ने कहा

यदि श्रोता के हृदय में भी प्रदर्शित भाव का उदय न हुआ—उस भाव की स्वानुभूति से भिन्न प्रकार का आनन्द-रूप अनुभव हुआ तो 'साधारणीकरण' कैसा? क्रोध, शोक, जुगुप्सा आदि के वर्णन यदि श्रोता के हृदय में आनन्द का संचार करें तो या तो श्रोता

---

[1] हिंदी नाट्यदर्पण, पृ० २९१

सहृदय नहीं या कवि ने बिना इन भावों का स्वयं अनुभव किए उनका रस प्रदर्शित किया है।"[१]

शुक्लजी वस्तुतः रसास्वादन के स्वरूप के स्पष्टीकरण के लिए 'आनन्द' शब्द को अपर्याप्त मानते है। कारण शायद यह है कि 'आनन्द' को वे 'नाच-तमाशे' से होनेवाला आनन्द अर्थात मनोरंजन का पर्याय मानते है। इसलिए उनका विचार है कि काव्य में वर्णित कारुणिक या दुःखान्त प्रसंगों के परिणामस्वरूप होनेवाली चित्त की द्रुति, मात्र आनन्द नही है।[२] यदि यह मान लिया जाए कि कारुणिक, मार्मिक या क्रोधपरक प्रसंगों को देखकर जो अनुभूति हमें होती है वह आनन्द नही है, तो ऐसी स्थिति मे यहाँ दो प्रश्न उठेगे। पहला मौलिक प्रश्न तो यही है कि यह अनुभूति आनन्ददायिनी न भी हो, तो भी क्या यह दुःखकारी और क्लेशकर है? यदि ऐसा नही है तो शुक्लजी के अनुसार हमे उससे आनन्द तो होता ही नही, यदि दुःख भी नही होता तो क्या होता है? शुक्लजी के मन में यह शंका स्वयं वर्तमान थी। इसलिए उन्होने रस-दशा को हृदय की आनन्दमयी अवस्था न कहकर एक ओर तो मुक्तावस्था कहा और दूसरी ओर यह भी कि हम काव्य को व्यक्ति-संवद्ध भावना से ग्रहण न करके 'निर्विशेष शुद्ध और मुक्त हृदय' द्वारा ग्रहण करते है।[3] अतः करुण या अन्य दु.खात्मक प्रसंगों से हमे पीड़ा या क्लेश इसलिए नही होता कि "रस-दशा मे अपनी पृथक सत्ता की भावना का परिहार हो जाता है अर्थात काव्य मे प्रस्तुत विषय को हम अपने व्यक्तित्व से संवद्ध रूप मे नही देखते, अपनी योगक्षेम-वासना की उपाधि से ग्रस्त हृदय द्वारा ग्रहण नही करते। इसी को पाश्चात्य समीक्षा-पद्धति मे अहं का विसर्जन और निस्संगता (impersonality and detachment) कहते है। इसी को चाहे रस का लोकोत्तरत्व या ब्रह्मानन्दसहोदरत्व कहिए चाहे विभावन व्यापार का अलौकिकत्व।"[४]

शुक्लजी की उपर्युक्त स्थापनाओं से स्पष्ट है कि हृदय की मुक्तावस्था से उनका अभिप्राय ममत्व की व्यक्ति-संवद्ध भावना से मुक्ति है। अर्थात काव्य मे वर्णित दुःखद प्रसंग हमे दुःख इसलिए नहीं पहुँचाते क्योंकि हम उन्हें साधारण्य संबंध से ग्रहण करते है। काव्य से होनेवाला तथाकथित आनन्द शुक्लजी के अनुसार अस्मिता के आस्वाद का या भोग का आनन्द न होकर अहं के विसर्जन का या निस्संगता का आनन्द है जिसमें व्यक्ति-संबंधों से मुक्त व्यक्ति की अस्मिता एक प्रकार की मुक्ति का अनुभव करती है। इस प्रकार यह भाव के प्रकृत सुख-दु.खात्मक अनुभव से भिन्न, अधिक उदात्त साधारण्य अनुभूति है। इतना तो ठीक ही है कि काव्यानुभूति उसी अर्थ में आनन्दरूप नही होती जिसमें भौतिक सुख। संस्कृत के आचार्यो ने भी रति भाव की लौकिक अनुभूति से शृंगार रस की अनुभूति को भिन्न माना है। अन्तर यही है कि जहाँ व्यक्ति-संबंधों से मुक्त दुःखात्मक प्रसंगों के अनुभव को अन्य आचार्यो ने आनन्दरूप माना, वहाँ शुक्लजी ने उन्हें दुःख-रूप माना है। हृदय की ममत्वादि के संबंधों से मुक्ति इस रसदशा का अभावात्मक पक्ष है, और 'स्वार्थ-संबंधों के संकुचित

---

१ रसमीमांसा, पृ० ९९

२ वही, पृ० १०१

3 चिन्तामणि, भाग १, पृ० २४७

४ वही, पृ० २४७

पश्चिम के जिन विचारकों ने ललित कलाओं का संबंध सौन्दर्य के साथ मन् से भी जोड़ा है, वे भी अनिवार्यतः उसमें आनन्द का समावेश करते हैं। क्रोचे ने कहा कि सौन्दर्य मन् की आनन्दमयी अभिव्यक्ति है। इसी प्रकार सिसरो ने सर्वश्रेष्ठ भाषणकर्ता उसे माना, जो अपने श्रोताओं को शिक्षा के साथ आह्लाद भी प्रदान करे और उनके मस्तिष्क को सक्रिय बनाए। स्पष्ट ही उनकी यह मान्यता 'कान्तासम्मित उपदेश' को काव्य प्रयोजन स्वीकार करने वाली भारतीय मान्यता से बहुत भिन्न नहीं है।

ड्राइडन के मत में भी इसी मान्यता की अनुगूंज है। उन्होंने भी कविता के प्रयोजन की चर्चा करते हुए कहा है कि यदि आनन्द कविता का एकमात्र नहीं तो भी मुख्य प्रयोजन अवश्य है।

काव्यास्वाद की दुःखरूपता

भारतीय काव्यशास्त्र में रसों को सुख-दुःखात्मक माननेवाले प्राचीन आचार्यों में सबसे ऊँचा स्वर 'नाट्यदर्पण' के रचयिता आचार्यद्वय रामचन्द्र-गुणचन्द्र का है। उन्होंने रसों को सुख-दुःखात्मक मानते हुए करुण, रौद्र, बीभत्स और भयानक, इन चार रसों को दुःखात्मक माना है और शेष पाँच को सुखात्मक। उनके अनुसार 'भयानक आदि से सामाजिक को घबराहट होती है। सुखास्वाद से तो किसी को उद्वेग नहीं होता है।"[१]

जैसा पहले स्पष्ट किया जा चुका है, अभिनवगुप्त ने भी व्यावहारिक स्तर पर रसों की सुख-दुःखरूपता का समर्थन किया है। परन्तु उनके अनुसार शान्त के अतिरिक्त जो महारस है, शेष सभी रसों में सुख और दुःख दोनों का अंश निहित रहता है, जबकि नाट्य-दर्पणकार विभाजित करके कुछ रसों को एकान्त दुःख रूप और दूसरों को एकान्त सुख रूप मानते हैं।

इनके अतिरिक्त भट्टलोल्लट, भट्टशंकुक तथा 'अभिनवभारती' में उल्लिखित सांख्य आचार्यों और रुद्रभट्ट आदि का उल्लेख इस प्रसंग में किया जा सकता है। परन्तु यह भारतीय चिन्तन का प्रधान स्वर नहीं था, इसलिए परिमाण और महत्त्व दोनों दृष्टियों से यह परंपरा विशेष समर्थन प्राप्त न कर सकी।

आधुनिक आचार्यों में इस परंपरा का पोषक एकमात्र अपवाद-रूप स्वर आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का था, जिन्होंने रस की आनन्दरूपता का प्रबल शब्दों में खंडन किया। वे 'साधारणीकरण' का अर्थ विशेष का सामान्य होना अर्थात् आश्रय से तादात्म्य की स्थिति में आलम्बन का—उसके उसी भाव का आलम्बन हो जाना मानते थे। स्पष्ट ही काव्य-निबद्ध आलम्बन के प्रति आश्रय का भाव सदैव सुखकर नहीं होता। ऐसी स्थिति में दुःखात्मक भाव से सहृदय के मन में भी दुःख ही उत्पन्न होगा। इसीलिए आचार्य शुक्ल ने कहा

"यदि श्रोता के हृदय में भी प्रदर्शित भाव का उदय न हुआ—उस भाव की स्वानुभूति से भिन्न प्रकार का आनन्द-रूप अनुभव हुआ तो 'साधारणीकरण' कैसा? क्रोध, शोक, जुगुप्सा आदि के वर्णन यदि श्रोता के हृदय में आनन्द का संचार करें तो या तो श्रोता

---

[१] हिंदी नाट्यदर्पण, पृ० २९१

सहृदय नहीं या कवि ने विना इन भावों का स्वयं अनुभव किए उनका रस प्रदर्शित किया है।"[१]

शुक्लजी वस्तुतः रसास्वादन के स्वरूप के स्पष्टीकरण के लिए 'आनन्द' शब्द को अपर्याप्त मानते है। कारण शायद यह है कि 'आनन्द' को वे 'नाच-तमाशे' से होनेवाला आनन्द अर्थात मनोरंजन का पर्याय मानते है। इसलिए उनका विचार है कि काव्य में वर्णितं कारुणिक या दुःखान्त प्रसंगों के परिणामस्वरूप होनेवाली चित्त की द्रुति, मात्र आनन्द नहीं है।[२] यदि यह मान लिया जाए कि कारुणिक, मार्मिक या क्रोधपरक प्रसंगों को देखकर जो अनुभूति हमें होती है वह आनन्द नहीं है, तो ऐसी स्थिति में यहाँ दो प्रश्न उठेंगे। पहला मौलिक प्रश्न तो यही है कि यह अनुभूति आनन्ददायिनी न भी हो, तो भी क्या यह दुःखकारी और क्लेशकर है ? यदि ऐसा नहीं है तो शुक्लजी के अनुसार हमे उससे आनन्द तो होता ही नहीं, यदि दुःख भी नही होता तो क्या होता है ? शुक्लजी के मन में यह शंका स्वयं वर्तमान थी। इसलिए उन्होने रस-दशा को हृदय की आनन्दमयी अवस्था न कहकर एक ओर तो मुक्तावस्था कहा और दूसरी ओर यह भी कि हम काव्य को व्यक्ति-संवद्ध भावना से ग्रहण न करके 'निर्विशेष शुद्ध और मुक्त हृदय' द्वारा ग्रहण करते है।[३] अतः करुण या अन्य दुःखात्मक प्रसंगों से हमे पीड़ा या क्लेश इसलिए नही होता कि "रस-दशा में अपनी पृथक सत्ता की भावना का परिहार हो जाता है अर्थात काव्य मे प्रस्तुत विषय को हम अपने व्यक्तित्व से संवद्ध रूप मे नहीं देखते, अपनी योगक्षेम-वासना की उपाधि से ग्रस्त हृदय द्वारा ग्रहण नही करते। इसी को पाश्चात्य समीक्षा-पद्धति में अहं का विसर्जन और निस्संगता (impersonality and detachment) कहते है। इसी को चाहे रस का लोकोत्तरत्व या ब्रह्मानन्दसहोदरत्व कहिए चाहे विभावन व्यापार का अलौकिकत्व।"[४]

शुक्लजी की उपर्युक्त स्थापनाओं से स्पष्ट है कि हृदय की मुक्तावस्था से उनका अभिप्राय ममत्व की व्यक्ति-संबद्ध भावना से मुक्ति है। अर्थात काव्य में वर्णित दुःखद प्रसंग हमें दुःख इसलिए नहीं पहुँचाते क्योंकि हम उन्हें साधारण्य संबंध से ग्रहण करते है। काव्य से होनेवाला तथाकथित आनन्द शुक्लजी के अनुसार अस्मिता के आस्वाद का या भोग का आनन्द न होकर अहं के विसर्जन का या निस्संगता का आनन्द है जिसमें व्यक्ति-संबंधों से मुक्त व्यक्ति की अस्मिता एक प्रकार की मुक्ति का अनुभव करती है। इस प्रकार यह भाव के प्रकृत सुख-दुःखात्मक अनुभव से भिन्न, अधिक उदात्त साधारण्य अनुभूति है। इतना तो ठीक ही है कि काव्यानुभूति उसी अर्थ में आनन्दरूप नहीं होती जिसमें भौतिक सुख। संस्कृत के आचार्यों ने भी रति भाव की लौकिक अनुभूति से शृंगार रस की अनुभूति को भिन्न माना है। अन्तर यही है कि जहाँ व्यक्ति-संबंधों से मुक्त दुःखात्मक प्रसंगों के अनुभव को अन्य आचार्यो ने आनन्दरूप माना, वहाँ शुक्लजी ने उन्हें दुःख-रूप माना है। हृदय की ममत्वादि के संबंधों से मुक्ति इस रसदशा का अभावात्मक पक्ष है, और 'स्वार्थ-संबंधों के संकुचित

---

[१] रसमीमांसा, पृ० ९९

[२] वही, पृ० १०१

[३] चिन्तामणि, भाग १, पृ० २४७

[४] वही, पृ० २४७

मंडल से ऊपर उठाकर लोक-सामान्य भाव भूमि पर पहुँचा आना उसका भावात्मक पक्ष है। जिसमें व्यक्ति 'अपनी सत्ता को लोक-सत्ता में लीन किए रहता है।' शुक्लजी ने इसे कर्मयोग और ज्ञानयोग के समकक्ष अनुभूतियोग कहा है। उनका विचार है कि इस अनुभूतियोग के अभ्यास से हमारे मनोविकारों का परिष्कार होता है। निष्कर्ष रूप में काव्य में वर्णित दुःखद प्रसंग व्यक्ति-संबद्ध भावना से मुक्त होने के कारण पाठक में अधिक परिष्कृत और उदात्त अनुभूति उत्पन्न करते हैं अर्थात् हम जब अपने लिए दुःखी होते हैं तो वह अनुभूति का स्वार्थबद्ध संकुचित रूप होता है और जब हम दूसरों के लिए सुखी या दुःखी होते हैं तो वह सुख-दुःख का अधिक परिष्कृत व्यापक उदात्त और अवदात रूप होता है जो आनन्द न होकर हृदय की मुक्तावस्था मात्र का द्योतक होता है।

आचार्य शुक्ल की इस मान्यता के समानान्तर पाश्चात्य सौन्दर्यशास्त्र में भी मान्यता मिलती है। थ्योडर लिप्स ने समानुभूति द्वारा प्राप्त कलानुभूति को इसलिए मूल्यवान माना है कि वह मुक्ति बोध (सेंस आफ फ्रीडम) प्रदान करती है। वस्तुतः शुक्लजी ने कलावादियों से भिन्न 'आनन्द' शब्द का प्रयोग 'आनन्द मंगल' के अर्थ में किया है। उनके अनुसार आनन्द का अर्थ ही है लोकमंगल और समस्त कलाओं का चरम या अन्तिम उद्देश्य है इसी लोकमंगल की साधना। इसलिए काव्य उनके अनुसार आनन्दरूप तो है किन्तु वहाँ आनन्दरूपता का अर्थ है लोकमंगलकारी।

पश्चिमी विद्वानों में कलावादियों ने कलाओं को आनन्दरूप माना और अन्य विद्वानों ने नैतिक मूल्यों की प्रतिष्ठा की। आधुनिक युग में आइ० ए० रिचर्ड्स ने काव्यास्वाद को आनन्द के सरल सामान्य अर्थ में मात्र आह्लादरूप या मनोरंजन प्रधान न मानकर अधिक जटिल अनुभूति माना है। उनके अनुसार कलाओं के द्वारा हमारी अन्तर्वृत्तियों के बीच संतुलन और सामरस्य घटित होता है। जो कला जितनी अधिक और जितनी परस्पर विरोधी वृत्तियों के बीच यह सामंजस्य घटित करने में समर्थ हो वह उतनी ही उत्कृष्ट और सफल मानी जाएगी। उनके अनुसार अन्तर्वृत्तियों का यह परिमाणपरक सामंजस्य अनुभूति के गुणपरक परिवर्तन का भी साधक होता है।

रिचर्ड्स ने इसलिए कलाओं की आनन्दरूपता का स्पष्ट विरोध करते हुए कहा कि आनन्द मस्तिष्क में घटित होनेवाली किसी स्वतन्त्र घटना की अपेक्षा वह पद्धति है जिसके अनुसार कुछ घटित होता है। हम आनन्द नहीं होते बल्कि एक या दूसरे प्रकार के अनुभव होते हैं—दृश्य श्रव्य आवयविक संवेगात्मक आदि जो आनन्ददायक होते हैं।[1]

पश्चिम का आधुनिक विचार-क्रम कलाओं को निपट आनन्दप्रद मानने के पक्ष में नहीं है। समय समय पर यद्यपि कलाओं की आनन्दमूलकता के विषय में प्रश्न उठाया गया है तथापि अनेक आक्षेपों के रहते भी इस सिद्धान्त का पुनरुज्जीवन हो उठना इसकी शक्ति का प्रमाण है। आधुनिक युग तक विरोधों के क्षीण स्वरों के बीच भी प्रायः यही धारणा मान्य रही है कि सुन्दर वस्तुओं के भावन से पूर्णतः शान्त स्थिर एवं सघन मानसिक विश्रान्ति की उपलब्धि होती है। यहाँ तक कि जब प्रसिद्ध फ्रांसीसी कलाकार मातीस ने कला की व्याख्या करते हुए कहा कि 'मैं ऐसी कला का स्वप्न देखता हूँ जो संतुलित हो

[1] प्रिंसिपल्स०, पृ० ९२

जिसमें पवित्रता और शान्ति हो, जो विचलित और खिन्न करनेवाली विषयवस्तु से मुक्त हो; ऐसी कला जिसका प्रभाव प्रत्येक व्यक्ति पर, चाहे वह व्यापारी हो या लेखक, शान्तिदायक हो, मनःप्रसादक हो—उस आरामकुर्सी के समान जिसमें शारीरिक थकान के बाद व्यक्ति आराम करता है।"[1] तो हेरल्ड ऑस्बोर्न ने उनके इस मत पर टिप्पणी करते हुए कहा कि "ऐसा कहकर वे अपनी उपलब्धियों के प्रति अन्याय कर रहे हैं।"[2]

ऑस्बोर्न ने इस विषय में स्वयं अपना मत व्यक्त करते हुए स्पष्ट कहा है कि यदि आनन्द शब्द का प्रयोग उसके सामान्य अर्थ में किया जाए तो यह निश्चित है कि इस प्रकार के (कलात्मक) आस्वाद से होने वाले अनुभव में आनन्द उसकी प्रमुख विशेषता नहीं है और यदि इस शब्द का प्रयोग किसी असामान्य अर्थ में किया जाता है, तो यह केवल भ्रामक ही हो सकता है।[3]

पश्चिम में बहुमत अब भी इस पक्ष में है कि महान कलाकृति का प्रभाव ऐसा होना चाहिए कि वह हमें बाँध ले, उत्तेजना दे, कदाचित् हमे महान भी बनाए किन्तु निश्चित रूप से हमें विचलित करे। किसी कलाकृति के मूल्य, महत्त्व, सौन्दर्य और महानता के निर्णय के क्षणों में, ग्राहक को वह अनुभव अपनी समग्रता में, समस्त विशेषताओं के साथ प्रतीत होता है। अपनी समृद्धि के साथ, अपनी विलक्षणता के साथ, अपने गाम्भीर्य की अनुगूंज के साथ, केवल आनन्दात्मकता के कारण नही।

इसीलिए कलास्वाद के आनन्दवादी सिद्धान्त के संबंध में ऑगडेन और रिचर्ड्स ने 'फ़ाउण्डेशन्स ऑफ़ एस्थेटिक्स' में कहा है कि उसकी सबसे बड़ी परिसीमा यही है कि वह हमें अत्यंत सीमित शब्दावली देता है। अर्थात आधुनिक पाश्चात्य विचारकों के अनुसार कला का आस्वाद, मात्र आनन्दात्मक की अपेक्षा कही जटिल और समृद्ध होता है, जिसे केवल एक शब्द 'आनन्द' से परिभाषित नहीं किया जा सकता।

उक्त कठिनाइयों को ध्यान में रखते हुए भोगवादी सिद्धान्त को सर्वग्राह्य बनाने के उद्देश्य से अनेक सौन्दर्यशास्त्रियों ने एक विशेष प्रकार के आनन्द की चर्चा करते हुए अन्य प्रकार के आनन्द से उसका व्यावर्त्तन किया है। सुन्दर वस्तुओं से प्राप्त होनेवाला यह आनन्द उनके अनुसार रचनात्मक होता है। यही कलात्मक सौन्दर्य की विशेषता है। आधुनिक सौन्दर्यशास्त्रियों ने काण्ट का अनुसरण करते हुए इसे 'अनासक्त आनन्द' कहा, ऐसा आनन्द जो सब प्रकार के संकल्पों और इच्छाओ से मुक्त हो। वर्नन ली ने भी अपनी अत्यंत लोकप्रिय पुस्तक 'द ब्यूटिफ़ुल' में लगभग पचास वर्ष पूर्व (१९१३) इस विशेष कलात्मक आनन्द की चर्चा करते हुए कहा कि सौन्दर्य से प्राप्त होनेवाला आनन्द ऐसा आनन्द है जो किसी वस्तु की उपयोगिता, हमारी इच्छाओं को तुष्ट करने की क्षमता या बौद्धिक रुचि से भिन्न, उसके भावन मात्र से प्राप्त होता है।

इलियट ने इस आनन्द को 'उत्कृष्ट मनोरंजन' कहकर विशिष्ट रूप दिया और अधुनातन विचारकों में ज्याँ पाल सार्त्र ने 'प्लेजर' शब्द का विरोध करते हुए सौन्दर्यानुभुति

---

[1] हेरल्ड ऑस्बोर्न : एस्थेटिक्स एण्ड क्रिटिसिज्म, पृ० ११७ पर उद्धृत

[2] वही, पृ० ११७

[3] वही, पृ० ११७

को एस्थेटिक ज्वाय' कहना पसद किया। प्लज़र उनके अनुसार सुख का वाचक है और सौन्दर्यानुभूति की व्याख्या करने के लिए अपर्याप्त है। इसलिए उन्होंने इस 'आनन्द' शब्द की भी अतिरिक्त व्याख्या करते हुए समझाया है कि इस आनन्द का अभिप्राय है—पाठक के द्वारा एक स्वतन्त्र ससार की पुन सृष्टि। उनकी शब्दावली म अन्तत कलात्मक आनन्द स्वतन्त्रता का पर्याय हो जाता है।

ध्यान देने की बात है कि अधिकाश आधुनिक विचारको ने या तो आनन्द शब्द की विशेष व्याख्या कर उसका प्रयोग रसानुभूति के लिए किया है अथवा उसके साथ विशेषणो का प्रयोग कर परपरा से उसका रूप भिन्न कर दिया है।

इन विचारको के मन म क्रमश आनन्द से हटकर कलाकृति के आस्वाद या भावन पर अधिक बल दिया जाने लगा। प्रोफेसर ड्राम ने उसे और भी अधिक सामान्य रूप देते हुए कहा कि सौन्दर्य अथवा सौन्दर्यपरक मूल्य का निर्धारण सौन्दर्यात्मक भावन मे होने वाली अनुभूतियो की आनन्दरूपता या आनन्दविहीनता के आधार पर किया जाता है। इन विद्वानो ने आनन्द की अपेक्षा सौन्दर्यात्मक भावन पर अधिक बल दिया है।

काव्यास्वाद की आनन्दरूपता का निषेध करने के मूल मे शायद सबसे प्रबल कारण यह था कि आनन्द मे मात्रा का या घनत्व का भेद हो सकता है गुणात्मक भेद नही। इसलिए जब हम विविध कलाकृतियो का आस्वादन करते हैं तो हमे विविध प्रकार के आनन्दो की अनुभूति न होकर विविध अनुभूतियाँ होती हैं जो स्वय आनन्दरूप होती हैं। इस प्रकार आनन्द अनुभव का तत्त्व नहीं उसकी विशेषता है। उसकी सत्ता विशेषण रूप है, सार-रूप नही।[१]

पश्चिम के आधुनिक चिंतको ने इस बात पर बार बार बल दिया है कि जब कोई अनुभूति जटिल होती है तो उसमे यह निर्णय कर पाना प्राय बहुत अधिक कठिन हो जाता है कि वह कितनी आनन्दप्रद है।

निष्कर्ष रूप म—पूर्व और पश्चिम दोनो मे काव्यास्वाद की आनन्दरूपता के सबध म पर्याप्त विवाद रहा है। इस विवाद का सबध अनुभूति की आनन्दरूपता स उतना नहीं था जितना आनन्द सबधी अवधारणा से। व्यवहार म किसी अनुभूति को 'आनन्दरूप' कहने का अर्थ है उसे सुखात्मक मान लेना। इसके अतिरिक्त आनन्द के प्रचलित व्यावहारिक अर्थों की सामान्य मनोरजन से लेकर आत्मानन्द या ब्रह्मानन्द तक इतनी विविध छायाएँ हैं कि काव्यानुभूति का स्थान निर्धारित करना या इस शब्द मे उसकी सपूर्ण व्याख्या कर पाना कठिन है। यह कार्य ऐसी स्थिति म और भी दुष्कर हो जाता है जब लौकिक जीवन म जिन भावो से दु खानुभूति होती है कला या काव्य के सदर्भ म उन्हीं के आधार पर आनन्द की चर्चा की जाती है। ऐसी स्थिति म इस अनुभूति को सामान्य सुखानुभूति से भिन्न और विशिष्ट तो होना ही चाहिए।

---

१ Pleas... [illegible]

...thing ...rience is not ...ctival 121

इस विषय में कठिनाई यही है कि काव्यास्वाद के संदर्भ में जब सुख, दुःख, आनन्द आदि शब्दों का प्रयोग किया जाता है, तो लौकिक व्यावहारिक अर्थ से उनका अर्थ भिन्न हो जाता है, परन्तु अनायास रूप में वे अपने साथ लौकिक अर्थ को किन्हीं अंशों में बनाए रखते हैं।[1] इसीलिए भारतीय काव्यशास्त्र में इस 'आनन्द' को 'आत्मविश्रान्ति', 'समापत्ति', 'लय' या 'चित्तवृत्तियों की समाहिति' आदि विविध विशेषणों से परिभाषित किया गया। पश्चिम में काव्यास्वाद के स्वरूप पर विचार मुख्यतः त्रासदी के संदर्भ में ही किया गया, और क्योंकि त्रासदी का संबंध भी त्रास और करुणा जैसी दुःखद चित्तवृत्तियों से है, अतः तज्जन्य आस्वाद को नाना रूपों में समझाने का प्रयास किया गया। बहुमत से दोनों ही चिन्तन-परंपराओं मे यह स्वीकार किया गया है कि जहाँ यह आस्वाद एक ओर दुःखद नहीं है, वहाँ सामान्य प्रचलित लौकिक अर्थ में सुखद भी नहीं है। दुःख-सुख दोनों से भिन्न यह एक प्रकार की आत्मविश्रान्ति है, जिसके लिए पाश्चात्य सौन्दर्यशास्त्र में अभी तक उपयुक्त अभिधान स्थिर नही किया जा सका है, जबकि भारतीय काव्यशास्त्र मे प्रयुक्त 'आनन्द' शब्द के द्वारा उसकी अपेक्षाकृत अधिक संतोषप्रद व्याख्या सुलभ हो जाती है। फिर भी आनन्द के स्वरूप के स्पष्टीकरण के लिए उस संदर्भ मे प्रयुक्त शब्दावली की व्याख्या अपेक्षित है।

काव्यानन्द का स्वरूप

भारतीय आचार्यों ने रसानुभूति को आनन्दरूप कहने के साथ ही कुछ अन्य विशेषताओं का भी उल्लेख किया है, जिनमें 'समापत्ति', 'लय', और 'विश्रान्ति' मुख्य है। वस्तुतः ये विशेषताएँ प्रकारान्तर से काव्यानन्द की ही व्याख्या है। विश्रान्ति का अर्थ है—संविद्-विश्रान्ति। इसी को अभिनवगुप्त प्रायः 'स्व-संविद्-विश्रान्ति' भी कहते है, और इस संविद्-विश्रान्ति का ही दूसरा नाम आनन्द है। इसी को 'लय' भी कहा जाता है और 'समाधि' भी। 'समाधि' समापत्ति का ही पर्याय है।[2] इन तीनों के साथ ही रसानुभूति के संदर्भ में अभिनवगुप्त 'चमत्कार' शब्द का प्रयोग करते है जिसका संबंध आत्मविश्रान्ति से है। चमत्कार का अर्थ है किसी अन्य की अपेक्षा न रखनेवाले अपने ही आत्म-स्वरूप में विश्रान्ति पा जाना। यहाँ वृत्तियों का बहिर्मुख अनुधावन समाप्त हो जाता है, वे निष्क्रिय हो जाती हैं। उस स्थिति मे केवल आत्म-स्वरूप का परामर्श होता है। किन्तु विश्रान्तावस्था आत्मा की जड़ावस्था या शून्यावस्था नही है। बाह्य एवं गतिव्यस्त स्थूल रूपों के विलोड़नों या संरम्भों से शून्य होते हुए भी संविद्-विश्रान्ति में आन्तर-स्पदन होता रहता है जैसे मेघमाला में विद्युत्स्पंदन। इस प्रकार आत्मविश्रान्ति में विश्रान्ति के साथ ही आन्तर-

---

[1] Perhaps difficulties have arisen in analysis, because, when pain is said to become pleasure in poetic experience, both terms retain the associations they have in ordinary living. In the practical context, pain cannot become pleasure. In the poetic context also, the painful cannot become pleasant if poetic pleasure is to be equated with pleasure in daily living. Poetic relish is neither pain nor pleasure in the natural sense which is found in the ordinary emotions of life associated with personal interest. Krishna Chaitanya : *Sanskrit Poetics*, p. 240.

[2] समावेश-समापत्ति आदिपर्यायः समाधिः। प्रत्यभिज्ञाहृदयम्, पृ० ६१

स्पदन के लिए भी विधान है। अभिनवगुप्त के अनुसार काव्यानन्द विश्रान्ति के साथ ही स्पदनात्मक अवस्था का भी द्योतन करता है।[1] इस प्रकार समापत्ति लय विश्रान्ति चमत्कार आदि शब्द काव्यानन्द के स्वरूप को स्पष्ट करने मे सहायक होते हैं।

उक्त धारणा की पुष्टि इस तथ्य से भी होती है कि अभिनवगुप्त सभी रसो का पर्यवसान शान्त रस मे मानते हैं। उन्होंने स्पष्ट लिखा है कि सभी रसो का आस्वाद शान्तप्राय ही होता है क्योंकि सभी मे विषयो से विमुखता होती है।[2] यही नही बल्कि वे शान्त रस को सभी रसो की मूल प्रकृति भी मानते हैं। उन्होने लिखा है कि अपने अपने अनुरूप कारण को प्राप्त करके शान्त रस से ही सभी भाव उत्पन्न होते हैं और उस निमित्त के समाप्त होने पर फिर शान्त मे ही लीन हो जाते हैं। इसलिए सभी रसो की प्रकृति शान्त रस है।[3] इससे स्पष्ट है कि अभिनवगुप्त का काव्यानन्द शान्त रस के निकट था और उनकी दृष्टि मे आनन्द का स्वरूप अतत शान्त रूप था।

जहाँ तक शान्त रस के स्वरूप का प्रश्न है उसके बारे मे अभिनवगुप्त ने लिखा है कि वह मोक्षाध्यात्म की निमित्त है तत्त्वज्ञानार्थ हेतु से सयुक्त है तथा नि श्रेयस धर्म से युक्त है।[4] इस युक्ति से अभिनवगुप्त का काव्यानन्द अपने चरम रूप मे मोक्षाध्यात्म तत्त्वज्ञान तथा नि श्रेयस धर्म से सयुक्त माना जा सकता है। स्पष्ट ही आनन्द का यह स्वरूप तत्सबधी सामान्य धारणा से कही अधिक उदात्त एव भव्य है।

अभिनवगुप्त द्वारा निरूपित आनन्द के इस उदात्त स्वरूप को विशेष रूप से रेखांकित करने की आवश्यकता है क्योंकि व्यवहार मे वह सामान्यत सुख रूप मे ग्रहण किया जाता है और इस प्रकार आनन्द की भोगवादी व्याख्या के लिए द्वार खुल जाने की आशका उत्पन्न हो जाती है। भारतीय परपरा मे विभिन्न दर्शन प्रणालियो के अतर्गत सुख की व्याख्या विभिन्न रूपो मे की गई है। वैशेषिक दर्शन के अनुसार अनुकूलवेदनीय सुखम् कह कर सुख को अनुकूलवेदनीय माना गया है तो महाभारत के अनुसार यदिष्ट तत्सुख प्राहु अर्थात अभीष्ट ही सुख कहा गया है। भर्तृहरि के शब्दो मे प्रतीकारो व्याधे सुखमिति विपर्यस्यति जन अर्थात व्याधियो का प्रतिकार ही सुख है। इनके अतिरिक्त साख्यदर्शन मे सत्त्व गुण की प्रधानता को सुख माना गया है।

काव्य के सदर्भ मे स्पष्ट ही सुख सबधी अन्य व्याख्याओ की अपेक्षा साख्य निरूपित

---

[1] चमत्कारो हि इति स्वात्मनि अनन्यापेक्षे विश्रमणम्। एव भुञ्जानता रूप चमत्व, तदेव करोति सरम्भे विमृशति न अन्यत्र अनुधावति। चमदिति वा आन्तरस्पन्दान्दोलन परामर्शमय। ईश्वर प्रत्यभिज्ञावृत्ति विमर्शिनी अभिनवगुप्त पृ० २५१ पर उद्धृत

[2] तत्र सर्वरसाना शान्तप्राय एवास्वादो न विषयेभ्यो विपरिवृत्त्या ।
अभिनवभारती भाग १ पृ० ३३६

[3] स्व स्व निमित्तमासाद्य शान्ताद्भाव प्रवर्तते।
पुनर्निमित्तापाये तु शान्त एव प्रलीयते॥
इत्यादि रसान्तरप्रकृतित्वमुपसहृतम्। वही पृ० ३४०

[4] मोक्षाध्यात्मनिमित्तस्तत्त्वज्ञानार्थहेतुसयुक्त ।
नि श्रेयसधर्मयुत शान्तरसो नाम विज्ञेय ॥ वही पृ० ३४०

सत्त्व-प्रधानता का उल्लेख मिलता है। स्वयं अभिनवगुप्त ने भी आनन्द के स्वरूप-विवेचन में सत्त्व, रजस्, तमस् आदि गुणों को पारिभाषिक संज्ञाओं के रूप में स्वीकार किया है किन्तु जैसा प्रो० कान्तिचन्द्र पाण्डे ने लिखा है,[1] अभिनवगुप्त की चिन्तन-पद्धति में सत्त्व, रजस्, तमस् का स्वरूप परिवर्तित हो गया है। सांख्य में ये तीनों गुण संतुलन की अवस्था में स्थित प्रकृति के मूल तत्त्व हैं तो कश्मीर शैवागम में ये ज्ञान, क्रिया तथा माया की संकुचित शक्तियाँ है। इस प्रकार अभिनवगुप्त की चिन्तन-प्रणाली मे सत्त्व 'सुखप्रकाशमय' है, क्योंकि वह प्रकाश और विमर्श या आनन्द दोनों के गुणों से युक्त है। फिर भी अभिनवगुप्त आनन्द और सुख में अंतर मानते है। आनन्द परम सवित् की चेतना है तो सुख व्यक्ति-चित् का बोध है। शैवागम की दार्शनिक भाषा मे जब विमर्श अथवा स्व-संविद् प्रकाश में विश्रान्त होता है तो आनन्द कहलाता है। इस विवेचन से स्पष्ट है कि अभिनवगुप्त का काव्यानन्द सामान्य सुखवाद अथवा भोगवाद से भिन्न ही नही बल्कि चेतना की अत्यंत उदात्त भूमि पर प्रतिष्ठित था।

काव्यानन्द का ऐसा उदात्त रूप पाश्चात्य सौन्दर्यशास्त्र मे सुलभ नहीं है। निस्संदेह पाश्चात्य विचारकों ने सौन्दर्यानुभूति को सामान्य जीवनानुभव से विशिष्ट माना है और आदर्शवादी चिन्तन के आधार पर कलानुभूति को ऐन्द्रिय सुखों से ऊपर प्रतिष्ठित करने का भी प्रयास किया है। उन्होने कलानुभूति के आदर्श को 'कन्टेमप्लेशन' अथवा अनुचिन्तन जैसे शब्द के द्वारा स्पष्ट किया है और कुछ विचारक ऐसे भी हुए हैं जो कलानुभूति—मुख्यतः त्रासदीय अनुभूति को, मानसिक शान्ति (मेण्टल कामनेस) और विश्रान्ति (रिपोज) परक मानते है। किन्तु पाश्चात्य सौन्दर्यशास्त्र में निरूपित 'अनुचिन्तन' एवं 'मानसिक शान्ति' से एक प्रकार की निषेधात्मक एवं पलायनवादी प्रवृत्ति का आभास होता है, जिससे भारतीय काव्यशास्त्र का आनन्द मुक्त है। निस्संदेह कतिपय पाश्चात्य विचारकों ने इधर उस निषेधात्मक प्रवृत्ति को परिष्कृत करने के निमित्त काव्यानुभूति की विधेयात्मक व्याख्या भी करने का प्रयास किया है, जैसे डॉ० एफ़० आर० लीविस ने कहा है कि काव्यानुभूति ऐसी मानसिक शान्ति नही है जिसमें सभी वासनाओ का क्षय हो जाए, बल्कि उसमें कुछ-कुछ उदात्त प्रभाव का-सा गुण होता है (समथिंग इन द नेचर ऑफ़ एक्जाल्टिंग इफ़ेक्ट) और हम एक परिवर्धित जीवंतता के बोध (ए सेन्स ऑफ़ इनहेन्स्ड वाइटेलिटी) का आनन्द प्राप्त करते हैं।[2] इसी प्रकार इतालवी रेनेसाँ कला के मर्मज्ञ कलाविद् बर्नार्ड बेरेन्सान को भी कलानुभूति में जीवन-संवर्धन (लाइफ़-इन्हेन्समेंट) का गुण दिखाई पड़ता है। 'जीवन-संवर्धन' की व्याख्या करते हुए उन्होने कहा है कि "जीवन-संवर्धन से मेरा तात्पर्य सत्ता या मन मे भावरूप में निमज्जित हो सकने की वह स्थिति है जो किसी को और अधिक आशापूर्ण और अधिक आह्लादपूर्ण रूप से जीवंत बनाती है। इस मनःस्थिति में हम अधिक तीव्रता के साथ अधिक प्रकाशयुक्त जीवन जीते है—शारीरिक रूप से ही नही बल्कि नैतिक और

---

[1] For the difference between Ānanda and Sukha and the universal light of consciousness and the individual is that the former is free from all limitations but the latter is limited.
Abhinavagupta : An Historical and Philosophical Study, p. 673.

[2] द कॉमन परसूट, पृ० १२६-२७

आध्यात्मिक रूप मे भी हम अपनी क्षमताओ के सर्वोच्च शिखर पर पहुँच जाते हैं और सर्वोच्च से कम म सतुष्ट होना नही जानते।[1]

पाश्चात्य सौन्दर्यशास्त्र की इन व्याख्याओ से स्पष्ट है कि कलात्मक आनन्द की प्रकृति की उदात्त भूमि की खोज के लिए वहाँ भी अनेक प्रयास हो रहे है किन्तु एक निश्चित अवधारणा के अभाव म वहाँ कलानुभूति के स्वरूप को स्पष्ट सज्ञा प्राप्त न हो सकी।

त्रासदी का आनन्द

प्लेटो अपने आदश राज्य से काव्य तथा अन्य कलाओ का बहिष्कार करते हुए इस बात से इन्कार न कर सके कि इन कलाओ का प्रभाव आह्लादजनक होता है। इसीलिए उन्ह आनन्द के दो रूप स्वीकार करने पड़। कलाओ मे प्राप्त आनन्द को उन्होंने अशुद्ध और हीनतर कोटि का आनन्द माना और ज्यामितीय रूपो से प्राप्त होनेवाले आनन्द को शुद्ध और उच्चतर आनन्द स्वीकार किया परन्तु त्रासदी के आनन्द के सबध म प्लेटो के मन मे यह शका थी कि उसका रूप विशुद्ध आह्लादजनक होता है अथवा नहीं। इसीलिए उन्होंने फिलेबस म इस विरोधाभास की ओर सकेत करते हुए कहा कि त्रासदी का दशक उसमे अकित अन्य व्यक्तियो की विपत्ति मे आनन्द लेता है। अत निश्चय ही यह आनन्द मिश्र आनन्द होता होगा—व्यक्तिगत सकट स युक्त सौन्दर्यानुभूति अथवा अरुचिकर आनन्द। यह प्रश्न जब यूनानी चिन्तन म आगे बढ़ा तो अरस्तू के सामने नैतिक दार्शनिक दृष्टि से इस आनन्द का औचित्य सिद्ध कर इसके स्तर को ऊँचे उठाने की समस्या थी।

अरस्तू ने त्रासदी के प्रभाव की व्याख्या करते हुए भिषजी की विरेचन प्रक्रिया का आरोप किया और इस प्रकार नैतिक दृष्टि से उसके आस्वाद का औचित्य सिद्ध किया। त्रासदीय आनन्द अरस्तू के मतानुसार सामान्य जीवन म अभुक्त या दमित सवेगो—त्रास और करुणा के निर्दोष परितोष और भोग का आनन्द है। व्यवहार की भाषा म कह तो त्रासदी मे व्यक्त त्रास और करुणा मानो उस औषध की मात्राए हैं जो दशक के रुग्ण मन के उपचार के लिए प्रस्तुत की जाती हैं। होम्योपैथिक उपचार विज्ञान म रोगी का इलाज जिस विधि से किया जाता है उसी प्रकार त्रासदी स रोगी दशक वृन्द को भावात्मक स्वास्थ्य लाभ होता है। परन्तु इस व्याख्या को स्वीकार करने म एक कठिनाई है। जैसा लासाल एबरक्रॉम्बी[2] ने सकेत किया है—त्रासदी के दशक रगशाला मे त्रास और करुणा की मन स्थिति मे नहीं आते और चूँकि रोगी का उपचार रोग की स्थिति म ही किया जाता है अत अरस्तू के विरेचन की उपयुक्त व्याख्या को स्वीकार करने पर यह भी मानना होगा कि दशक या श्रोतागण पहले से ही उदबुद्ध सवेगो स रुग्ण मन स्थिति म आते

---

१ By life enhancement I mean the ideated plunging into a state of being or a state of mind that makes one feel more hopefully more zestfully alive living more intense more radiant a life not only physically but morally and spiritually as well reaching out to the topmost peak of our capacities contended with no satisfaction lower than the highest *Aesthetics and History* p 129

२ प्रिंसिपल्ज आफ लिटररी क्रिटिसिज्म पृ० १०६

हैं, जो अनुभव से असिद्ध है। अरस्तू के विरेचन सिद्धान्त की आलोचना इसी प्रकार के तर्क के आधार पर सौन्दर्यशास्त्र के आधुनिक विद्वान एफ़० ई० स्पार्शाट ने की है।[1] अरस्तू की इस स्थापना में इतना अंश सर्वथा मान्य है कि त्रासदी का आनन्द वस्तुत: उन भावों के आस्वाद का आनन्द है जिनका अनुभव सामान्य जीवन में क्लेशकर होता है।

एवरक्रॉम्वी[2] ने त्रासदीय आनन्द की व्याख्या करते हुए कहा है कि यह आनन्द त्रासदीय 'अन्विति' में निहित रहता है जिसे अरस्तू त्रासदी की प्रकृति के लिए अनिवार्य मानते है। त्रासदी में जीवन की घटनाएँ निश्चित कार्य-कारण संवंध के साथ अनिवार्यता और संभाव्यता के नियमों के अनुसार अंकित रहती हैं। उसमें इतिहास का तथ्य ही नहीं, संभाव्य भी निवद्ध रहता है। इस प्रकार न केवल काव्य का सत्य इतिहास के तथ्य से उच्चतर होता है, वल्कि उसकी आत्मा दर्शन के अधिक निकट होती है क्योंकि काव्य की मूल वृत्ति है—जानने की आकांक्षा। काव्य में जीवनगत घटनाएँ एक अनिवार्य कार्य-कारण संवंध में परिवद्ध स्वत:पूर्ण इकाई के रूप में प्रस्तुत होती हैं। मानव की सहज प्रवृत्ति घटनाओं को सुसंवद्ध रूप में देखने की आकांक्षी होती है, इसलिए जव हम काव्य-निवद्ध घटना में जीते है, तो मानों हम मनोवांछित संसार में जीते हैं। हमारी चेतना एक ऐसी सृष्टि का रूप धारण कर लेती है जिसमें सव वस्तुएँ परस्पर सुसंवद्ध है। इस प्रकार त्रासदी में यद्यपि जीवन के दुर्भाग्य का चित्रण होता है, फिर भी उसमें अंतर्निहित नाटकीय अन्विति के कारण यह दुर्भाग्य भी हमारे मनोवांछित जगत की एक घटना हो जाता है। यही त्रासदी के विशिष्ट आनन्द का कारण है। जो चीजें वास्तविक जीवन में मात्र क्लेशकर होती है, वही त्रासदी में अभिजात आनन्द का निमित्त हो जाती है।

निष्कर्ष-रूप में एवरक्रॉम्वी के अनुसार त्रासदी से आनन्द की प्राप्ति दो कारणों से होती है : १. ज्ञान-वृत्ति के परितोष के कारण, और २. कवि के सृजन-कौशलजन्य अन्विति नामक नाट्य-गुण के कारण।

त्रासदी के आनन्द की व्याख्या पाश्चात्य समीक्षा में दो दृष्टियों से की गई। एक ओर उसका नैतिक औचित्य प्रतिपादित किया गया और दूसरी ओर मनोवैज्ञानिक विधि से उसे समझाने का प्रयत्न किया गया।

इतना तो निश्चित ही है कि त्रासदी का आस्वाद परितोषजनक होता है, अन्यथा जैसा कि एडवर्ड बुलो ने अपने 'डिस्टेन्स एण्ड डीह्यूमैनाइजेशन' के सिद्धान्त की व्याख्या करते हुए कहा है : "त्रासदी दु:खद नही होती। यदि ऐसा होता तो उसके अस्तित्व का विशेष अर्थ न होता।"[3] निश्चय ही जीवन में दु:ख की कमी नहीं! यदि त्रासदी का प्रभाव दु:खद हो तो सामान्य जीवन मे पर्याप्त दु:खी व्यक्ति उसकी अतिरिक्त प्राप्ति के लिए रंगशाला क्यों जाएगा?

---

[1] द स्ट्रक्चर ऑफ़ एस्थेटिक्स, पृ० १५७

[2] प्रिंसिपल्ज ऑफ़ लिटररी क्रिटिसिज्म, पृ० ११०–१२

[3] ए मॉडर्न बुक ऑफ़ एस्थेटिक्स, सं० मेलविन रेडर, पृ० ७ पर उद्धृत

सत्रहवीं शताब्दी तक त्रासदी के प्रभाव की व्याख्या जिस दृष्टिकोण से की गई उसमें नैतिक स्वर की प्रधानता थी। एक संपूर्ण वर्ग ऐसे विद्वानों का था जिन्होंने त्रासदी के संवेगात्मक नैतिक औचित्य की व्याख्या की। अरस्तू के विरेचन सिद्धान्त से त्रास और करुणा नामक संवेगों के परिपोष और निर्दोष अभिव्यक्ति की बात करनेवाले मनीषियों का एक वर्ग था। एक दूसरे वर्ग ने नैतिक धरातल पर त्रासदीय प्रभाव की व्याख्या करते हुए कहा कि करुणा और त्रास का परिपोष हमारे मन के और भी अधिक अवांछित आवेशों को क्षीण करता है। उदाहरण से स्पष्ट करते हुए रेपिन ने कहा

अहंकार और अधिकार लालसा मानव जाति के दो सर्वाधिक प्रबल दुर्गुण हैं इसलिए इन दोनों से हमारा उपचार करने के लिए त्रासदी के आविष्कारकों ने दो अन्य आवेशों को उत्तेजित करने के लिए चुना। ये आवेश भय और करुणा हैं जब हम देखते हैं कि सबसे अधिक सशक्त और महान व्यक्ति भी ऐसे दुर्भाग्य से मुक्त नहीं हैं तब यह विचार हमारे मन में करुणा का उद्रेक करता है और अव्यक्त रूप से हमें आर्त व्यक्तियों के प्रति मृदु बनाता है और सहायतार्थ प्रेरित करता है। यह गुण नैतिक गुणों में सबसे अधिक अभिजात और देवतुल्य है।[१]

इस तर्क का क्रमिक विकास लगभग आगामी सौ वर्ष तक सौन्दर्यशास्त्रियों और अन्य विद्वानों के मध्य होता रहा। डेनिस ने कहा त्रासदी कठोर-से-कठोर हृदय को कोमल बनाने के लिए सदैव पर्याप्त पाई गई है। स्टील के मतानुसार विपत्तियों का मनन मस्तिष्क को कोमल और हृदय को बेहतर बनाता है। यह ईर्ष्या और दुर्भावना को समाप्त करता है और वैभव के अहंकार का परिशोधन करता है। लगभग ऐसा ही मत एडिसन ने भी व्यक्त किया। त्रासदी के आस्वाद को सामान्य अनुभव से अलग मानते हुए उन्होंने कहा इस प्रकार के विषयान्तर अहंकृति को मृदु बनाते हैं आघात को सह्य बनाते हैं और मन को भाग्य के थपेड़ों के सम्मुख विनयावनत करते हैं। नैतिक व्याख्याओं का यह क्रम आधुनिक युग तक चला आया जब प्रोफेसर ड्यूकास ने त्रासदीय आनन्द को ज्ञान की अनुभूति का आनन्द कहा। हम अपने सहज बोध में यह समझ लेते हैं कि हमें किसी-न-किसी प्रकार अशुभ के साथ समझौता करना ही है और ऐसा सुयोग पाकर हम विशेष प्रकार की प्रसन्नता का अनुभव करते हैं।

इस प्रकार की व्याख्याओं का लक्ष्य त्रासदीय प्रभाव की नैतिक व्याख्या कर उसका संवेगात्मक नैतिक औचित्य प्रस्तुत करना था। त्रासदी की आनन्दानुभूति की यह व्याख्या बौद्धिक ज्ञान से संबद्ध है। कला संबंधी यह युक्ति मूलतः उपदेशपरक है। इसके अनुसार त्रासदी की दुःखद घटनाओं को देखने से जो आनन्द उत्पन्न होता है उसका कारण हमारी इच्छा शक्ति की स्वीकृति के साथ मस्तिष्क की यह बोध शक्ति भी होती है कि उन क्रिया कलापों से कार्याचित न्याय के एक नैतिक नियम और विधान की प्रतीति होती है।

त्रासदी का कलात्मक औचित्य सिद्ध करना नैतिक व्याख्या की अपेक्षा अधिक कठिन था। इसका एक शास्त्रीय उत्तर प्रायः दिया गया कि किसी दुःखद विषय के अनुकरण को देखकर प्राप्त होनेवाला आनन्द अनुकरण-कला के कौशल के प्रति और उस समानता

---

[१] विमसॉट एण्ड ब्रुक्स लिटरेरी क्रिटिसिज्म ए शार्ट हिस्ट्री पृ० २९२ पर उद्धृत

के मानस-साक्षात्कार के कारण होता है। उपर्युक्त दोनों प्रकार की व्याख्याओं—नैतिक और अनुकरणात्मक—का विकास अरस्तू के विरेचन सिद्धान्त में निहित संकेतों से १६वीं शताब्दी के इटैलियन लेखकों ने किया जो क्रमशः फ्रेंच साहित्य से होता हुआ, अठारहवीं शताब्दी के अंग्रेज़ी साहित्य तक चला आया।

इसी बीच, सत्रहवीं शताब्दी में भिन्न प्रकार की मनोवैज्ञानिक व्याख्याओं का उद्भव हुआ और वे धीरे-धीरे सामने आने लगी। इनमें से एक सिद्धान्त दर्शक के पक्ष में आत्म-सुरक्षा की भावना के आधार पर इस समस्या की व्याख्या प्रस्तुत करता है। एडिसन का इस संबंध में कथन है : "हम त्रासदी को एक ही समय में भयंकर और अहानिकर दोनों समझते हैं। उससे उपलब्ध आनन्द हमारी अपनी सुरक्षा की चेतना का आनन्द है।"[1] कहने का अभिप्राय यह है कि त्रासदी का दर्शक उसमें निबद्ध दुःखों से अपने को असंबद्ध अनुभव करता है, वह जानता है कि नाटक की मात्र अनुकरणात्मक सत्ता है, अतः उसमें व्यक्त भयंकर घटनाओं से वह सुरक्षित है। यह आत्मरक्षा की अनुभूति ही उसे आनन्द प्रदान करती है। फ्रायड ने इसकी व्याख्या कुछ भिन्न ढंग से करते हुए कहा कि त्रासदी का आनन्द व्यक्ति की अपनी विपत्तियों के साक्षात्कार का या उनसे सुरक्षित होने की अनुभूति का आनन्द नहीं है बल्कि स्वयं अपने अपराध-बोध का आनन्द है। अपनी विपत्तियों का दायित्व जब हम नियति पर न डालकर कहीं उसके लिए स्वयं को अपराधी अनुभव करते हैं, तो हमारा अहं परितुष्ट होता है। एडवर्ड यंग ने कहा कि "हमारे विषादपूर्ण आवेशों की गति तभी सुखद होती है जब हम स्वयं सुरक्षित होते है। हमें एक साथ दुःखी और निराघात रहने की साध होती है।"[2] इस सिद्धान्त का अत्यंत प्राचीन स्रोत ल्यूक्रीशियस के उस कथन में निहित है, जिसका उद्धरण साहित्यशास्त्री प्रायः देते आए हैं :

"महासागर की ओर उस समय देखने का एक विशेष आनन्द है, जब उसमें आते तूफान के बीच कोई जहाज विपद्ग्रस्त हो। इसलिए नहीं कि हमें किसी और को यातना में देखकर प्रसन्नता होती है, बल्कि इसलिए कि हम स्वयं किनारे पर सुरक्षित रूप से खड़े होते है। किसी युद्धभूमि में रत सेनाओं के संघर्ष को देखने का एक सुख है, तभी तक जब हम सुरक्षित स्थान पर खड़े हों।"[3]

स्पष्ट ही इस प्रकार की व्याख्याएँ दर्शक की स्वार्थ-बुद्धि के मनोवैज्ञानिक विश्लेषण के आधार पर प्रस्तुत की गई हैं। सत्रहवीं शताब्दी में ही एक और मनोवैज्ञानिक व्याख्या सामने आई, जिसका स्वर निश्चित रूप से इतना स्वार्थनिष्ठ न था। देकार्त के अनुसार : "ऐन्द्रिय वेदना कुछ ऐसी चीज है जो हमारी प्राणशक्ति को बाहर से अन्दर की ओर दबाती है, इसके विपरीत संवेग बहिर्मुखी गति है, जिसमें एक प्रकार का प्रतिक्रियात्मक व्यापार और आग्रह है। इसलिए यह अपने-आप में आह्लाद्य, स्वस्थ और सामान्यतः शुभ होता है। यह धारणा उसी स्थिति में लागू होती है, जब दुःखद प्रभाव इतने प्रबल न

---

१ स्पेक्टेटर नं० ४१८, लिटररी क्रिटिसिज्म : ए शॉर्ट हिस्ट्री, विलियम के० विमसॉट द्वारा पृ० २६४ पर उद्धृत

२ कन्जेक्चर्स, सं० मोर्ले, पृ० ४१

३ विलियम के० विमसॉट : लिटररी क्रिटिसिज्म : ए शॉर्ट हिस्ट्री, पृ० १६४ पर उद्धृत

दें कि हमें पूर्णतः दबोच लें, और हमारी आन्तरिक प्राणशक्ति इतनी प्रबल हो कि उन दुःखद ऐन्द्रिय प्रभावों के रहते हुए भी सशक्त प्रतिक्रिया व्यक्त कर सके।"[१] देकार्त का अभिप्राय कदाचित् यह था कि किसी भी दुःखद प्रभाव के प्रति हमारी प्राणशक्ति की सशक्त प्रतिक्रिया सहज रूप से ही आह्लादक, शुभ और स्वस्थ होती है क्योंकि वह बहिर्मुखी गति है। देकार्त का यह सिद्धान्त अरस्तू के विरेचन सिद्धान्त की भावुकतापूर्ण व्याख्या से निकट संबद्ध है। अनुकरणधर्मी होने के कारण नाटक में दुःखद प्रभावों को कोमल बनाने की सहज प्रवृत्ति होती है और नैतिकताधर्मी त्रासदी हमारी आन्तरिक शान्ति और शक्ति के अनुकूल होती है। अरस्तू का विरेचन सिद्धान्त त्रासदी के नैतिक औचित्य की व्याख्या करता है और देकार्त का सिद्धान्त त्रासदीय आनन्द की, स्वभावतः वे एक-दूसरे के पूरक हैं।

ये दोनों व्याख्याएँ १८वीं शती के आरंभ में आकर शैफ्ट्सबेरी के मत में संयुक्त हो गईं। उन्होंने कहा कि "इस शोकाकुल रीति से हमारे मनोवेगों का उद्वेलित होना, योग्यता और गुणों में उनका नियोजित होना और हममें जो भी सामाजिक सौहार्द तथा मानवीय सहानुभूति है उन सबको उपयोग में लाना, उच्च कोटि का आनन्द है।"[२]

त्रासदी के इन नैतिक और कलात्मक पक्षों का समन्वय आगे चलकर बौद्धिक युग में जिस एक शब्द में किया गया, वह है—सहानुभूति। सहानुभूति नैतिक इसलिए है कि उसमें स्वार्थ-बुद्धि नहीं होती, और देकार्त द्वारा निरूपित भावात्मक आत्म विकास के साथ ही जड़ चिन्तन से शून्य नैतिक बोध का समावेश होता है। सहानुभूति में हमारी सर्वोत्तम, कोमलतम, उष्णतम, उदात्ततम भावनाओं का अनायास उच्छलन होता है। हमारी स्नेह-पूर्ण, सामाजिक संवेदनाएँ जितना अधिक एक साथी को विपत्ति में देखकर व्यक्त होती हैं, उतनी कभी नहीं होतीं। इस प्रकार सहानुभूति का उद्वेलन प्रीतिकर प्रतीत होता है। जैसा कि लॉर्ड केम्स ने कहा है—त्रासदीय आनन्द "पीड़ा के उपरान्त की बुभुक्षा से"[3] उत्पन्न होता है। यह एक प्रकार से दूसरे को दुःखी देखकर अपने-आपको दुःख में डालने की मनोवृत्ति का सूचक है। ह्यू ब्लेयर नामक एक अन्य विद्वान ने त्रासदीय आनन्द को 'वेदना विलास'[४] कहा है। इसी प्रकार का मत व्यक्त करते हुए एशले थॉर्नडाइक ने त्रासदी को कला का सर्वोत्कृष्ट रूप माना है क्योंकि "वह हमें स्वयं अपने ही दुःखों के बिम्बों के दर्शन कराती है। अपने साथियों के दुर्भाग्य के प्रति हमारी सहानुभूतियों, यहाँ तक कि हमारे भय और निराशा को भी उपचित करके आत्मा को शुद्ध करती है।"[५] उसके कुछ

---

१ अर्ल० आर० वासरमैन द प्लेजर्स ऑफ ट्रेजिडी (दिसम्बर १९४७), पृ० २८३ (विलियम के० विमसॉट, लिटररी क्रिटिसिज्म ए शॉर्ट हिस्ट्री, पृ० २९४ पर उद्धृत)

२ शैफ्ट्सबेरी करैक्टरिस्टिक्स, (लिटररी क्रिटिसिज्म ए शॉर्ट हिस्ट्री, पृ० २९५ पर उद्धृत)

3 एसेज ऑन द प्रिंसिपल्स ऑफ मोरलिटी एण्ड नेचुरल रिलिजन

४ विमसॉट एण्ड ब्रुक्स : लिटररी क्रिटिसिज्म ए शॉर्ट हिस्ट्री, पृ० २९५ पर उद्धृत

५ ट्रेजेडी, पृ० १९

ही पूर्व उन्होंने यह भी स्वीकार किया है कि "त्रासदी अन्य प्रकार के सुखों के अतिरिक्त एक महान कलाकृति में कलात्मक आनन्द का अनुभव कराती है।"[1]

'सहानुभूति' के सिद्धान्त ने त्रासदीय आनन्द की नैतिक और कलात्मक व्याख्या तो प्रस्तुत की, किन्तु अरस्तू ने त्रासदी के विरेचक प्रभाव की व्याख्या करते हुए अनुभव की जिस जटिल और तनावपूर्ण प्रकृति का निर्देश किया था, उसका अन्तर्भाव इसमें न हो सका। उसके स्थान पर इसने त्रासदीय आनन्द की सरल भावुकतापूर्ण व्याख्या प्रस्तुत की।

अठारहवीं शताब्दी के सौन्दर्यशास्त्र में यह समस्या अत्यंत प्रमुख रही, और वारंबार विवाद का आनन्द, करुणा का आनन्द, त्रासदी का आनन्द, दुःखद का आनन्द, अप्रीतिकर का आनन्द जैसी विरोधाभास-युक्त शब्दावली को सौन्दर्यशास्त्र में दोहराया गया।

रोमाण्टिक विचारधारा के जनक ज्याँ ज्याक रूसो ने त्रासदीय आनन्द को पर-पीड़न और स्वपीड़न की सहज मानव-वृत्ति में माना है, जिसके अनुसार त्रासदी में ग्राहक को इसलिए सुख मिलता है कि मनुष्य कभी दूसरों के दुःख से प्रच्छन्न सुख प्राप्त करता है तो कभी स्वयं अपने को पीड़ा पहुँचा कर। ये दोनों स्थितियाँ असाधारण मनःस्थिति की द्योतक है और मनोविश्लेषणशास्त्र में परपीड़न और स्वपीड़न दोनों को ही अस्वस्थ एवं रुग्ण मनोदशा माना गया है। रूसो की यह मान्यता स्पष्ट ही रोमाण्टिक पीड़ा की भावना से अनुविद्ध है और त्रासदी की क्लासिकी मान्यता के प्रतिकूल पड़ती है। यदि रूसो का मत स्वीकार कर लिया जाए तो त्रासदीय आनन्द सात्विक न होकर अस्वस्थ एवं रुग्ण मनःस्थिति का जनक हो जाए। इस समस्या की दार्शनिक व्याख्या का उपक्रम उन्नीसवीं शताब्दी में नीत्शे और तदुपरान्त मनोवैज्ञानिक व्याख्या का प्रयास रिचर्ड्‌स ने किया। वस्तुतः इस विचार-प्रणाली का मूल, स्टोइक दार्शनिकों के विचारों में निहित है, जिन्होंने अशुभ और कुरूपता को विश्व के दैवी विधान का अंतरंग और अनिवार्य अंग माना है। जर्मन दार्शनिक हेगेल के मतानुसार, त्रासदी हमें सत्य संबंधी अन्तर्दृष्टि प्रदान करती है, जिसमें विरोधों का समाहार, अतः पीड़ा का परिहार हो जाता है। आइ० ए० रिचर्ड्‌स ने जिस कलात्मक आनन्द को मनोवैज्ञानिक धरातल पर वृत्तियों की संतुलित-विश्रान्ति (बैलेन्स्ड पॉयज) कहकर समझाया था, उसी को नीत्शे त्रासदी के प्रसंग में यह कहकर स्पष्ट कर चुके थे कि त्रासदी में 'विषमताओं का परिहार' और 'विरोधों का अतिक्रमण' हो जाता है। उन्होंने उसी को उच्च कोटि का कलाकार माना जो "प्रत्येक विसंवादी स्वर में संवादी स्वर उत्पन्न कर सके।" रिचर्ड्‌स ने वृत्तियों की 'संतुलित-विश्रान्ति' के सिद्धान्त को मात्र त्रासदी की विशेषता नही माना, परन्तु यह उन्होने भी कहा कि त्रासदी में संघर्ष और तनावपूर्ण स्थितियों की प्रमुखता होने के कारण यह विशेषता अधिक महत्त्वपूर्ण हो जाती है। कविता संबंधी रिचर्ड्‌स की 'समाहारपरक' मनोवैज्ञानिक धारणा बीज-रूप में नीत्शे के दार्शनिक विवेचन में मिलती है। नीत्शे ने वैगनर की संगीत-रचना के आधार पर त्रासदीय आनन्द के स्वरूप को संगीत के रूपको से व्यक्त किया है, जो अपने गठन में संगीत-रचना की भाँति 'संघटनात्मक' है। इसलिए संवाद की स्थिति दोनों में सामान्य होते हुए भी अन्तर यह है

---

[1] ट्रेजेडी, पृ० १७

कि रिचर्ड्स में वह संवाद जहाँ ग्राहक के प्रभाव के स्तर पर उपलब्ध किया जाता है वहाँ नीत्शे में उस संवाद की उपलब्धि स्वयं कलाकृति के विन्यास में होती है। इसके अतिरिक्त हेगेल से रिचर्ड्स तक इस विचार भेद को यों समझाया जा सकता है कि हेगेल ने विरोधों के समाहार में विरोधी तत्त्वों पर बल दिया था नीत्शे ने उनके बीच वर्तमान द्वन्द्वमय स्थिति और उसके अनुचिन्तन की सम्भावना पर और रिचर्ड्स ने ग्राहक के मन में निष्पन्न विरोधी वृत्तियों के समाहार पर। नीत्शे हेगेल के समान यह नहीं मानते थे कि केवल अशुभ और कुरूप का अस्तित्व ही हमें इस विश्वास के कारण आनन्द देता है कि वे सृष्टि के अभिन्न अंग हैं। उनका विचार था कि इस प्रकार के आनन्द के लिए केवल किसी वस्तु का अस्तित्व पर्याप्त नहीं है बल्कि उसका सौन्दर्य-तत्त्व से युक्त होना अनिवार्य है और इस अर्थ में त्रासदी का उद्देश्य हमें यह विश्वास दिलाना है कि विसंवादी और कुरूप भी एक प्रकार की कलात्मक क्रीडा है—ऐसी क्रीडा जिसमें हमारी इच्छा शक्ति स्वयं अपने ही साथ आनन्द की चिरन्तन पूर्णता के साथ संलग्न होती है। त्रासदीय अनुभव को सहन करने की क्षमता दर्शक की शक्ति की द्योतक है और यह शक्ति त्रासदीय आनन्द का अंग है।

त्रासदीय आनन्द की सबसे विस्तृत मनोवैज्ञानिक व्याख्या आइ० ए० रिचर्ड्स ने बीसवीं शती के तृतीय दशक के आरम्भ में प्रस्तुत की है।[1] इस व्याख्या का आधार संवेगों का संतुलन सिद्धान्त है जिसके विषय में उन्होंने कहा है कि अरस्तू के विवेचन का यही अभिप्राय रहा हो या नहीं किन्तु त्रासदी में एक अकेली व्यवस्थित प्रतिक्रिया के अन्तर्गत कम-से-कम दो विरोधी भावों का संयोग होता ही है। रिचर्ड्स ने इस संयोग का सर्वोत्कृष्ट उदाहरण त्रासदी को माना है क्योंकि वहीं संयोगों की उपलब्धि अपने सफलतम रूप में होती है। करुणा जो अभ्युपगमनशील संवेग है और त्रास जो अपसरणशील संवेग है इन दोनों का जैसा सफलतम संवाद त्रासदी में होता है, वैसा अन्यत्र नहीं। और न जाने उनके साथ और कितनी अधिक अन्य समानधर्मी विरोधी वृत्तियों के समन्वयों का संवाद हो जाता है। त्रासदी में दुश्चिन्ताओं के बीच जिस मुक्ति विश्रान्ति संयम और संतुलन की बात की जाती है उसकी व्याख्या इस सिद्धान्त के सिवाय और किसी तरह नहीं हो सकती क्योंकि एक बार जाग्रत हो जाने के बाद ये वृत्तियाँ दमन के सिवाय किसी अन्य विधि से शान्त नहीं हो सकतीं।

रिचर्ड्स के अनुसार त्रासदीय अनुभव में दमन के लिए कोई स्थान नहीं है क्योंकि त्रासदी का पाठक या दर्शक किसी चीज से घबराता नहीं किसी भ्रम से अपने आपको बचाता नहीं और वह हर तरह से अनाक्रान्त रहते हुए सर्वथा अकेला और आत्मनिर्भर रहता है। त्रासदीय अनुभव की सफलता की कसौटी यह है कि ग्राहक के सामने जो कुछ है उसका सामना वह कहाँ तक करता है और सामान्यतः अप्रिय अनुभवों से बच निकलने की कोशिश किए बिना उसके प्रति अनुकूल प्रतिक्रिया करता है। इसी तरह रिचर्ड्स ने त्रासदीय अनुभव में उन्नयन विधि का भी निषेध किया है क्योंकि उन्नयन में भी किसी न किसी प्रकार अप्रिय प्रसंगों से बच निकलने की प्रवृत्ति होती है। दमन और उन्नयन दोनों ही आनन्द के लिए बाधक हैं।

---

[1] प्रिंसिपल्स०, पृष्ठ २४५–२५२

त्रासदीय आनन्द के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए रिचर्ड्स ने कहा है कि वह आनन्द जो इस अनुभव का प्राण है, यह संकेत नहीं देता कि इस संसार में सब सही है, और न यही कि कहीं किसी प्रकार का न्याय है। वह केवल इस तथ्य की ओर संकेत करता है कि यदि सब कुछ सही है, तो वह इस क्षण और यहीं हमारी स्नायविक व्यवस्था में है।

संतुलन और विश्रान्ति की व्याख्या करते हुए रिचर्ड्स ने आगे यह कहा है कि विरोधी वृत्तियों का एकान्ततः विरोधी होना अत्यंत आवश्यक है। यहाँ तक कि वे परस्पर विरोध के द्वारा एक युग्मक का निर्माण करें। यदि त्रासदी नामधारी किसी कृति में इस प्रकार परस्पर विरोधी वृत्तियाँ न हुई तो न तो उनमें अपेक्षित संतुलन ही आ पाएगा, और न वह संतुलन अभीप्ट आनन्द की सृष्टि ही कर सकेगा। त्रासदीय आनन्द के संतुलन की विशेषता यह है कि वह समृद्ध एवं जटिल होता है, क्योंकि एक प्रकार का संतुलन वह भी होता है जो दो विरोधी भावों में से एक को विलग कर देने से प्राप्त होता है। इसलिए स्पष्ट ही इस सरल संतुलन से प्राप्त आनन्द निम्न कोटि का होता है। इसके विपरीत समाहारधर्मी संतुलन उच्च कोटि का आनन्द प्रदान करता है।

इस विषय में रिचर्ड्स का स्पष्ट मत है कि यह संतुलन उद्दीपक कलाकृति के संघटन में नहीं, बल्कि ग्राहक पर पड़नेवाले प्रभाव में होता है। त्रासदीय संतुलन की एक अन्य विशेषता पर प्रकाश डालते हुए रिचर्ड्स आगे यह कहते हैं कि सौन्दर्यानुभूति के आधारभूत संतुलन में ग्राहक के व्यक्तित्व के क्रियाशील होने का सबसे अधिक अवसर प्राप्त होता है। व्यक्तित्व की यह सक्रियता, रिचर्ड्स के अनुसार तथाकथित निर्वैयक्तिकता एवं निस्संगता का ही दूसरा रूप है, क्योंकि इसमें ग्राहक का चित्त किसी एक निश्चित दिशा की ओर उन्मुख नहीं होता। इसके विपरीत चित्त के अधिक-से-अधिक पहलू प्रभावित करनेवाली वस्तुओं के अधिक-से-अधिक पहलुओं के लिए प्रस्तुत रहते हैं। जब चित्त किसी एक संकीर्ण हित की दृष्टि से कलाकृति को ग्रहण करने के स्थान पर, एक साथ ही सुसंगत रूप से अनेक हितों के बोध से कलाकृति की ओर उन्मुख होता है तो उसे निस्संगता अथवा अनासक्ति कहना चाहिए। संक्षेप में, रिचर्ड्स ने त्रासदीय आनन्द में दमन और उन्नयन के विरुद्ध क्षोभकारी, अप्रिय वृत्तियों के संतुलन द्वारा चित्त-विश्रान्ति की अवधारणा प्रस्तुत की है, जिसमें ग्राहक के व्यक्तित्व की सक्रियता भी अन्तर्भुक्त हो जाती है।

त्रासदीय अनुभव के एक नए रूप का परिचय डॉ० एफ़० आर० लीविस के 'त्रासदी और माध्यम' नामक निबंध से मिलता है। उनके अनुसार यदि 'शान्ति' (काम) को त्रासदीय अनुभव का विधेय मानना ही है तो वह निश्चित रूप से 'मस्तिष्क की ऐसी शान्ति—जिसमें मनोविकारों का शमन हो' नहीं है। उसमें बहुत-कुछ उदात्त प्रभाव का गुण होता है। हम एक ऐसे दुःखपूर्ण कार्य का अनुचिन्तन करते है, जिसमें मृत्यु निश्चित है और एक श्लाघ्य सहानुभूतिपूर्ण 'शुभ' का विनाश होता है, फिर भी हम अवसन्न होने के स्थान पर एक विवर्धित जीवनी-शक्ति के बोध का आनन्द लेते है। किन्तु इसी प्रसंग में, जैसा कि आगे चलकर डॉ० लीविस कहते है, त्रासदीय अनुभव ऐसा कुछ नहीं है जिसमें किसी की आत्मा को पीड़ा भोगने में गौरव का बोध हो, और न ऐसी आत्मा की, नाटकीयता में रस लेने की वृत्ति को वह प्रोत्साहन या अनुमति ही देता है। यह एक

प्रकार से स्व का अतिक्रमण है। दूसरे शब्दों में यह एक प्रकार की गहरी निर्वैयक्तिकता है जिसमें केवल अनुभव का ही महत्त्व होता है और वह अनुभव भी इसलिए नहीं महत्त्वपूर्ण होता कि वह मेरा अपना है मेरे साथ घटित हुआ है अथवा इसके पीछे कोई प्रयोजन है। वह महत्त्वपूर्ण है तो केवल इसलिए कि जो भी है वह है (अपने-आप में पर्याप्त), यदि उसमें ममत्व का महत्त्व है तो केवल इतना ही कि किसी भी अनुभव में निज वैयक्तिक संवेदनशीलता अपरिहार्य है।

इस प्रकार डा० लीविस के अनुसार त्रासदीय अनुभव के साथ जो उच्चस्तरीय जीवन का बोध संलग्न है उसके लिए अहं का अतिक्रमण—सभी प्रकार के आत्माग्रह की प्रवृत्ति से पलायन आवश्यक है। पलायन शब्द से कहीं उस अनुभव की निषेधात्मकता ध्वनित न हो इसलिए डॉ० लीविस ने इस बात पर विशेष बल दिया है कि त्रासदीय अनुभव सर्वथा रचनात्मक अथवा सर्जनात्मक होता है जिसमें उन विधेयात्मक मूल्यों का पुनर्गठन अन्तर्निहित है जिनकी परिभाषा एवं अर्थवत्ता मृत्यु द्वारा ही संभव होती है। उसमें हम जैसे एक गहरे स्तर पर चुनौती के रूप में इस प्रश्न का सामना करते हैं कि जीवन की सार्थकता किसमें निहित है? और इस प्रश्न के उत्तर के लिए हम अपने-आपको एक ऐसी जीवन दृष्टि का अनुचिन्तन करते हुए पाते हैं जिसमें वस्तुओं को मूल्य प्रदान करने की प्रक्रिया में मूल्यांकनकर्ता से अधिक महत्त्व मूल्यवान वस्तु का होता है और इस प्रकार व्यक्ति की आत्मा अपने से भिन्न किसी बृहत्तर वस्तु के प्रति समर्पित होने में जीवन की सार्थकता मानने लगती है।[1]

सूज़न लैंगर ने त्रासदीय आनन्द संबंधी पूर्व प्रचलित व्याख्याओं की आलोचना करते हुए कहा है कि बहुत कम लोग जानते हैं कि त्रासदी गहरे संतोष का स्रोत क्यों है? उन्होंने अनेक प्रकार की मनोवैज्ञानिक व्याख्याएँ आविष्कृत की हैं। एक ओर भावात्मक विरेचन का सिद्धान्त है तो दूसरी ओर महनीयता का बोध जो इस कारण से उत्पन्न माना जाता है कि नायक के दुर्भाग्य हमारे अपने नहीं हैं। किन्तु वास्तविक स्रोत प्रत्यभिज्ञान का आनन्द है यह एक ऐसे विश्व का विज्ञान है जो पूर्णतः अर्थवान हो यह ऐसे जीवन का बोध है जिसने स्वयं अपने-आप को गुटा दिया हो और इसकी पूर्णता पर मृत्यु ने हस्ताक्षर किया हो। सीधे सरल शब्दों में यह महान कला का आनन्द है जो पूर्णतया अभिव्यंजक एवं सृजन किए गए रूप का बोध है। दूसरे शब्दों में यह सौन्दर्य का आनन्द है।

एक प्रभावपूर्ण संगीत और भावावेगपूर्ण गंभीर बैले नृत्य के समान त्रासदी भी मनोरंजन के अंतर्गत इसलिए रखी जाती है कि हम उसके भावन में अनायास ही अपने आपको समर्पित कर देते हैं। इसी क्रिया में इतनी अधीरता होती है कि उसे देखने और सुनने एवं आह्लादित होने के अतिरिक्त हमारे चित्त में दूसरा कोई अभिप्राय नहीं होता।[2]

---

[1] 'ट्रेजेडी एण्ड द मीडियम', द कॉमन परसूट, पृ० १२७–३२

[2] फीलिंग एण्ड फॉर्म, पृ० ४०५

करुण रस और त्रासदीय आस्वाद

समस्या का स्वरूप

काव्यास्वाद की व्याख्या के संदर्भ में त्रासदी की आनन्दरूपता का प्रश्न पाश्चात्य विचारकों के समक्ष चुनौती के रूप में रहा है। अरस्तू ने विरेचन सिद्धान्त के द्वारा इस प्रश्न की व्याख्या की है। परवर्ती चिन्तकों में इस प्रश्न को लेकर दो वर्ग हो गए—एक उन विद्वानों का, जिन्होंने विरेचन सिद्धान्त की अभावात्मकता को लक्षित करते हुए त्रासदी के आस्वाद की अधिक विधेयात्मक और भावात्मक व्याख्या प्रस्तुत की तथा स्पष्ट रूप से उसे आनन्दरूप कहा। दूसरे वर्ग के विचारकों ने उसकी आस्वादरूपता का समर्थन करते हुए उसमें आनन्द-तत्त्व की स्वीकृति तो की किन्तु उसे पूर्णतः आनन्दरूप नही माना। भारतीय काव्यशास्त्र में यह समस्या नव रस में से दुःखप्रधान भावों से निष्पन्न होनेवाले रसों—करुण, रौद्र, वीभत्स, और भयानक आदि के प्रसंग में उठी। उक्त चार रसों में से रौद्र और वीभत्स से त्रासदीय आस्वाद की तुलना का प्रश्न नहीं उठता। दोनों के आधारभूत स्थायी भाव का स्वरूप त्रासदी के स्थायी भावों—त्रास और करुणा से भिन्न है। शेष दो रसों—करुण और भयानक में से आधुनिक विद्वानों ने त्रासदी की अनुभूति की तुलना में प्रायः करुण रस के आस्वाद का प्रश्न उठाया है। ऐसा करते हुए इस तुलना के कारणों की यद्यपि कोई तर्कसम्मत व्याख्या प्रायः प्रस्तुत नही की गई, तथापि अनुमानतः कारण कदाचित् यही है कि जिस प्रकार करुण रस के आलम्बन के प्रति पाठक का मन सहानुभूति और करुणा से द्रवीभूत होता है, उसी प्रकार त्रासदी के अभागे नायक के प्रति भी। किन्तु करुणा और त्रासदी के आस्वाद में आधारभूत अन्तर है। स्पष्ट ही करुण रस की अपेक्षा त्रासदी की आस्वाद-विषयक अवधारणा अधिक जटिल और संश्लिष्ट है। करुण रस का स्थायी भाव है—शोक, और त्रासदी का—त्रास और करुणा की मिश्र अनुभूति। भारतीय काव्य-शास्त्र में करुण रस की आनन्दरूपता को सिद्ध करना इसलिए उतना कठिन नही था क्योंकि करुण रस का स्थायी भाव शोक, जिस स्थायी वियोग या मृत्यु पर अवलम्बित था, उसे आत्मवादी भारतीय दर्शनों में शोक का कारण तो माना गया, भय का नहीं, जबकि पश्चिमी चिन्ताधारा में मृत्यु निरंतर शोक के साथ भय का आलम्बन भी मानी गई है।

दुःख का अनुवेध

स्थायी भावो में संस्कृत काव्यशास्त्र के अन्तर्गत शोक को सर्वथा ही दुःखरूप स्वीकार किया गया है, क्योंकि एक ओर उसमें अभीष्ट विषय के नाश से दुःख उत्पन्न होता है, और दूसरी ओर पूर्वकाल के सुख-स्मरण से अनुविद्ध दुःख।[1] किन्तु शोक से उत्पन्न रस का नाम करुण है, जिसका कारण बतलाते हुए अभिनवगुप्त ने कहा है कि अन्य रस जहाँ स्थायिभावात्मक होते है, वहाँ शृंगार और करुणा स्थायी प्रभव होते हैं। करुणा स्थायी भाव प्रभव है, इसका अर्थ अभिनवगुप्त ने यह किया है कि वह चरमानुभूति को प्राप्त होने पर एक ओर तो दुःखरूप से विजातीय प्रतीति का आस्वादन कराता है, और दूसरी ओर

---

[1] **द्वैकालिकस्त्वभीष्टविषयनाशजः प्राक्तनसुखस्मरणानुविद्धः सर्वथैव दुःखरूपः शोकः।**
हिन्दी अभिनवभारती, पृ० २२

अपने असाधारण विभावादि हेतुओं के द्वारा उत्पन्न होता है।[१] इस प्रकार करुण अपने मूलाधार स्थायी भाव शोक की विजातीय अनुभूति उत्पन्न करने में समर्थ है। फिर भी अभिनवगुप्त ने करुण रस के संदर्भ में एक स्थल पर यह स्वीकार किया है कि यह "निरपेक्ष (नैराश्यमय) भाव होने के कारण हास्य से विपरीत कहा गया है।"[२] स्पष्ट ही इसका तात्पर्य है कि करुण रस एक ओर तो हास्य के विपरीत होता है और दूसरी ओर उसमें निरपेक्ष भाव होता है। अभिनवगुप्त का यह कथन ठीक वैसा ही है जैसा पाश्चात्य काव्यशास्त्र में त्रासदी को कामदी का विपरीत माना गया है।

संभवतः इसीलिए अभिनवगुप्त ने करुण रस को स्पष्ट शब्दों में आनन्दरूप न कहकर केवल आस्वाद्यमान की संज्ञा दी है।[3] कुछ विद्वान करुण रस की आनन्दरूपता सिद्ध करने के लिए अभिनवगुप्त का निम्न उद्धरण देते हैं:

अस्मन्मते तु संवेदनमेवानन्दघनमास्वाद्यते। तत्र का दुःखाशङ्का।[४]

अर्थात् हमारे मत में तो आनन्दघन संवेदन का ही आस्वादन होता है। उसमें दुःख की क्या आशंका?

किन्तु उक्त उद्धरण का शेष अंश इस प्रकार है:

केवलं तस्यैव चित्रताकरणे रतिशोकादिवासना व्यापारस्तदुद्बोधने चाभिनयादि-व्यापारः।

अर्थात् केवल उसके चित्रताकरण के लिए रतिशोकादि वासना रूप स्थायी भावों का व्यापार होता है और उनके उद्बोधन के लिए अभिनयादि व्यापार होता है।

उल्लेखनीय है कि इस संदर्भ में भ्रम अपूर्ण उद्धरण के उपयोग से हुआ है। यदि परवर्ती वाक्य को ध्यान में रखा जाए तो स्पष्ट है कि अभिनवगुप्त आनन्दघन संवेदन रूप रस-तत्त्व के आस्वादन की बात करने के तुरंत बाद ही जहाँ एक ओर उसमें दुःख की आशंका के लिए स्थान नहीं मानते वहाँ दूसरी ओर तत्काल ही उस आस्वाद के रति शोकादि वासना रूप स्थायिभावों के द्वारा 'चित्रताकरण' का समर्थन करते हैं। एक बात तो यह कि "तत्र का दुःखाशंका" का कथन शंकुक के मत का खंडन करते हुए किया गया है जिनके अनुमिति सिद्धान्त के अनुसार दुःख से दुःख की निष्पत्ति होती है। अतः यदि अभिनवगुप्त दुःख से दुःख की अनुभूति नहीं मानते तो भी दुःख से होनेवाले आनन्द में वे दुःख का अनुबंध नहीं स्वीकार करते, यह कहाँ सिद्ध होता है? दूसरी ओर स्थायिभाव तो सुख-दुःखरूप होते ही हैं, अतः यहाँ अभिनवगुप्त की सच्चिदानन्द की 'चित्रताकरण'-विषयक धारणा ध्यान देने योग्य है जिसकी व्याख्या वे अन्यत्र कर चुके हैं।

---

१ रतिशोकावेव परमतज्जातीयसंविदास्वादौ शरीरादुःखसुखदुःखरूपत्वेन निस्साधारणात्मीयत्व नियमग्रहगृहीतहेतुबलादेवोत्पद्येते मतः, अतोऽनयोर्मुनिना प्रभवग्रहणं कृतम्।

हिन्दी अभिनवभारती पृ० ५७०

२ 'हास्यः। निरपेक्षभावत्वात् तद्विपरीततस्ततः करुणः। वही, पृ० ४७२

3 तस्मात् करुण इति शोकस्य सर्वसाधारणत्वेन प्राप्तस्या आस्वाद्यमानस्य संज्ञा।

वही, पृ० ५७६

४ वही, पृ० ५०७

(क) विचित्रवासनानुवेधोपनतहृद्यतातिशयसंविच्चर्वणात्मना भुंजते ।[1]

अर्थात सुख-दुःखादि से विचित्र वासनाओं के अनुवेध से प्राप्त संवित् चर्वणा के द्वारा अतिशय हृद्यता का भोग करता है।

(ख) ······सुखदुःखाद्याकारतत्तच्चित-वृत्तिरूषित-निजसविदानन्दप्रकाशमयो, अतएव विचित्रो,······।[2]

संवित् का प्रकाशानन्द सुख-दुःखादिपरक विभिन्न चित्तवृत्तियों से रूषित होता है, अतएव विचित्र होता है।

अभिनवगुप्त ने वारंवार संवित् की चर्वणा को शब्द-भेद से वासनाओं से अनुरंजित चित्रित या रूषित माना है। 'लोचन' में भी उन्होंने स्पष्ट कहा है :

(ग) तद्विभावानुभावोचितचित्तवृत्तिवासनानुरंजितस्वसंविदानन्दचर्वणागोचरोऽर्थो रसात्मा········ ।[3]

(वह) रसात्मक अर्थ चित्तवृत्तियों के वासना-रूप से अनुरंजित स्वसंवित् द्वारा चर्वणाव्यापार से आनन्द-रूप में गोचर होता है। इसी प्रकार उनका यह कथन है कि :

(घ) ···प्राग्विनिविष्टरत्यादिवासनानुरागसुकुमारस्वसंविदानन्दचर्वणाव्यापार रसनीयरूपो रसः ।[4]

पहले से ही स्थित रति आदि वासना के अनुराग के द्वारा सुकुमार स्वसवित् चर्वणा-व्यापार के द्वारा आनन्द-रूप में रसनीय रूप रस होता है। स्पष्ट है, शब्द-भेद से स्वसंविद् का चित्तवृत्तियों से अनुरंजन, अनुवेध, चित्रताकरण, अनुराग आदि अभिनवगुप्त ने स्वीकार किया है। अर्थात स्वसंवित् की चर्वणा को वे विभावानुभावोचित चित्तवृत्तियो के वासना-रूप से रूषित स्वीकार करते है। और वासनानुविद्ध आनन्द परा संवित् की विश्रान्ति से भिन्न होता है। शैवागम मे जिस प्रकार आनन्द के अनेक भेद स्वीकार किए गए है, उसी प्रकार संवित् की भी अनेक भूमिकाएँ स्वीकार की गई है।[5] परा सवित् की भूमिका परम शिव की आध्यात्मिक भूमिका है, जो विशुद्ध चित्त की अवस्था है। काव्यगत आनन्द इस विशुद्ध आत्म सवित् या चित्त की भूमिका पर होनेवाला आनन्द नहीं, भावों की भूमिका में होनेवाली संवित्-विश्रान्ति है, और भावों की भूमिका में होनेवाली यह संवित्-विश्रान्ति सत्व के साथ रजस् और तमस् से भी युक्त होती है, क्योंकि इसका संबंध चित्तवृत्तियों से है, और शैव मत के अनुसार चित्त का संकुचित रूप होने के साथ ही चित्त 'सत्व-रजस्तम. स्वभाव' है।[6]

---

[1] हिन्दी अभिनवभारती, पृ० ५०३

[2] वही, पृ० १६५

[3] ध्वन्यालोक-लोचन, पृ० ८२

[4] वही, पृ० ५०

[5] तद भूमिकाः सर्वदर्शनस्थितयः। प्रत्यभिज्ञाहृदयम्, पृ० ४०

[6] सत्व-रजस्तमः-स्वभावचित्तात्मतया स्फुरतीति श्री प्रत्यभिज्ञायामुक्तम्······ वही, पृ० ३४

ईश्वर प्रत्यभिज्ञा विवृति विमर्शिनी में भी काव्यानन्द को विषयानन्द और परमानन्द से विलक्षणता निश्चित करते हुए कहा गया है कि इस प्रतीति में दो भाग होते हैं—एक प्रकाशमयी संविद् का दूसरा चित्तवृत्तियों का। प्रकाश भाग वेद्य विश्रान्त होता है व्यवस्थित होता है किन्तु चित्तवृत्तिवाले भाग से गौण होता है। चित्तवृत्तिवाले भाग में हृदय-तत्त्व की प्रधानता होने के कारण रस प्रतीति को सहृदयता भी कहा जाता है। सहृदयता कहने से यह स्पष्ट है कि इसमें प्रकाश तत्त्व की अपेक्षा हृदय-तत्त्व प्रधान है।[1]

यदि रसास्वाद में हृदय-तत्त्व की प्रधानता स्वीकार की जाएगी और भावों की भूमिका में होनेवाली इस संवित् विश्रान्ति में सत्त्व के साथ रजस् और तमस का संयोग भी सिद्धान्ततः माना जाएगा तो शोक स्थायिभाव पर आधारित करुण रस की अनुभूति में तमस् से अनुविद्ध आनन्द की ही स्वीकृति करनी होगी। यही आशय अभिनवगुप्त की काव्यानन्द विषयक अवधारणा और अन्य आचार्यों की आनन्द विषयक अवधारणा में भेद है। जैसा पहले भी स्पष्ट किया जा चुका है कि अभिनवगुप्त ने स्वरूप भेद से आनन्द की आठ कोटियाँ निर्धारित की हैं जिनमें काव्यानन्द का स्थान विशुद्ध चिदानन्द से बहुत नीचे है, और उसे वे प्राणानन्द कहते हैं। पंडितराज की भाँति न वे रसो वै सः का अवलंब लेकर इस आनन्द की आध्यात्मिक भूमिका निर्धारित करते हैं और न विश्वनाथ की भाँति सत्त्वोद्रेकमय स्वप्रकाशित स्वरूप पर बल देते हैं। उनकी शब्दावली में काव्यानन्द में अधिक बल उसके रसना आस्वादन चर्वणा पर है। उनकी दार्शनिक प्रतिबद्धता जिस दर्शन के प्रति है उसे भी यद्यपि आनन्दवादी शैव दर्शन कहा जाता है किन्तु वस्तुतः वहाँ भी बल आनन्दवाद की अपेक्षा प्रत्यभिज्ञान पर अधिक है। यों भी शैवागम की आनन्दवादी अवधारणाएँ दर्शन और अध्यात्मक्षेत्रीय हैं सौन्दर्यशास्त्रीय नहीं। कलाओं के संदर्भ में उनकी आनन्दवादी अवधारणा का जो अर्थ हो जाता है उसका स्पष्टीकरण किया जा चुका है।

यहाँ प्रश्न उठता है कि क्या अभिनवगुप्त करुणादि दुःखात्मक रसों से दुःख की अनुभूति स्वीकार करते हैं? इसका सहज उत्तर नकारात्मक होगा किन्तु साथ ही यह भी सत्य है कि इन रसों से होनेवाले आनन्द में वे आधारभूत स्थायिभाव के अनुरूप दुःख का अनुवेध मानते हैं किन्तु जिस प्रकार पानक रस में सोंठ मिर्चादि तिक्त पदार्थ अपनी कटुता खोकर आस्वाद्य और सुस्वादु हो जाते हैं उसी प्रकार करुणादि रसों में शोकादि भाव अलौकिक विभावादि के संबंध से निज दंश त्यागकर आस्वाद्य और चर्वणागोचर हो जाते हैं किन्तु दुःख अंश का उनमें पूर्णतया अभाव नहीं होता। जिस तरह तीखे मसालों का एक निजी रुचिकर स्वाद होता है उसी प्रकार दुःखप्रधान रसों की आस्वाद्यमानता होती है किन्तु वहाँ आनन्द का अर्थ सुख न होकर रसनात्मकता आस्वाद्यता ही होती है। कम-से-कम शैवमतानुयायी आचार्य अभिनवगुप्त का आशय यही प्रतीत होता है।

रसों की आनन्दरूपता के विषय में प्रश्न वस्तुतः यह नहीं है कि वे आनन्दरूप होते हैं या नहीं बल्कि प्रश्न शायद यह होना चाहिए कि यदि करुण शृंगार शान्तादि

---

[1] *तेन एव हृदयेन परामर्शलक्षणेन प्राधान्यात् व्यपदेश्या व्यवस्थितस्य अपि प्रकाशभागस्य वेद्यविश्रान्तस्य अनादरणात् सहृदयता उच्यते इति।*

आर० नोली : द एस्थटिक एक्सपीरियंस० पृ० ८६

सभी रस आनन्दरूप होते है, तो क्या उनमे से प्रत्येक से प्राप्त होनेवाले आनन्द के स्वरूप में कोई तारतमिक तथा स्वरूपगत अंतर भी होता है या नही ? इसीलिए मधुसूदन सरस्वती ने कहा है कि यद्यपि स्थायिभावो का मूल सत्त्व है, और क्योंकि सत्त्व की प्रकृति आनन्द होती हे, अतः सभी रस आनन्दरूप होते है, परन्तु क्योकि विभिन्न रसो में यही सत्त्व अनुपात-भेद से रजस् और तमस् से मिश्रित होता है, अतः आनन्द की सीमा मे भी भेद होता है, और सभी रसो की अनुभूति समान मात्रा मे आनन्दप्रद नही होती ।[1] इस प्रकार मधुसूदन सरस्वती के अनुसार करुण मे अन्य रसों की अपेक्षा आनन्द की मात्रा न्यून होती हे ।

पाश्चात्य सौन्दर्यशास्त्र मे विभिन्न रसों मे विभाजित करके काव्यास्वाद की समस्या पर विचार नही किया गया, अतः वहाँ यह प्रश्न इस रूप मे नही उठा कि विभिन्न रसो के व्यंजक काव्य मे आनन्द की मात्रा का भेद होता है । साहित्य की सर्वाधिक समर्थ और महत्त्वपूर्ण विधा त्रासदी होने के कारण त्रासदी के आस्वाद की स्वरूप-व्याख्या का प्रयास ही वहाँ किया गया । जिस प्रकार भारतीय आचार्यो ने करुण के आस्वाद में दु.ख का अनुवेध स्वीकार करके उसके निर्दश रूप की प्रतिष्ठा की है, उसी प्रकार पाश्चात्य आचार्यों मे अरस्तू ने भी करुण और त्रास की अनुभूतियों के उद्बोध के द्वारा रेचन की बात इसी दृष्टिकोण से की । स्पष्ट ही करुण और त्रास दुःखद अनुभूतियाँ होने के कारण उनका उद्बोधन सुखद नही हो सकता, किन्तु उनका परिणाम वृत्तियो का रेचन होने के कारण उनसे दु'ख के स्थान पर चित्त-विश्रान्ति की ही उपलब्धि होती है । अतः यह विश्रान्ति करुणा और त्रास से अनुविद्ध रहती है । अरस्तू के रेचन की व्याख्या परवर्ती विद्वानो ने जिस प्रकार मानसिक स्वास्थ्य के साधन के लिए की, उस प्रकार की कोई धारणा भारतीय काव्यशास्त्र में नही है ।

आनन्दरूपता संबंधी विशिष्ट अवधारणा

भारतीय आचार्यो का एक वर्ग वह है, जो करुण रस को नितान्त आनन्द-रूप स्वीकार करता है । वस्तुत. वे आचार्य रसमात्र को आनन्द-रूप मानते है । प्रचलित मत है कि शैवागम के अनुयायी आचार्यो ने काव्य-रस मात्र को आनन्द-रूप माना है, किन्तु जैसा स्पष्ट किया जा चुका है, उन्होने काव्य-रस को विशुद्ध चिदानन्द से भिन्न रजस् और तमस् से अनुविद्ध प्रागानन्द माना है, जो भावो की, चित्त की भूमिका पर होता है और जिसमे चित्त-तत्त्व की नही, हृदय-तत्त्व की प्रधानता रहती है, अतः वह विशुद्ध सत्त्व रूप नही होता । रस-मात्र को विशुद्ध आत्मानन्द मानने की प्रवृत्ति पर बल वेदान्त के अनुयायी आचार्यो ने दिया है, क्योकि वेदान्त दर्शन में आतमा के अतिरिक्त आनन्द तत्त्व की स्वीकृति का प्रश्न नही उठता । वहाँ न आनन्द की कोटियो की परिकल्पना है, और न रजस् और तमस् से अनुविद्ध सत्त्व या चित् से होनेवाले आनन्द की । केवल आतमा वहाँ सच्चिदानन्द रूप है, अत. रस को आत्मानन्द मानने का अर्थ ही विशुद्ध सत्त्व के आस्वाद की स्वीकृति करना था । इसीलिए रस-स्वरूप की व्याख्या करते हुए आचार्य विश्वनाथ ने उसे 'सत्वोद्रेकादखडस्वप्रकाशानन्द चिन्मयः' कहा है । रस के इस नितान्त आनन्दमय स्वरूप की

---

[1] मधुसूदन सरस्वती : श्री भगवद्भक्तिरसायन, पृ० २२

स्वीकृति करनेवाले आचार्यों में महत्त्वपूर्ण मत आचार्य विश्वनाथ और पंडितराज जगन्नाथ के ही हैं। यह स्पष्ट कर देना अप्रासंगिक न होगा कि रस का यह स्वरूप वे रस मात्र के संदर्भ में स्वीकार करते हैं, अतः प्रश्न शृंगार हास्यादि का हो अथवा भयानक-करुणादि का, इन आचार्यों ने सभी में आनन्द की स्वीकृति की है। फिर भी करुणादि दुःखमूलक रसों की आनन्दरूपता को कुछ विशेष एवं अतिरिक्त तर्क देकर सिद्ध करने का प्रयास किया गया है। ये तर्क इस प्रकार हैं :

(क) रस के कारण रूप विभावादि की साधारण्य रूप में प्रतीति और तज्जन्य विलक्षणता।

(ख) काव्य के अभिव्यंजक साधन—भाषा आदि का कवि-कुशल प्रयास एवं काव्य-व्यापार की अलौकिकता, जिसे भावकत्व, व्यंजना, शब्दार्थगत रमणीयता आदि अनेक नामों से अभिहित किया गया है।

(ग) काव्य-पक्ष में देशकालादि के बंधन से मुक्त और सहृदय पक्ष में व्यक्तिसंबंधों से उद्भूत चित्त की रजोमयी और तमोमयी अवस्था से मुक्त एकान्त सत्त्वमय आत्मानन्द की अनुभूति।

उपर्युक्त शास्त्रीय तर्कों का संबंध रसास्वाद की प्रक्रिया से है, अतः साधारणीकरण के प्रसंग में विभावादि के साधारणीकरण और काव्य भाषा के साधारणीकरण के प्रश्नों पर विस्तारपूर्वक विचार किया जाएगा। पाश्चात्य सौन्दर्यशास्त्र में रजोगुण, तमोगुण से मुक्त सत्त्वमयी स्थिति में आत्मास्वाद के रूप में सौन्दर्यानुभूति की अवधारणा नहीं मिलती। आचार्य विश्वनाथ ने एक अन्य तर्क अनुभव-साक्ष्य के आधार पर प्रस्तुत किया है :

करुणादावपि रसे जायते यत्परं सुखम् ॥४॥
सचेतसामनुभवः प्रमाणं तत्र केवलम्।
किंच तेषु यदा दुःखं न कोऽपि स्यात्तदुन्मुखः ॥५॥

नहि कश्चित्सचेतन आत्मनो दुःखाय प्रवर्तते। करुणादिषु च सकलस्यापि साभिनिवेशप्रवृत्तिदर्शनात्सुखमयत्वमेव।[1]

अर्थात् करुणादि रसों में भी परम आनन्द होता है। इसमें केवल सहृदयों का अनुभव ही प्रमाण है। यदि करुणादि रसों में दुःख होता तो उनमें कोई प्रवृत्त न हुआ करता, क्योंकि कोई भी समझदार व्यक्ति अपने दुःख के लिए प्रवृत्त नहीं होता, परन्तु करुण रस के काव्यों में सभी लोग आग्रहपूर्वक प्रवृत्त होते हैं, अतः वे रस सुखमय ही हैं। त्रासदी की आनन्दरूपता को सिद्ध करने के लिए अनुभव प्रमाण के आधार पर यह तर्क पाश्चात्य काव्य शास्त्र में भी बहुधा दिया गया है। एडवर्ड बुलो ने अपने 'डिस्टेंस एण्ड ईस्थेटिक प्रिंसिपल' सिद्धान्त की व्याख्या करते हुए इसी प्रकार अनुभव प्रमाण के आधार पर कहा है कि त्रासदी दुःखद नहीं होती, यदि ऐसा होता तो उसके अस्तित्व का विशेष अर्थ न होता। इसी प्रकार का मत व्यक्त करते हुए वरनन ली ने भी कहा है कि त्रासदी की अनुभूति दुःखद नहीं है, यह धारणा इस तथ्य से सिद्ध है कि हम त्रासदी का रुचिपूर्वक ग्रहण

---

[1] साहित्यदर्पण, तृतीय परिच्छेद, पृ० ५२

और श्रवण करते हैं : "आनन्द अपनाए या बनाए रखने की प्रवृत्ति का भावात्मक सहचर है।"[1]

अर्थात त्रासदी मे कलात्मक अभिरुचि की निरतरता इस बात का प्रमाण है कि वह सुखद है, क्योकि यदि वह दुःखद हो तो उसके प्रेक्षण मे दर्शक की प्रवृत्ति न हो। किन्तु इस मत की आलोचना करते हुए जेरोम स्टोलनित्स ने संकेत किया है कि इस संदर्भ मे वस्तुतः 'आनन्द' शब्द व्याख्येय है। यह कहने से कि आनन्द सदैव 'बनाए रखने की प्रवृत्ति' का सहचारी होता है, आनन्द की अनुभूति के स्वरूप की व्याख्या नही होती। केवल यह स्पष्ट होता है कि आनन्द की अनुभूति किन स्थितियो मे होती है, जबकि त्रासदी को आनन्दप्रद कहने मे समस्या यही है कि 'आनन्द' का स्वरूप क्या है ?

बहुधा हमारे कला सबधी, नैतिक व अन्य प्रकार के अनुभव इस बात को प्रमाणित करते हे कि हम विशेष कार्यव्यापारो को दु खद होते हुए भी बनाए रखते है। त्रासदी इसका अत्यंत स्पष्ट प्रमाण है।[2]

इस संबंध मे स्टोलनित्ज का मत है कि यह तर्क 'भोगवादी' दृष्टिकोण को प्रतिबिम्बित करता है, जिसके अनुसार आनन्द और केवल आनन्द ही शिव है। इसीलिए भोगवादी विचार-पद्धति के लिए त्रासदी एक समस्या हे। संटायना के इस प्रश्न का उत्तर कि हम 'आनन्द के मन्दिर मे दु.ख के देवता की मूर्ति क्यो प्रतिष्ठित करते है ?'[3] स्टोलनित्ज भोगवादी दृष्टिकोण का परित्याग करके ही सभव मानते है। इसीलिए उन्होने कहा है कि यदि हम उक्त दृष्टिकोण को एक ओर हटाकर इस प्रश्न का उत्तर दे, तो बिना किसी प्रकार के विरोध के कहा जा सकता है कि "त्रासदी का आस्वाद दु.खद और मूल्यवान दोनो होता है।··· हमें किसी त्रासदीय अनुभव मे ऐसी रुचि बनाए रखने के लिए प्रेरित करनेवाली शक्ति, जो उत्सुकता और तल्लीनता दोनों से युक्त हो, यही है कि हम उस अनुभव को अत्यधिक मूल्यवान समझते है।"[4]

पश्चिम में सौन्दर्यानुभूति की व्याख्या आत्मा के धरातल पर नही की गई, अतः वहाँ उसे उस अर्थ में आनन्दप्रद मानने का प्रश्न नही उठा, जिस अलौकिक अर्थ मे विश्वनाथ और जगन्नाथ आदि आचार्यो ने करुण रस को आनन्दपरक माना।

जब-जब त्रासदी के आनन्दपरक रूप का प्रतिपादन किया गया, आनन्द के स्वरूप की व्याख्या अत्यत स्पष्ट रूप में सभव न हुई। इन विचारकों ने त्रासदी की आनन्दमयता के कारणो या उससे प्राप्त आनन्द के स्वरूप का विवेचन करने के स्थान पर उसकी ग्राह्यता के कारणों का ही विवेचन किया है।

---

१ Pleasure (is) the affective accompaniment of the tendency to keep or continue. *Perception and Aesthetic Value*, pp. 78-79.

२ एस्थेटिक्स एण्ड फ़िलॉसफ़ी ऑफ़ आर्ट क्रिटिसिज्म, पृ० २४२

3 सेन्स ऑफ़ ब्यूटी, पृ० १६६

४ एस्थेटिक्स एण्ड फ़िलॉसफ़ी ऑफ़ आर्ट क्रिटिसिज्म, पृ० २८२

त्रासदीय आस्वाद संबंधी विविध मत

त्रासदीय आस्वाद की जो अन्य व्याख्याएं पाश्चात्य काव्यशास्त्र में की गई हैं उनमें से उल्लेखनीय और महत्त्वपूर्ण मत संक्षेप में इस प्रकार हैं

१ मानव मन की त्रास और करुणा की वृत्तियों का उद्बोधन और निर्दोष परितोष कर त्रासदी मनोवृत्तियों का रेचन करती है। (अरस्तू)

२ त्रासदी जिज्ञासा वृत्ति के परितोष के कारण आनन्दप्रद होती है। (एयरकाम्बी)

३ त्रासदी मानव मन की अहंकार और अधिकार लालसा की अवांछित वृत्तियों को क्षीण करने के कारण आनन्ददायक होती है। (रेपिन)

४ त्रासदी हमारे हृदय और मस्तिष्क को कोमल बनाती है। (डेनिस स्टील एडिसन)

५ त्रासदी हमारा ज्ञानवर्धन करने के कारण आनन्ददायी होती है। (ड्यूकास)

उक्त व्याख्याएं नैतिक युक्तियों से प्रेरित हैं और प्रायः त्रासदीय आस्वाद का नैतिक औचित्य सिद्ध करने के लिए इन्हें प्रस्तुत किया गया है। भारतीय काव्यशास्त्र में समानान्तर मत काव्य मात्र के प्रयोजन के संदर्भ में व्यक्त किए गए किसी रस विशेष के संबंध में नहीं।

इनके अतिरिक्त त्रासदी के आस्वाद की आनन्दरूपता के कुछ मनोवैज्ञानिक कारणों का विवेचन भी पाश्चात्य सौन्दर्यशास्त्रियों ने किया है। यह प्रवृत्ति अपेक्षाकृत आधुनिक है और ये मनोवैज्ञानिक समाधान इस प्रकार हैं

१ त्रासदी का प्रेक्षण दर्शक के हृदय में अपनी सुरक्षा की चेतना का आनन्द उत्पन्न करता है। यह आनन्द त्रासदी में निबद्ध दुःखों से दर्शक की अपनी मुक्ति के अनुभव का आनन्द है। (ल्युक्रीशियस युग)

२ हमारे संवेगों की बहिर्मुखी गति एक प्रकार का प्रतिक्रियात्मक व्यापार और आग्रह है जो अपने आप में आह्लादक स्वस्थ और सामान्यतः शुभ होता है। (देकार्त)

३ हमारे मन में अन्तर्निहित सामाजिक सौहार्द्र तथा मानवीय सहानुभूति को उपयोग में लाने के कारण त्रासदी उच्चकोटि का आनन्द प्रदान करती है। (शेफ्टसबरी)

४ त्रासदीय आनन्द पीड़ा के उपरान्त की बुभुक्षा से उत्पन्न आनन्द है अर्थात् दूसरे को दुःखी देखकर अपने आपको दुःख में डालने की मनोवृत्ति का सूचक है। वह एक प्रकार का वेदना विलास है। (लार्ड केम्स ह्यू ब्लेयर)

५ त्रासदी का आनन्द परपीड़न और स्वपीड़न की सहज मानववृत्ति में निहित रहता है। (रूसो)

६ त्रासदी हमारी अन्तर्वृत्तियों को संतुलित विश्रान्ति (बैलेन्स पॉयज) प्रदान करने के कारण आनन्ददायक होती है। (रिचर्ड्स)

७ दार्शनिक शब्दावली में इसी समाधान को विरोधों का समाहार अन्तःपीड़ा का परिष्कार (हेगल) तथा विषमताओं का परिहार और विरोधों का अतिक्रमण (नीत्शे)

कहकर प्रस्तुत किया जा चुका था। अन्तर यह भी था कि जहाँ रिचर्ड्स विरोधों के बीच संतुलन में विश्वास करते थे, वहाँ हेगेल और नीत्शे उनके परिहार में। हेगेल के अनुसार कुरूप और अशुभ अपने अस्तित्व मात्र से सृष्टि के अभिन्न अंग होने के कारण आनन्द प्रदान करते है, किन्तु नीत्शे के मत में उनका अस्तित्व ही नहीं, सौन्दर्य-तत्त्व से युक्त होना भी आनन्द के लिए अनिवार्य है, और रिचर्ड्स कलाकृति के द्वारा सहृदय के मन में निष्पन्न विरोधी वृत्तियों के संतुलन और समाहार के कारण उसे आनन्दप्रद मानते है।

८ त्रासदीय आनन्द एक प्रकार की गहरी निर्वैयक्तिकता का आनन्द है, जिसमें मनोविकारों का शमन नहीं, स्व का ऐसा अतिक्रमण होता है, जिसमें वहुत कुछ उच्चस्तरीय जीवन-बोध के कारण उदात्त प्रभाव का गुण होता है। व्यक्ति की आत्मा अपने से भिन्न किसी वृहत्तर वस्तु के प्रति समर्पित होने में जीवन की सार्थकता मानने लगती है। (एफ़० आर० लीविस)

त्रासदी के आनन्द की उपर्युक्त मनोवैज्ञानिक व्याख्याओं मे से विरोधों के समाहार और संतुलन के समानान्तर सहृदय के वीतविघ्न चित्त की अनिवार्यता भारतीय काव्यशास्त्र में भी वताई गई है, किन्तु वहाँ यह रसास्वाद का साधन है, जबकि पश्चिम में स्वयं फल। रसास्वाद की परिणति भारतीय काव्यशास्त्र में भी चित्त की विश्रान्ति एवं समापत्ति में मानी गई है। चित्त की एकतान, तन्मय, आत्मविश्रान्ति की स्थिति ही वह समाहित स्थिति है, जिसमे सभी विघ्न-विरोधों का परिहार हो जाता है, और वही रस है—चाहे वह करुण हो या शृंगार अथवा त्रासदी का आस्वाद। पूर्व और पश्चिम दोनों मे मूल समस्या करुण या त्रासदी को आनन्दरूप मानने-न-मानने की उतनी नही है, जितनी इस अनुभूति की स्वरूप-व्याख्या की, जिसे नाना प्रकार से स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है।

भारतीय और पश्चिमी दृष्टियों में इस समस्या से संवद्ध मूल अन्तर यह है कि भारत में इसका समाधान दार्शनिक धरातल पर ढूँढा गया, अतः दुःख से आनन्द की व्याख्या सहज संभव हो सकी। इसके विपरीत पाश्चात्य काव्यशास्त्र मे क्योंकि इस समस्या पर काव्यशास्त्रीय एवं लौकिक दृष्टि से ही विचार किया गया, परिणामतः वहाँ मनोवैज्ञानिक, नैतिक, अनुभवक्षेत्रीय अनेक प्रकार की तर्कयुक्तियों से इसका समाधान ढूंढने का प्रयास किया गया। भारत में भी जब इस अनुभूति को विशुद्ध लौकिक स्तर पर अथवा विशेष दार्शनिक दृष्टिकोण से व्याख्या का विषय बनाया गया, तभी कठिनाई अथवा भ्रम हुआ। इसीलिए भारतीय काव्यशास्त्र की आनन्दविषयक विशिष्ट अवधारणा के कारण जिस समस्या का समाधान सहज सुलभ हो सका, उसकी वहुशः व्याख्याएँ करके भी पाश्चात्य काव्यशास्त्र मे 'आनन्द' को व्याख्येय माना गया और इस विषय में अंत तक मतभेद वना रहा। पाश्चात्य विद्वानों के लिए यह प्रश्न उठना सहज ही था कि यदि 'आनन्द' का अर्थ मनोरंजन मात्र है तो त्रासदी का आस्वाद उसकी अपेक्षा कही अधिक मूल्यवान, विशिष्ट और किन्ही अर्थों मे भिन्न भी है। किन्तु 'आनन्द' का अर्थ आत्म-विश्रान्ति, समापत्ति या चित्त की समाहित स्थिति अथवा लयावस्था माननेवाले भारतीय मनीषी के लिए अंततः न यह समस्या समस्या रही, न प्रश्न।

रसास्वाद की बोधरूपता

रसास्वाद की आनन्दरूपता के संबंध मे भारतीय आचार्यो की विशिष्ट अवधारणा है। रसास्वाद की स्वरूप-व्याख्या करते हुए यद्यपि इन आचार्यो ने आनन्द को 'सकल

प्रयोजन मौलिभूत' माना, तथापि इसे ज्ञान-विशिष्ट बनाकर जीवन के हित-वर्धन से सबद्ध कर दिया। इस प्रकार काव्यानन्द, आस्वाद मात्र न रहकर बोध-रूप हो गया। काव्य-प्रयोजनों के सदर्भ में प्राय काव्यानन्द की इस विशेषता की ओर सकेत किया गया है। अभिनवगुप्त ने नाट्य के प्रयोजन की चर्चा करते हुए प्रश्न उठाया कि क्या वह गुरु के समान उपदेश देता है ? और उत्तर में स्थापना की कि वह गुरु के समान उपदेश नहीं देता, किन्तु बुद्धि को बढाता है। अर्थात् अपनी प्रतिभा को ही उसी प्रकार की बना देता है। और वह प्रतिभा दुष्ट-प्रतिभा नहीं होती। हितकारिणी प्रतिभा का जनक होने के कारण ही उसे हित कहा गया है।[१] स्पष्ट ही बुद्धि-विवर्धन के लिए रसास्वाद का बोधरूप होना अनिवार्य है।

नाटक या प्रबधकाव्य में आठ स्थायी भावो की सख्या का औचित्य निरूपण करते हुए अभिनव इन्ही आठ या नौ भावो को पुरुषार्थनिष्ठ मानते हैं, और उनका विचार है कि प्रबध मे नायक की चित्तवृत्ति पुरुषार्थनिष्ठ ही रहती है। यह पुरुषार्थनिष्ठा रति आदि आठ स्थायी भावो मे ही सभव है। काव्यास्वाद मे रसिक की सविद्-विश्रान्ति भी पुरुषार्थ-निष्ठ भाव मे ही होती है, अतएव स्थायित्व भी इन्हीं भावो का हो सकता है।[२] अर्थात् काव्य का आस्वाद पुरुषार्थसापेक्ष होता है। जब तक सहृदय की यह वृत्ति परितुष्ट नहीं होगी, उसकी सविद् विश्रान्ति भी सभव नहीं और स्पष्ट ही पुरुषार्थनिष्ठा का सबध रसिक की बोध वृत्ति से है।

अभिनव ने 'लोचन' में काव्य प्रयोजनो मे प्रीति और व्युत्पत्ति मे अभेद निरूपण करते हुए काव्यानन्द को व्युत्पत्ति का साधक अत बोध-रूप स्वीकार किया है।

काव्य के प्रयोजन मे यश, प्रीति और व्युत्पत्ति की प्रमुखता है। सामान्य जीवन मे जो प्रीतिकर होता है, वह सदैव हित का सवर्धन नहीं करता और हितकारक सर्वदा आनन्दप्रद नहीं होता। परन्तु उससे भिन्न काव्य की सगम-भूमि मे ये दोनो प्रयोजन अभिन्न रहते हैं। व्युत्पत्ति का काव्य-सदर्भ मे विशेष अर्थ रसिक-प्रतिभा का विकास है, पाडित्य या चातुर्य नहीं। अर्थात् काव्यास्वाद मे रसिक को आनन्द-लाभ के साथ उसकी रसिक-प्रतिभा का विकास भी होता है। भारतीय आचार्य ने प्रीति (आनन्द) और व्युत्पत्ति (बुद्धि वर्धन) मे कभी विरोध नहीं माना।[३]

परन्तु इस सबध मे एक बात ध्यान देने की है। परपरा से व्युत्पत्ति को काव्य-प्रयोजन के रूप मे स्वीकार करते हुए भी अभिनवगुप्त उसका निजी और विशिष्ट अर्थ करते हैं। उनका मत है कि काव्य द्वारा प्राप्त ज्ञान ऐतिहासिक वृत्तो और धार्मिक ग्रथो के

---

[१] ननु किं गुरुवदुपदेशं करोति। नेत्याह। किंतु बुद्धिं विवर्धयति। स्वप्रतिभामेव तादृशीं वितरतीत्यर्थ। न च सा दुष्टा प्रतिभेत्याह हितम्—हितप्रतिभाजनकत्वात्।

अभिनवभारती, भाग १, पृ० ४१

[२] तत्र पुरुषार्थनिष्ठा काश्चित् सविद इति प्रधानम्। स्थायित्व चलाचलत्वमेव।

वही, पृ० २८२

[३] न चैते प्रीतिव्युत्पत्ती भिन्नरूपे, द्वयोरप्येकविषयत्वात्। ध्वन्यालोक-लोचन, पृ० ३३६

उपदेश से सर्वथा भिन्न कोटि का होता है। परन्तु यदि व्युत्पत्ति को काव्य-प्रयोजन इस अर्थ में कहा जाए कि अन्ततः वह सहृदय की रसिक-वृत्ति के संवर्धन में साधक होती है तो उन्हें कोई आपत्ति न होगी।[1] प्रसंग-भेद से अनेक बार आचार्य अभिनव ने इस मान्यता की पुनरावृत्ति की कि काव्य का प्रमुख तत्त्व या प्रयोजन ज्ञान नहीं, आनन्द है, क्योंकि ज्ञान को काव्य-प्रयोजन मान लेने पर काव्य और अन्य शास्त्रों में भेद नहीं रहेगा। परन्तु साथ ही वे निरंतर इस बात पर भी बल देते रहे कि काव्य में आनन्द और ज्ञान, प्रीति और व्युत्पत्ति अभिन्न हो जाते हैं, वे दो भिन्न तत्त्व न रहकर एक ही विषय के दो रूप होते है। और इसलिए उन्होंने काव्यास्वाद को ही बोध-विशिष्ट बनाकर इस बोध को लौकिक बोधों से विलक्षण स्वीकार किया।[2]

सौन्दर्यानुभूति की ज्ञानरूपता

सौन्दर्यानुभूति की आनन्दमूलकता जहाँ सर्वसम्मत है, वहाँ उसकी ज्ञानपरकता के विषय में विवाद दृष्टिगत होता है। यों तो कला से ज्ञानोपलब्धि की संभावना में पहले भी संदेह किया गया, यहाँ तक कि स्वयं प्लेटो ने ही कला को सत्य से नितान्त दूर मानकर उसे ज्ञान के सर्वथा अयोग्य ठहराया, फिर भी पूर्ववर्ती युगों में कला पर विचार करने वाले अधिकांश विचारकों ने प्रायः कला के ज्ञान-पक्ष का निषेध करने से अधिक, उसके आनन्द-पक्ष पर बल दिया। उस समय ज्ञानोपलब्धि के प्रश्न पर कला का संघर्ष दर्शन के साथ था, जिसमें स्वभावतः दर्शन को कला से अधिक समर्थ माना गया, फिर भी दर्शन की तुलना में कला को सर्वथा ज्ञानशून्य मानने का आग्रह बहुत कम प्रकट किया गया। यह स्थिति तो वैज्ञानिक युग में उत्पन्न हुई, जब विज्ञान ने ज्ञान की पद्धति पर अपना एकाधिकार प्रतिष्ठित कर लिया और विज्ञान की शक्ति से आतंकित विचारको ने विज्ञान के समक्ष कला को रखते हुए घोषणा की कि कला के माध्यम से ज्ञान प्राप्त करने की आशा दुराशा मात्र है। इस दृष्टि से **तार्किक विधेयवादी एवं विश्लेषणवादी दार्शनिकों** की कला संबंधी आलोचना अत्यंत विध्वंसक है। किन्तु विश्लेषणवादियों की युक्तियों का विश्लेषण करने से पूर्व सौन्दर्यशास्त्र की उस परंपरा का उल्लेख आवश्यक है, जिसमें कला से प्राप्त सौन्दर्यानुभूति को ज्ञानपरक स्वीकार किया गया है।

कला-विषयक अध्ययन को सर्वप्रथम 'सौन्दर्यशास्त्र' की संज्ञा प्रदान करनेवाले जर्मन विद्वान बाउमगार्टेन ने अत्यंत स्पष्ट शब्दो में सौन्दर्यानुभूति को 'ऐन्द्रिय बोध-युक्त ज्ञान' कहा है। उनके अनुसार सौन्दर्य ऐन्द्रिय बोध युक्त ज्ञान का चरम रूप है। इस प्रकार जैसा कि बरोज डनहम ने बाउमगार्टेन के महत्त्व को रेखांकित करते हुए कहा है, उन्होंने ,"उलझे हुए ऐन्द्रिय बोधजन्य विचारों के क्षेत्र में मनोवेगों को स्थान देकर सौन्दर्यशास्त्र के अन्तर्मुखी आधार के अनुचिन्तन को मानसिक व्यापार से कहीं अधिक विस्तृत करने में

---

[1] व्युत्पादनं च शासनप्रतिपादनाभ्यां शास्त्रेतिहासकृताभ्यां विलक्षणम्।···रसास्वादोपाय-स्वप्रतिभाविजृम्भारूपां व्युत्पत्तिमन्ते करोतीति कमुपालभामहे।

ध्वन्यालोक-लोचन, पृ० २००

[2] रसना च बोधरूपैव। किन्तु बोधान्तरेभ्यो लौकिकेभ्यो विलक्षणैव।

अभिनवभारती, भाग १, पृ० २८५

सफलता प्राप्त की और दर्शक के भाव जगत पर सुन्दर वस्तुओं के पड़नेवाले प्रभाव को सौन्दर्यानुभूति के अन्तर्गत प्रतिष्ठित किया।'[1]

बाउमगार्टेन की यह स्थापना सहसा आकाश से नहीं आई। इसके पीछे कला-विषयक चिन्तन की एक दीर्घ बुद्धिवादी परंपरा है। बुद्धिवादी चिंतन-परंपरा में स्वभावतः बुद्धि को ज्ञान-समर्थ माना गया है और इन्द्रिय-संवेदनों एवं मनोवेगों से प्राप्त होनेवाले ज्ञान को बौद्धिक ज्ञान से कुछ हीन समझा गया है। कला का संबंध इन्द्रिय-संवेदना एवं मनोवेगों से है। इसलिए इस चिन्तन-पद्धति के अन्तर्गत कला से प्राप्त होने वाला ज्ञान स्पष्टतः निम्न कोटि का ठहरता है। देकार्त ने विचार और संवेदना के बीच अंतर करते हुए कहा है कि विचार भिन्न (डिस्टिंक्ट) होते हैं तो संवेदन स्पष्ट (क्लिअर) किन्तु अपनी समझ से संवेदन को ज्ञान के विषय में हीन कहते हुए उसे 'स्पष्ट' मानकर देकार्त ने अनजाने ही बुद्धि-व्यापार के अंतर्गत स्वीकार कर लिया जिसके अनुसार संवेदन-धर्मी कला अपने आप ही ज्ञानपरक रूप में मान्य हो गई।

तत्पश्चात लाइबनित्स ने देकार्त कृत स्पष्ट एवं 'भिन्न' के अन्तर को और अधिक स्पष्ट करने का प्रयास किया। उन्होंने बतलाया कि वस्तु के प्रत्यभिज्ञान के लिए 'स्पष्ट विचार' पर्याप्त हैं क्योंकि व्यावहारिक जीवन में वस्तुओं के अंतर को निश्चयपूर्वक निश्चित करके उन्हें मात्र इकाई के रूप में प्राप्त करना पर्याप्त है। दूसरी ओर 'भिन्न विचार वे हैं जिनसे वस्तुओं के शुद्ध रूप' की अवधारणा की जाती है। इस दृष्टि से लाइबनित्स का कलागत अनुभव तात्त्विक या वैज्ञानिक विचार से इस बात में भिन्न है कि सुन्दर वस्तु का अनुचिन्तन उसके आधार और परिणाम संबंधी प्रश्नों पर विचार करने के स्थान पर केवल उसके रूप के ऐन्द्रिय ग्रहण तक सीमित रहता है। बौद्धिक ग्रहण से भिन्न ऐन्द्रिय ग्रहण संबंधी यह धारणा सौन्दर्यशास्त्र की आवश्यकताओं के सर्वथा अनुरूप पड़ती है।

इस प्रकार जब देकार्त ने स्पष्ट किन्तु भ्रान्त बोध की संभावना स्वीकार कर ली और लाइबनित्स ने इस बोध को चिन्तन शक्ति को मन्द करनेवाली दुःखद स्थिति न मानकर मानवीय अनुभव की प्राकृतिक अवस्था के रूप में स्थापित कर दिया, तो उसके बाद स्वभावतः यही प्रमाणित करने की आवश्यकता रह जाती है कि भाव बोध द्वारा गृहीत संसार भ्रम नहीं, बल्कि सत्य है, भले ही वह सत्य पूर्णतः बौद्धिक सत्य की तुलना में अपूर्ण और अवर कोटि का ही क्यों न हो। बाउमगार्टेन ने इसी बिन्दु पर सौन्दर्यशास्त्र संबंधी इस चिन्तन-सूत्र को अपने हाथ में लिया और सत्य के संदर्भ में ज्ञान के स्तर पर इन्द्रिय बोध जन्य संवेदन को प्रतिष्ठित किया। आगे चलकर काण्ट ने इसी वैचारिक पृष्ठभूमि पर सौन्दर्यशास्त्र को व्यवस्थित रूप दिया।

काण्ट के सामने दर्शन की अनुभववादी एवं बुद्धिवादी दोनों परंपराएँ थीं। अनुभववाद ने ज्ञान के क्षेत्र में अनुभव का महत्त्व प्रतिपादित करके परोक्ष रूप से अनुभवधर्मी कलाओं को भी ज्ञान-सक्षम सिद्ध कर दिया, किन्तु काण्ट तक आते आते अनुभववाद की सीमाएँ भी स्पष्ट होने लगीं। काण्ट ने जब यह स्वयं स्वीकार कर लिया

---

[1] 'कान्ट्स थ्योरी ऑफ़ एस्थेटिक फ़ॉर्म', द हेरिटेज ऑफ काण्ट

कि ह्यूम ने मुझे रूढ़ि-ग्रस्त नींद से झकझोर कर जगा दिया, तो उसका अर्थ यही था कि ह्यूम के संशयवाद ने अनुभव की सीमा उद्‌घाटित कर दी। इसलिए काण्ट ने एक ओर जहाँ यह स्वीकार किया कि हमारा सारा ज्ञान अनुभव से आरंभ होता है, वहीं यह भी माना कि अनुभव किसी निर्णय की प्रामाणिकता का आश्वासन नहीं दे सकता। इस प्रकार जो सौन्दर्यशास्त्र नितान्त अनुभववादी हो, वह ज्ञानोपलब्धि की दृष्टि से अपूर्ण और सदोष प्रमाणित होता है।

जैसा कि काण्ट ने कहा है, सौन्दर्यानुभूति में कोई भी वस्तु सर्वथा व्यक्ति-रूप में गोचर होती है और व्यक्ति-रूप में किसी वस्तु को जानना उस वस्तु का सम्यक ज्ञान नही है। इस क्षति की पूर्ति करने के लिए काण्ट ने सौन्दर्यशास्त्र में 'रूपवाद' की प्रतिष्ठा की, जिसके अनुसार सौन्दर्यानुभूति के एक अन्य स्तर पर वस्तुओं के 'रूप' का भी ग्रहण होता है, जो शुद्ध बुद्धिपरक है। सौन्दर्यानुभूति के एक ओर कलावस्तु के ऐन्द्रिय सुख का आस्वाद होता है तो दूसरी ओर उसका रूपाकार बौद्धिक सुख भी प्रदान करता है। इस रूपात्मक बोध के कारण ही सौन्दर्यानुभूति ज्ञानपरक होती है।

सौन्दर्यानुभूति के संदर्भ में काण्ट ने 'अनुभव' और 'बुद्धि' के जिन दो तत्त्वों के पारस्परिक संबंध का निरूपण किया, उसके आधार पर आगे भी विचार चलता रहा। सौन्दर्यशास्त्र की थॉमिस्ट परंपरा में उपलब्ध सौन्दर्यानुभूति के स्वरूप पर विचार करते हुए रॉबर्ट लेच्नर ने मॉरिस दे वुल्फ़ और ज्याक मारितें के सिद्धान्तों के आधार पर सौन्दर्यानुभूति का जो विवेचन प्रस्तुत किया है, उसमें अनुभव और बुद्धि के संबंधों पर पर्याप्त प्रकाश डाला गया है।

यह तो निर्विवाद है कि सौन्दर्यानुभूति में ऐन्द्रिय बोध एवं बुद्धि दोनों का योग होता है, इसलिए विचारणीय समस्या केवल उन दोनों की विशिष्ट भूमिकाओं और पारस्परिक संबंधों की रहती है। जैसा कि रोजर कैल्वाय ने कहा है, कला के लिए कुछ-न-कुछ ऐन्द्रिय तत्त्व अपरिहार्य है, यहां तक कि सर्वाधिक बौद्धिक रूप में भी वह तत्त्व दृष्टिगत होता है। किन्तु सौन्दर्यानुभूति में ऐन्द्रियता का विकास हो जाता है और वह अपने व्यावहारिक उद्देश्य का अतिक्रमण करके अपेक्षाकृत एक अधिक विकसित अवस्था तक पहुँच जाता है। जैसा कि प्रसिद्ध कलाकार देलाक्रुआ ने कहा है : "सौन्दर्यानुभूति ऐन्द्रिय अनुभूति की ही विकसित अवस्था है, किन्तु ऐन्द्रियता तभी सौन्दर्यात्मक होती है, जब वह अपनी जैवी सीमाओ का अतिक्रमण करती है।"[१] अन्यत्र इस अतिक्रमण की व्याख्या करते हुए देलाक्रुआ ने अनुभूति के संदर्भ में यह कहा है कि : "सौन्दर्यानुभूति में जिन अनुभूतियों से आत्मा बद्ध होती है, उनसे आत्मा की मुक्ति नहीं होती बल्कि यह मुक्ति स्वयं अनुभूति की भूमि पर ही होती है।"[२] इस प्रकार सौन्दर्यानुभूति में आत्मा ऐन्द्रिय बोध अथवा अनुभूति की भूमि का सर्वथा परित्याग नहीं करती, बल्कि ऐन्द्रिय बोध एवं अनुभूति की भूमि पर रहते हुए ही उसकी स्थूल जैवी सीमाओं से मुक्त हो जाती है।

---

[१] Henri Delacroix : *Les Sentiments Esthetiques, et 1' Art*, p. 124.

[२] वही, पृ० २२५

अतिक्रमण की इस प्रक्रिया में ही ऐन्द्रिय बोध क्रमश अनुभूति की सीमा को स्पर्श करता हुआ बुद्धि की ओर अग्रसर होता है। सौन्दर्यानुभूति की इस संक्रमणकालीन अवस्था पर प्रकाश डालते हुए आथर हॉवेल[१] ने कहा है कि सौन्दर्य को ग्रहण करते समय जो ज्ञान होता है वह मस्तिष्क के समक्ष बिम्ब या विचार के रूप में अनावृत नहीं होता, बल्कि भावात्मक व्यापार के रूप में प्रकट होता है जिसे प्राय हम 'अनुभूत ज्ञान' कहते हैं। यह अनुभूत ज्ञान बौद्धिक दृष्टि से अनिश्चित और अपरिभाषित होता है। हॉवेल ने इस अनुभूत ज्ञान को तार्किक ज्ञान के पूर्व की अवस्था माना है। इस रूप में सौन्दर्यानुभूतिजन्य ज्ञान अक्षरश प्राग ज्ञान है जिसे कोई चाहे तो प्रातिभज्ञान भी कह सकता है। अन्य विचारकों ने इसी को 'सहानुभूति' या 'उपस्थिति' की संज्ञा दी है। वैलन्तीन फेल्डमैन[२] के अनुसार सहानुभूति ही ऐन्द्रिय बोध को सौन्दर्यानुभूति का मूल्य प्रदान करती है। इस प्रकार ऐन्द्रिय बोध सहानुभूति की भूमिका में प्रवेश करने पर ज्ञानमय हो जाता है। इस ज्ञान को 'उपस्थिति' (प्रेजेन्स) इसलिए कहते हैं कि साक्षात्कार की स्थिति में कलावस्तु उस प्रकार वस्तुरूप नहीं होती, जैसी कि बौद्धिक ज्ञान में होती है, इस प्रकार सौन्दर्यानुभूति में कलावस्तु वस्तुरूप न होकर 'उपस्थिति' मात्र होती है। किन्तु जैसा कि हॉवेल ने कहा है, यह उपस्थिति अभिज्ञान मात्र नहीं बल्कि ग्रहणशीलता है।[३]

इन समस्त विचारों का समाहार करते हुए लेचनर ने निष्कर्ष स्वरूप कहा है कि सौन्दर्यानुभूतिजन्य ज्ञान साधन या पद्धति की दृष्टि से ऐन्द्रिय ज्ञान के ढाँचे का अनुसरण करता है क्योंकि उस विधि से कलावस्तु इन्द्रियगोचर होती है, किन्तु उद्देश्य की दृष्टि से वह बौद्धिक ज्ञान के ढाँचे का अनुसरण करता है क्योंकि इस विधि से वह ऐन्द्रिय ज्ञान की क्षणभंगुर जैसी सीमाओं से मुक्त होकर निस्संगता की सृष्टि करता है।[४]

आधुनिक युग के सुप्रसिद्ध थामिस्ट विचारक ज्याक मारितें ने कदाचित सौन्दर्यानुभूति के बौद्धिक पक्ष के विरोध से खिन्न होकर बलपूर्वक कहा है कि सौन्दर्यानुभूति ज्ञानमूलक अनुभूति है। सौन्दर्य मूलत बुद्धि का विषय है क्योंकि सौन्दर्य को सम्पूर्ण अर्थ में जाननेवाली बुद्धि ही है और सत्ता की अनन्तता तक पहुँच केवल बुद्धि से ही सम्भव है।[५] सौन्दर्यानुभूति बुद्धि का विषय क्यों है? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए आगे वे कहते हैं कि कलाकृति में संयोजना अन्विति और पूर्णता होती है और बुद्धि को ये ही गुण प्रिय होते हैं। बुद्धि दमकती हुई स्पष्टता और विशद बोधगम्यता पसंद करती है। इसलिए कलाकृति में जहाँ ये गुण एकत्र विद्यमान मिलते हैं बुद्धि विशेष रूप से रमती है।[६]

---

१ द मीनिंग एण्ड पर्पज़ ऑफ आर्ट, पृ० ४२, ४८, ४५

२ J[illegible]

३ Pre[illegible]

४ Ae[illegible] lec[illegible] ... the sensible but as to its end, it follows the pattern of intellectual knowledge Its end is disinterested, it is freed from the transient and predicamental activity of sense knowledge *The Aesthetic Experience* p 26

५ Jacques Maritain *Art et Scholastique*, Paris, 1935, pp 36, 40

६ वही, पृ ३७

किन्तु जैसा कि एक अन्य विचारक ने इस मत को किंचित् संशोधित करते हुए कहा है : "सौन्दर्यानुभूति मे बुद्धि की भूमिका केवल संश्लेषणात्मक या संयोजनात्मक ही नही होती । बुद्धि बिखरे हुए ऐन्द्रिय संवेदनों को एक विशेष मात्रा में संयोजित करने का ही कार्य नही करती और न उन विविध तत्त्वों को मिलाकर एक नया रूप ही प्रस्तुत करती है, बल्कि वह संपूर्ण सामग्री को एक सर्वथा नए सौन्दर्य में रूपान्तरित कर देती है ।"[१]

इतना होते हुए भी सौन्दर्यानुभूति मे ऐन्द्रियता और बुद्धि के परस्पर सहयोग के प्रश्न पर प्रामाणिकता के साथ निश्चयपूर्वक कुछ कह सकना कठिन है । इस प्रश्न पर पर्याप्त विचार करने के बाद रॉबर्ट नेचनर ने अन्ततः स्वीकार किया है कि यह क्षेत्र मूलतः रहस्यपूर्ण है । यद्यपि ऐन्द्रियता और बुद्धि के सहयोग की पुष्टि दार्शनिक चिन्तन एवं हमारी चेतना के अनुभवसिद्ध तथ्य—दोनों ही करते है, फिर भी सहयोग की यह प्रक्रिया परीक्षण-सापेक्ष नही है ।[२]

सौन्दर्यानुभूति की ज्ञानमूलकता पर दूसरे कोण से भी विचार किया गया है । हेनरी डेविड एकेन[3] ने कलात्मक और ज्ञानात्मक तत्त्वों के पारस्परिक संबंध का विश्लेषण करते हुए सौन्दर्यशास्त्र मे प्रचलित उन वर्तमान सिद्धान्तो की कड़ी आलोचना की है, जो सौन्दर्यानुभूति को या तो नितान्त ऐन्द्रिय मानते हैं अथवा सर्वथा संवेगात्मक । इस समस्या के जटिल सूत्रो को एक-एक कर बिलगाते हुए उन्होने सर्वप्रथम इस तथ्य की ओर ध्यान आकृष्ट किया है कि सभी कलाओ की सौन्दर्यानुभूति की प्रकृति एक-सी ज्ञानपरक नही होती । यदि वास्तुकला, मूर्तिकला, चित्रकला जैसी दृश्य कलाओ का प्रभाव अपेक्षाकृत अधिक ऐन्द्रिय होता है तो संगीत जैसी अमूर्त किन्तु श्रव्य कला का प्रभाव अपेक्षाकृत अधिक भावात्मक होता है । इनके विपरीत शब्दो के माध्यम से व्यक्त होनेवाली साहित्यिक कृतियो के ग्रहण मे ज्ञान का अंश अधिक होता है । इसलिए सौन्दर्यानुभूति मे ज्ञान-अश पर विचार करते हुए कलागत माध्यमो के भेद को ध्यान मे रखना अत्यत आवश्यक है । इस दृष्टि से निःसंकोच यह कहा जा सकता है कि सौन्दर्यानुभूति मे ज्ञान-अश का अभाव देखनेवाले विचारकों की दृष्टि मुख्यतः दृश्य कलाओ पर स्थिर रही है ।

सामान्यतः एकेन का भी यही मत है कि सौन्दर्यानुभूति मूलतः भोगपरक ग्रहण की पद्धति का अनुसरण करती है और कलाओ के ग्रहण मे भोगवृत्ति प्रधान होती है, किन्तु यह भोगव्यापार भी बुद्धि के बिना भलीभाँति संपन्न नही होता । कलाओं को पूरी तरह ग्रहण करने के लिए ग्राहक को जिस कल्पना-शक्ति की अपेक्षा होती है, वह भी बुद्धि का ही व्यापार है । इसी प्रकार सौन्दर्यानुभूति का स्वरूप बतलाने के लिए प्रायः जिस अनुचिन्तन या 'कंटेम्प्लेशन' शब्द का प्रयोग किया जाता है, वह भी ऐन्द्रिय बोध तथा संवेग की अपेक्षा बुद्धि के अधिक निकट है । जिन कलाओ मे अर्थ-बोध की समस्या न हो, उनके लिए

---

१ Pradines, Maurice : *Traite de Pschologic Generale*, Paris, 1946, II, p. 35.

२ द एस्थेटिक एक्सपीरिएन्स, पृ० १०१

3 'सम नोट्स कन्सरनिंग द एस्थेटिक एण्ड कॉग्निटिव', द जर्नल ऑफ़ एस्थेटिक एण्ड आर्ट क्रिटिसिज्म, जिल्द १३, नं० ३, १९५५

बौद्धिक आयास भले ही कम करना पड़े किन्तु काव्य उपन्यास नाटक आदि का सम्यक् ग्रहण बौद्धिक प्रयास के बिना असंभव है। इसलिए किसी साहित्यिक कृति में ज्ञान-बोधक अर्थ की उपस्थिति यही नहीं कि आस्वाद में बाधक नहीं होती बल्कि सचमुच साधक होती है और एक प्रकार से प्रथम सोपान भी। यदि हम शब्द की प्रधान शक्ति भावोद्रेक मानते हैं तो यह व्यापार शब्द के नाद-तत्त्व से उतना संभव नहीं होता जितना उसके अर्थ-तत्त्व से और कहना न होगा कि यह अर्थ-तत्त्व ज्ञान सापेक्ष है।

सौन्दर्यानुभूति में भावात्मक और ज्ञानात्मक तत्त्वों के संबंध पर प्रकाश डालते हुए एकेन ने आगे चलकर सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह कही है कि ज्ञान और भाव में कारण कार्य संबंध नहीं होता बल्कि कलात्मक दृष्टि से यह संबंध बहुत-कुछ वैसा ही है जैसा संबंध एक पक्ष का दूसरे पक्ष से एक भाग का दूसरे भाग से अथवा एक भाग का संपूर्ण से होता है। इसलिए सौन्दर्यानुभूति को ज्ञानोपरान्त उत्पन्न होनेवाला भाव समझना भ्रम होगा।

अन्त में सौन्दर्यानुभूति की संकर प्रकृति पर बल देते हुए एकेन ने कहा है कि इसका क्षेत्र इतना व्यापक है कि इसके अंतर्गत सतह के ऐन्द्रिय बोध और प्रतीकों के भावात्मक अर्थ ही नहीं बल्कि वह संपूर्ण शृंखला आ जाती है जिसे हम अस्पष्ट रूप में ज्ञानबोधक अर्थ (काग्निटिव मीनिंग) के नाम से अभिहित करते हैं। यह केवल ऐन्द्रिय बोध या उसमें निहित रुचि नहीं है यह संवेग अथवा तज्जनित आह्लाद भी नहीं है। न तो यह भावात्मक अर्थ की जाति का है न चित्रात्मक और प्रतीकात्मक ही। सौन्दर्यानुभूति के अंतर्गत किसी-न किसी रूप में ये सभी तत्त्व उपलब्ध होते हैं। इनमें से किसी एक को भी उसका पर्याय नहीं माना जा सकता।

इन समस्त युक्तियों के रहते भी सौन्दर्यानुभूति को ज्ञानमय मानने के मार्ग में सबसे बड़ी चुनौती तार्किक विधेयवाद अथवा विश्लेषणवाद ने प्रस्तुत की सौन्दर्यशास्त्र एवं साहित्यशास्त्र के क्षेत्र में जिसके प्रमुख प्रतिनिधि आइ० ए० रिचर्ड्स हैं। उन्होंने अर्थ का अर्थ (१९२३) नामक पुस्तक में अर्थ के 'प्रतीकात्मक' और 'भावात्मक' दो भेद करते हुए प्रतिपादित किया कि विज्ञान में भाषा का 'प्रतीकात्मक' प्रयोग होता है तो कविता में भावात्मक। इस मान्यता के अनुसार विज्ञान में प्रयुक्त भाषा परीक्षण-सापेक्ष निश्चित तथ्यों की ओर संकेत करती है जबकि कविता की भाषा से किसी निश्चित तथ्य के स्थान पर ऐसा भावात्मक वक्तव्य होता है जिसे न सत्य प्रमाणित किया जा सकता है न असत्य। आपाततः अहानिकर और सामान्य प्रतीत होनेवाली यह मान्यता एक तरह से काव्य को निरर्थक और भावोच्छ्वास मात्र सिद्ध करके मूल्यहीन बना देती है। यदि इस मान्यता को स्वीकार कर लें तो ज्ञान का एकमात्र अधिकार विज्ञान के पास रह जाता है और जिस काव्य को अनादिकाल से ज्ञानोपलब्धि का साधन माना जाता रहा है वह अपने इस परंपरागत गौरव से वंचित हो जाता है। इतना ही नहीं जब भाषा के माध्यम को स्वीकार करनेवाले काव्य की यह स्थिति है तो नाद निर्भर संगीत तथा रंग रेखा निर्भर चित्र आदि अन्य ललित कलाएँ तो ज्ञान के लिए और भी अक्षम प्रमाणित हो जाती हैं।

विडम्बना यह है कि इस चुनौती का उत्तर देने के लिए कुछ साहित्य-समर्थक विचारको ने यह मान्यता प्रस्तुत की कि साहित्यिक ज्ञान वैज्ञानिक ज्ञान से विशिष्ट एवं भिन्न जातीय होता है। इस प्रयास में उन्होंने साहित्यिक ज्ञान का जो स्वरूप प्रस्तुत किया वह विज्ञान के अधिकार-क्षेत्र से अवशिष्ट एक सीमित क्षेत्र में ही आत्मरक्षा के लिए प्रयत्नशील प्रतीत होता है, जिसे डॉ० रिचर्ड्स प्रभृति विचारक अत्यंत सरलता से अज्ञान घोषित कर सकते हैं। अंग्रेज़ी के प्रसिद्ध कवि और आलोचक **सेसिल डे लीविस** की एक दूसरी दृष्टि से अत्यंत प्रतिभापूर्ण पुस्तक 'द पोयट्स वे ऑफ़ नॉलिज (कैम्ब्रिज, १९५७) इसी प्रकार का हताश प्रयास है। काव्य के ज्ञान-विषयक दावे को प्रमाणित करना असभव मानकर डे लेविस ने अन्ततः इतने से ही संतोष कर लेना उचित समझा कि काव्य विचार-विनिमय एवं संचार के सबसे महत्त्वपूर्ण माध्यम—भाषा के परिमार्जन और परिवर्धन का दुर्लभ कार्य करके मानव-समाज के लिए अपनी अपरिहार्यता प्रमाणित करता है, जो कि विज्ञान के लिए दुष्कर है।

किन्तु जैसा कि रॉबर्ट जार्डन[1] ने इस मान्यता की दुर्बलता पर प्रकाश डालते हुए कहा है, यह मत सर्वथा आत्मरक्षात्मक है और विज्ञान द्वारा विजित ज्ञान के समग्र क्षेत्रों से अवशिष्ट क्षेत्र में शरण ढूंढने का प्रयास-मात्र है। जब डे लेविस यह कहते है कि 'कविता मन की एक विलक्षण शक्ति को संप्रेषित करती है' तो वे प्रकारान्तर से इस विधेयवादी आरोप की ही पुष्टि करते है कि अन्य सभी भावात्मक वक्तव्यों की तरह कविता भी केवल अनुभूतियों की अभिव्यक्ति करती है, जो न सत्य है न असत्य। इस प्रकार वे अनजाने ही परोक्ष रूप से यह स्वीकार कर लेते हैं कि कवि के पास ज्ञान का कोई साधन नही है और कविता को पढ़कर कोई ज्ञान प्राप्त करने की आशा करे तो यह उसका भ्रम होगा।

इस आत्मरक्षात्मक युक्ति की अपर्याप्तता से भली-भांति अभिज्ञ होने के कारण, रॉबर्ट जार्डन ने अपनी ओर से यह मान्यता प्रस्तुत की है कि कविता 'देखने की क्षमता' का पुनरुद्धार करती है। इस दृष्टि से कविता का सबसे समर्थ अस्त्र है—'रूपकात्मक अन्तर्दृष्टि' (एनालॉजिकल विजन)। विज्ञान जहाँ संपूर्ण सत्य को छोटे-छोटे तथ्यों और अमूर्त प्रतीकों में निःशेष करके 'निःशेषवाद' (रिडक्शनिज्म) की प्रवृत्ति को प्रोत्साहित कर रहा है, वहाँ सजीव व्यक्ति-इकाई के अस्तित्व एवं गौरव की रक्षा काव्य से ही संभव है। रॉबर्ट जार्डन ने यद्यपि ये बाते काव्य के लिए कही है, किन्तु प्रकारान्तर से ये सभी विशेषताएँ कला-मात्र के लिए लागू होती है। इस विषय में संतुलन की आवश्यकता पर बल देते हुए उन्होंने साथ-ही-साथ इस खतरे से भी सावधान किया है कि विज्ञान की इस चुनौती के सम्मुख कहीं फिर से 'कला के लिए कला' की प्रवृत्ति न प्रबल हो या फिर कला को सभी कुछ का स्थानापन्न मान लेने का आग्रह जोर न पकड़ ले।

इस दृष्टि से प्रस्तुत विषय पर संभवतः सबसे संतुलित मत दर्शनशास्त्र के गंभीर विद्वान **रेफ़ेल डेमास**[2] ने व्यक्त किया है। उनके अनुसार ज्ञान के तीन साधन हैं : विज्ञान,

---

[1] **'पोयट्री एण्ड फ़िलासफ़ी : टू मोड्स ऑफ़ रिविलेशन' (द सेवानी रिव्यू, जिल्द ६८, अंक १, १९५९)**

[2] **द स्पेक्ट्रम ऑफ़ नॉलिज (द फ़िलॉसफ़िकल रिव्यू, नं० ३, १९४७)**

दर्शन और काव्य। स्पष्टता के लिए वैज्ञानिक विचार है तो जटिलता के लिए दार्शनिक चिन्तन और मूर्तिमत्ता के लिए कला। कला में मूर्तिमत्ता इसलिए होती है कि वह व्यक्ति और अद्वितीय को पकड़ने में सफल होती है। डेमास के अनुसार कला का साधन अनुभव है और यदि 'विशेष' को उसकी संपूर्ण जीवनता और मूर्तिमत्ता के साथ ग्रहण करना ही अनुभव है, तो सच्चा अनुभव कला ही है। इस दृष्टि से संवेदन अनुभव नहीं है। विचार और संवेदन दोनों ही में अमूर्तता होती है, कला ही है जो वस्तु को उसके रूप के साथ पकड़ने में समर्थ होती है। प्रश्न यह है कि क्या अनुभव का ज्ञान माना जा सकता है? क्या अनुभव ज्ञान की सामग्री मात्र नहीं है? ज्ञान की उपलब्धि क्या तभी नहीं होती, जब कुछ अर्थ बोध होता है? यदि ऐसा है तो क्या कला को ज्ञान की संज्ञा देना गलत नहीं है? उत्तर इस बात पर निर्भर है कि विश्लेषण के लिए हम अनुभव और कला के किस रूपाकार को स्वीकार करते हैं? यदि अनुभव का अर्थ इन्द्रिय-संवेदनों की मिली-जुली गूंज है अथवा बर्गसाँ का प्रातिभ ज्ञान है तो अनुभव निश्चय ही ज्ञान नहीं है। किन्तु कला का विषय, वस्तु और रूप की अन्विति है। कला निश्चित रूप से बर्गसाँ या किसी और का रहस्यवाद नहीं है, कला मूक न होकर मुखर है। ज्ञान की हमारी कसौटी है—विषय-वस्तु के साथ बोध का संयोग—प्रत्युत्पन्न प्रत्यक्ष के साथ विचार का योग और कला इस कसौटी पर खरी उतरती है। कला में अर्थ का होना साहित्य, मूर्तिकला और चित्रकला और कुछ कम संगीत से प्रमाणित है। इस दृष्टि से यदि कला विज्ञान एवं दर्शन से भिन्न है तो इसलिए नहीं कि विज्ञान एवं दर्शन की तुलना में कला में अर्थ का अभाव होता है, वस्तुस्थिति यह है कि अर्थ कला में सौन्दर्य के धरातल में अन्तर्निहित होता है, जबकि विज्ञान और दर्शन में वह प्रस्तुत विचारों से अपहृत होता है। इस प्रकार कलात्मक ज्ञान की सापेक्ष विशिष्टता का निरूपण करने के बाद डेमास ने ज्ञान के एक 'स्पेक्ट्रम' का उल्लेख किया है, जिसमें विज्ञान, दर्शन और कला तीनों अपनी अपनी विशिष्ट वर्णच्छाया के साथ एकत्र विद्यमान रहते हैं। निष्कर्ष यह कि पाश्चात्य चिंतन के संपूर्ण वाद विवाद के बीच सौन्दर्यानुभूति की ज्ञानमयता किसी-न किसी प्रकार सर्वदा विचारणीय रही है—कभी पूर्व-पक्ष के रूप में तो कभी उत्तर-पक्ष के रूप में। उत्तर बहुत-कुछ इस बात पर निर्भर है कि कोई विचारक ज्ञान का क्या अर्थ लेता है?

काव्यानुभूति की ज्ञानरूपता

भारतीय काव्यशास्त्र में जिस प्रकार रसानुभूति की आनन्दरूपता प्राय निर्विवाद है, उसी प्रकार ज्ञानरूपता भी क्योंकि रस सिद्धान्त जिस शैवाद्वैत दर्शन पर प्रतिष्ठित था, उसमें आनन्द और ज्ञान अविरोधी हैं। परमेश्वर की पाँच शक्तियाँ मानी गई हैं चित् शक्ति, आनन्द शक्ति, इच्छा शक्ति, ज्ञान शक्ति और क्रिया शक्ति।[1] इस प्रकार आनन्द और ज्ञान एक ही मूल तत्त्व की परस्पर-सम्बद्ध शक्तियाँ हैं। आनन्द प्रकाश-रूप है तो ज्ञान विमर्श रूप। जब रस को प्रकाश विमर्शमय कहा जाता है तो प्रकारान्तर से उसे आनन्द-

---

[1] परमेश्वर पञ्चभि शक्तिनिर्भर। तस्य च स्वातन्त्र्यम् आनन्दशक्ति। तच्चमत्कार इच्छाशक्ति। प्रकाशरूपता चिच्छक्ति। आमर्शात्मकता ज्ञान शक्ति। सर्वाकारयोगित्व क्रियाशक्ति। तन्त्रसार, आह्निक १, पृ० ६

ज्ञान-रूप स्वीकार किया जाता है। इसीलिए रस को आनन्द-रूप माननेवाले अभिनवगुप्त 'रसना च बोधरूपैव'[1] भी कहते है।

शैवाद्वैत परंपरा के अतिरिक्त शांकर अद्वैत को माननेवाले आलंकारिक भी रस को आनन्द-ज्ञानरूप मानते थे, क्योंकि शंकराचार्य का ब्रह्म भी ज्ञानमय होने के साथ ही आनन्द-मय था। साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ के अनुसार : "जब ज्ञान के साथ रत्यादि का तादात्म्य हो जाता है तो रस होता है और इस प्रकार वे रत्यादि भी स्वप्रकाश एवं अखंड हो जाते है।"[2] विश्वनाथ ने यहाँ आनन्द के स्थान पर 'स्वप्रकाश' अर्थात 'प्रकाश' का नाम लिया है जो पूर्ववर्ती प्रसंग से आनन्द का ही वाचक है।

शांकर अद्वैत को मानने वाले दूसरे आचार्य पंडितराज जगन्नाथ ने रमणीयता की व्याख्या करते हुए स्पष्ट शब्दों में एक ही साथ आह्लाद और ज्ञानगोचरता का उल्लेख किया है। उनका कहना है कि रमणीयता लोकोत्तर-आह्लादजनक ज्ञान का विषय है।[3] अर्थात रमणीय वस्तु ज्ञान का विषय बनकर आह्लाद की अनुभूति प्रदान करती है। इस प्रकार पंडितराज ने आह्लाद के साथ ही ज्ञान का समन्वय उपस्थित किया है। इस समन्वय में रसानुभूति के दोनों अवयवों के पारस्परिक संबंध का भी स्पष्ट निरूपण मिलता है। उनकी दृष्टि में रस के ज्ञानात्मक और आनन्दात्मक दोनो पक्षों का भेद स्पष्ट था। जब वे रमणीयता की गोचरता का निरूपण करते हैं तो 'ज्ञान' शब्द का प्रयोग करते है, किन्तु जब वे उस ज्ञान से उत्पन्न होनेवाले आह्लाद का विश्लेषण करते है तो 'भावना' शब्द का उल्लेख करते हैं। उनके अनुसार आह्लाद का कारण 'भावना-विशेष' है जो 'पुनः पुनः अनु-सन्धानात्मा' है।[4] यह भावना भाव-रूप है या बोध-रूप, इसकी व्याख्या उन्होंने नहीं की है, किन्तु 'भावना-विशेष' शब्द के प्रयोग से ऐसा प्रतीत होता है कि पंडितराज भावना के सामान्य और विशेष दो रूप मानते थे। विशेष पक्ष अनुसन्धानात्मक कहा गया है इसलिए वह स्वभावतः बोध-रूप प्रतीत होता है। इसके विपरीत भावना का सामान्य रूप भाव-रूप माना जा सकता है। संभवतः भावना के विशेष पक्ष पर दृष्टि रखने के कारण ही नागेश ने भावना और ज्ञान की एकाकारिता प्रतिपादित करते हुए कहा है कि ज्ञान भावना-रूप ही है।[5] इस प्रकार पंडितराज के विवेचन से स्पष्ट है कि वे रसानुभूति में आह्लाद के साथ ही ज्ञान का तत्त्व भी स्वीकार करते थे।

रस की यह आनन्द-ज्ञान-समन्वित परंपरा भारत में इतनी बद्धमूल है कि आधुनिक युग के रसवादी विचारकों ने भी बिना हिचक के इस मान्यता में अपनी आस्था व्यक्त की है। जयशंकर प्रसाद ने स्पष्ट शब्दों में लिखा है कि : "कुछ लोग कह सकते है कि कवि से

---

[1] अभिनवभारती भाग १, पृ० २८५

[2] रत्यादिर्ज्ञानतादात्म्यादेव यस्माद्रसो भवेत्।
ततोऽस्य स्वप्रकाशत्वमखंडत्वं च सिध्यति ॥ साहित्यदर्पण, पृ० ६१

[3] रमणीयता च लोकोत्तराह्लादजनकज्ञानगोचरता। रसगंगाधर, पृ० १०

[4] कारणं च तदवच्छिन्ने भावनाविशेषः पुनः पुनरनुसन्धानात्मा। वही, पृ० ११

[5] ज्ञानं च भावना-रूपमेव नान्यदित्याह कारणं चेति। गुरुमर्मप्रकाश, रसगंगाधर, पृ० ४

हम सत्य की आशा न करके केवल सहृदयता ही पा सकते हैं, किन्तु सत्य केवल १+१=२ म ही नही सीमित है। अमूर्त को प्राय बढ़ाकर देखने मे सत् सघु कर दिया गया है किन्तु सत्य विराट है। उस सहृदयता द्वारा ही हम सवत्र ओतप्रोत देख सकते हैं। उस सत्य के दो लक्षण बताए गए हैं—श्रेय और प्रेय। इसीलिए सत्य की अभिव्यक्ति हमारे वाङ्मय म दो प्रकार से मानी गई है—काव्य और शास्त्र। शास्त्र म श्रेय का आज्ञात्मक ऐहिक और आमुष्मिक विवेचन होता है और काव्य म श्रेय और प्रेय दोनो का सामजस्य होता है। शास्त्र मानव समाज म व्यवहृत सिद्धान्तो के सकलन हैं। उपयोगिता उनकी सीमा है। काव्य या साहित्य आत्मा की अनुभूतियो का नित्य नया-नया रहस्य खोलने मे प्रयत्नशील है, क्योंकि आत्मा को मनोमय वाङ्मय और प्राणमय माना गया है। 'अयमात्मा वाङ्मय मनोमय प्राणमय' (बृहदारण्यक)। उपविज्ञान प्राण विज्ञात वाणी और विजिज्ञास्य मन है।

इसीलिए कवित्व को आत्मा की अनुभूति कहते हैं। मनन शक्ति और मनन से उत्पन्न हुई अथवा ग्रहण की गई निवचन करने की वाक शक्ति और उनके सामजस्य को स्थिर करनेवाली सजीवना तथा अविच्छिन्न प्राणशक्ति य तीनो आत्मा की मौलिक क्रियाएँ हैं।[1] इसके बाद प्रसाद ने मन क सकल्पात्मक और विकल्पात्मक दो पक्षो मे से शास्त्र को विकल्पात्मक ज्ञान स सबद्ध करते हुए काव्य को आत्मा की सकल्पात्मक अनुभूति' के रूप म परिभाषित किया है किन्तु उसके साथ ही यह भी कहा है कि 'वह एक श्रेयमयी प्रेय रचनात्मक ज्ञानधारा है।[2] प्रसाद के विवेचन से स्पष्ट है कि वे काव्य को अतत एक रचनात्मक ज्ञानधारा मानते थ जिसम श्रेय और प्रेय का अनूठा समन्वय सभव है। स्पष्ट ही श्रेय का सबध ज्ञान स है तो प्रेय का आनन्द स।

इस पृष्ठभूमि म पाश्चात्य सौन्दर्यशास्त्र की परपरा म सौन्दर्यानुभूति की ज्ञानरूपता का प्रश्न अत्यत विडम्बनापूर्ण दिखाई पडता है। वहाँ आनन्दरूपता से अधिक विवादास्पद ज्ञानरूपता है। ऐसा प्रतीत होता है कि पाश्चात्य सौन्दर्यशास्त्र प्लेटो की प्रेत-छाया स कभी पूर्णत मुक्त हो ही नही सका। प्लेटो न आनन्द और ज्ञान के बीच एक ऐसी दीवार खड़ी की जिसके कारण आनन्दप्रद वस्तु म ज्ञान प्राप्ति असभव-सी हो गई। वैसे, पाश्चात्य कलाकार एव साहित्यकार निरतर इस बात पर बल देते रहे कि वे अपनी कृतियो के द्वारा आनन्द क साथ ही ज्ञान भी प्रदान करते हैं। शेली ने स्पष्ट कहा है कि "कविता आनन्द से सतत सबद्ध है इसके सपर्क म जो भी चेतन व्यक्ति आते हैं, वे इससे आनन्द के साथ ज्ञान प्राप्त करने के लिए अपने-आपको उद्घाटित कर देते हैं।[3] किन्तु सौन्दर्यशास्त्रियो को कवियो और कलाकारो का यह दावा पूर्णत मान्य न हो सका। शेली के जीवन काल मे ही थॉमस लव पीकाक ने कविता के बचकानेपन का मजाक उडाते हुए कहा कि आधुनिक वैज्ञानिक युग म जब वैज्ञानिक और दार्शनिक वास्तविकता का अनुसधान अधिक व्यवस्थित विधि

---

[1] काव्य और कला तथा अन्य निबध, पृ० ३७

[2] वही, पृ० ३७

[3] Poetry is ever accompanied with pleasure, all spirits on which it falls open themselves to receive the wisdom which is mingled with its delight *In Defence of Poetry*
Quoted by David Daiches in *Critical Approaches to Literature*, p 118

से कर सकते है तो कवि अतीत युग का प्राणी प्रतीत होता है। पीकॉक के अनुसार आज के सभ्य युग में कवि 'अर्ध-वर्बर' है। पीकॉक के कथन को एक काव्य-विरोधी का प्रलाप कहकर टाला भी जा सकता था किन्तु 'विज्ञान और कविता' में आइ० ए० रिचर्ड्स द्वारा पीकॉक का सहमतिपरक उद्धरण देखकर उक्त आरोप की गंभीरता का अहसास होता है।[१]

शेली ने कविता की आनन्द-ज्ञानरूपता पर वल दिया था तो अनुमानतः उसके सामने पीकॉक के आरोपों का उत्तर देने का संकल्प भी था। और यदि यह सच न भी हो तो इतना निश्चित है कि अन्य रोमांटिक कवियों की तरह शेली भी रेनेसाँ अथवा पुनर्जागरण की चेतना के प्रभाव में काव्य और कला की ज्ञानरूपता में अखड विश्वास करते थे और उनकी दृष्टि में बुद्धि और हृदय के बीच कोई दुर्लंघ्य खाई न थी। संभवतः इसीलिए उनके सम्मुख ज्ञान और आनन्द में भी कोई विरोध न था। किन्तु जैसा कि टी० एस० इलियट ने लिखा है, आधुनिक युग के आरंभ के साथ, यूरोपीय मस्तिष्क के अन्तर्गत 'भाव-बोध संबंधी विच्छिन्नता' (डिस्सोसिएशन ऑफ़ सेन्सिविलिटी) की दुर्घटना घटित हो गई, जिसे दूसरे शब्दों में हृदय और बुद्धि का विलगाव कह सकते है। इसके लिए विज्ञान बहुत कुछ उत्तरदायी है। आधुनिक विज्ञान भौतिक प्रगति का अग्रदूत होकर ही नही आया, वल्कि ज्ञान के क्षेत्र में भी वह एकाधिकार का दावा लेकर सामने आया और एक के वाद एक चमत्कारपूर्ण खोज के द्वारा उसने धर्म एवं दर्शन के साथ ही काव्य-कला के हाथ से ज्ञान-विषयक अधिकार छीन लिए। क्रमशः विज्ञान सत्यान्वेषण की एकमात्र पद्धति और ज्ञान का सर्वशक्तिशाली प्रतिमान वन गया। दर्शन की एक शाखा के रूप मे विकसित होनेवाले सौन्दर्यशास्त्र के अध्येता जहाँ पहले भी दर्शन के सम्मुख काव्य में ज्ञान-तत्त्व को कुछ कृपापूर्वक ही स्वीकार करने की उदारता दिखलाते थे, वे विज्ञान के वढ़ते हुए प्रभाव को देखकर काव्य एवं कला की ज्ञानरूपता के विषय में संदेह से भर उठे। कहना न होगा कि आइ० ए० रिचर्ड्स इसी वातावरण की उपज है। इसलिए यदि उन्होंने शेली के विरुद्ध थॉमस लव पीकॉक की परंपरा को आगे वढ़ाते हुए ज्ञानोपलब्धि के लिए कविता को असमर्थ माना तो इसमें आश्चर्य की कोई वात नही। निस्संदेह रिचर्ड्स ने काव्य की ज्ञानरूपता का विरोध पीकॉक के समान सीधी-सपाट लट्ठमार भाषा में नही किया, फिर भी उनकी सूक्ष्मतापूर्वक बुनी हुई तार्किक युक्तियाँ इसी निष्कर्ष की ओर ले जाती है कि अधिक-से-अधिक कविता के द्वारा 'सवेगों का संतुलन' अथवा 'वृत्तियों का सामंजस्य' प्राप्त होता है, जो एक प्रकार से विश्रान्तिपरक तथा सुखात्मक होता है। इससे आगे बढ़कर कविता से किसी महत्त्वपूर्ण विचार, ज्ञान या विश्वास की आशा करना व्यर्थ है। जैसा कि

---

[१] The poet lives in the days that are past......In whatever degree poetry is cultivated, it must necessarily be to the neglect of some branch of useful study; and it is a lamentable thing to see minds, capable of better things, running to seed in the specious indolence of these empty aimless mockeries of intellectual exertion. Poetry was the mental rattle that awakened the attention of intellect in the infancy of civil society; but for the maturity of mind to make a serious business of the play things of its childhood, is as absurd as for a grown man to rub his gums with coal, and cry to be charmed asleep by the jungle of silver bell.
Quoted by David Daiches in *Critical Approaches to Literature*, p. 130

पहले कहा जा चुका है आइ० ए० रिचर्ड्स की इस स्थापना के विरुद्ध तत्काल ही तीव्र प्रतिक्रियाएँ व्यक्त की गईं। रिचर्ड्स के प्रशंसक और बहुत-कुछ समर्थक टी० एस० इलियट ने अपने खास अन्दाज़ में शिष्टतावश केवल इतना कहा कि रिचर्ड्स का कथन मेरी समझ से परे है।[1] किन्तु इसके साथ ही इलियट ने अपनी मान्यता स्पष्ट करते हुए कह दिया कि दान्ते के दार्शनिक और धार्मिक विश्वासों की उपेक्षा नहीं की जा सकती।[2] यही नहीं बल्कि किसी कवि के विश्वासों और विचारों में भाग लेने पर उसकी कविता में अधिक आनन्द मिलता है।[3] इलियट के ये शब्द इस बात के सूचक हैं कि वे काव्यानुभूति में आनन्द के साथ ही ज्ञान के तत्त्व को स्वीकार करने के साथ ही आनन्द और ज्ञान के परस्परावलंबन को भी मानते हैं जिसके अनुसार काव्य से प्राप्त होनेवाले आनन्द की मात्रा काव्य से निस्सृत होनेवाले ज्ञान पर निर्भर है।

एक अन्य आधुनिक कवि सेसिल ड लीविस ने रिचर्ड्स की चुनौती का उत्तर स्वयं वैज्ञानिक आधार पर ही देने का प्रयास करते हुए यह प्रमाणित किया कि सत्यान्वेषण के प्रयत्न में कवि की सृजन प्रक्रिया वैज्ञानिक की प्रयोग-पद्धति के पर्याप्त समान है इसलिए कविता भी विज्ञान के समान ही ज्ञान की प्राप्ति में समर्थ है।[4] परन्तु इस युक्ति के साथ ही ड लीविस ने यह भी कहा कि कवि का ज्ञान वैज्ञानिक के ज्ञान से भिन्न एवं विशिष्ट होता है। इधर पाश्चात्य चिन्तन में इस मत के समर्थक विचारकों की संख्या बढ़ रही है जो काव्य से ज्ञानोपलब्धि को संभव मानते हुए काव्यजन्य ज्ञान की विशिष्टता को रेखांकित करते हैं। उदाहरणार्थ सूज़न लैंगर भी काव्यगत ज्ञान की विशिष्टता की ही पोषक हैं।

इस प्रकार जैसा कि आस्टिन वैरेन का कहना है सम्पूर्ण विवाद वहीं कुछ अर्थ सामासिकता प्रतीत होता है ज्ञान (नालिज) सत्य (ट्रुथ) बोध (कॉग्निशन), बुद्धिमत्ता (विज़डम) आदि से हमारा क्या अभिप्राय है? यदि सम्पूर्ण सत्य तात्विक है तो कला सत्य का रूप नहीं हो सकती है। यदि विधेयवादी परिभाषाएँ स्वीकार कर ली जाएँ और सत्य को परीक्षण योग्य मान लिया जाए तो भी कला सत्य का प्रयोग-सापेक्ष रूप नहीं हो सकती। दूसरा यही विकल्प संभव है कि सत्य को बहुमुखी या द्विमुखी मान लिया जाए और इसके साथ ही यह भी स्वीकार कर लिया जाए कि सत्य को जानने की अनेक विधियाँ हो सकती हैं जिनमें से एक कला भी है।[5] स्पष्ट ही यह कथन समझौतावादी प्रवृत्ति का सूचक है जिसमें विज्ञान और कला के बीच संधिपत्र प्रस्तुत करने का प्रयास दिखाई पड़ता है। विज्ञान के आतंक की छाया में पाश्चात्य चिन्तन में इससे अधिक संतुलन की आशा कठिन है। स्पष्ट है कि वर्तमान पाश्चात्य चिंतन प्रणाली के अंतर्गत कला या कविता की आनन्दरूपता की निःसंकोच स्वीकृति असंभव है। प्राचीन भारतीय काव्यशास्त्र के एतद्विषयक संतुलित निष्कर्ष को देखते हुए निश्चय ही पाश्चात्य चिन्तन द्विधाग्रस्त प्रतीत होता है।

---

[1] सिलेक्टेड एसेज़, पृ० २३०
[2] वही, पृ० २१८
[3] वही, पृ० २३१
[4] द पोएटिक इमेज, पृ० ५६ [?]
[5] थियरी आफ़ लिटरेचर, पृ० २५

५

काव्यानुभूति की प्रक्रिया

साधारणीकरण

साधारणीकरण का संबंध काव्य-संप्रेषण की प्रक्रिया से है। काव्य-निबद्ध विशिष्ट अनुभूति जिस प्रक्रिया के द्वारा सहृदय-समाज की अनुभूति हो जाती है, उसी को संस्कृत काव्यशास्त्र में साधारणीकरण की अभिधा प्रदान की गई है। भावो की सामान्य रूप में प्रस्तुति का संकेत तो भरत ने अपने 'नाट्यशास्त्र' में भी किया, किन्तु सिद्धान्त-रूप में इसका स्पष्ट व्याख्यान सर्वप्रथम भट्टनायक के द्वारा किया गया। इस संबंध मे हमारे सामने निम्न-लिखित प्रश्न उपस्थित होते है :

१. साधारणीकरण किसका होता है ?

२. इस व्यापार की प्रक्रिया एवं स्वरूप क्या है ?

३. रसास्वाद में उक्त व्यापार का महत्त्व एवं स्थिति क्या है ?

भट्टनायक के मतानुसार :

(क) साधारणीकरण काव्य के विभावादि का होता है;[1]

(ख) यह भावकत्व व्यापार से अभिन्न अथवा उसका प्राण है तथा भावकत्व व्यापार द्वारा भाव्यमान स्थायी भाव ही रस-रूप मे परिणत हो जाता है;[2]

(ग) भावकत्व व्यापार से अभिन्न होने का अभिप्राय है कि यह रसास्वाद से पूर्व की प्रक्रिया है, जो रसावयवो को अपने-अपने वैशिष्ट्य एवं वस्तुरूप से मुक्त कर साधारण एवं अनुभूति-रूप मे आस्वाद्य बना देती है।[3]

अभिनवगुप्त ने इस प्रक्रिया का और स्पष्ट शब्दों में व्याख्यान किया और जिसे भट्टनायक ने भावकत्व कहा था, उसे उन्होंने वाक्यार्थबोध के अनंतर मानसी साक्षात्कारात्मिका प्रतीति कहा, जिसके द्वारा देशकालादि-विभाग नहीं रहता।[4] उदाहरण द्वारा अपने कथन को और स्पष्ट करते हुए अभिनवगुप्त ने कहा कि विभावादि की देशकाल-संबंधों से मुक्ति के उपरान्त, निर्विघ्न प्रतीति के रूप में ग्राह्य स्थायी भाव ही रस बन जाता है। अर्थात 'मैं

---

[1] विभावादि साधारणीकरणात्मना
[2] भावकत्वव्यापारेण भाव्यमानो रसः
[3] भोगेन परं भुज्यत इति
} अभिनवभारती, पृ० २७७

[4] वाक्यार्थप्रतिपत्तेरनन्तरं मानसी साक्षात्कारात्मिकाऽपहसिततत्तद्वाक्योपात्तकालादिविभागा तावत्प्रतीतिरुपजायते। वही, पृ० २७९

भीत हूँ यह भीत है अथवा शत्रु मित्र या मध्यस्थ भीत है इत्यादि सुख-दुःखकारी अन्य प्रत्ययो को नियमत उत्पन्न करने के कारण विघ्नबहुल प्रतीतियो से विलक्षण निर्विघ्न प्रतीति रूप से ग्राह्य (स्थायी भाव) भयानक रस बन जाता है।[१]

अर्थात जीवन के सुख दुःखात्मक अनुभव व्यक्ति-संसर्गों के कारण उत्पन्न होते हैं। स्थायी भाव की उक्त संबधा से मुक्ति का आशय है—सुख-दुःखात्मक लौकिक चेतना से मुक्ति।

यह साधारणीकरण अपरिमित एव सर्वव्याप्त होता है। अतएव सभी सामाजिको की एक समान प्रतिपत्ति होने के कारण तथा अनादि संस्कारो से चित्रित चित्तवाले संपन्न सामाजिको की एक जैसी निर्विघ्न चमत्कार की अनुभूति को रस कहते हैं।[२]

अत अभिनवगुप्त के मतानुसार

(क) साधारणीकरण विभावादि का ही नहीं स्थायी भाव का भी होता है—जो विभावादि के साधारणीकरणरूपी कारण का कार्य होता है।

(ख) यह साधारणीकरण व्यक्ति-संसर्गों एव देश-काल आदि की बंधन मुक्ति से संपन्न होता है। उपर्युक्त संबंध भावना से मुक्त होने पर भाव की ऐन्द्रिय सुख दुःखात्मकता भी नष्ट हो जाती है।

(ग) रसास्वाद की प्रक्रिया मे साधारणीकरण के माध्यम से रस सामूहिक रूप मे अनुभूयमान रहता है। वह एक ही व्यक्ति या प्रमाता की अनुभूति न होकर सामूहिक अनुभूति है।

अभिनवगुप्त की उपर्युक्त व्याख्या के प्रकाश मे 'काव्यप्रकाश' की टीका मे भट्टनायक और अभिनवगुप्त के मतो का सार अत्यंत स्पष्ट एव संक्षिप्त रूप मे प्रस्तुत करते हुए कहा गया है[३]

(क) भावकत्व ही साधारणीकरण है। इसी व्यापार के द्वारा विभावादि का तथा स्थायी भावो का साधारणीकरण होता है।

(ख) साधारणीकरण का अभिप्राय है—सीतादि विशेष पात्रो (विभाव) का कामिनी आदि सामान्य रूप मे उपस्थित होना।

(ग) स्थायी भाव और अनुभाव के साधारणीकरण का अभिप्राय है—विशिष्ट संबंधो से मुक्ति।

---

[१] तत एव 'भीतोऽहं भीतोऽयं शत्रुर्वयस्यो मध्यस्थोवा', इत्यादि प्रत्ययेभ्यो दुःखसुखादिकृत हानादिबुद्ध्यन्तरोदयनियमवत्तया विघ्नबहुलेभ्यो विलक्षणं निर्विघ्नप्रतीतिग्राह्यं भयानको रसः। अभिनवभारती पृ० २७९

[२] तत एव न परिमितमेव साधारण्यमपि तु वितत तथ। अत एव सर्वसामाजिकानामेकघन तयैव प्रतिपत्तिः सुतरां रसपरिपोषाय। सर्वेषामनादिवासनाचित्रीकृतचेतसां। वासना संवादात। सा चाविघ्ना भवित्। वही पृ० २७९

[३] भावकत्व साधारणीकरणम्। तेन हि व्यापारेण विभावादयः स्थायी च साधारणीक्रियन्ते। साधारणीकरणं चैतदेव यत्सीतादि विशेषाणां कामिनीत्वादिसामान्येनोपस्थितिः। स्थाय्यनुभावादीनां च सम्बन्धिविशेषानवच्छिन्नत्वेन। काव्यदीप पृ० ९९

उक्त व्याख्या के अनुसार काव्य के भाव और विभाव, दोनों पक्षों का साधा-करण होता है। विभाव देशकाल के बंधन से मुक्त होते है और भाव स्व-पर की चेतना

संस्कृत आचार्यों की परंपरा में विश्वनाथ से पूर्व इसी मत की पुनः-पुनः आवृत्ति होती रही। विश्वनाथ ने इस संबंध में दो परंपरा-भिन्न स्थापनाएँ कीं :

१. रसास्वाद के समय काव्य के विभावादि का 'पर के है अथवा पर के नहीं हैं, मेरे है अथवा मेरे नहीं है', इस विशेष संबंध-भावना का स्वीकार अथवा परिहार नहीं होता।[1]

२. विभावादि के विभावन नामक साधारणीकरण व्यापार के कारण प्रमाता आश्रय से तादात्म्य या अभेद-स्थापन कर लेता है और इस प्रकार सामान्य जन भी देव-सुलभ कर्मों व अनुभूतियों का आस्वादन करता है।[2]

पंडितराज ने भी यही से संकेत ग्रहण कर आश्रय से तादात्म्य की बात कहते हुए भी रस-निष्पत्ति की भाँति ही, साधारणीकरण-व्यापार के स्थान पर दोष की कल्पना कर, उसी आधार पर उक्त अभेद की स्वीकृति की है। उनका विचार था कि प्राचीनों द्वारा कथित साधारणीकरण व्यापार दोष की स्वीकृति के बिना असंभव है, क्योंकि काव्य में विशेष व्यक्तियों के प्रतिपादक शब्द सामान्य के बोधक कैसे हो सकते है ?[3]

अतएव आश्रय से तादात्म्य उन्होंने भावना के उसी दोष के आधार पर स्वीकार किया, जिसकी चर्चा पहले की जा चुकी है। काव्य में विभावादि के ज्ञान के उपरान्त सहृदय को व्यंजना-व्यापार से उसमें निबद्ध भावनाओं की प्रतीति होती है। तत्पश्चात् सहृदयता के कारण चित्त में एक विशेष प्रकार की भावना (जो दोष रूप है) के उत्पन्न होने से दुष्यन्त आदि पात्रों के विषय में पुनः-पुनः अनुसंधान करते हुए कल्पित दुष्यन्तत्व से प्रमाता की आत्मा आच्छादित हो जाती है और उसे आलम्बन के प्रति कल्पित भावना भी भासित होती है—रजत-सीप न्याय के द्वारा।[4]

पंडितराज ने शब्द-भेद से आश्रय के साथ तादात्म्य और समानुभूति की ही स्वीकृति की है। साधारणीकरण-व्यापार की अस्वीकृति और भावना-दोष की परिकल्पना के मूल में उनकी दार्शनिक प्रतिबद्धता ही सक्रिय रही है। वह शब्द-भेद है, मतभेद नही।

पंडितराज के उपरान्त साधारणीकरण के सिद्धान्त का गंभीर शास्त्रीय धरातल पर विवेचन हिन्दी के आधुनिक आचार्यों द्वारा हुआ। इस दिशा में पहला उल्लेखनीय मत

---

[1] परस्य न परस्येति ममेति न ममेति च
तदास्वादे विभावादेः परिच्छेदो न विद्यते। साहित्यदर्पण, पृ० ५५

[2] तत्प्रभावेण, यस्यासन्पाथोधिप्लवनादयः
प्रमाता तदभेदेन स्वात्मानं प्रतिपद्यते ॥
उत्साहादिसमुद्बोधः साधारण्याभिमानतः
नृणामपि समुद्रादिलंघनादौ न दुष्यति ॥ वही, पृ० ५४

[3] यद्यपि विभावादीनां साधारण्यं प्राचीनैरुक्तम्, तदपि काव्येन शकुन्तलादिशब्दैः शकुन्तलात्वादिप्रकारकबोधजनकैः प्रतिपाद्यमानेषु शकुन्तलादिषु, दोषविशेषकल्पनं बिना दुरुपपादम्।
रसगंगाधर, पृ० १०५

[4] वही, पृ० १०१

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का है। उनके मत में यद्यपि आचार्य विश्वनाथ के मत की ही प्रति ध्वनि सुनाई पड़ती है और उन्होंने इसका पुनराख्यान अपने 'लोकधर्म सिद्धान्त' के पोषण के निमित्त ही किया तथापि उनकी स्थापनाएँ निम्नांकित हैं

१ काव्य में आलम्बन का चित्रण ऐसे गुणों से युक्त करके किया जाना चाहिए कि वह सबके उसी भाव का आलम्बन हो अन्यथा उसमें रसोद्बोधन की पूरी शक्ति नहीं आती। इसी रूप में लाए जाने को साधारणीकरण कहा जाता है।[1]

२ काव्य का विषय सदा विशेष होता है सामान्य नहीं, वह 'व्यक्ति' सामने लाता है 'जाति' नहीं। बिम्ब जब होगा तब विशेष या व्यक्ति का ही होगा, सामान्य या जाति का नहीं। जिस व्यक्ति विशेष के प्रति किसी भाव की व्यंजना कवि या पात्र करता है पाठक या श्रोता की कल्पना में वह व्यक्ति विशेष ही उपस्थित रहता है।[2]

३ (क) साधारणीकरण का अभिप्राय यह है कि पाठक या श्रोता के मन में जो व्यक्ति विशेष या वस्तु विशेष आती है वह, जैसे काव्य में वर्णित आश्रय के भाव का आलम्बन होती है वैसे ही सब सहृदय पाठकों या श्रोताओं के भाव का आलम्बन हो जाती है।

(ख) इससे सिद्ध हुआ कि साधारणीकरण आलम्बनत्व धर्म का होता है। व्यक्ति तो विशेष ही रहता है पर उसमें प्रतिष्ठा ऐसे सामान्य धर्म की ही रहती है जिसके साक्षात्कार से सब श्रोताओं या पाठकों के मन में एक ही भाव का उदय थोड़ा बहुत होता है। विभावादि सामान्य रूप में प्रतीत होते हैं—इसका तात्पर्य यही है कि रसमग्न पाठक के मन में यह भेदभाव नहीं रहता कि यह आलम्बन मेरा है या दूसरे का। थोड़ी देर के लिए पाठक या श्रोता का हृदय लोक का सामान्य हृदय हो जाता है।[3]

४ साधारणीकरण में आलम्बन द्वारा भाव की अनुभूति प्रथम कवि में चाहिए फिर उसके वर्णित पात्र में और फिर श्रोता या पाठक में। विभाव द्वारा जो साधारणीकरण कहा गया है वह तभी चरितार्थ होता है।[4]

स्पष्ट है कि आचार्य शुक्ल के मत का आधार आचार्य विश्वनाथ का मत है। उन्होंने भी आश्रय के साथ तादात्म्य पर बल दिया है और आलम्बनत्व धर्म का साधारणीकरण स्वीकार किया है किन्तु उनके मत में यह बात ध्यान देने की है कि वे बारबार आलम्बन के साधारणीकरण का निषेध करते हुए उसकी व्यक्ति-सत्ता पर बल देते हैं। लोक-हृदय की पहचान में समर्थ कवि आलम्बन के वैशिष्ट्य की रक्षा करते हुए भी उसे ऐसे गुणों से युक्त कर देता है कि वह सहृदय-मात्र के उसी भाव का आलम्बन हो जाता है। इस प्रकार सीता सामान्य गुणों को धारण करने के कारण समस्त सहृदय-समाज में रति भाव उत्पन्न कर देती है। इस भाव के विनष्ट हो जाने से—कि आलम्बन सहृदय का अपना है या दूसरे का सहृदय का अपना चित्त व्यक्ति चेतना से मुक्त हो जाता है।

शुक्लजी ने कवि काव्य और सहृदय की त्रयी में एक नाम सूत्र का स्पष्टीकरण किया जिसके प्रति संस्कृत आचार्यों ने (अभिनव को छोड़कर) प्रायः उदासीनता का परिचय

---

[1] [2] [3] चिन्तामणि, भाग १, पृ० २२७-३०

[4] रस-मीमांसा, पृ० ६६

दिया है। वह तत्त्व है—मूलतः कवि-भावना के साधारणीकरण की स्वीकृति। यह कहकर कि "साधारणीकरण में आलम्बन द्वारा भाव की अनुभूति प्रथम कवि में चाहिए" आचार्य शुक्ल ने यह स्पष्ट कर दिया कि काव्य में वर्णित विशेष पात्रों को लोक-हृदय के उसी भाव का विषय बनाने के लिए कवि को उन्हें सामान्य गुणों से युक्त करना पडता है। ऐसी स्थिति में पहले उसकी अपनी व्यक्ति-चेतना का सामान्य भाव-भूमि ग्रहण करना—अर्थात साधारणीकृत होना अनिवार्य है।

शुक्लजी की दृष्टि नैतिकता से परिबद्ध वस्तुनिष्ठ दृष्टि थी। इसलिए उनके मन में आलम्बन की ऐसी ही कल्पना आ सकती थी जो लोक-ग्राह्य हो सके।

आचार्य शुक्ल के उक्त मत पर पंडित केशव प्रसाद मिश्र द्वारा किए गए आक्षेपों की चर्चा करते हुए डॉ० नगेन्द्र ने सभी कोणों से (आश्रय या नायक से तादात्म्य, आलम्बनत्व धर्म का साधारणीकरण, सहृदय की चेतना का साधारणीकरण आदि) इस प्रश्न पर विचार किया है; और अन्त में अपना मत इस पक्ष में दिया कि सर्वांग (काव्यगत) का साधारणीकरण होता है, जो कवि की 'भावना' का बिम्ब-मात्र है या उसका शब्द-मूर्त रूप है : "अतः काव्य-प्रसंग या रस के समस्त अवयवों का साधारणीकरण मानने की अपेक्षा कवि-भावना का साधारणीकरण मानना मनोविज्ञान के अधिक अनुकूल है। भट्टनायक की विषयप्रधान धारणा और अभिनव की विषयिप्रधान धारणा—दोनों के साथ इसकी संगति बैठ जाती है; वस्तुतः यह दोनों के बीच अनुस्यूत संबंध सूत्र है और वर्तमान युग में रस-सिद्धान्त के सबसे समर्थ प्रतिष्ठापक आचार्य शुक्ल को भी इसमें कोई आपत्ति नही है।"[१]

इस स्थापना का पूर्वार्द्ध निस्संदेह ग्राह्य है। काव्य-प्रसंग कवि की ही भावना का बिम्ब-रूप है. अतः कवि की अनुभूति का साधारणीकरण मानने मे भट्टनायक और शुक्लजी के मत से कोई भेद उपस्थित नही होता। भट्टनायक जिस रस-सामग्री के बार-बार भावन से साधारणीकरण की चर्चा करते हैं अथवा शुक्लजी जिसमें आलम्बन पर सबसे अधिक बल देते है, वह कवि की अनुभूति का शब्द-मूर्त रूप है। परन्तु सहृदय की चित्तवृत्ति के साधारणीकरण के बिना रसानुभूति कैसे सिद्ध होगी—यह स्पष्ट नहीं होता। डॉ० नगेन्द्र ने सहृदय-मात्र की चेतना के साधारणीकरण से रसानुभूति का खण्डन किया है। पंडित केशव-प्रसाद मिश्र की आलोचना करते हुए उन्होंने कहा: "स्वर्गीय पंडित केशव प्रसाद मिश्र ने अभिनवगुप्त के प्रमाण से इसी को प्रधानता दी है: 'चित्त के एकतान और साधारणीकृत होने पर उसे (प्रमाता को) सभी कुछ साधारण प्रतीत होने लगता है।' किन्तु यह धारणा यथावत् मान्य नही है—चित्त की एकतानता ही तो संविद्विश्रान्ति है और वही रस है, अतः वह साधारणीकरण का कारण नहीं हो सकती, वह तो कार्य या परिणति है। चित्त के एकतान होने पर तो प्रमाता, अभिनव के अनुसार, आत्मास्वाद-रूप रस का अनुभव करता है, उस समय उसे अन्य पदार्थों की साधारण प्रतीति के लिए अवकाश ही नहीं रहता। साधारणीकरण रसास्वाद का समरूप, सहचारी या संचारी नहीं है, वह तो कारण है। अतः यह स्थापना भी सर्वथा मान्य नहीं है कि प्रमातृ-चेतना की एकतानता ही वस्तुतः साधारणीकरण है।"[२]

---

[१] रस-सिद्धान्त, पृ० २०९-२१०

[२] रस-सिद्धान्त, पृ० २०८-२०९

इसी प्रसंग में जब डॉ० नगेन्द्र आगे चलकर नवीन के साधारणीकरण की चर्चा करते हुए कवि भावना के साधारणीकरण की स्थापना करते हैं तब वे उसमें प्रमाता की चेतना के साधारणीकरण का उल्लेख नहीं करते। यद्यपि काव्याधिकारी सहृदय का एक महत्त्वपूर्ण लक्षण पूर्वाग्रह मुक्त चेतना भी है तथापि उसकी चेतना पूर्वाग्रह मुक्त होकर भी स्व-पर की भावना से बद्ध रह सकती है। ऐसी स्थिति में कवि भावना के साधारणीकरण की स्थिति में भी यदि सहृदय की चेतना स्व और पर की भावना से मुक्त नहीं होती तो रसानुभूति में बाधा होगी। मिश्रजी के मत की परिसीमा यह है कि वे सहृदय के चित्त की एकतानता और साधारणीकरण को एक मानकर चले। वस्तुतः ये रसानुभूति की प्रक्रिया के सोपान हैं जिनमें पूर्वापर-क्रम है चेतना का साधारणीकरण पूर्व स्थिति है और चित्त की एकतानता परिणामी एवं चरम स्थिति है—जो संविद्विश्रान्ति है रस है। रस के अवयवों का, जो अभिनव के अनुसार प्रतिभा से उद्भासित कवि के साधारणीभाव के बिम्ब मात्र हैं कवि की भावना के शब्द मूर्त रूप हैं साधारणीकृत रूप में प्रस्तुत होना जितना अनिवार्य है उतना ही सहृदय की चेतना का भी। न चित्त के एकतान और साधारणीकृत होने पर उस (प्रमाता को) सभी कुछ साधारण प्रतीत होने लगता है।[१] और न ही सहृदय की चेतना का साधारणीकरण या निर्मुक्ति रसास्वादन की अन्तिम एवं आधारभूत क्रिया है।[२] रसास्वादन तो स्वयं चरम या अन्तिम परिणति या क्रिया है जिसकी पूर्वस्थिति है—साधारणीकरण। अतः साधारणीकृत विभावादि के कारण रूप उपस्थित होने से (जो कवि भावना का ही रूप हैं) प्रमाता की चेतना स्व-पर की भावना से मुक्त साधारणीकृत रूप में उससे पूर्ण तादात्म्य कर एकतान होकर रसास्वाद करती है। यही चित्त की एकतानता संविद्विश्रान्ति है रस है। डॉ० नगेन्द्र ने उचित ही कहा है कि साधारणीकरण रसास्वाद का समरूप सहचारी या संचारी नहीं है वह तो कारण है।[३]

वस्तुतः भट्टनायक ने भावकत्व और भोजकत्व शक्तियों की कल्पना करके साधारणीकरण और रसास्वादन की चरम स्थिति में जो एक पूर्वापर क्रम निर्धारित किया था वह यों ही उड़ा देने की बात नहीं है। उन्हें भावकत्व या भोजकत्व व्यापार न कह कर भले ही व्यंजना व्यापार के आधार पर समझा दिया जाए किन्तु साधारणीकरण और रसास्वादन के मध्य चाहे कितनी भी अलक्षित क्यों न हो क्रम निश्चय ही वर्तमान रहता है।

इस संबंध में एक महत्त्वपूर्ण बात और। बाबू गुलाबराय ने आलम्बन के विषयगत अस्तित्व पर बल देते हुए कहा है कि जनता के मन में भी परम्परागत संस्कारों से एक सामान्य भावना बनी रहती है वही आलम्बन का विषयगत अस्तित्व है। जो बात सबके मन में वर्तमान हो वह मानसिक रहती हुई विषयगतता धारण कर लेती है।[४]

दूसरी ओर डॉ० नगेन्द्र ने साधारण संस्कार की चर्चा की है। उन्होंने आलम्बन की वस्तु स्थिति के प्रश्न पर विचार किया है। उनका कहना है कि यह साधारण संस्कार

१ साहित्यालोचन पृ० २८५
२ रस सिद्धान्त पृ० २०८
३ वही, पृ० २०९
४ सिद्धान्त और अध्ययन पृ० २१३

भी तो कवि की अनुभूति से ही बना है—अथवा यों कहिए कि यह अनेक कवियों की अनुभूतियों का संघात ही तो है।"[1] अर्थात विषय-विशेष के विविध कवियों द्वारा पुनः-पुनः ग्रहण से जो तत्सम्बन्धी एक सामान्य धारणा हमारे मन में, साधारण-संस्कार के रूप में बन जाती है वही उसका विषयगत रूप है। इस स्पष्टीकरण से इस शंका का समाधान नहीं होता कि जब कोई कवि अपनी नवनवोन्मेषशालिनी कारयित्री प्रतिभा के बल पर ऐसी काव्यसृष्टि करता है, जो उक्त संस्कार-विरोधी होती है, या कम-से-कम उससे मेल नहीं खाती, तब ऐसी स्थिति में विषयगत सत्ता का महत्त्व कैसे समझाया जाएगा ? उदाहरण के लिए, 'मेघनाद-वध' की काव्य-दृष्टि संस्कारगत या उसके आलम्बन की सत्ता वस्तुगत कैसे स्वीकार कर ली जाएगी ? यदि इस रूप में वहाँ कोई स्थिति है तो काव्यांकित दृष्टि की सर्वथा विरोधी है। यही बात काल्पनिक कथानकों के सम्बन्ध में कही जा सकती है। उनमें आलम्बन का रूप कवि-कल्पित रूप के अतिरिक्त और क्या हो सकता है ? ऐसी स्थिति में महत्त्व कवि की संवेदना, उसकी दृष्टि का ही होता है। वस्तु-तत्त्व उसमें इस अर्थ में होता है कि उसे लोक-हृदय की पहचान होती है। उसकी काव्य-सृष्टि में तादात्म्य इसी अर्थ में होता है कि वह उन्हीं स्थितियों की कल्पना और भावना करता है जिनकी सत्ता केवल होती नहीं, बल्कि हो सकती है अर्थात काव्य-विषय की वस्तुगत स्थिति का आधार, उसकी यथार्थ-संभावना के आधार पर भी निर्मित हो सकता है। इस अर्थ में वह साधारण संस्कार के प्रति सजग रहकर काव्य-सृजन में प्रवृत्त होता है, परन्तु अधिक महत्त्व विषय के कवि-दृष्ट रूप का ही होता है क्योंकि जहाँ यह रूप साधारण संस्कार के विरुद्ध होता है, वहाँ हमारा साधारणीकरण कवि की अनुभूति से ही होता है। उदाहरण के लिए वाल्मीकि, तुलसीदास, मैथिलीशरण गुप्त तथा माइकेल मधुसूदनदत्त—सभी ने राम-कथा का सर्वांग या खण्ड-चित्रण किया है, परन्तु 'रामायण', 'रामचरितमानस', 'साकेत' एवं 'मेघनाद-वध' के अध्ययन के उपरान्त सहृदय के मन में होनेवाली संवेदना किसी साधारण संस्कार के वशीभूत होकर एक-सी नहीं होती, उसका रूप कवि की अनुभूति के प्रति प्रत्यनुभूति के रूप में होने के कारण भिन्न-भिन्न होता है। उसका तादात्म्य काव्य-निबद्ध कवि की अनुभूति से होता है।

निष्कर्ष-रूप, में साधारणीकरण का अभिप्राय हुआ—कवि के काव्य-निबद्ध साधारणी-भाव के साथ स्व और पर की चेतना से मुक्त साधारणीकृत सहृदय-चेतना का तादात्म्य।

सौन्दर्यानुभूति की प्रक्रिया

कलागत सौन्दर्यानुभूति का विषय सदा आत्म से इतर होता है, अतः वह जीवनगत घटनाओं की प्रत्यक्ष अनुभूति न होकर, उन घटनाओं या विषयों के कला-निबद्ध रूप की कल्पना-सिद्ध अनुभूति होती है। इस प्रकार कला-सृजन और कलानुभूति, स्रष्टा और ग्राहक के बीच अनुभूति के धरातल पर संवाद है। वह ग्राहक के द्वारा विषय का सीधा अनुभव न होकर दूसरे के अनुभव का अनुभव है। यह परगत अनुभव ग्राहक का आत्मगत अनुभव किस सामान्य भूमि पर और कैसे हो जाता है, यह प्रश्न सौन्दर्यानुभूति की प्रक्रिया से संबद्ध है। इस प्रक्रिया में जो 'सामान्य' तत्त्व है, उसका एक अभिप्राय तो कवि और ग्राहक के

[1] रस-सिद्धान्त, पृ० २१०

बीच किसी सामान्य मिलन भूमि से है और दूसरा अनेक एक-देशीय और समसामयिक ग्राहकों के तथा विभिन्न देश-काल के व्यक्तियों के बीच अनुस्यूत उस सामान्य सूत्र से है जो किसी कलाकृति को सार्वभौम या कालसिद्ध रूप देता है। सौंदर्यानुभूति के लिए कलाकार और ग्राहक के बीच सामान्य भूमि पर मिलन अनिवार्य है। दूसरे अर्थ में सामान्यता की सिद्धि सदैव और शत प्रतिशत रूप में नहीं होती। इसका प्रमाण यह है कि बड़े-से बड़े कलाकार की रचना के संबंध में सर्वथा पूर्ण मतैक्य पाया गया हो ऐसा नहीं है। प्रत्येक देश की सांस्कृतिक विरासत और सामयिक परिस्थितियाँ दूसरे से किन्हीं अर्थों में भिन्न होती हैं। इसी प्रकार प्रत्येक व्यक्ति उत्तराधिकार के रूप में एक सामूहिक चेतना को प्राप्त करके भी अपने वातावरण शिक्षा दीक्षा और संस्कृति के प्रभाव के कारण एक वैयक्तिक चेतना से युक्त होता है जो हर दूसरे व्यक्ति की चेतना से भिन्न होती है। इसीलिए किसी कलाकृति के प्रति दो या अधिक व्यक्तियों की प्रतिक्रिया उससे प्राप्त सौंदर्यानुभूति एकदम समान हो ऐसी न आशा की जा सकती है न संभावना।

परन्तु इस संबंध में सभी विचारक एकमत हैं कि कवि और पाठक के बीच जिस सामान्य भूमि की चर्चा की जाती है वह हमारे संवेगों के सामाजिक सामूहिक रूप के आधार पर ही निर्मित हो सकती है। उदाहरण के लिए अपने दार्शनिक चिन्तन में एक-दूसरे से पर्याप्त दूर और भिन्न होने पर भी क्रिस्टोफर काडवल सी० जी० युंग और एफ० आर० लीविस जैसे विद्वान इस संबंध में एकमत हैं कि कलाकार और ग्राहक के मध्य वर्तमान इस सामान्य संवेग भूमि का आधार सामाजिक सामूहिक और निर्वैयक्तिक चेतना होती है। काडवेल के विचार से कला का यह संसार सामाजिक संवेगों का संसार है—ऐसे शब्दों और बिम्बों की सृष्टि है जो सामान्यानुभव से एकत्र किए गए हैं जिनके संवेगात्मक संबंध सबके लिए सामान्य हों।[1] युंग के अनुसार कलात्मक सृजन और आस्वाद के क्षणों में हम अनुभव के उस स्तर पर पहुँचते हैं जहाँ व्यक्ति नहीं केवल मानव होता है जहाँ महत्त्वपूर्ण अकेले व्यक्ति के दुःख-सुख नहीं मानव अस्तित्व मात्र होता है। इसीलिए प्रत्येक महान कलाकृति वस्तुगत और निर्वैयक्तिक होते हुए भी हममें से प्रत्येक को और सबको गहरे स्तर पर विचलित करती है।[2] लीविस ने त्रासदी के संदर्भ में कहा कि यह एक प्रकार की गहरी निर्वैयक्तिकता है जिसमें केवल अनुभव का ही महत्त्व होता है और वह अनुभव भी इसलिए नहीं महत्त्वपूर्ण होता कि वह मेरा अपना है मेरे साथ घटित हुआ है अथवा इसके पीछे कोई प्रयोजन है। वह महत्त्वपूर्ण है तो केवल इसलिए कि जो भी है वह है (अपने-आप में पर्याप्त) यदि उसमें ममत्व का महत्त्व है तो केवल इतना हो कि किसी भी अनुभव के लिए वैयक्तिक संवेदनशीलता अपरिहार्य है।[3]

सौन्दर्यानुभूति की प्रक्रिया को शब्द भेद से अधिकांश पश्चिमी विद्वानों ने एक प्रकार का निर्वैयक्तिकीकरण माना है। प्रश्न उस प्रगीतात्मक काव्य के विषय में उठाया जा सकता है जिसे विषयिप्रधान कहा जाता है किन्तु वहाँ भी कलाकार अपनी वैयक्तिक अनु

---

[1] इल्यूजन एण्ड रिएलिटी पृ० २७
[2] माडर्न मैन इन सर्च ऑफ ए सोल (अनु० डब्ल्यू० एस० डल और सी० एफ० बेंस), पृ० १९८ ९९
[3] द कॉमन पर्सूट पृ० १३०

भूतियों को बिम्बों, पात्रों और घटनाओं की भाषा में वस्तु-रूप प्रदान करता है, तभी वे काव्य का उचित विषय हो सकती हैं। पश्चिम में इस वस्तुगत वैयक्तिकता की अनुभूति की व्याख्या आसक्तिहीन आसक्ति, निस्संग अनुचिन्तन, मानसिक अन्तराल और निर्वैयक्तिकता आदि सिद्धान्तों से की गई है।

काण्ट : आसक्तिहीन आसक्ति

सौन्दर्य या कला-विषयक आसक्ति को काण्ट ने 'आसक्तिहीन' कहा है, जो आपाततः एक विरोधाभास प्रतीत होता है। यदि इसका सीधा अर्थ 'एक ऐसी आसक्ति जिसमें आसक्ति न हो' लिया जाए तो निश्चय ही यह विरोधाभास है, जिसे एक विचारक की भाषागत विवशता भी कहा जा सकता है; किन्तु इस कथन को यदि काण्ट की संपूर्ण विचार-पद्धति के व्यापक परिप्रेक्ष्य में समझने का प्रयास किया जाए तो स्पष्ट हो जाएगा कि यह विरोधाभास-मात्र नहीं है।

सौन्दर्य और कला-विषयक आस्वाद का विचार काण्ट ने अपने तृतीय 'क्रिटीक' या मीमांसा में किया है, जिसे उन्होंने साभिप्राय 'निर्णय-मीमांसा' कहा है। इस संदर्भ में उन्होंने 'अभिरुचि' (टेस्ट) और 'निर्णय' (जजमेंट) दो शब्दों का प्रयोग किया है। उनके अनुसार सौन्दर्य-ग्रहण 'शुद्ध बुद्धि' (प्योर रीज़न) और 'व्यावहारिक बुद्धि' (प्रैक्टिकल रीज़न) से भिन्न 'निर्णय' के अन्तर्गत आता है जिसे 'अभिरुचि' के द्वारा परिभाषित किया जा सकता है। शुद्ध बुद्धि का आग्रह, प्लेटो के शब्दों में, इस बात पर होता है कि : "अपने-आप से असहमत होने की अपेक्षा सारे संसार से असहमत होना बेहतर है।" इसलिए शुद्ध बुद्धि किसी भी मूल्य पर तर्क के द्वारा अपने-आप से सहमति और अपने विचारों में संगति के लिए सतत प्रयत्नशील रहती है। इसके विपरीत 'निर्णय-मीमांसा' में काण्ट ने यह प्रतिपादित करने का प्रयास किया है कि अपने-आप से सहमत होना पर्याप्त नहीं है, बल्कि 'हर किसी के स्थान पर अपने-आपको रखकर सोचना' भी आवश्यक है। काण्ट ने इसे 'परिवर्धित मनोवृत्ति' कहा है।[1]

निर्णय की शक्ति दूसरों के साथ संभावित सहमति में निहित है। इसलिए निर्णय में क्रियाशील चिन्तन की प्रक्रिया भी शुद्ध बुद्धि की चिन्तन-प्रक्रिया से भिन्न होती है। शुद्ध बुद्धि के चिन्तन में केवल अपने-आप से संवाद होता है; किन्तु निर्णय में, भले ही हम एकांत में अकेले ही चिन्तन क्यों न करें, अपने से भिन्न दूसरों से संवाद होता है, जहाँ मन में यह भावना बराबर कार्यरत रहती है कि अन्ततः उनसे सहमति के स्तर पर मिलना ही है। इसका अर्थ है कि ऐसे निर्णय में अपनी वैयक्तिक सीमाओं से मुक्ति आवश्यक है, व्यक्तिगत धारणाएँ जब तक व्यक्तिगत हैं, तब तक उन्हें निर्णय की संज्ञा नहीं दी जा सकती; किन्तु ज्यों ही वे सार्वजनिक क्षेत्र में व्यक्त होकर 'निर्णय' के रूप में मान्यता प्राप्त करना चाहती हैं तो सार्वजनिक अनुशासन के अधीन उनकी वैयक्तिकता के छँटने की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। चिन्तन का यह परिवर्धित रूप, जिसमें 'निर्णय' वैयक्तिक सीमाओं के अतिक्रमण का प्रयास करता है, निपट एकांत में क्रियाशील नहीं हो सकता। इसके लिए दूसरों की

---

१. क्रिटीक ऑफ़ जजमेंट (मूल जर्मन शब्द 'eine erweiterte Den Kungsart' है जिसका अंग्रेज़ी अनुवाद 'enlarged mentality' किया जाता है।)

उपस्थिति आवश्यक है जिनके स्थान पर हम अपने आपको रखकर सोच सकें, और सोचते समय जिनके परिप्रेक्ष्य को हम ध्यान में रख सकें। कान्ट के अनुसार निर्णय की क्षमता केवल अपनी दृष्टि से वस्तुओं को देख सकने की क्षमता नहीं बल्कि जो भी उपस्थित हैं उन सबके परिप्रेक्ष्य से देख सकने की क्षमता है। इस प्रकार निर्णय ऐसा महत्त्वपूर्ण कार्य है जिसमें दूसरों के साथ संसार का साझीदार होना संभव होता है।

इस निर्णय क्षमता का विचार कान्ट ने सौन्दर्य संबंधी अभिरुचि के संदर्भ में किया है। कान्ट यद्यपि सौन्दर्य के प्रति अतिरिक्त संवेदनशील नहीं थे फिर भी उन्हें सौन्दर्य के सार्वजनिक पक्ष का पूरा बोध था। सौन्दर्य के सार्वजनिक महत्त्व को ध्यान में रखते हुए ही उन्होंने इस बात पर बल दिया कि अभिरुचि संबंधी निर्णय विवाद के लिए खुले होते हैं क्योंकि हम इस विषय में दूसरों से भी भाग लेने की आशा रखते हैं और हर किसी से सहमति की अपेक्षा करते हैं। अन्य निर्णयों की भाँति सौन्दर्य संबंधी निर्णय में भी कुछ न कुछ आत्मनिष्ठता अवश्य रहती है किन्तु वह व्यक्तिगत नहीं होता। सौन्दर्यपरक निर्णय में बराबर इस बात का अहसास रहता है कि कलाकृति की वस्तुगत सत्ता है जिसे अपनी अपनी दृष्टि से देखने के लिए सभी लोग स्वतंत्र हैं। सौन्दर्य की यह वस्तुनिष्ठता ही अभिरुचि और निर्णय को निर्वैयक्तिक बना देती है। ऐसी स्थिति में कलाकृति के प्रति किसी व्यक्ति का न तो कोई जीवन संबंधी प्रयोजन रह जाता है और न आत्मा का कोई नैतिक प्रयोजन ही निहित रहता है। इस प्रकार तत्संबंधी अभिरुचि प्रयोजन रहित या आसक्तिहीन होती है।[1]

इस प्रकार कान्ट का अनासक्त आसक्ति कोई मनोवैज्ञानिक दशा नहीं बल्कि सामाजिक अनुभव से प्राप्त एक वस्तुनिष्ठ स्थिति है। किन्तु जब कान्ट सौन्दर्यानुभूति को अनासक्त परितोषजन्य कहते हैं तो किन्हीं नैतिक कारणों से नहीं बल्कि इसलिए कि वे इस अनुभव के क्षण को सौन्दर्येतर प्रभावों से मुक्त रखना चाहते थे। उनका विचार था कि प्रत्येक चाह आस्वाद के निर्णय को दूषित करती है और उसकी निष्पक्षता का हरण कर लेती है।[2] चाह से उनका अभिप्राय विषय के अस्तित्व में रस लेने से है और सौन्दर्यानुभूति में हमारा संबंध केवल विषय के रूपाकार से होता है। वे इस अनुभूति को वैयक्तिक यादृच्छिक रुचियों, अहं केन्द्रित पूर्वाग्रहों और स्थूल उपयोगितावाद से भिन्न और विशिष्ट प्रतिपादित करना चाहते थे। जब तक हमारी व्यक्तिगत रुचियाँ हमारे मस्तिष्क को विचलित किए रहेंगी हमारे मन में कला के विषय को स्वकीय बनाने की इच्छा रहेगी जो इस भावन प्रधान भावस्थिति के लिए बाधक होगी।

सौन्दर्यानुभूति में उपर्युक्त अनासक्ति की आवश्यकता स्वीकार करने के परिणाम स्वरूप कान्ट ने अनुभूति की विषयिगत सार्वभौमता के सिद्धान्त की प्रतिष्ठा की। एक

---

1 The activity of taste ...
and ...
and ...
teres ...
nor ...

2 कान्ट क्रिटीक ऑफ जजमेंट, पृ० ६४

बार इस अनुभव को समस्त ऐकान्तिक और व्यक्तिगत संबंधो से मुक्त मान लेने पर उसकी सार्वभौम वैधता की स्थापना एक सैद्धान्तिक आवश्यकता हो जाती है। अनुभव-सवेदनवादी विचारकों ने सौन्दर्य को इन्द्रियों के लिए सुखद और अनुकूल वस्तु का पर्याय मान लिया था और इस प्रकार सौन्दर्यशास्त्र को मात्र यादृच्छिक रुचियों के अध्ययन तक परिसीमित कर दिया। काण्ट ने इस धारणा का खंडन करते हुए कहा कि ऐसी स्थिति में अभिरुचि एक सार्वभौम सिद्धान्त नही हो सकता। क्योकि 'प्रेय' पूर्णतः व्यक्तिगत अनुभूति हे। काण्ट ने अनुभूति की सार्वभौमिकता के सिद्धान्त की प्रतिष्ठा मानव-मात्र मे विद्यमान एक सामान्य चेतना की स्वीकृति के आधार पर की। काण्ट की शब्दावली में सौन्दर्यानुभव की स्थिति "कल्पना और ज्ञान शक्तियों की पारस्परिक अनुकूल क्रियात्मकता मे" निहित रहती है और ये दोनों शक्तियाँ प्रत्येक मानव मे वर्तमान रहती है। हमें एक सामान्य 'आदर्श मानक' की संभावना को मानना होगा और तभी अनुभूति की सार्वभौम वैधता का दावा किया जा सकता है। काण्ट के अपने शब्दो में :

"चूंकि यह आनन्द विषयी की किसी प्रवृत्ति (या किसी अन्य यत्नज प्रयोजन) पर निर्भर नही है, बल्कि विषयी कलावस्तु को जिस प्रेयता से संबद्ध करता हे उससे अपने आपको पूर्णतः मुक्त अनुभव करता है, इसलिए अपने आनन्द का कारण वह किन्ही ऐसी वैयक्तिक परिस्थितियो को नही मान सकता, जिनका अंग केवल उसकी अन्तरात्मा हो। फलस्वरूप वह इसका आधार केवल उसी को मान सकता है, जिसका प्रत्येक अन्य व्यक्ति में होना पूर्व-निश्चित हो और वह विश्वास कर सकता है कि प्रत्येक से समान आनन्द की आशा करना सर्वथा उचित है।"[1]

अनुभव से हम जानते है कि विशेष कलाकृतियो के मूल्यांकन में इस प्रकार की सार्वभौमिक सहमति सदा सुलभ नही होती। परन्तु क्योकि सौन्दर्यानुभूति निष्पक्ष होती है, ग्राहक की विशिष्ट संवेगात्मक प्रतिक्रियाएँ इस अनुभव के संदर्भ में अप्रासंगिक होती है, अतः यह निःसंकोच स्वीकार किया जा सकता है कि सौन्दर्य का संप्रेपण व्यक्ति और मानवता के बीच एक सामान्य भूमि पर होता है—यही उसकी सार्वभौमिकता का कारण है। इस सौन्दर्यानुभूति के लिए ग्राहक की ओर से सौन्दर्यानुभूति के क्षणो में व्यक्तिगत रुचियो, पूर्वाग्रहों का परिहार और कला-विषय के प्रति अनासक्त भावना का अंगीकार आवश्यक है। कलाकृति के प्रति अनासक्ति से काण्ट का अभिप्राय है : कार्य-कारण संबंधों से युक्त जीवन की घटनाओं से भिन्न इन घटनाओं का प्रतिदर्शित रूप मे ग्रहण, अत. उनके प्रति जीवनगत घटनाओं के सदृश आसक्ति, अतः क्रियावत्ता का अभाव।

टी० एस० इलियट : व्यक्तित्व से पलायन

इलियट का निर्वैयक्तिकता-सिद्धान्त रोमाण्टिक व्यक्तिवाद की प्रतिक्रियास्वरूप उत्पन्न हुआ था। उनका विश्वास था कि रोमाण्टिक कविता की सबसे बड़ी दुर्बलता उसकी सस्ती भावुकता है, जिसमें कवि अपने भावोच्छ्वास की अबाध अभिव्यक्ति करता है। इस प्रवृत्ति का आधार, इलियट के अनुसार, रोमाण्टिक कवि का चरम व्यक्तिवाद है। इसलिए उन्होंने अपने आक्रमण का प्रधान लक्ष्य व्यक्तिवाद को बनाया है और काव्य में 'व्यक्तित्व

---

[1] काण्ट : क्रिटीक ऑफ़ जजमेंट, पृ० ५१

मे पलायन के सिद्धान्त की स्थापना की। एक रचनाशील कवि के नाते इलियट ने इस निर्वैयक्तिकता सिद्धान्त की स्थापना मुख्यत काव्य की सृजन प्रक्रिया के धरातल पर की किन्तु जैसा कि निम्नलिखित उद्धरण स स्पष्ट है उनका ध्यान काव्य के ग्रहण-पक्ष मे भी निर्वैयक्तिकता की स्थापना की ओर था

काव्य के आस्वाद का सत्य एक ऐसा विशुद्ध अनुचिन्तन है जिस पर से वैयक्तिक सवेगो की सभी प्रकार की हलचल अपसृत हो जाती हैं। इस प्रकार वस्तु जैसी सचमुच है उसी रूप म हम उसे देखने का यत्न करते है।[1]

इस उद्धरण से इलियट द्वारा सृजन प्रक्रिया क धरातल पर निरूपित निर्वैयक्तिकता सिद्धान्त की व्याख्या काव्यानुभूति के धरातल पर भी करने की सभावनाओ का द्वार खुल जाता है। उदाहरण के लिए जब इलियट कवि व्यक्तित्व के निर्वैयक्तिक होने की प्रक्रिया निरूपित करते हैं तो उसे ग्राहक क पक्ष म भी लागू किया जा सकता है

कलाकार के बाहर कुछ ऐसा होता है जिसके प्रति उसका दायित्व होता है और भक्ति भाव म जिसके सम्मुख उस आत्मसमर्पण करना चाहिए। इस आत्मबलिदान के द्वारा वह अपने लिए एक अद्वितीय स्थान अर्जित करता है। कलाकारो को जाने-अनजाने एक सामान्य उत्तराधिकार और सामान्य लक्ष्य एक सूत्र म बाँध देता है।[2]

इलियट ने अन्यत्र भी इसी बात को कुछ विशिष्ट अर्थ छाया के साथ प्रकारान्तर से दोहराया है जो घटित होता है—वह है कलाकार का निरतर आत्मसमर्पण, क्योंकि उस क्षण उसका तत्त्व अपेक्षाकृत कुछ अधिक मूल्यवान होता है। निरतर आत्म बलिदान और व्यक्तित्व के निरन्तर विलय म ही कलाकार की प्रगति निहित है।[3]

अपने से बाहर इस कुछ को इलियट ने परपरा के नाम से अभिहित किया है। यद्यपि इलियट के परपरा सबधी दृष्टिकोण को साम्प्रदायिक एव सकीर्ण मानकर कुछ लोगो ने उससे अपनी असहमति भी व्यक्त की है किन्तु मूलत इलियट के आत्म-बलिदान अथवा आत्म विलय यहाँ तक कि आत्मसमर्पण म निहित निर्वैयक्तिकता को व्यापक समर्थन प्राप्त हुआ है। अब यदि इस प्रक्रिया को ग्राहक पक्ष पर लागू करके देखा जाए तो यह कथन असगत न होगा कि कला के पूर्ण आस्वाद के लिए ग्राहक को भी निरन्तर आत्म बलिदान एव आत्म विलय के लिए प्रस्तुत रहना चाहिए। आत्मसमर्पण एक कलाकार के लिए जितना आवश्यक है ग्राहक के लिए उसस कम नही। इस प्रक्रिया म यदि कवि का भावोच्छ्वास सयत होता है तो ग्राहक भी अपने भावावेश से मुक्त होकर काव्य के वस्तुनिष्ठ आस्वाद म समर्थ होता है। दोनो ही पक्षो मे भावावेश की निजी और तात्कालिक तीव्रता नियत्रित होती है। कवि पक्ष म यह श्रेष्ठ कृति के सृजन का उपक्रम है और ग्राहक-पक्ष म अधिक से अधिक आस्वाद की उपलब्धि का आधार।

निर्वैयक्तिकता सिद्धान्त का दूसरा चरण स्वय काव्य का स्वरूप है जिसके स्तर पर इलियट ने व्यवस्था या आर्डर का सिद्धान्त प्रतिपादित किया है। व्यक्तित्व के विलय से

---

[1] द सेक्रेड वुड पृ० १४ १५

[2] सेलेक्टेड एसेज पृ० २४

[3] द सेक्रेड वुड पृ० ५३

काव्य में भावुकता कम होती है, और उसके संघटन में संवेग, अनुभूति, विचार, भाव-बोध आदि का कलात्मक संतुलन सिद्ध होता है। स्पष्ट ही भावोच्छ्वसित काव्य के इकहरे और सरल विन्यास की अपेक्षा प्रस्तुत काव्य का संघटन अधिक जटिल तथा प्रौढ होता है। इलियट के अनुसार रोमाण्टिक काव्य की तुलना में यह काव्य निर्वैयक्तिक होता है, क्योंकि यह तरल संवेग मात्र न होकर, संवेगों का वस्तुगत विभावन है। कहने की आवश्यकता नहीं कि इलियट की इस काव्यगत धारणा में आरम्भिक बिम्बवादी काव्य-सिद्धान्त के संस्कार अवशिष्ट हैं।

इस प्रकार काव्य के धरातल पर इलियट की निर्वैयक्तिकता व्यवस्था या 'आर्डर' का दूसरा नाम है। तार्किक दृष्टि से यह कार्य ग्राहक मे भी इसी प्रकार की व्यवस्था की अपेक्षा रखता है। जिस प्रकार काव्य के रूप-विन्यास मे संवेगों, अनुभूतियों, विचारों और भाव-बोधों का सम्यक संतुलन होता है, उसी प्रकार ऐसे काव्य की ग्रहणशीलता में भी ग्राहक का चित्त उपर्युक्त समस्त तत्त्वों के सतुलन का अनुभव करता है। यदि इस संतुलन मे स्वयं काव्य, संवेगों की वैयक्तिक सीमा का अतिक्रमण करके निर्वैयक्तिक, वस्तुगत रूप प्राप्त करता है, तो ग्राहक का चित्त भी आत्म-निरपेक्ष होकर इसी वस्तुगत अनुभूति-सत्ता का अनुभव करने लगता है। इस दृष्टि से काव्यानुभूति वैयक्तिक अनुभूति से भिन्न निर्वैयक्तिक अनुभूति का पद प्राप्त करती है।

किन्तु जैसा कि विसेंट बकले ने कहा है : "इलियट की 'निर्वैयक्तिकता' अनिश्चित अर्थवाला शब्द है। केवल इस शब्द का उल्लेख करके किसी साहित्यिक मूल्य का प्रश्न हल नही किया जा सकता। विचित्र बात है कि स्वयं इलियट ने इस शब्द के अर्थ-ग्रहण का दायित्व हम लोगों पर छोड़ दिया है, किन्तु यह बलपूर्वक कहा जा सकता है कि वे जिस 'व्यवस्था' को निर्वैयक्तिक कहते है, वह कोई स्थिर या जड़ वस्तु नहीं है। यह 'जीवंत' और 'नैसर्गिक' के विरुद्ध 'व्यवस्थित अनुर्वरता' (पैटर्न्ड स्टरलिटी) नहीं है। ह्यूम की तरह इलियट की रुचि उस प्रकार की निर्वैयक्तिकता मे बिल्कुल नही है, जैसी हम अमूर्त चित्रकला में पाते है, और न ही उनकी रुचि वास्तविकता को प्रतीकमाला में रूपान्तरित करने के प्रयास में है। कला के स्तर पर वे जिस संगठन की अपेक्षा रखते है, और जिसमें वे निर्वैयक्तिकता का सच्चा गुण देखते है, वह मानव-जीवन के तथ्यों का संघटन है; वह सामान्यतः संवेगों का संघटन है।"[1]

यदि उपर्युक्त व्याख्या सही है तो इलियट की निर्वैयक्तिकता कलाकार-व्यक्तित्व का सर्वथा निषेध नही है, बल्कि वैयक्तिकता मात्र का निषेध है। वैयक्तिकता का निषेध करके कवि-व्यक्तित्व दरिद्र या रिक्त नही होता, बल्कि संपन्न और समृद्ध होता है। जैसा कि इलियट ने अन्यत्र कहा है : "महान कला इस अर्थ में निर्वैयक्तिक होती है कि वैयक्तिक संवेग और वैयक्तिक अनुभव विस्तृत होकर आत्मेतर में पूर्णता को प्राप्त होते है। वह वैयक्तिक अनुभव और संवेग के परित्याग के अर्थ में निर्वैयक्तिक नहीं।"[2]

---

[1] पोएट्री एण्ड मोरैलिटी, पृ० १०२

[2] प्रीफ़ेस टु 'ला सर्पेण्ट' बाइ पॉल वैलेरी

यदि कवि-व्यक्तित्व अपनी वैयक्तिकता का त्याग कर किसी बृहत्तर आत्मेतर में विस्तार और पूर्णता को प्राप्त करता है, तो उसी प्रकार सौन्दर्यानुभूति के क्षणों में, ग्राहक भी अपनी वैयक्तिकता से मुक्त होकर किसी आत्मेतर अनुभूति में पूर्ण होता है। सारांश यह है कि इलियट की निर्वैयक्तिकता एक सृजनशील, गतिशील और मानवीय पूर्णता का सिद्धान्त है, जिसका आधार वैयक्तिक उच्छृंखलता और अव्यवस्था के विरुद्ध मनोवैज्ञानिक संतुलन, नैतिक व्यवस्था और कलात्मक संघटन है।

आइ० ए० रिचर्ड्स : संवेग संतुलन की निर्वैयक्तिकता

काव्यानुभूति की निर्वैयक्तिकता का पहला कारण, रिचर्ड्स के अनुसार यह है कि हम काव्य से प्राप्त होने वाली अनुभूति को प्रायः किसी प्रकार के विजातीय तत्त्व के मिश्रण से बचाने का प्रयास करते हैं, यहाँ तक कि हम अपनी वैयक्तिक विचित्रताओं को भी उसमें हस्तक्षेप नहीं करने देते।[१] दूसरे, एक ही काव्यकृति का अनुभव थोड़े से अन्तर के साथ अनेक व्यक्ति कर लेते हैं, इससे भी स्पष्ट है कि काव्यकृति वैयक्तिक संपत्ति नहीं होती। इसमें एक ओर काव्यकृति की निर्वैयक्तिकता प्रमाणित होती है तो दूसरी ओर उसकी अनुभूति की भी निर्वैयक्तिकता पर प्रकाश पड़ता है, क्योंकि यदि कोई काव्यकृति अनेक पाठकों में एक सी या समान अनुभूति जाग्रत करती है तो स्पष्ट है कि उस अनुभूति की सत्ता व्यक्तिगत सीमाओं से परे या मुक्त है, और इसी का दूसरा नाम निर्वैयक्तिकता है।[२]

रिचर्ड्स के निर्वैयक्तिकता संबंधी ये विचार उस संदर्भ में व्यक्त हुए हैं, जहाँ उन्होंने काव्यानुभूति को जीवनानुभव एवं शुद्ध कलानुभूति के दो एकान्तों के बीच प्रतिष्ठित करने का प्रयास किया है। इस संदर्भ में स्पष्ट होता है कि काव्यानुभूति एक ओर यदि जीवनानुभव के क्षेत्र से संबद्ध होते हुए भी वैयक्तिक नहीं होती तो दूसरी ओर 'शुद्ध कलानुभूति' की तरह नितान्त 'विलक्षण' न होकर निर्वैयक्तिक मात्र होती है। इस प्रकार रिचर्ड्स की दृष्टि में काव्यानुभूति की 'विशिष्टता' उसकी निर्वैयक्तिकता में निहित है।

इसके अतिरिक्त रिचर्ड्स ने निर्वैयक्तिकता की व्याख्या और भी गहरे स्तर पर 'संवेगों के संतुलन' वाले सिद्धान्त की स्थापना के संदर्भ में की है। वस्तुतः निर्वैयक्तिकता 'संवेग-संतुलन' सिद्धान्त की अपरिहार्य तर्कसंगत परिणति है। जैसा कि उन्होंने एक आरंभिक कृति[३] में कहा है, "काव्यानुभूति से निष्पन्न वृत्तियों का संगठन 'संवेगों को अधिक से अधिक सामान्य रूप प्रदान करता है और उसके अनुरूप हम अपने दृष्टिकोण को भी निर्वैयक्तिक पाते हैं।' इसी प्रसंग में आगे उन्होंने यह भी कहा है कि काव्यानुभूति के क्षणों में घटित संतुलन और सामंजस्य हमारी अनुभूति को इसलिए निस्संग और निर्वैयक्तिक बना देता है कि हमारी "रुचियाँ किसी एक दिशा की ओर उन्मुख नहीं होतीं।"

स्पष्ट ही, निर्वैयक्तिकता की यह मनोवैज्ञानिक व्याख्या विषय के एक नए पक्ष को

---

१ प्रिंसिपल्स०, पृ० ७८
२ वही, पृ० ७८
३ द फाउण्डेशन्स ऑफ एस्थैटिक्स, पृ० ७५–७८

प्रकाश में ले आती है। इस कथन की और स्पष्ट व्याख्या रिचर्ड्स ने अन्यत्र अपने प्रसिद्ध ग्रंथ 'साहित्य-समीक्षा के सिद्धान्त' में त्रासदी के आस्वाद के प्रकरण में 'संवेग-संतुलन' सिद्धान्त को लागू करते हुए की है।[1] सौन्दर्यानुभूति के संदर्भ में निस्संगता का यही संभव अर्थ हो सकता है कि इसमें हम किसी एक निश्चित दिशा की ओर उन्मुख नही होते। मन की स्थिति जब निस्संग नही होती तो हम वस्तुओं को केवल एक दृष्टि से देखते है और वह भी मात्र एक पक्ष। इसके विपरीत सौन्दर्याभिमुख मन के अनेक पक्ष एक साथ उद्घाटित होते हैं और यह बहुपक्षीय मन वस्तुओं के भी विविध पक्षों को उद्घाटित करता है। इस प्रकार चूंकि हमारे व्यक्तित्व का अधिक-से-अधिक भाग सक्रिय हो जाता है, इसलिए अन्य वस्तुओं की स्वतंत्रता और व्यक्ति-वैशिष्ट्य की मात्रा भी बढ़ जाती है। ऐसा प्रतीत होता है कि हम उनके 'चतुर्दिक' देख रहे है, उन्हें हम इस रूप मे देख रहे हैं जैसी कि वे वस्तुतः हैं और हम किसी एक निश्चित प्रयोजन से मुक्त होकर उन्हे देखते हैं। निश्चय ही किसी-न-किसी प्रयोजन के बिना उन्हें देखने का प्रश्न ही नही उठता; किन्तु कोई एक निश्चित प्रयोजन जितना ही कम होगा, हमारा दृष्टिकोण उतना ही अधिक निस्संग होगा। सौन्दर्यानुभूति में हमारा व्यक्तित्व अधिक-से-अधिक पूर्णता के साथ संलग्न होता है, जिसे शास्त्रीय भाषा मे 'निर्वैयक्तिक' होना भी कहते है। इस प्रकार व्यक्तित्व के पूर्णतः संलग्न होने और निर्वैयक्तिक होने में, रिचर्ड्स के अनुसार, कोई विरोध नहीं है।

सारांश यह है कि मनोवैज्ञानिक दृष्टि से सौन्दर्यानुभूति मन को संकीर्णता से मुक्त करने के साथ-ही-साथ वस्तु को प्रयोजन-विशेष की दृष्टि से देखने की अपेक्षा व्यापक दृष्टि से देखने की क्षमता जाग्रत करती है, जिससे ग्राहक का मन एक ओर प्रयोजन-मुक्त होकर निस्संग होता है, तो दूसरी ओर वैयक्तिक सीमाओं से ऊपर उठकर निर्वैयक्तिक।

एफ़० आर० लीविस : निर्वैयक्तिकता

इलियट द्वारा निरूपित 'निर्वैयक्तिकता' संबंधी मान्यता को और भी सूक्ष्मताओं के साथ आगे बढ़ानेवालों में सबसे महत्त्वपूर्ण नाम अंग्रेजी के प्रसिद्ध आलोचक डॉ० एफ० आर० लीविस का है। 'विचार और संवेगात्मक गुण' शीर्षक निबंध मे उन्होंने वॉल्टर स्कॉट की एक कविता 'प्राउड मैंजी' के प्रभाव का विश्लेषण करते हुए लिखा है कि : "उसे पढ़ने पर ऐसा नही लगता कि हमे केवल संवेग ही प्रदान किए गए है। जैसे-जैसे हम उस कविता के नाटकीय तत्त्वो को ग्रहण करते जाते है, संवेग विकसित होता है और अपने-आपको परिभाषित करता है। इस प्रकार उस कविता के प्रभाव-स्वरूप जो तथ्य हमे उपलब्ध होता है, उसमें संवेगात्मक अनासक्ति होती है। 'अनासक्ति' के स्थान पर हम 'निर्वैयक्तिकता' शब्द का प्रयोग कर सकते हैं और इस शब्द के द्वारा हम सर्वाधिक महत्त्व की आलोचनात्मक अवधारणा प्रस्तुत करते है।"[2]

डॉ० लीविस के इस कथन से स्पष्ट है कि निर्वैयक्तिक संवेग वह है जो कविता मे मूर्त वास्तविकता के माध्यम से अपने को परिभाषित करता है। वह कवि के अन्तर्जीवन से अपसृत होकर उसके व्यक्तित्व का बहिष्कार करके निर्वैयक्तिक नही होता, बल्कि उससे

१ प्रिंसिपल्ज़०, पृ० २५१-५२

२ 'थॉट एण्ड इमोशनल क्वालिटी,' स्क्रूटिनी, जिल्द १३, नं० १, स्प्रिंग, १६४५, पृ० ५३

कुछ दूर जाकर बुद्धि के क्रीडा-व्यापार के अधीन होकर निर्वैयक्तिक होना है। निर्वैयक्तिकता में कवि की वैयक्तिकता का योगदान कितना महत्त्वपूर्ण होता है इस बात पर बल देने के लिए उन्होंने रोमाण्टिक कवि वर्ड्सवर्थ की एक कविता का उदाहरण देते हुए आगे कहा है कि एक नितान्त वैयक्तिक एवं अनुभूत संवेग को भी कवि दो परस्पर विरोधी संवेगों के जटिल संयोजन के द्वारा निर्वैयक्तिक रूप देने में सफल हुआ है।[1] इस प्रकार डा० लीविस ने निर्वैयक्तिकता को परिभाषित ही नहीं किया है बल्कि उसकी प्रक्रिया पर भी प्रकाश डाला है। टेनिसन का उदाहरण देते हुए उन्होंने आगे कहा है कि जहाँ निर्वैयक्तिकता नहीं होती वहाँ सस्ती भावुकता होती है क्योंकि उस स्थिति में एक ओर वैयक्तिक एकीकरण (पर्सनल इन्टिग्रेशन) में स्खलन होता है तो दूसरी ओर वास्तविकता का सामना करने के लिए यथेष्ट साहस का अभाव पाया जाता है। कथन की इस व्यतिरेक शैली में निर्वैयक्तिकता के पक्ष में सहज ही यह विधयात्मक तथ्य निकाला जा सकता है कि निर्वैयक्तिकता वैयक्तिक स्तर पर एकीकरण और वास्तविकता का साहसपूर्वक सामना करना है।[2]

विंसेण्ट बक्ले ने लीविस की निर्वैयक्तिकता को कुछ अन्य आधुनिक लेखकों की निर्वैयक्तिकता से भिन्न एवं विशिष्ट बतलाते हुए कहा है कि एक निर्वैयक्तिकता 'ए पोर्ट्रेट आफ द आर्टिस्ट ऐज ए यंगमैन' के लेखक जेम्स ज्वाइस की भी है जिसमें कलाकार अपनी कृति में ईश्वर के समान कभी उसके अन्दर कभी पीछे और कभी एकदम ऊपर रहता है—अपनी कृति से अदृश्य, असंपृक्त और उदासीन, किन्तु बक्ले के अनुसार यह एक प्रकार का मिथ्या अहंकार है। दूसरी निर्वैयक्तिकता इलियट की है जिसके अनुसार कविता वह माध्यम है जिसके द्वारा हम अपने संवेगों के दबाव और यथार्थता से पलायन कर सकते हैं। तीसरी निर्वैयक्तिकता मैथ्यू आर्नल्ड की है जिनका अभिप्राय कुछ ऐसा प्रतीत होता है कि कविता के द्वारा संवेगों को भावनाओं में रूपान्तरित कर सकते हैं। इन सबके विपरीत लीविस की दृष्टि में कला की निर्वैयक्तिकता इस बात में निहित है कि वह मानव-समस्याओं के केन्द्र में रहते हुए भी ऐसा विश्रान्ति बिन्दु ढूँढने में समर्थ हो जाती है जहाँ से वह उन समस्याओं का मूल्यांकन करते हुए उनके संदर्भ में पूर्णता के साथ जीवित रहने की समस्त संभावनाओं को परिभाषित कर सकती है। इस प्रकार लीविस की निर्वैयक्तिकता में एक ओर संवेगों की सार्वभौमिकता का सिद्धान्त निहित है तो दूसरी ओर संवेगों की उस दिशा का जो जीवन की सामान्य सरणी के अधीन होने का संकेत करता है।[3]

---

[1] थाट एण्ड इमोशनल क्वालिटी, स्क्रूटिनी जिल्द १३ नं० १ स्प्रिंग १९४५ पृ० ५४

[2] वही पृ० ५६

[3] The impersonality of art consists for him in having found while remaining at the heart of human problems a point of rest from which to estimate them and to define one's own life, one's possibilities of full living in relation to them. By this he does not mean that Eliot means that poetry is a form through which we can escape the pressure, the activity of our emotions. Nor does he mean what Arnold seems to mean that poetry is a means of turning emotion into ennobling sentiment. He seems to mean two things: that the emotion is universalised, its general impact for men discovered, and that it is directed, made subordinated to what we might call a general line of living.

Vincent Buckley, *Poetry and Morality*, p. 183

किन्तु लीविस की निर्वैयक्तिकता यहीं तक नहीं रुकती। अपने प्रिय लेखक डे॰ लारेंस की व्याख्या के संदर्भ में निर्वैयक्तिकता संबंधी मान्यता को और आगे ले जाकर लीविस ने कहा है, इस अराजकतापूर्ण संसार में व्यक्ति को अपने आन्तरिक विकास के लिए एक प्रकार की निर्वैयक्तिकता अथवा असंपृक्तता को अपनाना आवश्यक है। कोई व्यक्ति सांसारिक अराजकता में डूब न जाए इसके लिए उसे असंपृक्त होकर अपने निजी विवेक का सहारा लेना आवश्यक है। इस अराजकता के संदर्भ में निर्वैयक्तिकता का एक नया अर्थ उद्‌घाटित होता है। किन्तु लीविस के अनुसार यहाँ असंपृक्तता अपने-आप में पर्याप्त नहीं है। 'श्रद्धा भाव' के बिना असंपृक्तता संशयवाद का रूप ले सकती है और इस प्रकार वह जीवन के मूल स्रोत को ही सुखा देनेवाली प्रमाणित होगी।[१] और इस बिन्दु पर पहुँचकर, जैसा कि बकले का कथन है, कलात्मक निर्वैयक्तिकता धार्मिक विश्वास के साथ संबद्ध हो सकती है।[२]

इस प्रकार जिस 'निर्वैयक्तिकता' को डॉ॰ लीविस ने आलोचनात्मक विषय के रूप में सर्वाधिक महत्त्व दिया है, वह उनकी आलोचना-पद्धति में क्रमशः गत्वर और विकासशील रूप प्राप्त करती गई है। इस विषय के अंतर्गत आपाततः कवि और कविता की निर्वैयक्तिकता की चर्चा करते हुए भी उन्होंने स्वयं एक संवेदनशील पाठक एवं अध्येता के नाते काव्य-ग्रहण के पक्ष में भी निर्वैयक्तिकता की स्थापना कर दी है। लीविस का निर्वैयक्तिकता संबंधी सारा विवेचन एक जागरूक आलोचक की अपनी काव्यानुभूति के विश्लेषण पर आधारित है। कवि और कविता की निर्वैयक्तिकता के संबंध में जो कुछ भी उन्होंने कहा है, वह काव्य-ग्रहण से प्राप्त अनुभवों का प्रक्षेपण-मात्र है। काव्य इस अराजकता के बीच कवि को ही नहीं, ग्राहक को भी असंपृक्तता प्रदान करता है और यदि लीविस का मत स्वीकार करें तो कवि की तरह ग्राहक के लिए भी असंपृक्तकता के साथ श्रद्धा भाव उतना ही आवश्यक है।

'मानसिक अंतराल' का सिद्धान्त

एडवर्ड बुलो ने काण्ट द्वारा प्रतिपादित शब्दों—'निस्संगता' और 'अनासक्ति'—के संबंध में कहा है कि वे स्थिर और बद्ध अवधारणाएँ हैं जिनके अंतर्गत सौन्दर्यानुभूति की विविधता और लचीलेपन के लिए कोई अवकाश नही। इसलिए उन्होंने चेतना की इस अधिवैयक्तिक (ट्रासपर्सनल) स्थिति के लिए 'मानसिक अंतराल' के सिद्धान्त की प्रतिष्ठा की। सामान्यतः 'दूरी' का प्रयोग 'वास्तविक स्थानीय दूरी', 'प्रतिदर्शित स्थानीय दूरी' एवं 'सामयिक दूरी' आदि अनेक अर्थों में किया जाता है। परंतु कला के संदर्भ में इस दूरी का अर्थ है—'मानसिक अंतराल'। यह मानसिक अंतराल काण्ट की 'अनासक्ति' के समान दृष्टिकोण नहीं, एक विशेष प्रकार की मानसिक प्रक्रिया है, जिसकी सिद्धि कलावस्तु के भावन और आस्वाद के लिए अनिवार्य है। दूरी तभी उत्पन्न होती है, जब : "हम अपनी

---

१ But, such a detachment is not of itself sufficient, detachment without 'reverence' leads to a kind of scepticism which drains the springs of vital feelings. Vincent Buckley : *Poetry and Morality*, p. 188.

२ ......analysis leads naturally to the point at which he can associate artistic impersonality with religious belief. *Ibid.*, p. 210

व्यावहारिक चेतना को निष्क्रिय करके कलाकृति को ग्रहण करते हैं और जब हम अपने व्यक्तिगत उद्देश्यों और प्रयोजनों के सन्दर्भ से उसे बाहर रहने देते हैं।[1] इस प्रकार मानसिक अन्तराल की प्रक्रिया सरल नहीं बल्कि अत्यधिक जटिल है। इसके निषेधात्मक और विधयात्मक दो रूप हैं। निषेधात्मक रूप में वह वर्जनात्मक है और वस्तुओं के व्यावहारिक पक्षों तथा उनके प्रति हमारी व्यावहारिक वृत्ति को काटकर अलग कर देता है। विधयात्मक पक्ष उसी वर्जनात्मक क्रिया द्वारा प्रस्तुत की गई नवीन भूमि पर अनुभव का विस्तार करता है।

यह नवीन आधारभूमि है— कलाकृतियों को वस्तुनिष्ठ दृष्टि से देखना। अपनी ओर से केवल ऐसी प्रतिक्रियाओं को अवसर देना जिनसे अनुभव के वस्तुनिष्ठ रूप को बल मिले[2] और फिर अपने आत्मनिष्ठ संवेगों की ऐसी व्याख्या करना जिसमें अपनी निजी सत्ता की अपेक्षा सामान्य तत्त्व की विशेषताएं प्रकट हों।[3]

केवल इसी विधि से कलावस्तु का अनुचिन्तन संभव होता है। परन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं है कि विषय और विषयी के मध्य इतनी दूर तक संबंध विच्छेद हो जाता है कि वह निर्वैयक्तिक हो जाए।[4]

मानसिक अन्तराल में यह अर्थ निहित नहीं है कि उसमें किसी प्रकार का निर्वैयक्तिक या विशुद्ध बौद्धिक संबंध होता है। इसके विपरीत यह एक व्यक्तिगत संबंध का निर्देश करती है जो प्रायः अत्यन्त संवेग रंजित होता है परन्तु उसकी प्रकृति विलक्षण होती है।[5] सामान्य रूप से निर्वैयक्तिकता में सामान्यतः एक प्रकार का ठंडापन, संवेगों का अभाव और शुष्क बौद्धिकता मात्र होता है इसलिए बुलो कलानुभूति के संदर्भ में निर्वैयक्तिकता शब्द का प्रयोग बचाने के पक्ष में थे।

यह बोध कि कला का विषय सामान्य जीवनगत विषयों से भिन्न होता है उसका अस्तित्व मात्र काल्पनिक होता है—हमारी सौन्दर्यानुभूति में सहायक होता है। अतः कलावस्तु के प्रति यह मानसिक अंतराल पाने से हमारे संवेगों को परिवर्तित करके उन्हें यह काल्पनिक रूप प्रदान करता है।

यह निस्संकोच स्वीकार किया जा सकता है कि कलाकृति से हम प्रभावित करने की अधिक संभावना तब होती है जब हम इस प्रभाव-ग्रहण के लिए पहले से तत्पर रहते हैं। निश्चय ही हमारी ओर से किसी प्रकार की पहल से तैयारी के अभाव में उसका अर्थ ग्रहण असंभव हो जाता है और उतनी दूर तक उसका मूल्यांकन नहीं हो पाता। जिस मात्रा में वह हमारी भावात्मक और बौद्धिक विचित्रताओं और अनुभव संबंधी ज्ञान के समानान्तर

---

[1] एडवर्ड बुलो : साइकिकल डिस्टेंस एण्ड ए फैक्टर इन आर्ट एण्ड एन एस्थेटिक प्रिंसिपल (सं० मेल्विन रेडर : ए माडर्न बुक आफ एस्थेटिक्स, पृ० ३६५-६६)

[2] वही, पृ० ३६५-६६

[3] वही, पृ० ३६६

[4] वही, पृ० ३६७

[5] वही, पृ० ३६७

होता है, उसी अनुपात में उस प्रभाव में सफलता और तीव्रता भी होती है। कृति के चरित्रों और दर्शक के बीच रीझ-बूझ के आधार पर रुचि-वैभिन्न्य की व्याख्या की जाती है।[1]

इसलिए बुलो यह भी स्वीकार करते थे कि द्रष्टा और कलाकृति के बीच इस अंतराल में भी मात्राएँ होती है। इस अंतराल में स्वभावतः मात्राएँ होती है। कलावस्तु की प्रकृति के अनुसार वह घटता-बढ़ता रहता है। यही नहीं, बल्कि उस अंतराल का घटना-बढना ग्राहक की अपनी क्षमता पर भी निर्भर है। यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि अंतराल को मापने का अभ्यास व्यक्ति-व्यक्ति के अनुसार बदलता रहता है, यहाँ तक कि एक ही व्यक्ति विभिन्न कृतियों के अनुसार भिन्न मात्रा के अंतराल का अनुभव करता है।[2]

जहाँ एक ओर ग्राहक के लिए सौन्दर्यानुभूति के निमित्त व्यक्तिगत अनुभूतियों और कलाकृति (विशेषकर नाटक के पात्रों) के बीच समुचित अंतराल की रक्षा अनिवार्य है, वहाँ दूसरी ओर कलाकार यदि औचित्य का अतिक्रमण कर जाता है तो ग्राहक को यह अंतराल बनाए रखने में कठिनाई अनुभव होती है। इसीलिए जहाँ ग्राहक के लिए पूर्वाग्रह-मुक्ति अनिवार्य है, वहाँ कलाकार की ओर से अतिशय यथार्थवादी दृष्टि भी इस स्थिति के लिए खतरा पैदा करती है। सेक्स-विषय का खुला वर्णन, शारीरिक चेष्टाओं का चित्रण, अत्यधिक विवादास्पद सार्वजनिक समस्याओं का अंकन इसीलिए या तो विरोध का भाव उत्पन्न करता है या विनोद का। इस प्रकार का फूहड़ यथार्थवाद अपनी यथार्थता में कुत्सित और मर्मभेदी हो जाता है, और ग्राहक और विषय के मध्य दूरी कम हो जाती है। दूरी की अधिकता ग्राहक के मन में असंभाव्यता, कृत्रिमता, खालीपन या निरर्थकता का भाव उत्पन्न करती है।[3]

इसलिए आदर्श स्थिति बुलो वहाँ मानते थे, जहाँ नितान्त व्यक्तिगत प्रभाव चाहे विचार-रूप हों, प्रत्यक्ष बोध-रूप हों या संवेग-रूप हों, उन्हें इतनी दूरी पर रखा जाए कि वे सौन्दर्यानुभूति का विषय हो सकें।[4] दूरी की इस मात्रा को दोनों स्थितियाँ प्रभावित करती है। वे भी जो कलावस्तु द्वारा निर्धारित होती हैं, और वे भी जो ग्राहक के द्वारा स्वीकृत होती हैं। उनकी पारस्परिक क्रिया-प्रतिक्रिया से सौन्दर्यानुभूति के स्वरूप में वैविध्य प्रस्तुत होता है, क्योंकि समुचित दूरी के अभाव का परिणाम, चाहे वह जिस कारण से हो, सौन्दर्यानुभूति का क्षय है।

दूरीकरण की क्रिया में व्यक्ति की क्षमता और वस्तु की विशेषता—इन दोनो ही विधियो के अनुसार दूरी परिवर्तनशील होती है।[5]

बुलो के शब्दों में : "सृजन और आस्वाद दोनों दृष्टियों से, सबसे काम्य स्थिति वह है, जहाँ यह अंतराल न्यूनतम हो, किन्तु लुप्त न हो।"[6]

---

१ एडवर्ड बुलो : साइकिकल डिस्टेन्स एण्ड ए फ़ैक्टर इन आर्ट एण्ड एन एस्थेटिक प्रिंसिपल (सं० मेल्विन रेडर, ए मॉडर्न बुक ऑफ़ एस्थेटिक्स), पृ० ३९८

२ वही, पृ० ३९९

३ वही, पृ० ४००

४ वही, पृ० ४००

५ वही, पृ० ३९९

६ वही, पृ० ३९९

'समानुभूति' का सिद्धान्त

पाश्चात्य सौन्दर्यशास्त्र में सौन्दर्यानुभूति की प्रक्रिया के एक विशेष पक्ष को जिस पारिभाषिक शब्द के द्वारा समझाने का प्रयास किया गया है वह 'एम्पेथी' है। यह शब्द ग्रीक भाषा के आधार पर अंग्रेजी श्रवण के अनुकूल गढ़ा गया है। इसके लिए जर्मन शब्द Einfuhlung है जिसका अक्षरशः अंग्रेजी अनुवाद 'इन फीलिंग' अथवा 'फीलिंग इण्टू' किया जाता है। हिन्दी में समानुभूति शब्द के द्वारा इस संज्ञा में निहित धारणा को व्यक्त किया जा सकता है। समानुभूति संबंधी सिद्धान्त का निर्माण मुख्यतः मूर्तिकला और नृत्यकला जैसी दृश्य कलाओं के संदर्भ में किया गया है किन्तु क्रमशः इसका विस्तार संगीत और साहित्य तक भी कर लिया गया है।

सामान्यतः समानुभूति के अन्तर्गत तीन सोपान विविक्त किए जाते हैं : १ अनुकृति २ अनुभूति ३ प्रक्षेपण। सर्वप्रथम किसी कलाकृति को देखकर हमारे शरीर में उसके अनुरूप अनुकरणात्मक चेष्टाएँ स्वभावतः होती हैं, जैसे किसी प्रतिमा को देखकर तदनुरूप भंगिमाओं का अनुकरण करने की आकांक्षा होती है। तदुपरान्त शारीरिक चेष्टाएँ किसी-न-किसी अनुभूति की ओर प्रवृत्त करती हैं और अंत में हम उन अनुभूतियों का दृश्य कलाकृति में प्रक्षेपण करते हैं। स्पष्ट ही दृश्य कलाएँ दर्शक को समानुभूति के इन तीनों सोपानों पर संचरण कराती हैं—वैसे अन्य कलाओं में अनुकृति को छोड़कर प्रधानतः अनुभूति और प्रक्षेपण की ही वृत्तियाँ पाई जाती हैं। उदाहरण के लिए, अनुकृति की प्रवृत्ति कुछ-न-कुछ संगीत कला में भी होती है जिसमें श्रोता संगीत के साथ स्वयं भी मौन गान करता रहता है अथवा ताल के अनुरूप उसके विभिन्न अंग गतिमान रहते हैं। इसी प्रकार साहित्य में जिस सीमा तक लयमयता और गत्वरता होती है उसके पाठक में भी तदनुरूप शारीरिक प्रतिक्रिया देखी जा सकती है।

समानुभूति के दो भेद किए जाते हैं : १ शारीरिक चेष्टापरक समानुभूति और २ नाटकीय समानुभूति। भिन्न होते हुए भी सामान्य विशेषता यह है कि दोनों में प्रतिग्राह्य वस्तु ग्राहक में समान अनुभूति उत्पन्न करती है। अन्तर यह है कि शारीरिक चेष्टापरक समानुभूति अनुकरणाश्रित होती है तो नाटकीय समानुभूति कल्पनाश्रित तादात्म्य पर निर्भर होती है।

द्वितीय प्रकार की समानुभूति इतनी महत्त्वपूर्ण है कि सामान्यतः समानुभूति का अर्थ नाटकीय समानुभूति ही लिया जाता है और अनेक सौन्दर्यशास्त्री प्रायः तादात्म्य को ही समानुभूति का पर्याय मानते हैं किन्तु तादात्म्य शब्द व्याख्या सापेक्ष है। समानुभूति क्षेत्रीय तादात्म्य की विशेषता यह है कि हम अपने साथ चरित्रों का तादात्म्य नहीं करते बल्कि चरित्रों के साथ अपना तादात्म्य करते हैं। समानुभूति पर मुख्यतः थ्योडोर लिप्स, वर्नन ली तथा विल्हेम वोरिंगर ने विचार किया है जिनके तद्विषयक सिद्धान्त क्रमशः निम्नलिखित हैं :

समानुभूति के सिद्धान्त की पहली विस्तृत व्याख्या जर्मन विद्वान थ्योडोर लिप्स के ग्रंथ 'Raumesthetik' (१८९७) में प्रकाशित हुई। लिप्स के अनुसार समानुभूति का अर्थ है—सौन्दर्यानुभूति के क्षणों में विषय और विषयी के मध्य पार्थक्य द्योतक द्वैत चेतना का

लोप। द्वैत-चेतना के लोप की प्रक्रिया की व्याख्या करते हुए लिप्स ने कहा कि द्वैत-बोध का लोप विषयी के द्वारा विषय पर अहं के प्रक्षेपण से होता है। अहं के उन्होंने दो रूप स्वीकार किए : व्यावहारिक अहं और आस्वादशील या अनुचिंतनशील अहं। जब वे विषय पर विषयी के अहं के प्रक्षेपण की बात करते हैं तो सौन्दर्यानुभूति के संदर्भ में उक्त स्थानान्तरण की प्रक्रिया का उस विषयी का अनुचिंतनशील अहं होता है, व्यावहारिक नहीं।

अहं का इदं में यह प्रक्षेपण एक प्रकार का पारस्परिक अंत:प्रवेश है, जिसका परिणाम विषयी पक्ष में अनुभव की समृद्धि है। इस पारस्परिक अंत:प्रवेश की प्रक्रिया का विश्लेषण करते हुए लिप्स ने कहा कि इसमें चेतनधर्मी चित्त स्वयं सक्रिय होता है और अचेतन रूप से जड़ कलावस्तु को संजीवित करता है, अर्थात इस पारस्परिक अंत:प्रवेश के परिणामस्वरूप चित्त की क्रियाएँ—प्रयत्नशीलता, इच्छाशक्ति, मुक्ति का बोध, शक्ति का बोध आदि कलाकृति मे प्रवेश कर जाती है और कलाकृति चित्त की इन क्रियाओं से युक्त हो जाती है।

समानुभूति का आधार क्योंकि अहं का प्रक्षेपण है, इसलिए यह अनुभूति प्रक्षेपित व्यक्तित्व के मूल्य अर्थात आत्म-मूल्य और अन्विति पर आधारित है। दूसरे शब्दों में, यह अनुभव ग्राहक को अपने महत्त्व का तथा व्यक्तित्व में अन्विति का बोध है।

वर्नन ली (वायलेट पैगेट) ने स्वतंत्र रूप से समानुभूति संबंधी लगभग उन्हीं सिद्धान्तो की व्याख्या की, जिनकी स्थापना थ्योडर लिप्स पहले कर चुके थे। किन्तु लिप्स के ग्रंथ के प्रकाशित होने के दो साल बाद ज्यों ही ली को उनके ग्रंथ का पता चला, उन्होने अपनी मान्यताओ में कुछ दूर तक संशोधन स्वीकार कर लिया। फिर भी ली ने लिप्स द्वारा प्रतिपादित अहं के प्रक्षेपण के सिद्धान्त को अंत तक स्वीकार्य नही माना। उनके अनुसार, उदाहरण के लिए : "जब हम कहते है कि 'पहाड़ ऊपर उठता है' तो वस्तुतः हम उठान सबधी विचार तथा उसके अनुवर्ती संवेगो को अपने अन्दर से देखी गई वस्तु पर स्थानान्तरित कर देते है।" स्वयं ली के शब्दो मे "......यह जटिल मानसिक प्रक्रिया है। इसके द्वारा हम जड़ एवं अरूप पहाड़ को, अपने संचित औसत तथा मूल अनुभावन से युक्त कर देते है। यही वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा हम स्वयं पहाड़ को उठता हुआ देखते है, और इसीको मैंने समानुभूति कहा है।"[१]

यद्यपि प्रस्तुत उद्धरण प्रकृति-सौन्दर्य पर आधारित है, जिसके लिए रिचर्ड्स ने ली की आलोचना करते हुए यह कहा है कि उन्होंने समानुभूति का विचार कला-सौन्दर्य से इतर सामान्य सौन्दर्य के संदर्भ मे किया है। फिर भी वर्नन ली का समानुभूति संबंधी सिद्धान्त मुख्यतः मूर्तिकला पर आधारित है। इसीलिए उनकी समानुभूति में शारीरिक चेष्टाओ की अनुकृति पर विशेष बल है, और संभवतः इसीलिए उन्होंने अहं के प्रक्षेपण जैसे प्रत्ययात्मक, अवधारणात्मक एवं अमूर्त सिद्धान्त के विपरीत, संवेगात्मक एवं विचारात्मक आरोपण पर बल दिया है। ली की समानुभूति लिप्स की अपेक्षा अधिक मांसल और सौन्दर्यपरक अवधारणा है।

---

१ 'एम्पेथी' (मेल्विन रेडर द्वारा 'मॉडर्न बुक ऑफ़ एस्थेटिक्स', पृ० ३७२ पर उद्धृत)

विल्हेम वोरिंगर लिप्स के समानुभूति-सिद्धान्त को आगे बढ़ानेवाले तीसरे विद्वान कला के सुप्रसिद्ध इतिहासकार विल्हम वोरिंगर[1] हैं, जिन्होंने पृथक्करण (एब्सट्रैक्शन) के विरोध में समानुभूति को परिभाषित किया है। उनके विचार से केवल ग्रीक-रोमन, पुनर्जागरण और आधुनिक यथार्थवादी कलाकृतियाँ ही समानुभूति जाग्रत करती हैं क्योंकि उनमें ऐन्द्रिय बोध, सुलभ मूर्तिमत्ता और मांसलता होती है। इसके विपरीत आदिम, मिस्री, बाइजेण्टाइन, गॉथिक, पौरस्त्य एवं आधुनिक अमूर्त कलाएँ 'पृथक्करण' या 'एब्सट्रैक्शन' का भाव उत्पन्न करती हैं, क्योंकि उनमें अमूर्त ज्यामितिक रूपों की प्रधानता होती है। 'पृथक्करण' में ग्राहक का मन 'अमूर्त रूपों' का अनुचिंतन करते हुए कल्पना के सहारे मानवीय प्रकृति का अतिक्रमण करता है, जबकि समानुभूति में ग्राहक का मन कलाकृति में अपने-आपको लय कर देता है। दोनों ही पद्धतियों में ग्राहक का मन सामान्य जीवनानुभव की सीमाओं से मुक्त होने का प्रयास करता है किन्तु इस अंतर के साथ कि पृथक्करण में जहाँ 'अतिक्रमण' होता है, समानुभूति में 'संक्रमण' होता है संक्रमण विषय में विषयी के मन का। इस संक्रमण की परिणति अन्ततः मन के विलय में होती है। वोरिंगर के अनुसार समानुभूति कलाकृति में ग्राहक-मन की सजीव अनुभूतियों के संक्रमण का ही दूसरा नाम है। इस प्रकार समानुभूति बाह्य विश्व और मानव के सुखद सहानुभूतिपूर्ण संबंध का परिणाम है। वोरिंगर के विवेचन से स्पष्ट है कि समानुभूति कला के कुछ विशिष्ट वर्ग की कृतियों में ही संभव होती है और सौन्दर्य ग्रहण का यह मार्ग बौद्धिक या कल्पनाप्रवण 'अनुचिंतन' से भिन्न होता है।

विरोधों का सामंजस्य

श्रेष्ठ कलाकृतियों से प्राप्त होनेवाली अनुभूति में प्रायः अनेक विरोधी गुणों का सामंजस्य पाया जाता है, यहाँ तक कि जिस कलाकृति में जितने अधिक विरोधी तत्वों का सामंजस्य होता है वह उतनी ही श्रेष्ठ मानी जाती है। इस मान्यता के बीज अरस्तू के विरेचन सिद्धांत में पाए जाते हैं, जहाँ त्रास और करुणा जैसे विरोधी भावों के बीच सामंजस्य घटित होता है। इस मान्यता की विस्तृत सैद्धान्तिक स्थापना जर्मनी के रोमांटिक विचारकों—ऑगस्त विल्हेम श्लेगल, ऐडम म्यूलर और कार्ल सोलगर ने की, और अंग्रेजी के सुप्रसिद्ध कवि और आलोचक कोलरिज ने कल्पना की क्षमता के अन्तर्गत विरोधी तत्वों के सामंजस्य का सिद्धान्त निरूपित किया। स्वयं कोलरिज के शब्दों में

"कल्पना की यह शक्ति विरोधी या विसंवादी गुणों के सामंजस्य या संतुलन में अपने-आपको व्यक्त करती है। इसके अन्तर्गत असमानता के साथ समानता, मूर्त के साथ सामान्य, बिम्ब के साथ विचार, प्रतिनिधि के साथ व्यक्ति, प्राचीन और परिचित वस्तुओं के साथ टटकेपन और नवीनता का बोध, असाधारण व्यवस्था के साथ संवेग की असाधारण अवस्था, उदग्र या गहन अनुभूति तथा उत्साह के साथ एकाग्र स्वायत्त भावना, और सजग जाग्रत निर्णय का सामंजस्य पाया जाता है।"[2]

---

१ Wilhelm Worringer Abstraktion and Einfühlung (1908)
(मेल्विन रेडर द्वारा 'ए मॉडर्न बुक ऑफ एस्थेटिक्स', पृ० ३८२–९१ पर उद्धृत)

२ 'बायग्राफिया लिटरेरिया', सेलेक्टेड पोएट्री एण्ड प्रोज ऑफ कोलरिज, अध्याय १४, पृ० २६६

कोलरिज की यह कल्पना-शक्ति रचनाकार के अन्तर्गत जितनी सक्रिय होती है, ग्राहक में उससे किसी भी प्रकार कम सक्रिय नही होती, क्योंकि इतने विरोधों से युक्त रचना को ग्रहण करने के लिए ऐसी ही सामंजस्यधर्मी कल्पना-शक्ति अपेक्षित होती है, जिसके फलस्वरूप गृहीत अनुभूति मे भी उन समस्त तत्त्वों का संतुलन सुलभ होता है।

विरोधों के सामंजस्य की इस रोमाण्टिक मान्यता को रोमाण्टिक कला के विरोधी टी० एस० इलियट और डॉ० रिचर्ड्स प्रभृति आधुनिक समालोचकों ने भी स्वीकार किया और आधुनिक साहित्य के संदर्भ में अपने-अपने ढंग से उसका विकास किया।

टी० एस० इलियट ने विरोधों के सामंजस्य को 'वाग्वैदग्ध्य' (विट) के अन्तर्गत समझाया हे। वाग्वैदग्ध्य की व्याख्या करते हुए उन्होंने कहा है कि वाग्वैदग्ध्य के अन्तर्गत, प्रत्येक अनुभव की अभिव्यक्ति में, विरोधी या भिन्न संभावित अनुभवों के समाहार की क्षमता निहित रहती है। वह एक प्रकार का अभिज्ञान है, जो अनुभव-विशेष को उसके विरोधी तत्त्वों के साथ संश्लिष्ट रूप में ग्रहण और व्यक्त करता है। इलियट ने सामान्य व्यक्ति और कवि के मस्तिष्क में भेद-निरूपण इसी आधार पर किया है कि जब कवि का मस्तिष्क सृजन के लिए पूर्णतः तत्पर होता है, तो वह 'बिखरे अनुभवो का सतत मिश्रण करता है', इसके विपरीत सामान्य व्यक्ति का अनुभव 'विशृंखल, अव्यवस्थित और खंडित' होता है। इस प्रकार इलियट ने कवि-पक्ष में वाग्वैदग्ध्य का प्रयोग दो रूपों मे स्वीकार किया है—किसी अनुभव में उसके विरोधी अनुभवों को समाहृत करने के अर्थ में, और विशृंखल, अव्यवस्थित, खंडित और बिखरे अनुभवों का मिश्रण कर उन्हें अखंड इकाई का सामंजस्यपूर्ण रूप प्रदान करने के अर्थ में।

आइ० ए० रिचर्ड्स ने समाहारधर्मी कविता को श्रेष्ठ कविता मानते हुए कहा कि यह कविता श्रेष्ठ इसलिए होती है कि उसमें 'विडम्बना' (आयरनी) की संभावना अधिक रहती है। समाहारधर्मी कविताएँ वे होती है, जिनमें केवल विविध ही नहीं, विरोधी अनुभवों के अन्तर्भाव और सामंजस्यपूर्ण निर्वाह की क्षमता होती है, और इस प्रकार बिना किसी क्षति के 'विडम्बनापूर्ण अनुचिंतन' को वहन करने में समर्थ होती हैं। रिचर्ड्स के शब्दों में :

"विडम्बना का कार्य विरोधी अर्थात पूरक वृत्तियों का अन्तर्भाव है, इसलिए वह कविता जो इस गुण से मुक्त है, उच्चकोटि की कविता नहीं होती, और विडम्बना उत्कृष्ट कोटि की कविता की विशेषता होती है।"[1]

विडम्बना का प्रयोग काव्य के सृजन-पक्ष से संबद्ध है, अतः वह कवि का दायित्व है। ग्राहक द्वारा आस्वाद के संदर्भ में रिचर्ड्स ने इसी क्षमता को 'मानसिक संतुलन' के सिद्धान्त से समझाया है। रिचर्ड्स के अनुसार सौन्दर्यानुभूति का मूल आधार संतुलन और समरसता है। सौन्दर्यानुभूति में हमारी वृत्तियाँ—जिनकी सहज प्रकृति परस्पर संघर्ष की होती है—इस रूप में व्यवस्थित और संयोजित हो जाती हैं कि उनके मध्य किसी प्रकार के द्वन्द्व की संभावना नही रहती, और उनके बीच पूर्ण संतुलन और समरसता स्थापित हो जाती है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से रिचर्ड्स के इस सिद्धान्त की अस्पष्टता पर

---

[1] प्रिंसिपल्ज़०, पृ० २५०

अनेक आक्षेप किए गए हैं परन्तु इतना तो निश्चित है कि वे इसके द्वारा सौन्दर्यानुभूति म विरोधी वृत्तिया के आस्वाद की समस्या की व्याख्या करते हैं। जब वे कहते हैं कि कविता विरोधी वृत्तियों की सधि भूमि है तो उसम यह भाव सहज रूप से निहित हो जाता है कि हमारे मस्तिष्क म उद्भूत विरोधी वृत्तियो म भी पूर्ण सामरस्य स्थापित हो जाता है।

साथ ही रिचर्ड्स मनोवृत्तियो के इस सतुलन और सामरस्य को निष्क्रिय मन-स्थिति नहीं मानते। बल्कि उनके विचार से यह ऐसी मन स्थिति है जिसम हमारा मस्तिष्क अतिरिक्त रूप से सक्रिय हो जाता है और मनोवृत्तियो का सगठन ऐसे सतुलित रूप मे होता है कि वह हमे क्लान्ति के स्थान पर पुनर्नवता प्रदान करता है।[१]

इसी चिन्तन-परपरा म अमरीका के नव्य आलोचको[२] की विडम्बना सबधी मान्यताएँ भी आती हैं जिन्होंने विडम्बना को एक सामान्य अलकार से ऊँचे उठाकर काव्य के आधारभूत धर्म के रूप म प्रतिष्ठित कर दिया है और उसे शुभ और अशुभ के द्वन्द्व पर आधारित ईसाइयत का दार्शनिक आधार प्रदान किया है।

विरोधो के सामजस्य का सर्वोत्तम उदाहरण नाटक है, क्योंकि वह प्रकृत्या द्वन्द्वमूलक होता है। यह आकस्मिक नहीं है कि अरस्तू ने त्रास और करुणा के सामजस्य मे सपन्न होनेवाले विरेचन सिद्धान्त की स्थापना त्रासदी के ही सदर्भ म की। सभवत इसीलिए टी० एस० इलियट ने समस्त काव्य को नाट्योन्मुख माना है।[३] इसी तथ्य को ध्यान मे रखते हुए विख्यात अमरीकी समालोचक केनेथ बर्क[४] ने कलाओ के क्षेत्र म 'प्रतीकात्मक कार्य (सिम्बोलिक ऐक्शन) को आधारभूत सिद्धान्त के रूप मे प्रतिष्ठित किया, जिसके अनुसार सपूर्ण कलाओ के मूल म 'प्रतीकात्मक कार्य' होते हैं, और कहना न होगा कि यह कार्य मूलत नाट्यधर्मी है। इस सिद्धान्त के अनुसार सभी कलाएँ प्रकृत्या द्वन्द्व निर्भर हो जाती हैं और उनम भाव द्वन्द्वात्मक वृत्तियो एव कार्यों एव कार्यों के नाटकीय सामजस्य का विधान स्वत सिद्ध हो जाता है। केनेथ बर्क के अनुसार यह नाटकीय सामजस्य छोटे-से छोटे प्रगीत मुक्तक मे भी निहित होता है। अन्यत्र भी जिन कलाओ मे किसी प्रकार की गतिशीलता परिलक्षित होती है प्रतीकात्मक कार्य के सिद्धान्त को अन्तर्निहित समझना चाहिए। प्रत्येक कलाकृति के विन्यास मे निहित विकास द्वन्द्वाश्रयी होता है जो प्रकारान्तर से ग्राहक के चित्त म भी द्वन्द्वाश्रयी विकासशील अनुभूति उत्पन्न करता है।

विरोधो के शमन की पुष्टि 'लय' सबधी अवधारणा से भी होती है। आइ० ए० रिचर्ड्स के अनुसार 'लय' केवल एक प्रकार का मानसिक व्यापार है जिसके द्वारा हम कविता म निहित ध्वनि और अर्थ को ग्रहण करते हैं। इस प्रकार लय की स्थिति उत्तेजना म नहीं बल्कि ग्रहणशीलता म होती है।[५] लय सबधी इस आत्मनिष्ठ मान्यता का समर्थन डविट पार्कर ने भी किया है।[६] यद्यपि वियरड्सले ने इसके विपरीत लय को स्वय काव्य

---

[१] आइ० ए० रिचर्ड्स एण्ड अदर्स द फाउण्डेशन्स आफ एस्थेटिक्स, पृ० ७६
[२] विमसाट एण्ड ब्रुक्स, जान क्रो रैन्सम, एलेन टेट आदि
[३] सेलेक्टेड एसेज, पृ० ५२
[४] ए ग्रामर ऑफ मोटिव्स, पृ० ४४७–६३
[५] प्रिंसिपल्स०, पृ० १३७–३९
[६] प्रिंसिपल्स ऑफ एस्थेटिक्स, पृ० १६५

क्षेत्रीय गुण माना है, फिर भी लय की आत्मनिष्ठता एवं वस्तुनिष्ठता के विवाद में पड़े बिना प्रस्तुत प्रसंग में, मानसिक प्रतिक्रिया में निहित लय की स्थिति को सुरक्षित रूप से स्वीकार किया जा सकता है। तात्पर्य यह कि सौन्दर्यानुभूति लयधर्मी होती है, जिसमें लय के समान ही अनेक विसंवादी तत्त्वों की परिणति एक सामरस्यपूर्ण 'राग' के संवाद में होती है। सामान्य लय के दो कार्य होते हैं : एक ओर यह ग्राहक पर सम्मोहन का प्रभाव डालकर उसे ग्रहणशील मन:स्थिति में ले आती है तो दूसरी ओर एक ऐसा 'चौखटा' प्रदान करती है, जिसके अंतर्गत संवेगों का उत्थान-पतन संभव होता है। लय—नाद संबंधी विसंवादी तत्त्वों के बीच ही नही, बल्कि विरोधी संवेगों, भावों और वृत्तियों को भी समरसता में संघटित करती है। सभवत: इसीलिए सौन्दर्यशास्त्रियो एवं समालोचकों ने लय के द्वारा सौन्दर्यानुभूति को स्पष्ट करने का प्रयास किया है और 'विरोधी संवेगों के बीच संतुलन' सिद्धान्त के संस्थापक डॉ० रिचर्ड्स ने अपनी मान्यता की पुष्टि के लिए लय की स्थिति को नितान्त आत्मनिष्ठ मान लिया।

निष्कर्ष

निष्कर्ष यह कि पाश्चात्य काव्यचिंतन एवं सौन्दर्यशास्त्र के अंतर्गत सौन्दर्यानुभूति की प्रक्रिया में निर्वैयक्तिकता, मानसिक अंतराल, समानुभूति एवं विरोधों का सामंजस्य आदि पक्ष होते है। सौन्दर्यानुभूति के ये विविध पक्ष परस्पर-विरोधी नहीं, बल्कि परस्पर-पूरक है। पाठक काव्यकृति के साथ समानुभूति स्थापित करते हुए भी मानसिक अंतराल बनाए रखता है और इस प्रकार अपने चित्त की अनेक विरोधी वृत्तियों का परिहार करके एक प्रकार की निर्वैयक्तिकता का अनुभव करता है।

काव्यानुभूति की प्रक्रिया

संप्रेषण और ग्रहण की प्रक्रिया काव्यशास्त्र की उन प्रमुख समस्याओं में से है, जिस पर संस्कृत काव्यशास्त्र के समान ही पाश्चात्य सौन्दर्यशास्त्र में भी सबसे अधिक विचार किया गया है। वस्तुतः संप्रेषण और ग्रहण एक ही प्रक्रिया के दो पक्ष हैं। कवि अपने अनुभव को पाठक तक संप्रेपित करता है और पाठक उस अनुभव को अपनी क्षमता के अनुसार ग्रहण करने का प्रयास करता है। सामान्य स्थिति में संप्रेषण और ग्रहण के मध्य किसी प्रकार के व्यवधान या अन्तराल की आशंका के लिए स्थान नही है। यह तथ्य है कि महान काव्यकृतियाँ व्यापक स्तर पर गृहीत होती है, उदाहरण के लिए 'रामचरित-मानस' के विषय में यह प्रसिद्ध है कि उसमें आबाल-वृद्ध सभी रस लेते हैं और उसका प्रवेश महलों से लेकर झोंपड़ी तक है। कालजयी कृतियों की विशेषता ही यह मानी जाती है कि वे देश-काल की सीमाओं को पार कर मानव-मन को स्पर्श करने में समर्थ होती है। किन्तु इसके विपरीत दूसरी ओर यह भी तथ्य है कि अनेक महान कलाकृतियाँ यथोचित रूप में पाठकों तक नही पहुँच पाई : या तो स्वयं रचनाकार उन्हें पाठकों तक संप्रेपित करने में किसी कारण से सफल नही हो सके, या फिर पाठक ही उन्हें पूर्णत: ग्रहण करने मे असमर्थ रहे। इस प्रकार संप्रेषण और ग्रहण के बीच एक अल्पकालिक व्यवधान बना रहा, जो कुछ काल पश्चात अपसृत हुआ और पुन: वही अगृहीत कृतियाँ आस्वादक्षम मान ली गई। इतिहास में संप्रेषण और ग्रहण की इन दोनों ही स्थितियों के अनेक उदाहरण

उपलब्ध हैं। ऐसी स्थिति में सप्रेषण और ग्रहण को एक जटिल समस्या के रूप में स्वीकार करना असगत न होगा। यदि महान कलाकृतियाँ व्यापक स्तर पर गृहीत होती हैं तो प्रश्न है कि क्यों? यदि उनके ग्रहण में कोई अल्पकालिक बाधा आती है और पुन वे विलम्बित रूप में गृहीत होती हैं तब भी प्रश्न उठता है कि क्यों? दोनो ही स्थितियों में आधारभूत प्रश्न एक ही है कि रचनाकार की अभिव्यक्ति ग्राहक की अनुभूति किस प्रकार बनती है?

कहने की आवश्यकता नही कि यह समस्या किसी एक देश या काल तक सीमित नहीं रही है। यह दूसरी बात है कि किसी काल म इस समस्या ने उग्र रूप धारण करके काव्यशास्त्रीय विवेचन मे प्रमुखता प्राप्त कर ली हो, और किसी देश के विचारकों ने इस पर अधिक गहराई से विचार किया हो, किन्तु काव्यशास्त्र तथा सौन्दयशास्त्र की यह आधारभूत समस्या है, इस विषय मे दो मत नहीं हो सकते।

उदाहरण के लिए सस्कृत काव्यशास्त्र के प्रस्थान-ग्रथ भरत मुनि कृत 'नाट्यशास्त्र' म प्रेक्षक के विषय म पूरा एक अध्याय है तो पाश्चात्य काव्यशास्त्र की आधारशिला अरस्तू-कृत 'काव्यशास्त्र' भी त्रासदी के दर्शक और पाठक की ओर से उदासीन नही है। यह अवश्य है कि दोनो ही ग्रथो मे नाट्यास्वाद की प्रक्रिया को उतना विस्तार नहीं दिया गया है जितना उनके परवर्ती चिन्तन मे दृष्टिगोचर होता है। यह भी एक अद्भुत सयोग ही है कि रसास्वाद की प्रक्रिया के विषय मे यदि भरत मुनि केवल इतना सकेत देकर आगे बढ जाते हैं कि 'एभ्यश्च सामान्य-गुण-योगेन रसा निष्पद्यन्ते'।[1] अर्थात इनके द्वारा सामान्य गुण योग से रस निष्पन्न होते हैं, तो अरस्तू भी 'विरेचन' (कैथारसिस) के बारे मे इतना ही कहकर मौन हो जाते हैं कि "त्रास और करुणा के द्वारा इन सवेगो का समुचित विरेचन सपन्न होता है।"[2] अरस्तू का 'काव्यशास्त्र' खडित अवस्था में प्राप्त होता है, इसलिए पाश्चात्य विचारको का अनुमान है कि जो खड अनुपलब्ध है, उसी में 'विरेचन' सबधी विचार की सभावना है। भरत के 'नाट्यशास्त्र' के सबध मे यही बात निस्सदेह नहीं कही जा सकती है, किन्तु 'नाट्यशास्त्र' के मूल पाठ के सुरक्षित रह जाने के विषय में भारतीय पडित भी पूर्णत आश्वस्त नहीं हैं। यदि इन पाठगत विवशताओ को एक ओर रखकर विचार करें तो एक समानता दोनो पक्षो मे स्पष्ट है कि रसास्वाद की प्रक्रिया के सबध में सस्कृत और ग्रीक दोनो आचार्यों का विवेचन सक्षिप्त एव सूत्रवत है। स्पष्ट तथ्य यही है, कारण की व्याख्या जो भी की जाए।

आपाततः तो यही प्रतीत होता है कि उनके लिए यह कथन इतना स्पष्ट था कि उन्होने इसकी व्याख्या की आवश्यकता नही समझी। सभवत तत्कालीन पाठको के लिए 'सामान्य-गुण-योग' से रस-निष्पत्ति, तथा त्रास और करुणा से समुचित 'विरेचन' की प्रक्रिया इतनी जटिल नहीं रही होगी कि समझाने के लिए आचार्यों को विस्तार करना पडे। दूसरा कारण यह भी हो सकता है कि कवि और पाठक इस सीमा तक एक ही सामाजिक भाव भूमि के साझीदार थे कि सप्रेषण और ग्रहण मे किसी प्रकार के अन्तराल की आशका ही

---

[1] नाट्यशास्त्र, पृ० ३४८

[2] .. through pity and fear effecting the proper purgation (Katharsis) of these emotions (*Poetics*, Chap VI)

नही थी, इसलिए पाठक को रस-ग्रहण के लिए विस्तार से प्रशिक्षित करने की आवश्यकता ही न रही हो। संस्कृत के सदृश ग्रीक नाटक मे भी कथानक लोकप्रचलित पुराणो से गृहीत होते थे तथा चरित्र भी लोक-प्रसिद्ध तथा प्रख्यात रहते थे और संभवतः अभिव्यंजित भाव भी लोकमानस के लिए पूर्व-परिचित ही रहे हो, इसलिए सप्रेषण-ग्रहण का प्रश्न सामान्य भूमि पर सहज भाव से सुलझ जाता था। जो हो, है ये सभी अनुमान ही। किन्तु इसके अतिरिक्त दूसरा कोई उपाय भी नही।

स्थिति यह है कि परवर्ती काल में मस्कृत काव्यशास्त्र में रस-निष्पत्ति की प्रक्रिया के संबंध में 'संयोग' या 'सामान्य-गुण-योग' को लेकर जिस प्रकार विस्तृत ऊहापोह की परंपरा चल पड़ी, उसी प्रकार पाश्चात्य सौन्दर्यशास्त्र में भी त्रासदी के आस्वाद की प्रक्रिया के विषय मे 'विरेचन' का विश्लेषण एक इतिहास बन गया। यदि इसके मूल में किसी सामाजिक आधार को स्वीकार न भी करे तो भी इतना निश्चित है कि सैद्धान्तिक स्तर पर ही 'रस-निष्पत्ति' और 'विरेचन' की प्रक्रिया परवर्ती विचारकों के लिए उतनी सरल और सुस्पष्ट प्रतीत नही हुई। चिन्तन-क्रम में एक-एक कर अनेक प्रश्न उत्पन्न हुए और उनके समाधान के लिए दोनों ही विचार-परंपराओ में विभिन्न सिद्धान्तो की सृष्टि की गई। अन्तर इतना ही है कि संस्कृत मे जहाँ रस-निष्पत्ति की प्रक्रिया सबधी समस्त प्रश्नो का समाधान करने के लिए एक सर्वव्यापक सिद्धान्त 'साधारणीकरण' स्थिर हुआ, वहाँ पाश्चात्य चिन्तन मे इसके समकक्ष कोई एक सिद्धान्त निर्मित न हो सका। यही नही कि वहाँ प्रत्येक प्रश्न के लिए एक स्वतन्त्र सिद्धान्त प्रस्तुत किया गया, बल्कि चिन्तनगत समुचित तारतम्य एवं सामरस्य के अभाव मे वहाँ एक ही प्रश्न के तुल्यबल वाले अनेक जीवित समाधान समानान्तर रूप से उपलब्ध है, जिनकी एकांगिता सस्कृत काव्यशास्त्र की सुगठित संकल्पना अथवा अवधारणा की तुलना मे और भी स्पष्ट होती चलती है।

उदाहरण के लिए, किसी काव्यकृति के रसास्वाद मे सामान्यतः निम्नलिखित प्रश्न मुख्य रूप से उठते है :

१. काव्यकृति जो एक कवि-पाठक-निरपेक्ष 'वस्तु' है, वह पाठक की अनुभूति—रसानुभूति कैसे बनती है ?

२. काव्यगत परकीय अनुभव पाठक का स्वकीय किस प्रकार होता है ?

३. काव्य का 'विशेष' किस प्रकार इतना 'सामान्य' हो जाता है कि अनेक पाठको के लिए उसका आस्वाद सभव होता है ?

४. कवि, काव्य और पाठक के बीच किस प्रकार का सबध घटित होने पर काव्यास्वाद संभव होता है ?

५ रसास्वाद के लिए काव्य और पाठक के बीच कितनी निकटता और दूरी अपेक्षित है ?

६. काव्य के समुचित ग्रहण के लिए पाठक को किस प्रकार के रूपान्तरण की प्रक्रिया से गुजरना पडता है ?

७. स्वय पाठक के मानस मे काव्य के रसास्वाद की प्रक्रिया किस प्रकार घटित होती है और उस प्रक्रिया के घटक क्या है ?

सभावित प्रश्न और भी हो सकते है, किन्तु भारतीय मनीषा की यह सामर्थ्य है कि

इन सभी प्रश्नों का समाधान केवल एक अवधारणा में उपलब्ध है और वह है साधारणीकरण। वैसे यह अवधारणा इतनी व्यापक है कि इसकी सीमा में काव्य ग्रहण के अतिरिक्त काव्य सृजन का व्यापार भी आ जाता है। किन्तु इसके समकक्ष यदि पाश्चात्य काव्य शास्त्र पर दृष्टिपात करें तो समानुभूति, मानसिक अन्तराल, निर्वैयक्तिकता, विरोधों का सन्तुलन, विरेचन आदि अनेक सिद्धान्त प्राप्त होंगे जो अलग-अलग उपर्युक्त प्रश्नों में केवल एक या दो का ही समाधान प्रस्तुत करने का प्रयास करते हैं। यही नहीं बल्कि ये सभी सिद्धान्त मिलकर भी आस्वाद प्रक्रिया के सम्पूर्ण पक्षों को समाहित करने में अपर्याप्त प्रतीत होते हैं। ऐसा नहीं है कि पाश्चात्य विचारक काव्य ग्रहण की प्रक्रिया में निहित प्रश्नों से पूर्णतः अवगत नहीं हैं और न उन्होंने समस्या को गहराई में जाकर अधिक-से-अधिक असुविधाजनक प्रश्नों को उठाकर उन्हें स्पष्टतः विवक्षित करने में ही किसी प्रकार के बौद्धिक आलस्य का सहारा लिया है। कमी है तो केवल उस सर्वव्यापी समंजस अवधारणा की जो अपनी चिन्तन प्रणाली में सभी प्रश्नों को तर्कसंगत रीति से समाविष्ट कर सके।

काव्य वस्तु का साधारणीकरण

'विशेष' का साधारणीकरण

'साधारणीकरण और व्यक्ति वैचित्र्यवाद' शीर्षक निबंध में आचार्य शुक्ल ने लिखा है कि "काव्य का विषय सदा 'विशेष' होता है, 'सामान्य' नहीं, वह 'व्यक्ति' सामने लाता है, 'जाति' नहीं। यह बात आधुनिक कला समीक्षा के क्षेत्र में पूर्णतया स्थिर हो चुकी है।"[1] आधुनिक कला समीक्षा से शुक्लजी का तात्पर्य पाश्चात्य कला समीक्षा की आधुनिक प्रवृत्ति से है, क्योंकि इसी प्रसंग में आगे चलकर बिम्बों की चर्चा करते हुए उन्होंने पाद टिप्पणी में क्रोचे का मत उद्धृत किया है। जिस कथन की पुष्टि के लिए उन्होंने क्रोचे को उद्धृत किया है, वह यह है कि "काव्य का काम है कल्पना में बिम्ब (इमेजेज) या मूर्त भावना उपस्थित करना, बुद्धि के सामने कोई विचार (कन्सेप्ट) लाना नहीं। बिम्ब जब होगा तब विशेष या व्यक्ति का होगा, सामान्य या जाति का नहीं।"[2] जैसा कि शुक्लजी ने उसी निबंध में आगे चलकर स्वयं स्वीकार किया है, विशेष या व्यक्ति को काव्य का विषय मानने की प्रवृत्ति का उदय यूरोप में पुनरुत्थान-युग से हुआ और स्वच्छन्दतावादी (रोमांटिक) आन्दोलन से उसे बल प्राप्त हुआ तथा अभिव्यंजनावाद ने उसे व्यक्ति वैचित्र्यवाद की चरम सीमा पर पहुँचा दिया। अंग्रेजी के रोमाण्टिक कवि विलियम ब्लेक ने बहुत पहले घोषणा की कि "सामान्यीकरण करने का अर्थ है जड़ होना। योग्यता का एकमात्र लक्षण है विशेषीकरण। सामान्य ज्ञान वह ज्ञान है जो मूर्खों के पास होता है।" आधुनिक युग के प्रभावशाली फ्रांसीसी विचारक बर्गसाँ ने जैसे ब्लेक की बात को और भी स्पष्ट करते हुए कहा कि "कला का लक्ष्य सदैव वह है जो व्यक्ति है। फलक पर कलाकार जो अंकित करता है वह कुछ ऐसा है जिसे उसने एक निश्चित स्थान पर, एक निश्चित दिन, एक निश्चित समय पर, एक विशेष रंग में देखा है जिसे वह फिर कभी न देख सकेगा। कवि जो गाता है वह एक ऐसी विशेष मनःस्थिति है जो उसकी और केवल

---

[1] चिन्तामणि भाग १ पृ० २२८

[2] वही पृ० २२८

उसी की थी और जो फिर वापस नहीं आएगी।''''''हैमलेट के चरित्र से अधिक अद्वितीय कोई चरित्र नहीं हो सकता। यद्यपि वह कुछ बातों में अन्य व्यक्तियों के अनुरूप हो सकता है, किन्तु यह वह कारण नहीं है जिससे वह हमें सबसे रुचिकर प्रतीत होता है।"[1]

सामान्य तुलना से स्पष्ट हो जाएगा कि क्रोचे के 'बिम्ब' का आधार जो 'विशेष' है, वह बर्गसाँ के 'चरित्र' में निहित 'व्यक्ति' से भिन्न नहीं है। यह संयोग की बात नहीं है कि दोनों ही विचारक 'प्रातिभज्ञान' (इन्ट्यूशन) को सर्वोपरि मानते थे। इसलिए देखना यह है कि काव्य अथवा कला के संप्रेषण की समस्या को ये विचारक किस प्रकार हल करते थे? क्रोचे के बारे में तो प्रसिद्ध ही है कि वे कला को संप्रेषण की वस्तु मानते ही नहीं थे। उनकी 'अभिव्यंजना' भी आन्तरिक ही थी। जो विचारक बाह्य अभिव्यंजना से भी उदासीन हो, उसके लिए संप्रेषण या ग्रहण का प्रश्न ही नही उठता। इस विषय में बर्गसाँ के किसी स्पष्ट कथन का पता हमे नही है; किन्तु जिस व्यक्तिवादी कला के आधार पर उन्होंने अपने सिद्धान्त का निर्माण किया है, उसके रचनाकार ग्राहकों से विच्छिन्नता का अनुभव करते हुए अवश्य पाए जाते हैं। एक बार काव्य-विषय को 'विशेष' या 'व्यक्ति-रूप' स्वीकार कर लेने के बाद किसी अन्य द्वारा उसके ग्रहण किए जाने की संभावना कम-से-कम सैद्धान्तिक स्तर पर तो समाप्त ही हो जाती है।

प्राचीन भारत में भी दर्शन के क्षेत्र में कुछ एक ऐसे चिन्तन-निकाय थे, जो शब्द का संकेत व्यक्ति में मानते थे। नव्य नैयायिको का मत इसी प्रकार का था। उनके मत के अनुसार शब्द से साक्षात बोध 'व्यक्ति' का ही होता है, 'जाति' का नही; जाति तो उपलक्षण मात्र है। बौद्धों का अन्यापोहवाद भी प्रकारान्तर से शब्द-संकेत के इसी मत का पोषण करता है। क्षणवादी बौद्ध किसी पदार्थ की क्षणिक सत्ता में ही विश्वास करने के कारण क्षण-स्थित पदार्थ को ही 'अर्थक्रियाकारित्व' से युक्त 'स्व-लक्षण' मानते थे। इस प्रकार उनके मत से 'जाति' के संकेत का तो प्रश्न ही नही उठता, उनका 'व्यक्ति' भी अभावाभाव की स्थिति का द्योतक होता था। परन्तु यह महत्त्वपूर्ण तथ्य है कि भारतीय काव्यशास्त्र नव्य-नैयायिकों और बौद्धों के चिन्तन से सर्वथा अप्रभावित रहा। पश्चिम में व्यक्तिवाद जिस प्रकार कला और काव्य-सिद्धान्त का आधार बना, भारत में उसके सर्वथा विपरीत काव्यशास्त्र तत्तुल्य सिद्धान्तों से मुक्त था।

अभिनवगुप्त ने तो 'अभिनवभारती' में यहाँ तक कहा कि काव्य में व्यक्ति-विशेष का अनुकरण, अनुकीर्तन या अनुव्यवसाय असंभव है। उनके अनुसार 'कवि के लिए भी नियत व्यक्ति-विशेष के वर्णनीय होने पर अनौचित्य का परित्याग संभव न होने से काव्य ही नही बन सकता है।[2] किन्तु यदि कोई कवि इस प्रकार का अनुचित प्रयास करे भी तो द्रष्टा उससे उदासीन होने के कारण रसास्वाद नही कर सकेगा। स्वयं अभिनवगुप्त के शब्दों में : "इन सभी पक्षो में असाधारणता होने से उसके विषय में द्रष्टा का औदासीन्य होने के कारण रसास्वाद नही बन सकता है।"[3]

---

[1] हेनरी बर्गसाँ, लाफ़्टर : एन एसे ऑन द मीनिंग ऑफ़ द कॉमिक, पृ० १६१-६२

[2] कवेश्च नियतवर्णनीयनिश्चितत्वे काव्यस्यैवासपपत्तेरनौचित्यावर्जनयोगात्।
अभिनवभारती, भाग १, पृ० ३५

[3] सर्वेष्वेतेषु पक्षेष्वसाधारणतया द्रष्टुरौदासीन्ये रसास्वादायोगात्। वही, पृ० ३५

इस प्रकार स्पष्ट है कि संस्कृत काव्यशास्त्र मे काव्य का विषय कभी विशेष या व्यक्ति का नही माना गया इसीलिए काव्य के साधारणीकरण की समस्या का समाधान करने म संस्कृत काव्यशास्त्रियो को सैद्धान्तिक दृष्टि स किसी प्रकार की ऐसी कठिनाई का सामना नही करना पडा जैसी पाश्चात्य आलोचको को हुई थी।

जाति या सामान्य का साधारणीकरण

पाश्चात्य काव्यशास्त्र म जिस प्रकार व्यक्ति या विशेष को काव्य का विषय मानने की एक विचार परपरा है उसी प्रकार जाति या सामान्य को भी काव्य विषय मानने की दूसरी परपरा विद्यमान रही है। स्वय अरस्तू ने त्रासदी को 'जाति (स्पीसीज़) का अनुकरण कहा है। अरस्तू द्वारा प्रवर्तित यह सिद्धान्त आगे चलकर नव्य क्लासिकी समालोचकों के द्वारा सामान्य की अभिव्यक्ति के रूप म प्रचलित हुआ। नव्य-क्लासिकी समालोचको की यह धारणा थी कि काव्य मे जनरल या यूनिवर्सल अर्थात सामान्य' की अभिव्यक्ति होनी चाहिए। इस चिन्तन म जनरल शब्द अनेक अर्थों में प्रयुक्त होता था और जैसा कि विमसाट ने लिखा है अंग्रेजी आलोचना म जनरल शब्द के प्रचलित एव सम्भावित अर्थों की संख्या नौ थी।[१] डा० जानसन ने शेक्सपियर के नाट्य चरित्रो की महत्ता का कारण बतलाते हुए स्पष्ट शब्दो म कहा है कि अन्य कवियो के चरित्र जहाँ प्राय व्यक्ति मात्र है शेक्सपियर के चरित्र सामान्यत जाति हैं।[२]

इस प्रवृत्ति के समानान्तर भारत मे विचारको की एक ऐसी परपरा प्राप्त होती है जो शब्द का साक्षात सकेत जाति म मानती थी। इन विचारको म मीमासक मुख्य थ। मीमासको के अनुसार शब्द का सकेत केवल जाति रूप ही है। युक्ति यह है कि गो व्यक्ति परस्पर भिन्न होते हैं किन्तु उन सबका प्राणप्रद सामान्य धर्म गोत्व जाति है। इसी प्रकार शख हिम दुग्ध आदि म जो शुक्ल गुण हैं वे परमार्थत भिन्न ही हैं किन्तु उन सबका निर्देश हम एक ही सामान्य शब्द शुक्ल से करते है। अतएव गुणवाचक शब्द भी जातिवाचक ही है। ऐसा ही क्रियावाचक शब्दो के विषय मे भी कहा जा सकता है। मीमासको ने सभी शब्दो—यहाँ तक कि व्यक्तिवाचक सज्ञाओ को भी अपने तर्क से जातिवाचक सिद्ध करके अन्तत यह मत प्रतिष्ठित किया कि सभी शब्द जाति का ही बोध कराते है। निश्चय ही काव्यशास्त्र पर मीमासको का प्रभाव रहा है और उल्लेखनीय है कि मीमासक शब्द का केवल एक शक्ति अभिधा को ही स्वीकार करते थे। सभवत जाति को शब्द का साक्षात सकेत स्वीकार करने के बाद एकमात्र वाच्यार्थ के अतिरिक्त अन्य कोई गति नही रहती। ऐसी स्थिति मे सैद्धान्तिक दृष्टि से साधारणीकरण म कोई भी बाधा नही उठती। जब काव्य का विषय पहले ही से जाति या सामान्य' है और वह सामान्य वाच्यार्थ है तो पाठक को उसे तत्काल ग्रहण करने मे किसी प्रकार का आयास न होगा। इस मान्यता के साथ यदि कोई कठिनाई है तो यह कि जिस काव्य का विषय नितान्त सामान्य' होगा वह

---

१ लिटररी क्रिटिसिज्म ए शार्ट हिस्ट्री पृ० ३३१–३३

२ In the [illegible] often an individual [illegible] The Verbal Icon p 74)

'काव्य' न होगा। जिस प्रकार व्यक्ति-विशेष की अभिव्यक्ति में 'काव्य' की संभावना क्षीण हो जाती है, उसी प्रकार जाति-सामान्य की अभिव्यक्ति मे भी। एक दृष्टि से 'वैचित्र्य' की सृष्टि होती है तो दूसरी दृष्टि से सपाट इतिवृत्तात्मकता की। इसीलिए भारतीय मीमांसक 'जाति' का संकेतग्रह मानते हुए लक्षणा से 'व्यक्ति' को भी जाति मे आक्षिप्त मानने के लिए तत्पर दिखाई पड़ते है।

व्यक्ति-विशिष्ट जाति का साधारणीकरण

इसलिए संतुलित मत यही है कि काव्य का विषय ऐसे व्यक्ति या विशेष को माना जाए जो जाति के गुणों से युक्त होकर जाति या सामान्य का भी द्योतन करे। संस्कृत काव्य-शास्त्र शब्द-मीमांसा की जिस दार्शनिक परंपरा पर आधारित था, वह व्याकरण-दर्शन था। व्याकरण-दर्शन शब्द का साक्षात संकेत जात्यादि अर्थात जाति, गुण, क्रिया और यदृच्छा चारों को मानता था। इसी आधार पर मम्मट ने स्वीकार किया है कि **'संकेतितश्चतुर्भेदो जात्यादिर्जातिरेव वा'**[1] अर्थात 'संकेतित जात्यादि' अथवा 'जाति' ही होता है, जिसके चार भेद होते है।

संस्कृत काव्यशास्त्र जिस व्याकरण-दर्शन पर प्रतिष्ठित था, उसके अनुसार शब्द का संकेत व्यक्ति में न होकर व्यक्ति की उपाधि में होता है। उपाधि का अर्थ है—व्यवच्छेदक धर्म। व्यक्ति में पाए जानेवाले धर्म दो प्रकार के होते है। कुछ धर्म व्यक्ति मे मूलतः होते है, जिन्हे 'वस्तुधर्म' कह सकते है। कुछ धर्म हम उस व्यक्ति पर अपनी इच्छा के अनुसार आरोपित करते है, जिन्हे 'यदृच्छासंनिवेशित' कह सकते है। 'वस्तुधर्म' भी दो प्रकार के होते है, कुछ तो 'साध्यमान' होते है, जिन्हे सामान्य व्यवहार में 'क्रिया' कहते है, और कुछ 'सिद्ध' होते है, जिनमें से एक तो उस वस्तु का प्राणप्रद अर्थात उसे व्यवहार की योग्यता देनेवाला होता है, जिसे 'जाति' कहते है और दूसरा व्यवहार योग्य व्यक्ति की कुछ विशेषता द्योतित करता है, जिसे 'गुण' कहते है। इस प्रकार 'जाति' का धर्म व्यक्ति को व्यवहार-योग्यता देता है तो 'गुण' का धर्म उस व्यक्ति की विशेषता प्रकट करता है। विशेष का अर्थ है—सजातीय से व्यावर्त्तक धर्म। जातिधर्म जिसका सिद्ध हो चुका है, ऐसे व्यक्ति का सजातीय से व्यावर्तन करनेवाला धर्म है—गुण। इसलिए वैयाकरणो के अनुसार जाति और व्यक्ति में अविनाभाव होने के कारण जाति से व्यक्ति का आक्षेप होता है। 'शब्द-व्यापार-विचार' में मम्मट ने इसी मत को स्वीकार किया है।[2]

इस प्रकार जाति तथा व्यक्ति में अविनाभाव होने से जाति द्वारा व्यक्ति आक्षिप्त होता है। इसे मीमांसकों के अनुसार लक्षणारूप माना जाए अथवा वैयाकरणों के मत से अनुमान रूप, किसी प्रकार का मानने पर भी जाति को लौकिक व्यवहार में प्रकट होना है, तो व्यक्ति के माध्यम द्वारा ही प्रकट होना चाहिए। लौकिक व्यवहार भेद-प्रधान होता है, अतएव वहाँ व्यक्ति-भाव को प्राधान्य तथा जाति-भाव को गौणत्व प्राप्त होता है। किन्तु

---

१ काव्यप्रकाश २।८

२ व्यक्त्यविनाभावात्तु जात्या व्यक्तिः आक्षिप्यते।
ग० त्र्यं० देशपाण्डे द्वारा भा० सा०, पृ० १७४ पर उद्धृत

काव्य में व्यक्ति भाव का प्राधान्य नहीं रहता। काव्य नाट्य आदि में राम एक व्यक्ति न होकर एक अवस्था का प्रतिपादक होता है धीरोदात्ताद्यवस्थानां रामादि प्रतिपादक। अभिनवगुप्त का कथन है कि काव्यादि में केवल वाच्य अवस्था में रामादि का वृत्तान्त ही दिखाई देता है तथा आपातत वह विशिष्ट देशकालादि से सीमित भी माना जा सकता है किन्तु परमार्थत वह व्यक्ति-सम्बद्ध व्यवहार अपेक्षित ही नहीं रहता। काव्य में इस व्यवहार का साधारणीभाव ही प्राप्त होता है। अतएव काव्यगत व्यवहार की प्रतीति रसिक में भी व्याप्त हो जाती है।[1] जाति का प्रकटीकरण व्यक्ति द्वारा न हुआ तो लौकिक व्यवहार सम्पन्न नहीं होता तथा व्यक्ति द्वारा जाति की अर्थात सामान्य की प्रतीति न हुई तो काव्यव्यवहार सम्पन्न नहीं होता। प्रत्येक स्थिति में व्यक्ति और जाति का अविनाभाव अवश्यभावी है।

संस्कृत काव्यशास्त्र ने इस प्रकार काव्य विषय के रूप में व्यक्ति विशिष्ट जाति को स्वीकार करके सैद्धान्तिक स्तर पर साधारणीकरण की सम्भावना तथा आवश्यकता दोनों ही के लिए पथ प्रशस्त कर दिया। एक ओर व्यक्ति विशिष्ट जाति एकान्तिक रूप से ऐसा व्यक्ति विशेष नहीं है कि उसमें सामान्य होने की सम्भावना न हो दूसरी ओर वह ऐकान्तिक रूप से 'जाति' नहीं है कि उसे सामान्य बनाने की आवश्यकता ही न रह जाए। सम्भवत इसी तथ्य को ध्यान में रखकर आचार्य शुक्ल ने कहा कि भारतीय काव्य-दृष्टि भिन्न भिन्न विशेषों के भीतर से सामान्य के उद्घाटन की ओर बराबर रही है। किसी-न किसी सामान्य के प्रतिनिधि होकर ही विशेष हमारे यहाँ के काव्यों में आते रहे हैं।[2] अन्यत्र उन्होंने अपने इस कथन को और भी स्पष्ट करते हुए कहा है कि व्यक्ति तो विशेष ही रहता है पर उसमें प्रतिष्ठा ऐसे सामान्य धर्म की रहती है जिसके साक्षात्कार से सब श्रोताओं या पाठकों के मन में एक ही भाव का उदय थोड़ा या बहुत होता है। तात्पर्य यह कि आलम्बन रूप में प्रतिष्ठित व्यक्ति समान प्रभाववाले कुछ धर्मों की प्रतिष्ठा के कारण सबके भावों का आलम्बन हो जाता है।[3]

तात्पर्य यह कि संस्कृत काव्यशास्त्र के अनुसार साधारणीकरण की सम्भावना स्वयं काव्य के विषय में ही होती है पाठक काव्य को ग्रहण करने में इसलिए समर्थ होता है कि काव्य की वस्तु विशेष सामान्य गुणों से युक्त होती है।

काव्य वस्तु के विषय में सामान्यता के निक्षेप के लिए संस्कृत आचार्यों ने एक विधान यह भी किया था कि काव्य-नाट्य में वर्तमान स्थित व्यक्तियों का चित्रण न किया जाए क्योंकि वर्तमान में स्थित व्यक्ति स्वालक्षण्य के कारण अर्थक्रियाकारित्व में समर्थ होते हैं। रामादि पुराकालीन प्रसिद्ध चरित्र पाठक एवं द्रष्टा को इसलिए साधारणवत् ग्राह्य होते हैं कि वे वर्तमान नहीं हैं इसलिए वे अर्थक्रियाकारित्व में समर्थ भी नहीं हैं। विभावादि के साधारणीभाव के लिए अभिनवगुप्त ने उपर्युक्त युक्ति प्रस्तुत

---

[1] ध्वन्यालोकलोचन पृ० १६८

[2] चिन्तामणि भाग १ पृ० २३८

[3] वही पृ० २३०

की है।[1] इस विषय के स्पष्टीकरण के लिए नोली की अतिरिक्त टिप्पणी भी उल्लेखनीय है।[2]

पाश्चात्य काव्यशास्त्र मे भी संस्कृत काव्यशास्त्रीय व्यक्ति-विशिष्ट जाति के समकक्ष काव्य-विषय के संतुलित स्वरूप को निर्धारित करने का प्रयास किया गया है। विमसाट ने एक निबंध[3] मे दिखलाया है कि व्यक्तिवादी और जातिवादी दो एकान्तों के बीच 'मूर्त सार्वभौम' अथवा 'विशिष्ट सामान्य' (कान्क्रीट यूनिवर्सल) की धारणा का क्रमिक विकास पाश्चात्य चिन्तन मे भी होता रहा है। वैसे काव्य में 'विशेष' को महत्त्व देनेवाले भी उसी प्रकार 'सामान्य' के अस्तित्व को कुछ-न-कुछ स्वीकार करते थे, जिस प्रकार 'सामान्य' को महत्त्व देनेवाले 'विशेष' के अस्तित्व को; किन्तु मुख्य प्रश्न था—दोनो को एक निश्चित सिद्धान्त के अन्तर्गत समंजस और संतुलित रूप में संगठित करने का। इसी दृष्टि से विमसाट ने 'मूर्त सार्वभौम' की अवधारणा प्रस्तुत की है, जो स्वयं विमसाट के अनुसार उतनी नवीन नही है, जितनी एम्पसन, एलेन टेट, रिचर्ड ब्लैकमर और क्लीन्थ ब्रुक्स के नवीनतम काव्यात्मक विश्लेषणो मे पहले ही से अन्तर्निहित है। यदि कोई काव्य-कृति अन्य प्रकार की कृतियों की तुलना में सीधे-सादे अर्थ में अधिक विशेष अथवा अधिक सार्वभौम नही होती तो संभावना यही है कि वह ऐसा विशेष अथवा ऐसा अर्थ-संकर है, जिसका संबंध सार्वभौमों के संसार से विशेष प्रकार का होता है। इस प्रसग मे विमसाट ने अप्रत्याशित रूप से रस्किन की 'माडर्न पेण्टर्स' नामक पुस्तक से एक उद्धरण दिया है जिसमे रेनॉल्ड्स के 'आइडलर्स' की आलोचना करते हुए रस्किन कहते है कि : "कविता इतिहास से इसलिए भिन्न नही है कि उसमे ब्यौरों का अभाव होता है अथवा कुछ और ब्यौरे अतिरिक्त रूप से जोड़ लिए जाते है। या तो स्वय उन ब्यौरों की प्रकृति मे ही कुछ ऐसा होता है अथवा उनके प्रयोग की पद्धति ही ऐसी होती है, जिनके कारण उन्हे काव्यात्मक शक्ति प्राप्त हो जाती है।" इस कथन की व्याख्या करते हुए विमसाट कहते है कि : "ब्यौरों का काव्य-गुण उसमे नही होता जो वे

---

[1] एतादृशं ते रामादयो न कदाचन प्रमाणपथमवार्यन्ते यदाऽऽगमेन वर्ण्यन्ते। तदा तद्विशेषबुद्धिः यद्यपि रामायणप्रायादेकस्मान्मदृावाक्यादुल्लसति; तथापि वर्तमानतयैव विशेषाणां सम्भाव्यमानार्थक्रियासामर्थ्यात्मकसालक्षण्यपर्यवसानात्। न च तेषां वर्तमानतेत्युपगता तावद्विशेषबुद्धिः। काव्येष्वपि हृदयमेव तावत्साधारणीभावो विभावादीनां जाता।

अभिनवभारती, भाग १, पृ० ३५-३६

[2] The perception of the particular names and shapes of Rama, etc. (therefore of their qualifications of time, space etc.) does not involve that they cannot be perceived in a generalised form, a personality, etc., inserts itself into our practical life (develops, so to say, this casual efficiency) only when it is contemporary with us, *i.e.*, connected with the present and therefore with the practical interests, etc., of our own Ego. When these personalities are not contemporary they cannot develop their natural casual efficiency. In the aesthetic perception, they are independent from the concepts both of reality and non-reality and are thus perceived as 'generalised'. In this sense their particularity (विशेष) is not contrasting with the concept of generality.

The Aesthetic Experience According to Abhinavagupta, p. 111.

[3] '*The Concrete Universal*', PMLA LXII, March 1947. Later included in his book "*The Verbal Icon*". pp. 68–83.

प्रत्यक्षतः वाच्यार्थ रूप में कहते हैं बल्कि उस क्रम व्यवस्था में होता है जिसके द्वारा वे प्रच्छन्न प्रदर्शित करते हैं।[१]

मूर्त सार्वभौम के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए विमसाट ने आगे अंग्रेजी कवि बेन जानसन का यह उद्धरण दिया है कोई कृति दो प्रकार से विचारणीय होती है या तो वह केवल पृथक होने के कारण स्वनिष्ठ होती है या फिर अनेक अंगों के द्वारा निर्मित होने के कारण जैसे-जैसे वे अंग परस्पर संश्लिष्ट और विकसित होते जाते हैं वह एक होने की ओर उन्मुख होती है।[२] ब्योरों का यह जटिल विन्यास ही किसी काव्यकृति को सर्वोच्च मात्रा में 'विशिष्ट' बनाता है और इस विशिष्टता का ही दूसरा नाम 'मूर्त सार्वभौम' है।

नाटक प्रबंधकाव्य तथा उपन्यास में मूर्त सार्वभौम का रूप जटिल चरित्रों के रूप में पाया जाता है जिसे ई०एम० फ़ार्स्टर ने 'राउण्ड कैरेक्टर' की संज्ञा प्रदान की है। सपाट चरित्र की तुलना में जटिल चरित्र इसलिए सार्वभौम नहीं होता कि उसमें संख्या की दृष्टि से अधिकाधिक विशेषताएँ होती हैं बल्कि जटिल चरित्र में परस्पर विरोधी विशेषताओं का विशेष प्रकार से संश्लेषण होता है। उदाहरण के लिए फ़ाल्स्टाफ कायरता व्यभिचार आदि अनेक दुर्बलताओं से युक्त होते हुए जिस प्रकार की आत्म सजगता का परिचय देता है वह उसकी दुर्बलताओं को भी एक विशेष प्रकार का रंग दे देती है और अन्ततः वह एक अत्यन्त जटिल चरित्र के रूप में हमारे सामने आता है। विमसाट के मूर्त सार्वभौम का दूसरा रूप है मेटाफ़र या रूपक जो समकालीन पाश्चात्य काव्य समीक्षा की सर्वाधिक चर्चित और प्रधान अवधारणा है। यों तो भाषा मात्र रूपकधर्मी कही जाती है किन्तु काव्य में रूपक का विशेष प्रयोग होता है। रूपक प्रकृत्या एक मिश्रित एवं जटिल पदार्थ है जो आपाततः दो पदार्थों के सादृश्य का संकेत देते हुए अधिक सामान्यतः तृतीय पदार्थ की व्यंजना करता है। इसका आधार अरस्तू द्वारा निरूपित भिन्नता में एकता का सिद्धान्त है। इसी की व्याख्या करते हुए कोलरिज ने कहा है कि कोई कृति उसी मात्रा में समृद्ध होती है जिस मात्रा में वह विविध अंगों को एकता प्रदान करती है।[३] स्पष्ट ही यह विशेषता रूपक में पाई जाती है। विमसाट ने इसी दृष्टि से काव्य में रूपक की प्रशस्ति की है।[४]

इस प्रकार 'जटिल चरित्र तथा रूपक' के उदाहरणों से विमसाट ने मूर्त सार्वभौम की अवधारणा का स्वरूप स्पष्ट किया है। काव्यनिष्ठ मूर्त सार्वभौम अपने जटिल

---

१ The poetic character of details consists not in what they say directly and explicitly but in what by their arrangement they *show* implicitly
The Verbal Icon p 77

२ One is considerable two ways either as it is only separate and by itself or as being composed of many parts it beginnes to be one as those parts grow or are wrought together
(Quoted by Wimsatt in *The Verbal Icon* p 77)

३ A work of art is rich in proportion to the variety of parts which it holds in unity *Ibid* p 81

४ Metaphor combines the element of necessity or universality (the prime poetic quality which Aristotle noticed) with that other element of *concreteness* or specificity which was implicit in Aristotle s requirement of mimetic object It is only in metaphor, and hence it is *par*

संघटनात्मक विन्यास के कारण विशिष्ट होते हुए भी पाठक के मस्तिष्क में अर्थ-वृत्तों की परंपरा की सृष्टि करता है जो उसकी व्यापकता और सार्वभौमिकता का सूचक है। जैसे किसी जलाशय में फेंकी हुई कंकड़ी क्रमशः वृत्तों की परंपरा निर्मित करती है, उसी प्रकार काव्य-कृति भी पाठक के मस्तिष्क में अर्थ-वलय का निर्माण करती है।[१] यह कलाकृति की विशिष्टता के साथ ही सार्वभौमिकता का भी द्योतक है।

विशेष चरित्र में निहित सार्वभौम के स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए पाश्चात्य साहित्य-समीक्षा में 'टाइप' के सिद्धान्त की स्थापना की गई है। हंगरी के प्रसिद्ध मार्क्सवादी आलोचक जार्ज लूकाच ने यथार्थवाद के संदर्भ में 'टाइप' सिद्धान्त की व्याख्या करते हुए लिखा है कि : "यथार्थवाद इस तथ्य का प्रत्यभिज्ञान है कि साहित्यिक कृति, जैसा कि कुछ प्रकृतवादी समझते है, न तो निर्जीव औसत पर निर्भर है और न ऐसे व्यक्ति-सिद्धान्त पर जो अपने 'स्व' को शून्य में विलीन कर दे। यथार्थवादी साहित्य का मूल निकष और विचार-श्रेणी 'टाइप' है : एक ऐसा अनूठा संश्लेषण जो चरित्रों और स्थितियों, दोनों ही क्षेत्रों में सामान्य और विशेष को आवयविक रूप से संयोजित करता है। 'टाइप' को जो 'टाइप' बनाता है, वह उसका औसत गुण नहीं है, और न उसकी केवल व्यक्ति-सत्ता ही है, भले ही उसकी संकल्पना कितने ही गहरे स्तर पर क्यों न की गई हो। उसे 'टाइप' बनाने वाला तत्त्व वह है, जो उसमें मानवीय तथा सामाजिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण उन समस्त विभावक पदार्थों को उनके विकास के सर्वोच्च रूप में प्रस्तुत करता है और फिर उनमें निहित संभावनाओं को अन्ततः उद्‌घाटित करता है; इस प्रकार वे युगों और मनुष्यों के शिखरों और सीमाओं को मूर्तिमान करते हुए अपने चरम रूप में अभिव्यक्त होते है।"[२]

---

excellence in poetry, that we encounter the most radically and relevantly fused union of the detail and the universal idea ....Metaphor is the universal amber for the preservation and enhancement of the scraps and trifles of historic fact.........Metaphors are poetry's permanent and necessary conclusions drawn from variable and contingent premises. Other universals are abstract and to that extent *a priori*, even tautological. (A rose is a rose.........) Metaphor is a substantive—or a mock—substantive universal. *Literary Criticism : A Short History*, pp. 749-50.

१ A good story poem is like a stone thrown into a pond, into our minds, whenever widening concentric circles of meanings go out—and this because of structure of story. *The Verbal Icon*, p. 81.

२ Realism is the recognition of the fact that a work of literature can rest neither on a lifeless average, as the naturalists suppose, nor as an individual principle which dissolves its *own* self into nothingness. The central category and criterion of realist literature is the type, a particular synthesis which originally binds together the general and particular both in characters and situations. What makes a type a type, is not its average quality, not its mere individual being, however profoundly conceived, what makes it a type is that in it all the humanly and socially essential determinants are present on their highest level of development, in the ultimate unfolding of the possibilities latent in them in extreme presentation of their extremes, rendering concrete the peaks and limits of men and epochs. *Studies in European Realism*, Tr. Edith Bone, p. 6.

जार्ज लूकाच का 'टाइप' एक ओर निर्जीव 'औसत' से भिन्न है तो दूसरी ओर एकान्त व्यक्ति से, वह विशेष और सामान्य का अनूठा संश्लेषण है, वह केवल प्रस्तुत वर्तमान ही नहीं बल्कि समस्त मानवीय एवं सामाजिक संभावनाओं से युक्त है। उनका 'टाइप' संपूर्ण परिस्थितियों के संदर्भ में परिभाषित होनेवाला संपूर्ण मानव है। इस प्रकार एक ओर वह परिस्थिति और मानव के द्वन्द्वात्मक संबंध का प्रतीक है तो दूसरी ओर सामान्य और विशेष के द्वन्द्वात्मक संश्लेषण की परिणति है। ऐसा टाइप यदि काव्य का विषय होता है तो पाठकों के लिए उसका साधारणीकरण निश्चित है। तात्पर्य यह कि किसी काव्य कृति के संप्रेषण एवं ग्रहण के लिए स्वयं काव्य विषय में ही 'साधारण्य' की संभावनाओं का विद्यमान होना आवश्यक है।

पाश्चात्य साहित्य में आधुनिक युग के 'बिम्बवादी' कवियों ने भी 'बिम्ब' की ऐसी ही संकल्पना की थी जो वस्तुगत दृष्टि से विशेष होते हुए भी अर्थ की दृष्टि से सामान्य को व्यंजित करने की क्षमता रखता है। एज़रा पाउंड ने जिन चीनी 'भाव चित्रों' (आइडियोग्राम्स) के आधार पर बिम्ब सिद्धान्त की प्रतिष्ठा की थी, वह रूप और भाव के इसी विशेष-सामान्य का संश्लिष्ट भाव चित्र है।[1] इसलिए व्यवहार में 'बिम्बवादी' कविताएँ अपने व्यक्ति-वैचित्र्य के कारण भले ही असंप्रेष्य रही हों किन्तु उनमें निहित काव्य सिद्धान्त सामान्यगर्भी विशेष का प्रतिष्ठापक था, इसलिए सिद्धान्ततः 'बिम्ब' में ग्रहण की समस्त संभावनाएँ विद्यमान थीं।

काव्यगत भावों का साधारणीकरण

काव्य विषय के अन्तर्गत व्यक्तियों एवं वस्तुओं के अतिरिक्त संवेग आदि भी समाविष्ट हैं अन्तर इतना ही है कि काव्य में संवेगों की सीधी अभिव्यक्ति संभव नहीं है इसलिए मूर्त व्यक्तियों और वस्तुओं के माध्यम से ही संवेगों को संप्रेष्य बनाया जाता है। इसीको संस्कृत काव्यशास्त्र में इस प्रकार कहा गया है कि भाव काव्य में कभी स्वशब्दवाच्य नहीं होता, इसलिए स्वशब्दवाच्य आलम्बन आदि विभावों के द्वारा ही भावों की व्यंजना की जाती है। प्रश्न यह है कि काव्यगत विभावों के समान भावों में भी साधारण्य की संभावना किस रूप में विद्यमान होती है? क्या विभावों के समान भाव भी विशेष और सामान्य के संश्लिष्ट रूप होते हैं?

संस्कृत काव्यशास्त्र में भाव के अन्तर्गत स्थायी संचारी एवं सात्त्विक तीन प्रकार के भावों की गणना की जाती है। कुछ विद्वानों के अनुसार भावों का यह वर्गीकरण संगीत शास्त्रीय 'स्थायी' और 'अन्तरा' के आधार पर किया गया है। यदि यह व्याख्या सही है तो अन्य भावों के साथ स्थायी का वही संबंध है जो विशेषों के साथ सामान्य का होता है। जिस प्रकार काव्यगत चरित्रों और बिम्बों में अनेक छोटे छोटे ब्यौरों के बीच एक सामान्य तत्त्व अन्तर्निहित रहता है उसी प्रकार काव्यगत भावों में भी अनेक संचारियों के मध्य एक स्थायी की सत्ता स्वीकार की जा सकती है। इस प्रकार स्थायी भाव प्रकृत्या 'सामान्य' ही होते हैं। सामान्य होने के कारण ही स्थायी भावों के साधारणीकरण की समस्त संभावना

---

[1] एज़रा पाउण्ड : द चायनीज़ रिटन कैरेक्टर एज़ ए मीडियम फॉर पोएट्री, न्यूयॉर्क, १९१९

उनकी प्रकृति में ही विद्यमान है। संभवतः इसीलिए साधारणीकरण के संदर्भ मे स्थायी भावो का उल्लेख नही किया जाता। सस्कृत के आचार्य जब 'विभावादि' के साधारणीकरण की चर्चा करते है तो 'आदि' के अन्तर्गत विभाव के अतिरिक्त अनुभाव और सचारी भाव ही आते है। 'विभावदि' मे 'आदि' का तात्पर्य क्या है इस पर स्पष्ट रूप से न तो भट्टनायक ने ही कुछ कहा है, न अभिनवगुप्त ने ही; किन्तु भरत मुनि के सूत्र **'विभावानुभावव्यभिचारि-संयोगाद्रसनिष्पत्तिः'** के आलोक में विद्वानो ने 'विभावादि' का अर्थ विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव ही लगाया है, जो सर्वथा समीचीन प्रतीत होता है।[1] साधारणीकरण के लिए किसी विषय का कुछ-न-कुछ असाधारण होना आवश्यक है क्योकि साधारणीकरण का अर्थ ही है—असाधारण का साधारण होना। इस दृष्टि से विभाव, अनुभाव एवं व्यभिचारी भाव ही असाधारण अथवा विशेष से संवलित होते है, इसलिए असाधारणता को साधारण रूप देने का प्रश्न केवल उन्ही के संदर्भ मे उठता है। काव्यशास्त्र मे जिन्हे स्थायी भाव की सज्ञा दी गई है, वे पहले ही से 'साधारण' है, इसलिए उन्हे साधारणीकृत करने का प्रश्न ही नही उठता।

स्थायी और संचारी भावो की अपनी-अपनी प्रकृति तथा उनके पारस्परिक संबध पर प्रकाश डालते हुए अभिनवगुप्त कहते है कि: "स्थायी भाव इतने ही (अर्थात नौ ही) होते है; क्योकि उत्पन्न हुआ प्राणी इतनी ही वासनाओ से युक्त उत्पन्न होता है।······इन चित्त-वृत्तियो के संस्कारों से रहित कोई भी प्राणी नही होता है। केवल किसी प्राणी की कोई चित्तवृत्ति अधिक होती है और किसी की कुछ कम होती है; किसी की उचित विषय मे नियंत्रित होती है और किसी की इसके विपरीत।······और ये जो ग्लानि, शंका आदि रूप विशेष प्रकार की व्यभिचारिभावात्मक या अस्थायी चित्तवृत्तियाँ है, वे अपने योग्य विभावादि के अभाव मे जन्म के भीतर भी सदा विद्यमान नही होती। कारणों के द्वारा जिसमे कुछ समय के लिए ये होती भी हैं तो उसमें भी कारणो के दूर हो जाने पर नष्ट हो जाती है। यह नही होता कि ये संस्कार-रूप से शेष बनी रह जाएँ। इनके विपरीत उत्साह आदि स्थायी भाव अपने आवश्यक कार्य को समाप्त कर चुकने से विलीनप्राय हो जाने पर भी सस्कार रूप से अवश्य विद्यमान रहते है क्योकि अन्य कार्यो के विषय मे उत्साह आदि की समाप्ति तो नही होती है।······इसलिए स्थायी भाव-रूप चित्तवृत्ति के सूत्र मे बंधे हुए ही ये व्यभिचारी भाव उदय-अस्त रूप अनेक विचित्रताओ से युक्त अपने स्वरूप को प्राप्त कर लाल-नीले आदि डोरो मे पिरोये हुए अलग-अलग रूप से पाए जाने के कारण, सहस्रो भेद सभव होने से, स्फटिक, कांच, अभ्रक, पद्मराग, मरकत और महानील आदि मणियो के दानो के समान उस स्थायी भाव-रूप सूत्र मे अपने विचित्र सस्कारो का समावेश न कराते हुए भी, उस सूत्र के द्वारा किए जानेवाले अनेक उपकारो को धारण करके स्वय अपने को और विचित्र अर्थ वाले उस स्थायी सूत्र को भी नाना रूप मे प्रकट करते हुए और बीच-बीच मे कही-कही उस शुद्ध स्थायी सूत्र को भी प्रकाशित होने का अवसर प्रदान करते हुए भी

---

[1] **प्रेमस्वरूप गुप्त : रसगंगाधर का शास्त्रीय अध्ययन, पृष्ठ १५३-५४**

आगे-पीछे के व्यभिचारी भाव रूप रत्नों की छाया से मिश्रित रूप दिखलाते हुए प्रतीत होते हैं।"[1]

इस प्रकार अभिनवगुप्त द्वारा निरूपित स्थायी भाव प्रकृत्या सार्वभौम होने के कारण साधारण्य की सम्भावना से युक्त होते हैं।

यदि भाव का अर्थ 'कवेरन्तर्गतं भावम्' लिया जाए तो यह प्रश्न अवश्य उठता है कि स्थिति विशेष में कवि को जो विशेष प्रकार के 'भाव' का अनुभव होता है, वह पाठक के लिए किस प्रकार ग्राह्य होता है? अभिनवगुप्त के अनुसार कवि का अन्तर्गत भाव चित्त-वृत्ति रूप होते हुए भी कवि का व्यक्तिगत मनोविकार नहीं होता। 'शोकः श्लोकत्वमागतः' की व्याख्या करते हुए 'ध्वन्यालोकलोचन' में अभिनवगुप्त कहते हैं कि 'न तु मुनेः शोक इति मन्तव्यम्।'[2] अर्थात् श्लोक-रूप में परिणत होनेवाला यह शोक मुनि का व्यक्तिगत मनो-विकार नहीं है। इसी बात को और भी स्पष्ट करते हुए अभिनवगुप्त ने अन्यत्र कहा है कि कवि का अन्तर्गत भाव लौकिक विषयों से उत्पन्न हुआ नहीं होता, बल्कि अनादि प्राक्तन-संस्कार रूप तथा प्रतिभानमय अथवा प्रतिभा से प्रकाशमान काव्यार्थ है।[3] स्पष्ट है कि कवि का यह भाव यदि उसका व्यक्तिगत मनोविकार नहीं, बल्कि प्रतिभा से प्रकाशित काव्योपम 'भाव' है तो उसकी सत्ता निर्वैयक्तिक एवं वस्तुनिष्ठ हो जाती है और इस प्रकार वह कवि का अन्तर्गत भाव होते हुए भी सामान्य पाठक के लिए ग्राह्य हो जाता है।

संस्कृत काव्यशास्त्र की भाव संबंधी इस वस्तुनिष्ठ परिकल्पना के सदृश पाश्चात्य समीक्षा में तत्संबंधी विचार सुलभ होते हैं। काव्य में निर्वैयक्तिकता के प्रबल समर्थक टी० एस० इलियट ने बार-बार बल देकर यह बात कही है कि काव्य कवि के व्यक्तिगत संवेगों या मनोविकारों की अभिव्यक्ति नहीं, बल्कि उनसे पलायन है। एक निबंध में मिडिल्टन नामक लेखक की प्रशंसा करते हुए इलियट कहते हैं कि मिडिल्टन में 'मानव-प्रकृति का वही

---

1. स्थायित्वं चैतावतामेव। जात एव हि जन्तुरियतीभिः संविद्भिः परीतो भवति। न हि एतच्चित्तवृत्तिवासनाशून्यः प्राणी भवति। केवलं कस्यचित्काचिदधिका चित्तवृत्तिः काचिदूना। कस्यचिदुचितविषयनियन्त्रिता, कस्यचिदन्यथा। ये पुनरमी ग्लानिशङ्काप्रभृतयश्चित्तवृत्तिविशेषास्ते समुचितविभावाभावाज्जन्मध्येऽपि न भवन्त्येव। यस्यापि भवन्ति विभावबलात्तस्यापि हेतुप्रक्षये क्षीयमाणाः संस्कारशेषतां तावन्नावश्यमनुबध्नन्ति। उत्साहादयस्तु सम्पादितस्वकर्तव्यतया प्रलीनकल्पा अपि संस्कारशेषतां नातिवर्तन्ते। कर्तव्यान्तरविषयस्योत्साहादेरखण्डनात्। तस्मात् स्थायिरूपचित्तवृत्तिसूत्रस्यूता एवामी व्यभिचारिणः स्वात्मानमुदयास्तमयवैचित्र्यशतसहस्रधर्माणं प्रतिलभमानाः रक्तनीलादिसूत्रस्यूतविरलभावोपलम्भनसम्भावितभङ्गीसहस्रगर्भस्फटिककाचाभ्रक-पद्मराग-मरकत-महानीलादिमयगोलकवत् तस्मिन् सूत्रे स्वसंस्कारवैचित्र्यमनिवेशयन्तोऽपि तत्सूत्रकृतमुपकारं सन्दर्भं बिभ्रतः स्वयं च विचित्राः स्थायिसूत्रं च विचित्रयन्तोऽन्तरान्तरा शुद्धमपि स्थायिसूत्रं प्रतिभासावकाशमुपनयन्तोऽपि पूर्वापरव्यभिचारिरत्नच्छायाशबलिमानमवश्यमानयन्तः प्रतिभासन्त इति।

   अभिनवभारती, भाग १, पृ० २८२-८३

2. ध्वन्यालोक, पृ० ८८

3. कवेर्वर्णनानिपुणस्य यः अन्तर्गतः अनादिप्राक्तनसंस्कारप्रतिभानमयः न तु लौकिक-विषयजः। अभिनवभारती, भाग १, पृ० ३४५

निर्वैयक्तिक और निर्विकार पर्यवेक्षण पाया जाता है।[1] अन्यत्र फ्रांसीसी कवि पाल वैलेरी की 'ल सर्पेण्ट' नामक काव्य-पुस्तक की भूमिका में इलियट पुनः कहते है कि "महान कला निर्वैयक्तिक होती है, इस अर्थ में कि व्यक्तिगत संवेग और व्यक्तिगत अनुभव विस्तृत होकर एक प्रकार के निर्वैयक्तिक में पूर्णता प्राप्त करते है, इस अर्थ में नही कि व्यक्तिगत अनुभव तथा मनोविकार से वे विच्छिन्न हो जाते है।"[2]

निश्चय ही काव्यगत भावो की यह निर्वैयक्तिकता 'साधारण्य' अथवा 'सामान्य' की सूचक है। पाश्चात्य साहित्य-चिन्तन में संस्कृत काव्यशास्त्र के समान 'स्थायी भाव' जैसी किसी शास्त्रीय संकलपना का निर्माण तो नहीं हुआ, किन्तु आधुनिक सौन्दर्यशास्त्र में उस दिशा में प्रयास करने की प्रवृत्ति अवश्य दिखाई पड़ती है। सूज़न लैंगर ने 'रिफ़लेक्शन्स ऑन आर्ट' (१९५८) नामक पुस्तक में जर्मन विचारक ओटो बाएन्श (Otto Baensch) का 'कला और अनुभूति' (आर्ट एण्ड फ़ीलिंग)[3] शीर्षक एक निबंध प्रकाशित किया है, जिसमें उक्त लेखक ने 'वस्तुगत अनुभूति' (आब्जेक्टिव फ़ीलिंग) की स्थापना की है। बाएन्श के अनुसार: "वस्तुगत अनुभूतियाँ हमसे पृथक नितान्त वस्तुगत सत्ता रखती है और वे किसी भी चेतन प्राणी की आन्तरिक अवस्थाएँ नहीं होतीं। किन्तु ये वस्तुगत अनुभूतियाँ अपने-आप स्वतंत्र स्थिति में घटित नहीं होतीं। वे सदैव वस्तुओ में अन्तर्निहित और मूर्तिमान रहती हैं और उनसे किसी प्रकार अलग नहीं की जा सकतीं। वस्तुगत अनुभूतियाँ सदैव वस्तुओं के निर्भर अंग हैं।" जहाँ तक उन अनुभूतियों को ग्रहण करने का प्रश्न है, बाएन्श के अनुसार: "परोक्ष विधि के अतिरिक्त उन्हें ग्रहण करने का कोई दूसरा उपाय नही है। परोक्ष विधि का अर्थ है, उन्हें ऐसी घटनाओं से संबद्ध करना जो उन्हे अपने अन्दर सन्निविप्ट करने के साथ वहन करने में भी समर्थ हों, ताकि उन घटनाओं का स्मरण दिलाते हुए किसी को भी उन संवेगात्मक गुणो का अनुभव हो जाए।" इन वस्तुगत अनुभूतियों को सार्वभौम रूप में सुलभ करने के प्रश्न का उत्तर देते हुए उसी लेखक ने आगे यह कहा है कि: "उन्हें वहन करने में समर्थ वस्तुओं के निर्माण के माध्यम से ही उन्हे किसी की चेतना के लिए ग्राह्य बनाया जा सकता है: ये निर्मित वस्तुएँ ही वस्तुतः 'कलाकृतियाँ हैं'।"

बाएन्श की 'वस्तुगत अनुभूतियो' की परिकल्पना पर टिप्पणी करते हुए सूजन लैंगर ने कहा है कि: "ऐसी अनुभूति जो किसी जीवित प्राणी में न हो किन्तु जो इस विश्व की विषय-वस्तु के रूप में वर्तमान हो······वह निश्चय ही एक अनूठी खोज है; फिर भी यह उस विचार-परंपरा का सूत्रपात है जिससे कलात्मक अनुभूति की सार्वभौम प्रतीति की समस्या का समाधान संभव हो सका।"[4]

दूसरी ओर क्रिस्टोफ़र कॉडवेल ने काव्य की संप्रेपणीयता की व्याख्या करने के लिए 'सामूहिक संवेग' (कलेक्टिव इमोशन) का सिद्धान्त प्रस्तुत किया है। उनके मत से: "कविता

---

१ सेलेक्टेड एसेज, पृ० १६७

२ प्रीफ़ेस टु 'ल सर्पेण्ट'

३ 'Kunst and Gefühl' Logos, Vol. XII (1923-24), pp. 1–28.

४ रिफ़लेक्शन्स ऑन आर्ट, भूमिका, पृ० १२

एक सामूहिक भाव की अभिव्यक्ति होने मे सक्षम है।[1] सामूहिक भाव की व्याख्या करते हुए काडवल ने आगे कहा है कि ये भाव सामूहिक रूप स उत्पन्न होते हैं किन्तु एकान्त म भी अवशिष्ट रहते हैं यहाँ तक कि एक अकेला व्यक्ति भी कोई गीत गाते हुए सामूहिक बिम्बो के द्वारा अपने सवेग का उद्रेक अनुभव करता है। कला का यह विरोधाभास है कि मनुष्य अपने साथियो से पलायन करके कला के ससार म विश्रान्ति प्राप्त करते हुए भी मानवता के साथ और भी गहरे स्तर पर साहचर्य स्थापित करता है। एक बार प्रवणशील हो जाने के बाद काव्य कला का सामूहिक सवेग नितान्त वैयक्तिक और निजी सम्प्रेषण को भी व्याप्त करने म समर्थ होता है। इस प्रकार कला का ससार सामाजिक सवेग का ससार है—शब्द और बिम्ब सर्वजन के जीवन अनुभवो के परिणाम होते हैं और सवेगात्मक अनुपग भी सार्वजनिक निधि के रूप मे उत्पन्न होते हैं और जैसे जैसे सामाजिक जीवन म जटिल विस्तार आता है इन सवेगो की भी जटिलता बढ़ती जाती है।

इस प्रकार काडवेल ने सामूहिक सवेग की परिकल्पना के द्वारा काव्य म निहित एक ऐसे भाव की सत्ता की ओर सकेत करने का प्रयास किया है जो कवि के व्यक्तिगत सवेग से भिन्न तथा विशिष्ट है।

बाएश की वस्तुगत अनुभूति और कॉडवेल का सामूहिक सवेग प्रकारान्तर स काव्यगत भाव के उसी स्वरूप की व्याख्या करने के प्रयास हैं जिन्हे संस्कृत काव्यशास्त्र मे स्थायी भाव की सज्ञा दी गई है। स्थायी भावो की स्थापना के मूल मे इस बात का प्रयास है कि उस भावात्मक तत्त्व का निर्देश किया जाए जो काव्य निबद्ध विशिष्ट अनुभूति की सर्वव्यापी या सामूहिक अनुभूति का आधार है। मानव मात्र म वासना या सस्कार रूप मे कुछ ऐसे भाव निहित रहते हैं कि वह अनायास ही विशेष घटनाओं और परिस्थितियों के प्रति विशेष प्रकार की भावात्मक प्रतिक्रिया व्यक्त करता है। परिस्थिति या घटना विशेष के प्रति एक सामान्य भावात्मक प्रतिक्रिया की अभिव्यक्ति मानव का विषयिगत गुण है या वस्तु का वस्तुगत गुण यह एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। स्पष्ट ही काडवेल और भारतीय विचारक इसे चित्तवृत्ति रूप मानते हैं और बाएश वस्तुगत। सरसरी दृष्टि से बाएश की बात सर्वथा अनर्गल प्रतीत हो सकती है क्योकि अनुभूति या भाव चेतना का गुण है। परन्तु साथ ही उनकी बात यो ही उडा देने की नही है क्योकि यह भी सत्य है कि अनुभूति के अनुभव के लिए वस्तु तत्त्व अनिवार्य है। अनुभवकर्ता के रहने या न रहने पर भी कला वस्तुओ म एक विशेष प्रकार की अनुभूति उत्पन्न करने का गुण वर्तमान रहता है जबकि घटना या परिस्थिति के अभाव म मानव के चेतनायुक्त होते हुए भी भाव की उत्पत्ति नहीं होती। जितना सहृदय पाठक के लिए सवासन और सवेदनशील होना अनिवार्य है उतना ही कलावस्तु के लिए भावोद्बुद्धि म सक्षम या समर्थ होना। इसके अतिरिक्त सहृदय काव्य निबद्ध भाव की ही अनुभूति करता है आत्मस्थ स्वतंत्र या निरपेक्ष भाव की नहीं। बाएश के सामने समस्या यही थी कि इस विभावबद्ध भाव की व्याख्या व किस प्रकार करें। क्योकि कला म विभाव के अभाव म (भले ही विभाव व्यजित हो) भाव की सत्ता नहीं होती अत जिस समस्या को भारतीय मनीषियो ने विभाव और भाव के विभाजन से

[1] इल्यूजन एण्ड रियेलिटी पृ० २३

मुलझा लिया था, उसे उन्होने 'वस्तुगत अनुभूति' कहकर विरोधाभास को जन्म दिया। भारतीय काव्यशास्त्र में इस विषय में कोई द्विधा नहीं थी कि काव्य में विभावित भाव रचयिता का व्यक्तिगत मनोविकार न होकर एक प्रकार की अलौकिक तथा अधिक तर्क-सम्मत शब्दावली में काव्यगत अनुभूति (पोएटिक इमोशन) होता है, जो कवि का प्रतिभा-नमय भाव होता है। अन्तर केवल इतना है कि इस काव्य-निबद्ध अनुभूति को उन्होने भाव कहा और अनुभूति के आधार को विभाव और वाएन्श ने इसी विभावित भाव को 'वस्तुगत अनुभूति।' अन्तर इतना ही है कि जो अवधारणा संस्कृत काव्यशास्त्र में सर्वसम्मति से मान्य हो गई, वह पाश्चात्य काव्यशास्त्र में केवल कुछ विचारकों द्वारा प्रस्तुत व्यक्तिगत मान्यता-मात्र होकर रह गई। इसीलिए पाश्चात्य काव्यशास्त्र एवं सौन्दर्यशास्त्र में संवेगों के स्तर पर प्रेषणीयता की समस्या को सैद्धान्तिक दृष्टि से सुलझाने के लिए किसी सर्वमान्य अवधारणा का निर्माण अभी तक न हो सका।

साधारणीकरण और काव्यात्मक भाषा

काव्य के सम्यक संप्रेषण के लिए विभावादि मे साधारण्य की क्षमता का होना ही पर्याप्त नहीं है, बल्कि विभावादि का काव्यात्मक भाषा में व्यक्त होना भी आवश्यक है। सप्रेषण के लिए काव्यात्मक भाषा का महत्त्व भारतीय और पाश्चात्य दोनों ही काव्यशास्त्रीय परंपराओं में स्वीकार किया गया है। साधारणीकरण का स्पष्ट उल्लेख करनेवाले प्रथम संस्कृत आचार्य भट्टनायक ने इस प्रसंग में भाषा की काव्यात्मकता का प्रश्न उठाया है। रसानुभूति के लिए उन्होने अन्य शब्दों से विलक्षण 'काव्यात्मक शब्द'[1] को आवश्यक माना है। काव्यात्मक शब्द में भी उन्होने विशेष रूप से 'भावकत्व' व्यापार को विभावादि के साधारणत्व का संपादक कहा है।[2] भट्टनायक के अनुसार यह भावकत्व व्यापार वाच्य-विषयक अभिधायक अथवा अभिधा व्यापार से विलक्षण होता है।[3] अभिनवगुप्त, जो भट्टनायक के भावकत्व व्यापार को आनंदवर्धन द्वारा प्रतिष्ठित ध्वनि अथवा व्यंजना-व्यापार के अन्तर्गत समाविष्ट करने का प्रस्ताव करते है, साधारणीकरण के लिए 'भावकत्व' की आवश्यकता का निषेध नही करते; क्योंकि वह समुचित-गुणालंकार-परिग्रहात्मक है[4] और रस-काव्य किसी भी प्रकार समुचित गुण और अलंकार का परित्याग नही कर सकता। जो हो, भट्टनायक के अनुसार उसे चाहे 'भावना' कहे अथवा अभिनवगुप्त के अनुसार 'व्यंजना', विभावादि को साधारणीकृत रूप देने के लिए काव्यात्मक भाषा का उपयोग आवश्यक है। संस्कृत आचार्यों के अनुसार केवल अभिधा के सहारे विभावादिकों की वाच्यार्थ-प्रतीति कराने से उनका लौकिक रूप ही दृष्टिगोचर होता है, जो रस-प्रतीति के सर्वथा अनुपयुक्त है। अभिनवगुप्त ने अन्यत्र इसी बात को कालिदास-कृत 'अभिज्ञान शाकुंतल' के 'ग्रीवाभंगाभरामं' छंद का उदाहरण देते हुए स्पष्ट किया है कि समर्थ काव्य-

---

१ किं त्वन्यशब्दवैलक्षण्यं काव्यात्मनः शब्दस्य······। ध्वन्यालोक-लोचन, पृ० १६३

२ तच्चैतद्भावकत्वं नाम रसान् प्रति यत्काव्यस्य तद्विभावादीनां साधारणत्वापादनं नाम। ध्वन्यालोक-लोचन, पृ० १६३

३ तेन रसभावनाख्यो द्वितीयो व्यापारः; यद्वशादभिधा विलक्षणैव। वही, पृ० १६३

४ भावकत्वमपि समुचितगुणालंकारपरिग्रहात्मकमस्माभिरेव वितत्य वक्ष्यते। वही, पृ० १६६

भाषा के द्वारा यहाँ भयाक्रान्त मृग का साक्षात्कार-कल्प बिम्ब-ग्रहण होता है।[1] यह बिम्ब ग्रहण भाषा के काव्यात्मक सामर्थ्य के ही कारण संभव हो सका है। समर्थ भाषा के अभाव में न तो भयभीत मृग का कोई रूप हमारे सामने आता और इस प्रकार न ही उसका साधारणीकरण होता। संभवतः इसीलिए संस्कृत आचार्यों ने नाट्य में भी काव्य तत्त्व पर इतना बल दिया है।

पाश्चात्य सौन्दर्यशास्त्र में अनेक विचारकों ने त्रासदी के संदर्भ में भाषा की काव्यात्मकता का महत्त्व रेखांकित किया है जो प्रकारान्तर से नाट्य-मात्र के विषय में लागू होता है। जार्ज सटायना ने तो यहाँ तक कहा है कि विषय नहीं बल्कि कलात्मक निर्वाह ही त्रासदी को त्रासदी का गौरव देता है।[2] जेरोम स्टोलनित्ज़ ने हैमलेट के स्वगत कथनों की ओर संकेत करते हुए कहा है कि काव्यात्मक गुण के ही कारण त्रासदी में हमारी रुचि बनी रहती है और इसी गुण के कारण वह हमें दुःखद प्रतीत नहीं होती।[3] भाषा की काव्यात्मकता में वह सामर्थ्य है कि अप्रिय, दुःखद और विकर्षक विषय को भी हृद्य और आस्वाद्य बना देती है इस तथ्य पर बल देते हुए एक अन्य सौन्दर्यशास्त्री डविट पार्कर ने व्यापक रूप से समस्त कलाओं के संदर्भ में कहा है कि मन को बाँधने वाली पंक्तियाँ, हृदय को जीत लेनेवाले रंग और अभिभूत कर देनेवाली लय, विकर्षक विषयवस्तु के भी विकर्षणकारी तत्त्वों को दूर कर सकती है।[4]

डविट पार्कर का यह कथन पंडितराज जगन्नाथ के निम्नलिखित वक्तव्य से अद्भुत साम्य रखता है

अयं हि लोकोत्तरस्य काव्यव्यापारस्य महिमा—यत्प्रयोज्या अरमणीया अपि शोकादय पदार्था आह्लादमलौकिकं जनयन्ति।[5]

(यह अलौकिक काव्य व्यापार की महिमा है कि उसके प्रयोग से अरमणीय शोक आदि पदार्थ भी अलौकिक आह्लाद उत्पन्न करते हैं।)

परन्तु इस विषय पर संभवतः सबसे गंभीर विचार डॉ० एफ० आर० लीविस ने 'त्रासदी और माध्यम' शीर्षक निबंध में किया है। त्रासदी से प्राप्त होनेवाली 'गहन निर्वैयक्तिकता' का विश्लेषण करते हुए उन्होंने उसका मूल 'भाषा के काव्यात्मक उपयोग' में बतलाया है। 'भाषा के काव्यात्मक उपयोग' की व्याख्या करते हुए उन्होंने आगे कहा है कि 'काव्यात्मक से मेरा तात्पर्य नाटकीय है काव्यात्मक अथवा नाटकीय भाषा वह है जो सीधे वक्तव्य से भिन्न होती है और जहाँ पूर्वनिर्मित विचारों को व्यक्त करने के लिए माध्यम के रूप में भाषा का उपयोग नहीं किया जाता बल्कि अन्वेषणात्मक सृजन के लिए

---

[1] तस्य च 'ग्रीवाभंगाभिरामम्' इत्यादिवाक्येभ्यो वाक्यार्थप्रतिपत्तेरनन्तरं मानसी साक्षात्कारात्मिका प्रतीतिरुपजायते। अभिनवभारती भाग १ पृ० २७९

[2] The treatment and not the subject is what makes a tragedy *The Sense of Beauty* p 169

[3] एस्थेटिक्स एण्ड फिलॉसफी आफ आर्ट क्रिटिसिज्म पृ० २८२

[4] Engaging lines, winsome colours and tones, and compelling rhythms can overcome almost any repugnance that we might otherwise feel for the subject matter *The Principles of Aesthetics* p 85

[5] रसगंगाधर, पृ० १०९

किया जाता है। यह वह भाषा है जिसमें कविता जिसे प्रस्तुत करती है उसका सृजन करती है, और इस रूप में प्रस्तुत करती है कि वह अपने लिए स्वयं बोलता है, यहाँ तक कि वहाँ बोलने की आवश्यकता ही नहीं रहती, बल्कि होने और करने की स्थिति होती है।[1]" पूर्व-निर्मित विचारों को व्यक्त करनेवाली भाषा का विरोध उन्होंने इसलिए किया है कि व्यक्ति उसमें अनिवार्यतः 'स्थिर अहं' और 'बने-बनाए स्व' की सीमा में बँधा रहता है और उसका मस्तिष्क सामान्य लौकिक अनुभव का अतिक्रमण करने मे असमर्थ होता है। भाषा के ऐसे उपयोग से बँधा हुआ व्यक्ति अन्ततः भाषण-सुलभ भाषा की ओर उन्मुख होता है। इसके विपरीत जिस अनुभव में 'बने-बनाए स्व' से मुक्ति की आकांक्षा होती है, उसकी अभिव्यक्ति का स्तर मूलतः भिन्न होता है।[2]

कहना न होगा कि डॉ० लीविस के भाषा संबंधी ये विचार भट्टनायक-अभिनवगुप्त के तत्संबंधी विचारों के अत्यंत समीप है। जिस प्रकार संस्कृत के आचार्यों ने अभिधा के विरुद्ध व्यंजना के सामर्थ्य की प्रतिष्ठा की है, उसी प्रकार डॉ० लीविस ने वक्तव्यपरक भाषा के विपरीत 'नाटकीय' एवं 'अन्वेषणात्मक सृजन' की भाषा पर बल दिया है। डॉ० लीविस की 'नाटकीय भाषा' भी अभिनवगुप्त की 'साक्षात्कारात्मिका' भाषा के समान ही स्वयं कुछ कहने की अपेक्षा बोध्यवस्तु का प्रतिदर्शन कराने मे विश्वास करती है। इसी प्रकार जिसे डॉ० लीविस भाषा की 'अन्वेषणात्मक सृजनशीलता' कहते हैं, वह भी अभिनवगुप्त की 'नवनवोन्मेषशालिनी प्रज्ञा' द्वारा संपन्न होनेवाली 'अपूर्ववस्तुनिर्माणक्षमा' व्यंजना का ही एक रूप है। परन्तु इससे भी अधिक आश्चर्यजनक है—डॉ० लीविस द्वारा काव्यात्मक भाषा को 'स्थिर अहं' अथवा 'स्व' की सीमा से मुक्ति के साथ संबद्ध करना। सौन्दर्यानुभूति की निर्वैयक्तिकता के साथ भाषा की निर्वैयक्तिकता को संबद्ध करके देख सकना अद्भुत सूझ का परिचायक है और पाश्चात्य काव्य-चिन्तन में संभवतः डॉ० लीविस पहले विचारक हैं, जिन्होंने काव्यानुभूति की निर्वैयक्तिकता के मूल स्रोत की खोज काव्य-भाषा के स्तर तक जाकर की है। संस्कृत काव्यशास्त्र मे जिस प्रकार रस अलौकिक है, उसी प्रकार रस को अभिव्यक्त करनेवाली ध्वनि भी अलौकिक मानी गई है। इस प्रकार अनुभूति के साथ भाषा की भी अलौकिकता स्वीकृत रही है। किन्तु पाश्चात्य चिन्तन में काव्यानुभूति के स्वरूप को अनुभूति से लेकर भाषा के स्तर तक सुसंगत रूप में विचार करने की कोई

---

१ By the 'poetic' use of language I mean that which I described as dramatic...the use of language, not as a medium in which to put 'previously definite idea', but for exploring creation. Poetry as creating what it presents, and as presenting something that stands there to speak for itself, or rather, that isn't a matter of saying, but of being and enacting. *The Common Pursuit*, p. 130.

२ ...In the business of expressing 'previously definite' ideas—one is necessarily confined to ones established ego, ones 'ready-defined self'. But it does seem as if the 'tragic' transcendence of ordinary experience that can be attained by a mind tied to such a use must inevitably tend towards the rhetorical order—the attainment of the level of experience at which emancipation from the 'ready defined self' is compelled involves an essentially different order of expression.

Ibid., pp. 130–31.

व्यवस्थित पद्धति सुलभ न थी। ऐसी स्थिति में डॉ० लीविस के विचार स्वभावतः आश्चर्य चकित कर देनेवाले प्रतीत होते हैं। यदि भट्टनायक की भावना विभावादि को असाधारणता की सीमा से मुक्त करके साधारणत्व की ओर ले जाती है तो डॉ० लीविस की भाषागत सृजनात्मकता भी 'सीमित स्व' का अतिक्रमण करती है।

काव्यानुभूति की निर्वैयक्तिकता और साधारणीकरण की चर्चा तो प्रायः की गई है किन्तु इस प्रक्रिया में भाषा की काव्यात्मकता की जैसी स्वीकृति संस्कृत काव्यशास्त्र में दिखाई पड़ती है, वह पाश्चात्य काव्यशास्त्र में विरल है। यहाँ तक कि 'त्रासदी' के प्रसंग में 'निर्वैयक्तिकता' की महिमा गानेवाले डॉ० आइ० ए० रिचर्ड्स की सूक्ष्म दृष्टि से भी यह तथ्य ओझल हो गया और वे अपने प्रिय प्रतिपाद्य 'मनोवृत्तियों के संतुलन' के लिए त्रासदी की प्रशंसा करते-करते यहाँ तक कह गए कि यह 'त्रासदी' की ही विशेषता नहीं है, बल्कि किसी 'कालीन' या 'घट' में भी ऐसे अनुभव की उपलब्धि हो सकती है।[1] स्पष्ट ही ऐसा वक्तव्य देनेवाले व्यक्ति के ध्यान में काव्यात्मक भाषा—माध्यम का महत्त्व नगण्य है। यदि 'कालीन' या 'घट' भी मनोवृत्तियों के 'संतुलन' जैसा दुर्लभ 'अनुभव' प्रदान कर सकते हैं तो फिर शेक्सपियर या सफोक्लीज़ के नाटकों के सृजनात्मक माध्यम का क्या महत्त्व है? विडम्बना तो यह है कि डा० रिचर्ड्स 'अर्थ का अर्थ' जैसी पुस्तक के लेखक और कोलरिज की परंपरा में शब्दशास्त्र पर विचार करनेवाले भाषा मर्मज्ञ भी हैं। अर्थ मीमांसा का ऐसा सूक्ष्म विचारक भी जब सौन्दर्यानुभूति के प्रसंग में माध्यम का महत्त्व न देख पाए तो इसे पाश्चात्य काव्य चिन्तन की असंगति ही समझना चाहिए। इस पृष्ठभूमि में डॉ० लीविस के काव्यात्मक भाषा संबंधी विचार का महत्त्व और भी उभर कर सामने आता है। डॉ० रिचर्ड्स की आलोचना करते हुए डॉ० लीविस ने ठीक ही कहा है कि माध्यम के महत्त्व-स्वीकार के बिना काव्यानुभूति की विशिष्टता की व्याख्या असंभव है। इस बोध के अभाव में डॉ० रिचर्ड्स बेंथम प्रवर्तित प्रकृतवादी अनुभव के जाल में फँस गए।[2] काव्यात्मक भाषा ही है, जो नाट्यगत चरित्रों को अलौकिकता प्रदान करके उनका साधारणीकरण संभव बनाती है।

साधारणीकरण और अभिनयादि

काव्यात्मक भाषा के अतिरिक्त नाट्य में सात्त्विक, वाचिक, आंगिक, आहार्य आदि चतुर्विध अभिनयों का उपयोग भी विभावादि के साधारणीकरण में साधक होता है। भट्टनायक ने भावकत्व व्यापार के अन्तर्गत चतुर्विध अभिनयों को भी स्वीकार किया है।[3] इस विषय पर अभिनवगुप्त ने और भी विस्तार से विचार किया है। श्रव्य काव्य में तो दोषहीन एवं गुणालंकारयुक्त भाषा ही काव्य विषय को अलौकिक रूप में प्रस्तुत करके साधारणीकृत करने में समर्थ हो जाती है किन्तु नाट्य में इसके अतिरिक्त नट, उसकी वेशभूषा, रंगमंचीय उपकरण, गीत-वाद्य आदि सामग्रियाँ भी सुलभ होती हैं। उचित गीत आतोद्य आदि सामाजिक की व्यक्ति-चेतना को उसकी सांसारिक भावभूमि से हटाकर

---

[1] प्रिंसिपल्स० पृ० २४८

[2] द कॉमन परसूट, पृ० १३४-३५

[3] अभिनवभारती, भाग १, पृ० २७७

रसानुभूति के अनुकूल वातावरण की सृष्टि करते है। दूसरी ओर नट की वेशभूषा तथा उसके द्वारा संपादित चतुर्विध अभिनय आदि विभावादि की असाधारणता अथवा विशिष्टता का निराकरण करके उन्हे सर्वथा 'साधारण' बना देते है। एक प्रकार की सामग्री के द्वारा विभावादि के प्रत्यक्षीकरण का मार्ग प्रशस्त होता है तो दूसरे प्रकार की सामग्री के द्वारा रामादि-रूपता का अध्यवसाय संपन्न होता है।[१] अभिनवगुप्त की दृष्टि में साधारणीकरण के लिए इस नट-प्रक्रिया का इतना अधिक महत्त्व था कि उन्होंने अनेक स्थलों पर बार-बार इसकी आवृत्ति करके इस पर बल दिया है। वस्तुतः कुशल अभिनय तथा विचित्र वेशभूषा के द्वारा नट सामाजिक के मन में एक प्रकार की दुविधा उत्पन्न कर देता है: न तो वह रंगमंचगत नट को सर्वथा राम ही समझ पाता है और न कोरा भ्रम ही। स्वयं अभिनवगुप्त के अनुसार यह प्रतीति सम्यक, मिथ्या, संशय, संभावना आदि ज्ञान से नितान्त विलक्षण एक विशेष प्रकार की प्रतीति है, जिसमें विभावादि देश-काल-व्यक्ति विषयक 'विशेष' के परामर्श से रहित होकर 'साधारण' रूप मे प्रतीत होते है।[२]

पाश्चात्य सौन्दर्यशास्त्र में अभिनवगुप्त के उक्त कथन की पुष्टि सूज़न लैंगर की 'नाट्य-प्रतिभास' संबंधी मान्यता द्वारा होती है। नाट्यकला की विशेषता, लैंगर के अनुसार, 'प्रतिभास' की सृष्टि है, जिसमें यथार्थ जगत के व्यक्ति और घटनाएँ अपनी लौकिकता से रहित अलौकिक रूप में प्रकट होते हैं। इस प्रतिभास के लिए उन्होने अंग्रेजी में 'इल्यूजन' शब्द का प्रयोग किया है, जो 'डेल्यूजन' से सर्वथा भिन्न है। उनके अनुसार 'डेल्यूजन' एक प्रकार का 'भ्रम' है, जो नाट्यकला का शत्रु है। लैंगर ने उन रंगकर्मियों की आलोचना की है, जो रंगमंच पर वास्तविकता का भ्रम उत्पन्न करने का प्रयास करते है। भ्रम के रूप मे रंगमंच संबंधी संपूर्ण धारणा घनिष्ठ रूप से इस विश्वास के साथ जुड़ी हुई है कि दर्शकों को नायक के संवेगों का साझीदार होना चाहिए। इस प्रभाव को उत्पन्न करने का सबसे आशु ढंग यह है कि रंग-क्रिया का विस्तार रंगमच की सीमा से बाहर तक कर दिया जाए ताकि दर्शक अपने-आपको प्रस्तुत दृश्य के साक्षी के रूप में वस्तुतः उपस्थित समझे। किन्तु कलात्मक दृष्टि से इसका परिणाम घातक होता है, क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति केवल अपनी ही उपस्थिति के संबध में सतर्क नही होता, बल्कि उसके मस्तिष्क में दूसरे व्यक्तियों, रंगशाला, रंगमंच, होनेवाले मनोरंजन आदि का भी सतत बोध बना रहता है।[3]

---

१ उचितगीतातोद्यचर्वणाविस्मृत-सांसारिकभावतया विमलमुकुरकल्पीभूतनिजहृदयः।
अभिनवभारती, भाग १, पृ० ३६

२ पाठ्याकर्णनपात्रान्तरप्रवेशवशात् समुत्पन्ने देशकालविशेषावेशानालिंगिते सम्यङ्-मिथ्या-संशय-संभावनादिज्ञानविज्ञेयत्व-परामर्शानास्पदे रामरावणादिविषयाध्यवसाये।
वही, पृ० ३६

3 The whole concept of theatre as delusion is closely linked with the belief that the audience should be made to share the emotions of the protagonists. The readiest way to effect this is to extend the stage action beyond the stage in the tensest moments, to make the spectators feel themselves actually present as witness of the scene. But the result is artistically disastrous, since each person becomes aware not only of his own presence, but of other people's too, and of the house, the stage, the entertainment in progress. *Feeling and Form*, pp. 317-18.

लैंगर के अनुसार नाट्यगत व्यक्तियों और घटनाओं को अधिक-से-अधिक विश्वसनीय बनाने का यह प्रयास एक ऐसे भ्रम अथवा अर्ध भ्रम की सृष्टि में विश्वास करता है जो दर्शकों को रंग-कर्म के अधिक से अधिक निकट ले जाता है। किन्तु 'भ्रम' और रंगमंच में दर्शक के भाग लेने की धारणा कलाकृति के रूप में नाटक का निषेध करती है।[1] इसलिए लैंगर ने भ्रम के स्थान पर नाटक में प्रतिभास या इल्यूज़न की प्रतिष्ठा की है। नाट्यगत व्यक्तियों और घटनाओं को यथार्थ एवं व्यावहारिक जगत से दूर रखने के उद्देश्य से ही कला नितान्त प्रतिभास पर अवलंबित होती है, इसी कारण नाट्यगत चरित्र एवं घटनाएँ व्यावहारिक एवं स्थूल प्रकृति से शून्य होकर प्रतीकात्मक रूप (सिम्बोलिक फार्म) की भाँति दृष्टिगोचर होते हैं।[2]

लैंगर के विवेचन से स्पष्ट है कि हर तरह का रंगकर्म नाटक को 'प्रतिभास' का रूप दे सकने में समर्थ नहीं होता। प्रकृतवादी रंगविधियाँ नाटक में अधिक-से-अधिक वास्तविकता का भ्रम उत्पन्न करने का प्रयास करती हैं। इसके विपरीत लैंगर उस रंगविधि का समर्थन करती हैं जो प्रकृतवाद के विरुद्ध नाटक को प्रतीकात्मक रूप देने का प्रयास करती है। लैंगर की इस धारणा के मूल में संस्कृत काव्यशास्त्र में प्रतिष्ठित साधारणीकरण तुल्य सिद्धांत प्रतीत होता है। नाटक की लौकिक प्रतीति साधारणीकरण में बाधक होती है इसलिए लैंगर ने 'प्रतिभास' सिद्धान्त के द्वारा नाटक के सम्यक् साधारणीकरण का सुझाव प्रस्तुत किया है। इस अनुमान का आधार यह है कि इसी प्रसंग में उन्होंने आगे चलकर भारतीय नाट्याचार्यों की नाट्य संबंधी समझ की प्रशंसा करते हुए कहा है कि पाश्चात्य नाट्य विशारदों की तुलना में संस्कृत नाट्याचार्यों को नाट्यगत चरित्र नट आदि के मनोभावों की कहीं अधिक गहरी समझ थी और उनका रंगकर्म आधुनिक प्रकृतवादी रंगकर्मियों की तुलना में अधिक कलात्मक था।[3] संस्कृत नाट्य में रंगविधान और

---

१ But delusion—even the quasi delusion of 'make believe' aims at the opposite effect the greatest possible nearness To seek delusion and audience participation in the theatre is to deny that drama is art

Ibid, p 319

२ *It is for the sake of this remove that art deals entirely in illusion which because of their lack of practical concrete nature, are readily distanced as symbolic forms* *Ibid*, p 319

३ *Some of the Hindu critics* understand much better than their Western colleagues the various aspects of emotion in the theater which our writers ... actor ... by cha... the pl... the vital feelings of this piece The last they call *rasa* Audiences who can dispense with the helps that the box stage, ... not only events and emotions but even *things* are enacted Stage *properties exist* but their use is symbolic rather than naturalistic In India some stage properties do occur others are left to the imagination *Feeling and Form* p 323 324

अभिनयादि प्रक्रिया का उपयोग नाटक को लौकिक प्रतीतियों के बंधन से मुक्त करके अलौकिक प्रतीति के योग्य बनाने के लिए होता था। ऐसा विधान 'नाट्यशास्त्र' में इसलिए स्वीकृत था कि नाट्य का प्रयोजन निर्विघ्न रसप्रतीति, 'साधारणीकरण' व्यापार के द्वारा ही संभव है और 'साधारणीकरण' उसी नाट्यवस्तु का हो सकता है, जो चतुर्विध अभिनयादि के द्वारा अलौकिक प्रतीति का विषय हो। स्पष्ट ही, लैंगर का प्रतिभास-सिद्धान्त उक्त संस्कृत नाट्य-सिद्धान्त का पाश्चात्य रूपान्तर है।

अनुव्यवसाय और प्रतिभास

वस्तुतः नाटक की अलौकिक प्रतीति अभिनयादि-प्रक्रिया से भी अधिक आधारभूत है। भारतीय परंपरा में नाट्य को लोक-भिन्न माना गया है। इस मान्यता को 'नाट्यशास्त्र' मे एक उपाख्यान के साथ प्रस्तुत किया गया है। भरत मुनि ने जो पहला नाट्य-प्रयोग प्रस्तुत किया, उसमें देवासुर-संग्राम की कथा ली गई थी। दर्शकों में देवों के साथ ही असुर भी उपस्थित थे। इतिहास के अनुसार नाटक में भी देवों की विजय और असुरों की पराजय का प्रदर्शन किया गया। नाटक देखकर असुर क्रुद्ध हो गए और वे रगशाला में उपद्रव करने लगे। अन्ततः स्वयं ब्रह्मा रंगशाला में उपस्थित हुए और उन्होंने असुरो के प्रबोध के लिए नाट्य-धर्म का प्रवचन किया, जिसका तात्पर्य यह था कि नाटक को लौकिक रूप में न ग्रहण करना चाहिए, क्योंकि उसमें देवो और असुरों के चरित का अविकल अनुकरण नही, बल्कि त्रैलोक्य का भावानुकीर्तन है। 'नाट्यशास्त्र' के टीकाकारों में इस 'अनुकीर्तन' शब्द को लेकर पर्याप्त मतभेद है, किन्तु अभिनवगुप्त ने इस शब्द की जो तात्त्विक व्याख्या की है, वही आगे चलकर भरत-सम्मत मत के रूप में सामान्यतः मान्य हुई। अभिनवगुप्त ने अनेक युक्तियों के द्वारा यह प्रतिपादित किया है कि 'अनुकीर्तन' से भरत मुनि का तात्पर्य 'अनुव्यवसाय' है।[1] अनुव्यवसाय एक प्रकार की अलौकिक प्रतीति है जो समस्त लौकिक प्रतीतियों से भिन्न होती है। अनुव्यवसाय-परक नाट्य की अलौकिकता निरूपित करने के लिए अभिनवगुप्त ने उसे दस प्रकार की लौकिक प्रतीतियो से विलक्षण माना है : वह न निज-स्वरूप से होनेवाला ज्ञान है, न सादृश्यात्मक ज्ञान है, न स्मृतिपूर्वक भ्रान्ति ज्ञान, न सम्यग्ज्ञानबाधान्तर मिथ्या ज्ञान, न अध्यवसान, न उत्प्रेक्ष्यमाण, न प्रतिकृतित्व, न अनुकार, न इन्द्रजालवत तात्कालिक निर्माण और न युक्तिविरचित-तदाभास-हस्तलाघवादि मायावत ज्ञान।[2]

तात्पर्य यह है कि नाटक में अनुकार्य रामादि अथवा देव-दानवादि का जो अभिनय किया जाता है, उसमें अभिनय करनेवाले नट होते है। राम आदि या देव-दानव आदि अभिनय करने नही आते। उन अभिनय करनेवाले नटों में ही रामादि अथवा देव-दानवादि अनुकार्यों की प्रतीति होती है। परन्तु यह प्रतीति न सत्य है, न मिथ्या है, न सादृश्यमूलक है, न आरोपमूलक है, न अध्यासमूलक है और न इसी प्रकार की कोई अन्य लौकिक प्रतीति है। इसलिए रामादि या देव-दानवादि किसी भी अनुकार्य का किसी भी लौकिक रूप में

---

[1] तदिदमनुकीर्तनमनुव्यवसायविशेषो नाट्यापरपर्यायः नानुकार इति भ्रमितव्यम्।
अभिनवभारती, भाग १, पृ० ३६

[2] वही, पृ० ३५

लैंगर के अनुसार नाट्यगत व्यक्तियों और घटनाओं को अधिक-से-अधिक विश्वसनीय बनाने का यह प्रयास एक ऐसे भ्रम अथवा अर्ध भ्रम की सृष्टि में विश्वास करता है जो दर्शकों को रंग-कर्म के अधिक-से-अधिक निकट ले आता है। किन्तु 'भ्रम' और रंगमंच में दर्शक के भाग लेने की धारणा कलाकृति के रूप में नाटक का निषेध करती है।[1] इसलिए लैंगर ने भ्रम के स्थान पर नाटक में प्रतिभास या इल्यूजन की प्रतिष्ठा की है। नाट्यगत व्यक्तियों और घटनाओं को यथार्थ एवं व्यावहारिक जगत से दूर रखने के उद्देश्य से ही कला नितान्त प्रतिभास पर अवलम्बित होती है, इसी कारण नाट्यगत चरित्र एवं घटनाएँ व्यावहारिक एवं स्थूल प्रकृति से शून्य होकर प्रतीकात्मक रूप (सिम्बोलिक फार्म) की भाँति दृष्टिगोचर होते हैं।[2]

लैंगर के विवेचन से स्पष्ट है कि हर तरह का रंगकर्म नाटक को 'प्रतिभास' का रूप दे सकने में समर्थ नहीं होता। प्रकृतवादी रंगविधियाँ नाटक में अधिक-से-अधिक वास्तविकता का भ्रम उत्पन्न करने का प्रयास करती हैं। इसके विपरीत लैंगर उस रंगविधि का समर्थन करती हैं जो प्रकृतवाद के विरुद्ध नाटक को प्रतीकात्मक रूप देने का प्रयास करती है। लैंगर की इस धारणा के मूल में संस्कृत काव्यशास्त्र में प्रतिष्ठित साधारणीकरण तत्त्व सिद्धान्त प्रतीत होता है। नाटक की लौकिक प्रतीति साधारणीकरण में बाधक होती है इसलिए लैंगर ने प्रतिभास सिद्धान्त के द्वारा नाटक के सम्यक् साधारणीकरण का सुझाव प्रस्तुत किया है। इस अनुमान का आधार यह है कि इसी प्रसंग में उन्होंने आगे चलकर भारतीय नाट्याचार्यों की नाट्य संबंधी समझ की प्रशंसा करते हुए कहा है कि पाश्चात्य नाट्य विशारदों की तुलना में संस्कृत नाट्याचार्यों को नाट्यगत चरित्र, नट आदि के मनोभावों की कहीं अधिक गहरी समझ थी और उनका रंगकर्म आधुनिक प्रकृतवादी रंगकर्मियों की तुलना में अधिक कलात्मक था।[3] संस्कृत नाट्य में रंगविधान और

---

[1] But delusion—even the quasi delusion of make believe aims at the opposite effect the greatest possible nearness To seek delusion and audience participation in the theatre is to deny that drama is art
Ibid, p 319

[2] It is for the sake of this remove that art deals entirely in illusion which because of their lack of practical concrete nature, are readily distanced as symbolic forms *Ibid* p 319

[3] *Some of the* Hindu critics understand much better than their Western *colleagues* the various aspects of emotion *in the theater*, *which our* writers so freely and banefully *confuse* the feelings experienced by the actor, those experienced by the spectators those presented as undergone by *characters* in the play and finally the feeling that *shines* through the play itself—the vital feelings of this piece The last they call *rasa* Audiences who can dispense with the helps that the box stage *representational* setting and costumes and sundry stage *properties lend to our* poetic imagination have *probably* a better understanding of drama as art than we who require a potpourri of means In Indian drama not only *events and* emotions but even *things* are enacted Stage properties exist but their use is symbolic rather than naturalistic In India some stage properties do occur others are left to the imagination *Feeling and Form* p 323 324

अभिनयादि प्रक्रिया का उपयोग नाटक को लौकिक प्रतीतियों के बंधन से मुक्त करके अलौकिक प्रतीति के योग्य बनाने के लिए होता था। ऐसा विधान 'नाट्यशास्त्र' मे इसलिए स्वीकृत था कि नाट्य का प्रयोजन निर्विघ्न रसप्रतीति, 'साधारणीकरण' व्यापार के द्वारा ही संभव है और 'साधारणीकरण' उसी नाट्यवस्तु का हो सकता है, जो चतुर्विध अभिनयादि के द्वारा अलौकिक प्रतीति का विषय हो। स्पष्ट ही, लैंगर का प्रतिभास-सिद्धान्त उक्त संस्कृत नाट्य-सिद्धान्त का पाश्चात्य रूपान्तर है।

अनुव्यवसाय और प्रतिभास

वस्तुतः नाटक की अलौकिक प्रतीति अभिनयादि-प्रक्रिया से भी अधिक आधारभूत है। भारतीय परंपरा में नाट्य को लोक-भिन्न माना गया है। इस मान्यता को 'नाट्यशास्त्र' में एक उपाख्यान के साथ प्रस्तुत किया गया है। भरत मुनि ने जो पहला नाट्य-प्रयोग प्रस्तुत किया, उसमें देवासुर-संग्राम की कथा ली गई थी। दर्शकों मे देवों के साथ ही असुर भी उपस्थित थे। इतिहास के अनुसार नाटक में भी देवों की विजय और असुरों की पराजय का प्रदर्शन किया गया। नाटक देखकर असुर क्रुद्ध हो गए और वे रंगशाला में उपद्रव करने लगे। अन्ततः स्वयं ब्रह्मा रंगशाला में उपस्थित हुए और उन्होंने असुरों के प्रबोध के लिए नाट्य-धर्म का प्रवचन किया, जिसका तात्पर्य यह था कि नाटक को लौकिक रूप में न ग्रहण करना चाहिए, क्योंकि उसमें देवों और असुरों के चरित का अविकल अनुकरण नहीं, बल्कि त्रैलोक्य का भावानुकीर्तन है। 'नाट्यशास्त्र' के टीकाकारों में इस 'अनुकीर्तन' शब्द को लेकर पर्याप्त मतभेद है, किन्तु अभिनवगुप्त ने इस शब्द की जो तात्त्विक व्याख्या की है, वही आगे चलकर भरत-सम्मत मत के रूप में सामान्यतः मान्य हुई। अभिनवगुप्त ने अनेक युक्तियों के द्वारा यह प्रतिपादित किया है कि 'अनुकीर्तन' से भरत मुनि का तात्पर्य 'अनुव्यवसाय' है।[1] अनुव्यवसाय एक प्रकार की अलौकिक प्रतीति है जो समस्त लौकिक प्रतीतियों से भिन्न होती है। अनुव्यवसाय-परक नाट्य की अलौकिकता निरूपित करने के लिए अभिनवगुप्त ने उसे दस प्रकार की लौकिक प्रतीतियों से विलक्षण माना है: वह न निज-स्वरूप से होनेवाला ज्ञान है, न सादृश्यात्मक ज्ञान है, न स्मृतिपूर्वक भ्रान्ति ज्ञान, न सम्यग्ज्ञानबाधान्तर मिथ्या ज्ञान, न अध्यवसान, न उत्प्रेक्ष्यमाण, न प्रतिकृतित्व, न अनुकार, न इन्द्रजालवत तात्कालिक निर्माण और न युक्तिविरचित-तदाभास-हस्तलाघवादि मायावत ज्ञान।[2]

तात्पर्य यह है कि नाटक में अनुकार्य रामादि अथवा देव-दानवादि का जो अभिनय किया जाता है, उसमें अभिनय करनेवाले नट होते है। राम आदि या देव-दानव आदि अभिनय करने नहीं आते। उन अभिनय करनेवाले नटों में ही रामादि अथवा देव-दानवादि अनुकार्यो की प्रतीति होती है। परन्तु यह प्रतीति न सत्य है, न मिथ्या है, न सादृश्यमूलक है, न आरोपमूलक है, न अध्यासमूलक है और न इसी प्रकार की कोई अन्य लौकिक प्रतीति है। इसलिए रामादि या देव-दानवादि किसी भी अनुकार्य का किसी भी लौकिक रूप में

---

१ तदिदमनुकीर्तनमनुव्यवसायविशेषो नाट्यापरपर्यायः नानुकार इति भ्रमितव्यम्।
अभिनवभारती, भाग १, पृ० ३६

२ वही, पृ० ३५

नाट्य में अनुभव नहीं किया जाता है। इसीलिए इस प्रतीति को सबसे विलक्षण और अलौकिक कहा जाता है। अभिनवगुप्त के अनुसार उपर्युक्त सभी पक्षों में असाधारणता होती है, इसलिए उनके विषय में द्रष्टा उदासीन रहता है और इसी कारण रसास्वाद का योग नहीं होता,[1] क्योंकि रसास्वाद के लिए साधारणता अपेक्षित है जो उक्त दस लौकिक प्रतीतियों से संभव नहीं है।

अभिनवगुप्त ने नाट्य को जो आरोप-अध्यास आदि लौकिक प्रतीतियों से विलक्षण माना है, उसका आधार उनके प्रत्यभिज्ञादर्शन का 'आभासवाद' है,[2] जिसके अनुसार यह जगत न तो शांकर अद्वैत के अनुसार माया या विवर्त है और न द्वैतवादी दर्शनों के अनुसार सर्वथा सत्य ही है। 'अध्यास' की स्थिति 'सत्य' और 'मिथ्या' दोनों से विलक्षण है। संभवतः इसीलिए अभिनवगुप्त नाट्य को जब सत्य और मिथ्या आदि सभी लौकिक प्रतीतियों से विलक्षण कहते हैं तो ऐसा प्रतीत होता है कि वे उसे अपने तत्त्वचिन्तन के 'आभास' के सदृश मानते हैं।

पाश्चात्य सौन्दर्यशास्त्र की परंपरा में कला के स्वरूप पर विचार करते हुए कला को 'प्रतिभास' (इल्यूजन) मानने की प्रवृत्ति पर्याप्त प्रबल रही है, किन्तु 'प्रतिभास' के सुनिश्चित रूप का विवेचन इतना स्पष्ट नहीं है। 'प्रतिभास' को प्रायः एक ओर 'यथार्थ' से भिन्न दिखलाया जाता है तो दूसरी ओर 'भ्रम' (डिल्यूजन) से। संस्कृत काव्यशास्त्र में जिस प्रकार भ्रम के आरोप-अध्यास आदि अन्य अनेक रूपों का विवेचन करके नाट्य को उनसे विलक्षण सिद्ध करने का प्रयास हुआ है, उस प्रकार का सूक्ष्म विवेचन पाश्चात्य चिन्तन में नहीं मिलता। फिर भी वहाँ अभिनवगुप्त द्वारा प्रतिपादित 'अनुव्यवसाय' से मिलता-जुलता प्रतिभास-सिद्धान्त तुलना के लिए उपलब्ध है।

पाश्चात्य प्रतिभास-सिद्धान्त वस्तुतः सौन्दर्यानुभूति की *अनासक्ति* विषयक धारणा की उपज है। सौन्दर्यानुभूति को अनासक्तिपरक मानने के लिए कलावस्तु को यथार्थ भिन्न मानना आवश्यक हो गया क्योंकि यथार्थ अनिवार्यतः आसक्ति को प्रोत्साहित करता है। इसलिए पाश्चात्य सौन्दर्यशास्त्री कलावस्तु की यथार्थ भिन्नता का पता लगाने के क्रम में 'प्रतिभास' के निर्णय पर पहुँचे। निश्चय ही प्रतिभास सिद्धान्त का जन्म पाश्चात्य सौन्दर्यशास्त्र में मुख्यतः चित्रकला के संदर्भ में हुआ किन्तु क्रमशः इसका विस्तार समस्त कलाओं तक हो गया, और समकालीन कलाचिन्तन के इतिहास को देखने से ऐसा प्रतीत होता है कि वहाँ आधुनिकतम प्रवृत्ति कला को 'प्रतिभास' मानने के ही पक्ष में है। सूज़न लैंगर ने प्रतिभास सिद्धान्त की व्याख्या करते हुए स्पष्ट कहा है कि "प्रत्येक सच्ची कलाकृति में सांसारिक परिवेश से विच्छिन्न प्रतीत होने की प्रवृत्ति होती है। वह सबसे तात्कालिक प्रभाव यही उत्पन्न करती है कि वह यथार्थ से 'अन्यतर' है यहाँ तक कि अशिक्षित किन्तु संवेदनशील द्रष्टा भी 'अन्यतरत्व' का एक विलक्षण आभास-मात्र ग्रहण करता है, जिसे 'विलक्षणता', 'आभास', 'प्रतिभास', 'पारदर्शिता', 'स्वनिर्भरता' या 'स्व-पर्याप्तता' आदि

---

[1] सर्वेष्वेषु पक्षेषु असाधारणतया द्रष्टुरौदासीन्ये रसास्वादायोगात्।
अभिनवभारती, भाग १, पृ० ३५

[2] के० सी० पाण्डे : इण्डियन एस्थेटिक्स, पृ० १०१-१०२

अनेक रूपों में वर्णित किया जाता है। कला के वास्तविक स्वरूप को द्योतित करने के लिए वास्तविकता से यह विच्छिन्नता मूल तत्त्व है।"[१] इसी आधार पर सूजन लैंगर आगे चलकर यह प्रतिपादित करती हैं कि कलाकृति कोई 'वस्तु' नहीं बल्कि 'प्रतीक' है।[२] किन्तु इस प्रसंग में यह ध्यान रखना आवश्यक है कि लैंगर ने 'प्रतीक' शब्द का प्रयोग, प्रतीक के प्रचलित अर्थ से भिन्न अर्थ में किया है, जैसा कि उन्होंने आरंभ ही में स्पष्ट कर दिया है।[3] इसी प्रकार उन्होंने कला को प्रतिभास (इल्यूजन) कहते समय भी आरम्भ में ही स्पष्ट कर दिया है कि 'प्रतिभास' से जो सामान्यतः समझा जाता है उनका तात्पर्य उससे नहीं है क्योंकि उनकी दृष्टि मे प्रतिभास 'भ्रम', 'आत्मवचना' या 'स्वाँग' से सर्वथा भिन्न है।[४]

लैंगर के प्रतिभास-सिद्धान्त पर और भी सूक्ष्मता से विचार करते हुए ई० एच० गोम्ब्रिच ने आगे चलकर 'कला और प्रतिभास'[५] नामक पूरी पुस्तक लिखी जिसमें प्रतिभास की प्रतिष्ठा के लिए अनेक नवीन युक्तियाँ दी गई हैं। गोम्ब्रिच के जटिल विवेचन का सारांश यह है कि कला में प्रतिरूपण पेचीदा काम है क्योंकि कला के माध्यम में किसी पूर्णतः निश्चित और स्थिर मूल वस्तु का अनुकरण न तो होता ही है और न संभव है। कला में प्रायः मानसिक स्थितियाँ ही सृजन की पृष्ठभूमि में कार्यरत रहती हैं। ये मानसिक स्थितियाँ चाहे सांस्कृतिक हों अथवा वैयक्तिक, पृष्ठभूमि में कार्य करती है मानसिक स्थितियाँ ही।[६] गोम्ब्रिच ने जिस प्रकार कला में किसी निश्चित मूल वस्तु के अनुकरण को असंभव माना है, वह अभिनवगुप्त के इस कथन का स्मरण दिलाता है कि नाट्य में नियत का अनुकरण असभव है।[७]

बियर्डस्ले भी प्रकारान्तर से 'प्रतिभास-सिद्धान्त' के ही समर्थक दिखलाई पड़ते है। 'प्रतिभास' के लिए बियर्डस्ले ने 'इल्यूजन' शब्द के स्थान पर 'फेनामेनल' शब्द का प्रयोग करते हुए कहा है कि ग्राहक के सम्मुख कलाकृति एक विशेष प्रकार की आभासात्मक वस्तु के रूप में प्रकट होती है। यद्यपि वे कलास्वाद में द्रष्टा के विषयिनिष्ठ मानसिक प्रक्षेपण का हस्तक्षेप ठीक नहीं समझते है और कलाकृति के वस्तुनिष्ठ रूप पर ही विशेष बल देते है, फिर भी कलाकृति को वास्तविक वस्तु से भिन्न आभासात्मक वस्तु के रूप में स्वीकार

---

१ फ़ीलिंग एण्ड फ़ॉर्म, पृ० ४५-४६

२ वही, पृ० ५८

3 A symbol is any device where bywe are enabled to make an abstraction. *Feeling and Form*, Preface, p. 11.

४ But illusion as it occurs in art has nothing to do with delusion not even with self-deception or pretense. *Ibid.*

५ *Art & Illusion* (Pantheon Books, New York, 1960).

६ The point of Gombrich's excellent book is that representation in art is a tricky business, since it does not and cannot consist of copying, in the medium of the art, a wholly determinate and fixed original mental sets, either cultural or individual, are at work from the ground up.
Virgil C. Alderich : *Philosophy of Art*, p. 15 (Prentice Hall Inc, New York, 1963)

७ नन्वेतावता नियतानुकारो माभूत······। नाट्यशास्त्र, भाग १, पृ० ३७

करते हैं। उल्लेखनीय यह है कि बिमड्सले की इस कलात्मक मान्यता के मूल में उनका आभासवादी दर्शन (फेनामेनलिज्म) है।

सारांश यह है कि पाश्चात्य सौन्दर्यशास्त्र में भी अनासक्तिपरक सम्यक् सौन्दर्यानुभूति के लिए कलाकृति को लोक-भिन्न प्रतिभास के रूप में स्वीकार किया गया है, क्योंकि सौन्दर्यानुभूति के लिए ग्राहक को कला के साथ जिस साधारणीकरण की आवश्यकता पड़ती है, वह प्रतिभास-रूप कलाकृति के साथ ही सम्भव होता है।

सहृदय का साधारणीकरण : ममत्वादि से मुक्ति

संस्कृत काव्यशास्त्र में काव्यास्वाद के लिए पाठक का भी साधारणीकरण आवश्यक माना गया है। साधारणीकरण-व्यापार के द्वारा जिस प्रकार काव्य-वस्तु असाधारण से साधारण होती है, उसी प्रकार पाठक भी अपनी असाधारणता अथवा विशेषता का परित्याग करके साधारण रूप ग्रहण करता है। इस साधारण्य से युक्त होने पर ही सामान्य पाठक 'सहृदय' की संज्ञा प्राप्त करता है। हृदय तो सामान्य पाठक के भी होता है, किन्तु काव्य के संदर्भ में जब किसी व्यक्ति को सहृदय कहा जाता है तो वहाँ 'हृदय' का विशेष अर्थ होता है। 'सहृदय' जिस हृदय से युक्त होता है वह केवल लौकिक चित्तवृत्तियों का कोश नहीं, बल्कि काव्योचित भावों का भण्डार है। इस विशेष प्रकार के हृदय का निर्माण निरंतर काव्यानुशीलन के सुदीर्घ अभ्यास द्वारा होता है। काव्यों के निरंतर अनुशीलन से जब हृदय दर्पण के समान निर्मल और विशद हो जाता है, तभी उसमें किसी काव्य के आस्वाद की योग्यता उत्पन्न होती है। ऐसे निर्मल हृदय से युक्त व्यक्ति को कोई 'सचेतस' कहता है, कोई 'सुमनस्', कोई 'रसिक' तो कोई 'सहृदय'। वस्तुतः हृदय की यह निर्मलता साधारण्य का ही दूसरा नाम है और इसे सहृदयगत साधारणीकरण-व्यापार का ही परिणाम समझना चाहिए।

जिस प्रकार देश, काल एवं व्यक्ति संबंधों से मुक्त होकर काव्य के विभावादि 'साधारण' होते हैं, उसी प्रकार सहृदय का 'साधारण्य' भी देश-काल-व्यक्ति विषयक संबंधों से मुक्ति पर निर्भर है। भट्टनायक के अनुसार काव्य का पाठक 'निज मोह-संकटता-निवारण' के द्वारा साधारण होता है। दूसरे शब्दों में प्रमाता की चेतना मोह के आवरण को हटाकर साधारणता का रूप प्राप्त करती है। भट्टनायक के मत का संशोधन-परिवर्धन करते हुए अभिनवगुप्त ने 'निज मोह-संकटता निवारण' को और भी स्पष्ट रूप में रखा है। उनके अनुसार निजी सुख-दुःखादि से ग्रस्त होना ही मोह है। किसी नाटक को देखते समय अथवा काव्य को पढ़ते समय यदि पाठक अपने सुख से विवश होता है तो समुचित ढंग से काव्यास्वादन नहीं कर सकता। इसी प्रकार अपने दुःख में दुःखी रहने पर भी पाठक के लिए काव्यास्वाद में कठिनाई होती है। इसलिए अभिनवगुप्त ने काव्यास्वाद के लिए 'दुःख-सुखादिकृतहानादिबुद्धि' को आवश्यक बतलाया है। वस्तुतः निजी दुःख-सुख देश-काल-व्यक्ति संबंधों से युक्त चेतना का परिणाम है। कोई व्यक्ति जब तक देश-काल और व्यक्ति संबंधों से बँधकर किसी विषय का अनुभव करता है तब तक उसमें निजी दुःख-सुख के विकारों का होना अनिवार्य है। इसलिए इन संबंधों से ऊपर उठकर ही कोई व्यक्ति निजी सुख-दुःख से मुक्त हो सकता है। यहाँ भी सामान्यतः देश एवं काल की सीमा को तोड़ना

अपेक्षाकृत सरल होता है; कठिन होती है तो व्यक्ति-संबंधों से मुक्ति। इसलिए इस संबध में अभिनवगुप्त ने साधारणीकरण के लिए 'स्व' 'पर' आदि संबंधो से मुक्त होने का विधान किया है। काव्यगत विभावादि के विषय में सहृदय जब अपने-पराये, शत्रु-मित्र, मध्यस्थ आदि समस्त संबंधों का परित्याग कर देता है, तभी उसे काव्य का समुचित आनन्द प्राप्त होता है। इन संबंधों के कारण पाठक विशेष अथवा असाधारण रहता है। इन संबंधों से मुक्त होकर पाठक साधारण हो जाता है।

इसी धारणा का अत्यंत स्पष्ट और परिनिष्ठत रूप में व्याख्यान करते हुए मम्मट ने स्पष्ट किया कि रसास्वाद के लिए प्रमाता की व्यक्ति-संबंधों से मुक्ति भी उतनी ही अनिवार्य है, जितनी विषय की देशकालादि बंधनों से। लौकिक विषयों की भाँति काव्यगत अर्थों में संबध-विशेष के स्वीकार अथवा परिहार की कल्पना भी नहीं रहती, अतएव उनकी प्रतीति साधारण्य से होती है—ऐसा मम्मट का मत है। अर्थात विषय के प्रति शत्रु-मित्र या तटस्थ भावना प्रमाता के मन में नही रहती।

यहाँ एक प्रश्न उठता है। जब मम्मट कहते है कि : "ये मेरे ही है,······शत्रु के ही है,······तटस्थ के ही है', तो उनका आशय उपर्युक्त व्यक्ति-संबंधों से मुक्ति है, या इस सबंध-भावना मात्र से मुक्ति है ? साधारणीकरण की यह व्याख्या आपाततः निषेधात्मक प्रतीत होती है। परन्तु ध्यान देने की बात यह है कि मम्मट ने जहाँ इस संबंध की स्वीकृति का निषेध किया है, वहाँ परिहार का भी। अर्थात वे इन संबंधों की अतिशयता का विरोध करते है, संबंध-भावना मात्र का नही। परवर्ती विद्वानों ने मम्मट के इस कथन की व्याख्या करते हुए स्पष्ट किया है कि साधारणीकरण-व्यापार में व्यक्ति-संबंधों से मुक्ति का अर्थ उनका पूर्णतः निषेध या परिहार नही है बल्कि व्यक्ति-संबंधों की सीमा का परिहार है। इस संबध में शिंगभूपाल का कथन है कि **"साधारणीकरणात्मना भावनाव्यापारेण स्वसम्बन्धितया भावितानाम् ·····।"**[1] अर्थात साधारणीकरण-व्यापार और भावना-व्यापार अभिन्न है, तथा इसके द्वारा साधारणीकृत पदार्थ ग्राहक से संबद्ध रूप में प्रतीत होते है।

यह मान लेने पर कि साधारणीकरण में मित्र, शत्रु तथा तटस्थ तीनों प्रतीतियाँ नही होती, रस-प्रतीति के निमित्त विभावादि का संबंध किस रूप में स्थिर किया जाएगा ? इस समस्या का विध्यात्मक उत्तर देने का प्रयास 'काव्यप्रकाश' के टीकाकार गोविन्द ठक्कुर ने किया है। उन्होंने साधारण्य प्रतीति का अभिप्राय स्पष्ट करते हुए कहा : **"साधारण्येन प्रतीतिश्च न सर्वसम्बन्धितया प्रतीतिः। किन्तु सम्बन्धिविशेषीयत्वेनाप्रतीतौ प्रतीतिः। 'यद्वा अमुकस्यैवैते' इत्यवधारणं बिना 'अमुकस्य' इत्येवं प्रतीतिः।"**[2]

साधारण्य द्वारा जो प्रतीति होती है, वह सर्व-संबंधिता की प्रतीति नहीं है बल्कि संबंधी-विशेषीयत्व की अप्रतीति है। वह 'अमुक की ही' प्रतीति नही है, प्रत्युत 'अमुक की' प्रतीति है। तात्पर्य यह है कि साधारणीकरण में संबंध-भावना का सर्वथा निषेध नही हो जाता : ग्राहक के चित्त में कुछ-न-कुछ संबंध-भावना अवशिष्ट रह जाती है। यदि संबंध-

[1] **डॉ० राममूर्ति त्रिपाठी : रस विमर्श, पृ० १५६ पर उद्धृत**

[2] **काव्यप्रदीप, पृ० ६७**

भावना न हो तो काव्यनिष्ठ वस्तु से ग्राहक नितान्त असम्पृक्त रह जाएगा, और उस स्थिति में ग्राहक के चित्त में, किसी प्रकार की अनुभूति का उद्रेक असम्भव होगा।

अभिनवगुप्त ने भी साधारणीकरण का अर्थ, विभावादि के देशकालादि सम्बन्धों से मुक्ति के साथ सहृदय की प्रतीति का वीतविघ्न हो जाना माना है। निर्विघ्न प्रतीति से उनका आशय था—मैं, पर आदि की भावना से उत्पन्न सुख-दुःखकारी प्रत्ययों से मुक्त स्थायी भाव का आस्वाद।

वस्तुतः रसास्वाद साक्षात्कारात्मक अनुभूति है। उसके लिए एक ओर चित्त की एकाग्रता अनिवार्य है और दूसरी ओर निर्विघ्नता। ऐसी स्थिति में व्यक्ति के अहं का किसी भी रूप में हस्तक्षेप काव्यानुभूति का सबसे बड़ा विघ्न है।

अपने दैनन्दिन जीवन में विषयों के प्रति व्यक्तिगत ममत्व के कारण व्यवहार में हम अपने व्यक्तिगत अहं का अतिक्रमण नहीं कर पाते। रसानुभूति में अनुभूति का केन्द्र अहं से काव्यकृति में स्थानान्तरित हो जाता है और हमारी प्रतिक्रिया अधिवैयक्तिक हो जाती है। काव्यकृति क्योंकि सामूहिक रूप से अनुभूयमान मानवीय अनुभवों का वस्तुगत रूप है इसलिए उसके प्रति पाठक की प्रतिक्रिया अधिवैयक्तिक स्तर पर होती है। परन्तु आधिवैयक्तिकता का अर्थ काव्य-सदर्भ में तटस्थता नहीं होता। इससे ठीक भिन्न प्रमाता काव्यास्वाद की स्थिति में काव्य में सक्रिय भाग लेता है। इसी को अभिनवगुप्त ने 'अनुप्रवेश' कहा है और अनुप्रवेश सबंध भावना के नितान्त अभाव की स्थिति में असंभव होगा। अतः पाठक काव्यकृति से तटस्थता की अनुभूति न कर उसके साथ तादात्म्य की अनुभूति करता है जिसे अभिनवगुप्त ने तन्मयीभवन कहा है।

इसके अतिरिक्त अभिनवगुप्त ने रंगशाला में प्रवेश करने से पूर्व भी प्रेक्षक की साधारणता का उल्लेख किया है। उनके अनुसार नाटक देखने के संकल्प मात्र से प्रेक्षक के चित्त में परिवर्तन आ जाता है। ज्योंही कोई व्यक्ति नाटक देखने के लिए रंगशाला में जाने का संकल्प करता है तभी उसके मन में यह विचार उठता है कि "आज सारी परिषद के लिए समान आनन्दप्रद एवं अन्त तक सरस होने से आदरणीय लोकोत्तर को देखने सुनने का अवसर मिलेगा"[1] इस अभिप्राय और संस्कार से प्रेक्षक का चित्त साधारणता की ओर उन्मुख होता है। अभिनवगुप्त के इस कथन से स्पष्ट है कि सहृदयगत साधारणीकरण का आरंभ नाट्य दर्शन से पूर्व ही हो जाता है।

इसके अतिरिक्त अभिनवगुप्त के अनुसार प्रेक्षक-समुदाय की उपस्थिति भी सहृदय के साधारणीकरण में सहायक होती है। काव्य के पाठक की तुलना में नाट्य के प्रेक्षक का आस्वाद इसीलिए अधिक सघन होता है कि नाट्य का प्रेक्षक बहुत बड़े समूह के साथ अनेक सहृदयों के बीच होने के बोध से नाट्य का आस्वादन करता है। किसी भी अभिनय, संगीत गोष्ठी, मल्ल युद्ध, धार्मिक उत्सव आदि में सहृदय समाज की संख्या जितनी अधिक होती है आनन्द की मात्रा भी उतनी ही अधिक होती है। जब सामाजिकों का एक विशाल समूह एकाग्र होकर अभिनयादि में लीन हो जाता है तब वह उस दृश्य-नृत्य

---

[1] सकलपरिषत्साधारणप्रमोदसारापर्यन्तसरसत्वेन आदरणीयलोकोत्तर दर्शनश्रवणयोगी भविष्यामि इत्यभिसंधिसंस्कारात। अभिनवभारती, भाग १ पृ० ३६

गीतादि को अमृत का सागर समझता है। ऐसी स्थिति में समस्त प्रमाताओं का तादात्म्य हो जाता है।[1] इसका कारण यह है कि इन सामाजिक अवसरों पर देह-भेद से संकुचित होती हुई सर्वात्मिका संविद् विकसित होती हुई और परस्पर संघट्ट प्राप्त करती हुई एक दूसरे में प्रतिबिम्बित होती है, और जिस प्रकार अनेक दर्पणों में प्रतिफलित सूर्य-रश्मियों का प्रकाश और भी अधिक दीप्त हो उठता है, उसी प्रकार आत्म-तत्त्व की रश्मियाँ विभिन्न चेतना-दर्पणों में प्रतिफलित होकर और भी अधिक प्रकाशित होने का अवसर प्राप्त करती हैं। अतः प्रस्तुत दृश्य का एक ही नहीं अनेक प्रमातृ चेतनाओं के साथ एक साथ तन्मयीभाव हो जाता है।[2]

इस प्रकार परमात्म-चैतन्य को सामूहिक अवसरों पर पूर्णतः विकसित होकर अधिकाधिक प्रकाशित होने का अवसर मिलता है।[3] स्पष्ट है कि प्रमाता की व्यक्तिशः रसानुभूति की अपेक्षा सामाजिक रसानुभूति अधिक समृद्ध होती है। समूहगत रसास्वाद की समृद्धि का कारण यह है कि समूह में व्यक्ति के निर्वैयक्तिकीकरण की क्षमता होती है। अकेले रहने पर व्यक्ति अपनी वैयक्तिकता के बोध से ग्रस्त रहता है, किन्तु समूह के बीच होते ही व्यक्ति समूह की सामाजिकता से प्रभावित होकर अपनी वैयक्तिकता को भूल

---

१ तथा ह्येकाग्रसकलसामाजिकजनः खलु।
नृत्तं गीतं सुधासागरत्वेन मन्यते॥
तग एवोच्यते मल्लनटप्रेक्षोपदेशने।
सर्वप्रमातृ-तादात्म्यं पूर्णरूपानुभावकम्॥
तावन्मात्रार्थसंवित्तितुष्टः प्रत्येकशो यदि।
कः सम्भूय गुणस्तेषां प्रमाणैक्यं भवेच्च किम्॥
यदा तु तत्तद्वेद्यत्वधर्मं सन्दर्भगर्भितम्।
तद्वस्तु शुष्कात् प्राग्रूपादन्यद् युक्तमिदं तदा॥ तन्त्रालोक, १०।५।८५

२ संवित्सर्वात्मिका देहभेदाद् या संकुचिता तु सा।
मेलकेऽन्योन्यसंघट्ट प्रतिबिम्बाद्विकस्वरा॥
उच्छलन्निजरश्म्योघः संवित्सु प्रतिबिम्बितः।
बहुदर्पणवद् दीप्तः सर्वायेताप्ययत्नतः॥
अतएव नृत्तगीतप्रभृतौ बहुपर्षदि।
यः सर्वतन्मयीभावो ह्लादो न त्वेककस्य यः॥
आनन्दनिर्भरा संवित् प्रत्यक्षं सा तथैकताम्।
नृत्तादौ विषये प्राप्ता पूर्णानन्दत्वमश्नुते॥
ईर्ष्यासूयादिसंकोचकारणाभावतोऽत्र सा।
विकस्वरा निष्प्रतिघं संविदानन्द योगिनी॥
अतन्मये तु कस्मिंश्चित् तत्रस्थे प्रतिहन्यते।
स्थपुटस्पर्शवत् संविद्विजातीयतया स्थिते॥
अतश्चक्रार्चनाद्येषु विजातीयमतन्मयम्।
नैव प्रवेशयेत् संवित्संकोचनिबन्धनम्॥ तन्त्रालोक, २८।५।३७३

३ इह तु दर्शने व्याप्तिग्रहणावस्थायां यावन्तस्तद्देशसम्भाव्यमानसद्भावाः प्रमातारस्तावतामेकोऽसौ धूमाभासश्चवह्न्याभासश्च वाह्य इव, तावति तेषां परमेश्वरेणैक्यं निर्मितम्।
ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी, २।४।१२

जाता है। इस प्रकार सामुदायिकता प्रत्येक व्यक्ति को निर्वैयक्तिक बनाकर साधारण्य म सपन्न कर देती है। इस दृष्टि से सामुदायिकता साधारणीकरण का प्रभावशाली साधन है।

पाश्चात्य सौन्दयशास्त्र म सहृदय के साधारणीकरण के समकक्ष निर्वैयक्तिकता का सिद्धान्त प्रचलित रहा है। कला या काव्य के आस्वादन के लिए निर्वैयक्तिकता की मान पश्चिम म भी स्वीकार की गई है जो प्रकारान्तर म पाठक के 'साधारण्य' का ही दूसरा नाम है। इस साम्य की ओर पहले भी कुछ विद्वानो ने सकेत किया है। उदाहरण के लिए प्रोफेसर कान्तिचन्द्र पाण्डे ने विरेचन सबधी हेगेल-कृत व्याख्या के समानान्तर अभिनव गुप्तादि द्वारा प्रतिपादित साधारणीकरण को प्रस्तुत करते हुए कहा है कि हेगेल के अनुसार विरेचन का अथ है निर्वैयक्तिकीकरण (डिइंडिविजुअलाइजशन)। भारतीय दृष्टि स भी विरेचन का अथ शुद्धीकरण है क्योंकि यहाँ भी प्रमाता के चित्त को देश-कालादि के विशेष सबधो से मुक्त करके उसकी वैयक्तिकता के निषेध का विधान है।[१] देश कालादि सबधो से सहृदय के चित्त की मुक्ति को सवथा विरेचन तुल्य मानने पर मतभेद हो सकता है किन्तु इतना निश्चित है कि हेगेल द्वारा प्रतिपादित निर्वैयक्तिकीकरण का सिद्धान्त संस्कृत काव्यशास्त्र की तद्विषयक मान्यता के पर्याप्त निकट है।

पाश्चात्य सौन्दयशास्त्र म सहृदयगत निर्वैयक्तिकता का प्रतिपादन करनेवालो म हेगेल अकेले नहीं। हेगेल से पहले काण्ट ने इसी मान्यता को आसक्तिहीन आसक्ति के नाम से प्रस्तुत किया था जिसम ग्राहक की कला विषयक रुचि को आसक्तिहीन कहा गया है। कला के आस्वादयिता को आसक्ति से मुक्त होने का परामश देते हुए काण्ट ने उसे प्रयोजनो उपयोगिताओ यादृच्छिक रुचियो एव अह-केन्द्रित पूर्वाग्रहो स भी बचने का सुझाव दिया है। काण्ट की आसक्तिहीनता की परिणति अन्तत निर्वैयक्तिकता म ही होती है। इसका प्रमाण यह है कि उन्होने हर किसी के स्थान पर अपने आप को रखकर सोचने का प्रस्ताव रखा है और उसे परिवर्धित मनोवृत्ति कहा है। स्पष्ट ही हर किसी के स्थान पर अपने आप को रखकर सोचने का अथ है—साधारण होना।

हर किसी के स्थान पर अपने आप को रखकर सोचने की क्षमता का अथ ही है—विशिष्ट व्यक्तिगत ससर्गों से मुक्ति। इतना ही नहीं व्यक्तिगत धारणाओ को निणय का पद प्राप्त करने के लिए सावजनिक अनुशासन के अधीन रहते हुए वयक्तिक सीमाओ का अतिक्रमण करना अनिवाय है। काण्ट तो निणय के लिए व्यक्ति-तत्त्व के परिहार की आवश्यकता इस रूप म मानते थे कि हम जो भी उपस्थित हैं उन सबके परिप्रेक्ष्य म वस्तुओ को देख ही नहीं सके दूसरो के साथ साझीदार हो सकें। वे सौन्दर्य के सावजनिक पक्ष के प्रति पूण सजग थे।

काण्ट की उक्त मान्यता म और पूर्व की व्यक्ति-ससर्गों से मुक्ति की धारणा म एक सूक्ष्म अन्तर है। अभिनवगुप्त की व्यक्ति-ससर्गों से मुक्ति की धारणा मे जितना परत्व का परिहार है उतना ही मम त्व का भी। सहृदय पाठक की वह मन स्थिति पूणत साधारणीकृत मन स्थिति है। इसके विपरीत काण्ट सौन्दय सबधी निणय म आत्मनिष्ठता के लिए

---

[१] '*A Bird's Eye View of Indian Aesthetics*', The Journal of Aesthetics and Art Criticism Vol XXIV No 1 Part I Fall 1965 p 72

अवकाश छोड़कर चलते हैं। उनकी सार्वजनिकता आत्म-विस्तार के भाव पर आधृत है। जहां अभिनवगुप्त ने इस बात पर बल दिया है कि यह अनुभूति सभी सामाजिकों के लिए एकघन प्रतीति है, जिसका स्वरूप समानुभूतिपरक है, वहाँ काण्ट की सार्वजनिक अनुभूति की धारणा, एक प्रकार की सह-अनुभूति है, जिसमे वैयक्तिक दृष्टि और रुचि के अनुकूल ग्रहण का अवकाश बना रहता है। परन्तु यह काण्ट ने भी स्पष्ट कहा है कि वह अभिरुचि और निर्णय सप्रयोजन नहीं होता। कलाकृति मे यह आसक्ति निष्प्रयोजन होती है। अर्थात यह केवल कृति के वस्तुगत स्वरूप के प्रति एक विशेष अभिरुचिपरक निर्णयात्मक स्थिति है, जिसमें पाठक विषय के अस्तित्व मे रस न लेकर केवल उसके रूपांकन तक सीमित रहता है। यह दृष्टि पूर्वाग्रह-मुक्त और निष्पक्ष होती है, जो एक प्रकार की अनुभव संवेदनापरक स्थिति न होकर काल्पनिक-बौद्धिक स्थिति होती है। उनके विचार से अनुभव संवेदनात्मक प्रतिक्रिया व्यक्ति की अन्तरात्मा का अंग होती है, अतः अनासक्त नहीं हो सकती। कलाकृति के प्रति अनासक्त प्रतिक्रिया, जो सार्वभौम हो, जो केवल उसकी रूपगत सत्ता के प्रति हो, कल्पना और ज्ञान शक्तियों की पारस्परिक अनुकूल क्रियात्मकता में निहित रहती है और यही सार्वभौम हो सकती है।

इस प्रकार जहाँ काण्ट ने काव्यानुभूति की सार्वभौमिकता को स्वीकार किया और निर्वैयक्तिकता को महत्त्व दिया, वहाँ रसानुभूति की अनुभव-संवेदनवादी भारतीय व्याख्या से भिन्न उसे काल्पनिक बौद्धिक व्यापार माना, क्योंकि उनके अनुसार उसी स्तर पर इस प्रतिक्रिया की सार्वभौमिकता और निर्वैयक्तिकता मान्य हो सकती है।

काण्ट की निर्वैयक्तिकता संबंधी उपर्युक्त धारणा अंशतः वर्तमान युग तक चली आई। जिस प्रकार काण्ट ने व्यक्तिगत रुचियों, पूर्वाग्रहों या संबंध भावनाओं से मुक्ति काव्यानुभूति के लिए अनिवार्य मानी थी, उसी प्रकार पाश्चात्य आलोचना में इसके समानान्तर 'निर्वैयक्तिकता' का नव्य-क्लासिकी सिद्धान्त प्राप्त होता है, जिसके प्रचलन का श्रेय आधुनिक युग के प्रसिद्ध कवि-आलोचक टी० एस० इलियट को है। इलियट ने भी वैयक्तिक संवेगों की सभी प्रकार की हलचलों के अपसरण का समर्थन किया। उन्होंने काव्य-रचना के लिए आत्म-बलिदान या आत्म-विलय को जिस प्रकार अनिवार्य माना, उसी प्रकार उसकी स्वीकृति ग्राहक-पक्ष में भी की जा सकती है। इलियट की इस धारणा की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में रोमाण्टिक काव्य की अतिशय भावुकता का विरोध था। इसलिए उन्होंने जब आत्मबलिदान या आत्मविलय की बात की, तो वहाँ ममत्व के परिहार का आशय था—भावुकता या भावावेश का परिहार और उसके बाद काव्यकृति का वस्तुनिष्ठ आस्वाद। जिस 'कुछ' के प्रति आत्म-समर्पण का प्रतिपादन इलियट ने किया वह परंपरा थी, और परंपरा समष्टिगत मान्यताओं, भावनाओं का संस्कारबद्ध रूप होती है। अतः सहृदय को अहं का परिहार करके वस्तुनिष्ठ दृष्टि से इस सामान्य संस्कार के आधार पर कृति का आस्वाद करना चाहिए। निश्चित पृष्ठभूमि के संदर्भ में ही इलियट की इस मान्यता का औचित्य सिद्ध किया जा सकता है। रोमाण्टिक काव्यधारा में स्रष्टा और ग्राहक दोनों का दृष्टिकोण अतिशय भावुकता के कारण असंतुलित रूप धारण करने लगा था। व्यक्तिगत भाव-सम्पदा, नितान्त विषयिप्रधान दृष्टि के महत्त्व में सृजन और मूल्यांकन दोनों दृष्टियों से कृति की वस्तुगत महत्ता गौण होने लगी थी, अतः इस

असंतुलन के विरोध में इलियट ने अति वैयक्तिक दृष्टि के स्थान पर निर्वैयक्तिक दृष्टि की प्रतिष्ठा की और काव्य की संघटना में संवेग, अनुभूति, विचार, भाव-बोध आदि के कलात्मक संतुलन की सिद्धि की आवश्यकता का निरूपण किया। यह संतुलन वैयक्तिक यादृच्छिक रुचियों और भावुकता के त्याग से ही उत्पन्न होता है और सामाजिक तत्त्व के प्रति आत्मसमर्पण के कारण व्यक्ति आत्मविस्तार करता है—यही विशेष का साधारणीकरण है और व्यक्ति-तत्त्व का समष्टि तत्त्व में विलय है। यह समष्टि तत्त्व कलाकृति के वस्तुगत रूप में ही निबद्ध रहता है और काव्यानुभूति व्यक्तिगत तरल संवेग का विभावन न होकर संवेग का वस्तुगत विभावन है। अर्थात् इस प्रक्रिया में ग्राहक का चित्त आत्म-निरपेक्ष होकर वस्तुगत सत्ता का भावन करने लगता है।

इलियट की यह मान्यता भारतीय रसानुभूति की मान्यता के अत्यधिक निकट है, क्योंकि जिस प्रकार भारतीय चिंतकों ने सहृदय के साधारणीकृत स्थायी भाव के आस्वाद पर बल दिया है उसी प्रकार इलियट भी निर्वैयक्तिकता का अर्थ वैयक्तिक संवेगों और अनुभवों का विस्तार मानते हैं, व्यक्तित्व मात्र का निषेध नहीं।

डॉ० एफ० आर० लीविस ने टी० एस० इलियट की बात को आगे बढ़ाते हुए कहा कि पाठक के पक्ष से इस निर्वैयक्तिकता का अर्थ है—नितान्त वैयक्तिक संवेगों का अपसारण कर काव्यकृति की मूर्त वास्तविकता में निहित निर्वैयक्तिक संवेगों का बौद्धिक प्रक्रिया द्वारा ग्रहण। पाठक की यह अनुभूति निश्चय ही परस्पर विरोधी संवेगों के जटिल संयोजन को ग्रहण करने के कारण जटिल अनुभूति है। इसके अतिरिक्त यह निर्वैयक्तिकता, जैसा कि अन्य विचारकों ने भी कहा है, एक ओर संवेगों की सार्वभौमिकता पर आधारित है और दूसरी ओर जैसा इलियट ने कहा 'जीने की सामान्य सरणी के अधीन होने का संकेत करती है।'

लीविस के निर्वैयक्तिकता संबंधी विवेचन में स्पष्ट ही इलियट और रिचर्ड्स की मान्यताओं का आंशिक रूप में ग्रहण किया गया है। इन मान्यताओं का साधारणीकरण की भारतीय धारणा से तनिक भी विरोध नहीं। किन्तु लीविस ने आगे बढ़कर यह भी कहा कि निर्वैयक्तिकता की सिद्धि के लिए जहाँ एक ओर संसार की अराजकता से असंपृक्तता आवश्यक है, वहाँ दूसरी ओर श्रद्धा भाव भी। अन्यथा केवल असंपृक्तता का परिणाम संशयवाद भी हो सकता है, और यह निश्चय ही काव्यानुभूति के लिए बाधक होगा। एक बार फिर इलियट से भिन्न लीविस ने निस्संगता का अर्थ व्यक्तित्व का आत्मविस्तार किया। इस प्रकार पाठक की जिस निर्वैयक्तिकता को काण्ट और हेगेल ने १९वीं शती में दर्शन के सैद्धांतिक आधार पर प्रतिष्ठित किया, उसे २०वीं शती में इलियट, रिचर्ड्स, लीविस आदि साहित्य-समालोचकों ने काव्य के संदर्भ में साहित्यिक ढंग से प्रतिपादित किया है। इन आलोचकों की दृष्टि में काण्ट द्वारा प्रयुक्त 'अनासक्ति' अथवा 'आसक्तिहीनता' (डिसइंटरेस्टेडनस) शब्द सुखद नहीं है। यही नहीं कि वह निषेधात्मक है, बल्कि इससे नितान्त रागशून्यता और शुष्कता का आभास मिलता है। इसलिए उन्होंने 'आसक्तिहीनता' के स्थान पर 'निर्वैयक्तिकता' (इम्पर्सनेलिटी) शब्द को अपनाया जो स्पष्टतः हेगेल के 'डि इंडिविजुअलाइजेशन' से भिन्न है। अंग्रेजी में 'पर्सनल' और 'इंडिविजुअल' में पर्याप्त अन्तर है। काव्य का पाठक अपने 'व्यक्तित्व' का निषेध नहीं

करता, बल्कि 'वैयक्तिकता' का निषेध करता है। वह अपने वैयक्तिक संवेगों के संकुचित दायरे से मुक्त होकर अपने से बाहर बृहत्तर समाज, सांस्कृतिक परंपरा अथवा वस्तुगत सत्ता के साथ संबद्ध होकर चित्त का विस्तार करता है। इस दृष्टि से पश्चिम का आधुनिक नव्य-क्लासिकी काव्य-सिद्धान्त संस्कृत काव्यशास्त्र के साधारणीकरण सिद्धान्त के अत्यन्त निकट हे।

नाट्य के संदर्भ मे भी पश्चिमी विचारकों ने इसी प्रकार की निर्वैयक्तिकता का उल्लेख किया है। जे० बी० प्रीस्टले ने स्पष्ट शब्दों में लिखा है कि : "जब हम किसी अच्छे नाटक का सुन्दर प्रयोग देखते है तो हम अपने-आपको सजातीय प्राणियों के साथ अनुभव होनेवाले सामान्य स्तर से बहुत ऊँचा उठा हुआ समझते हैं; उनके साथ हमारी जो दैनिक संपृक्तता है, उससे हम दूर हट जाते है; हम एक देवतुल्य विशाल हृदय की भाँति दर्शन और श्रवण करते हैं। हम मानवजाति के साथ सहानुभूति के साथ संपृक्त होते हुए भी एक प्रकार की असंपृक्तता का अनुभव करते है, जैसे हम उसके कार्यों मे कही भी संसक्त न हों।"[1]

उपर्युक्त तुलना से यह तो स्पष्ट है कि भारतीय और पाश्चात्य दोनों ही चिन्तन परपराओं में काव्यास्वाद के लिए पाठक में निर्वैयक्तिकता को आवश्यक माना गया हे, अन्तर है तो यह कि पाश्चात्य चिन्तन मे इस बात को जहाँ निषेधात्मक रूप में कहा गया है, भारतीय चिन्तन में उसके लिए विधेयात्मक अवधारणा उपलब्ध होती है। 'निर्वैयक्तिकता' निषेधात्मक है, जबकि साधारणीकरण विधेयात्मक है। निर्वैयक्तिक होकर पाठक अपने वास्तविक व्यक्तित्व को प्राप्त करता है। परिमित प्रमातृत्व के प्रभृष्ट होने पर प्रमाता का निजधर्म प्रकाशित हो जाता है और वह अपनी शुद्ध भाव-भूमि मे आत्मपरामर्श का अनुभव करता है, जिसे संस्कृत काव्यशास्त्र में 'स्वहृदय-संवाद-भाजकता' की सज्ञा दी गई है। यह 'स्व-हृदय-संवाद' एक प्रकार की आत्मोपलब्धि है। इसके अतिरिक्त विधेयात्मक ढग से विचार करने का ही परिणाम है कि भारतीय आचार्यों ने प्रेक्षक-व्यक्ति की व्यक्तिशः रसानुभूति से भी आगे बढ़कर सामूहिक और सामाजिक रसानुभूति का निरूपण किया है।

नाट्य के संदर्भ में अभिनवगुप्त द्वारा प्रतिपादित सामुदायिक प्रभाव से उत्पन्न होने वाले साधारणीकरण के समान विचार पश्चिम मे इधर मार्क्सवादी सौन्दर्यशास्त्रियो के विवेचन मे सुलभ होने लगा है। उदाहरण के लिए, अर्न्स्ट फ़िशर का यह कथन :

"स्पष्टतः मनुष्य निपट 'स्व' से कुछ अधिक होना चाहता है। वह 'पूर्ण' मनुष्य होना चाहता हे। वह विच्छिन्न व्यक्ति रहकर संतुष्ट नही हो सकता।······वह ऐसे 'कुछ' की ओर सकेत करना चाहता हे, जो 'मैं' से अधिक हो, जो स्वयं उससे बाहर होते हुए भी उसका स्वधर्म हो।"[2]

इस प्रकार साधारणीकरण के द्वारा आत्मोपलब्धि का विस्तार व्यापक सामाजिकता में होता है।

---

[1] द नेचर ऑफ़ द ड्रामा, लिसनर, ५८, (१९५७), पृ० ९१७

[2] द नेसेसिटी ऑफ़ आर्ट, पृ० ८

तादात्म्य या समानुभूति

सहृदय के चित्त की ममत्वादि से मुक्ति और काव्यविषय की देशकालादि के बंधनों से मुक्ति, साधारणीकरण प्रक्रिया का प्रथम सोपान है, और तादात्म्य या समानुभूति दूसरा। साधारणीकरण में निहित तादात्म्य संबंधी मान्यता के समकक्ष पाश्चात्य सौन्दर्यशास्त्र में एम्पेथी अथवा समानुभूति का सिद्धान्त प्राप्त होता है। पौरस्त्य और पाश्चात्य कला सिद्धान्तों के तुलनात्मक अध्ययन की दिशा में अग्रणीतुल्य कार्य करनेवाले प्रो० आनन्द कुमारस्वामी ने काफी पहले इन दोनों के सादृश्य की ओर संकेत किया था। उन्होंने साधारण्य का अर्थ अंग्रेजी में 'आइडियल सिम्पेथी' किया है, जो उनके विचार से 'एम्पेथी' के तुल्य है। दोनों सिद्धान्तों की तुलना करते हुए उन्होंने यह भी लिखा है कि "'वासना' एक प्रकार की जन्मजात अथवा अर्जित मनोवृत्ति है, जो कभी-कभी भावुकता का रूप भी ग्रहण कर सकती है किन्तु वह 'आदर्श सहानुभूति' के रूप में साधारण्य की संभावना के लिए अनिवार्य है। इस दृष्टि से साधारण्य सहमति (कन्सेन्ट) का ही दूसरा पक्ष है और इसी को सादृश्य, साहित्य सारूप्य, तदाकारता आदि संज्ञाओं से अभिहित किया जाता है।"[1]

सौन्दर्यपरक सहानुभूति के स्वरूप को और स्पष्ट करते हुए श्री आनन्द कुमारस्वामी ने कहा कि इस सहानुभूति का स्वरूप नैतिक तत्त्वों से मुक्त अतः आदर्श होता है, अर्थात् इसका अनुभव कलाकृति में व्यक्त सत और असत, सुख और दुःख, सभी स्थितियों में समान रूप से होता है। इससे भिन्न नैतिक सहानुभूति का वैध अनुभव किसी काव्य, नाटक अथवा चित्र में आदर्श चरित्र के रूप में चित्रित राम जैसे नायक के प्रति तो निश्चय ही हो सकता है, परन्तु ऐसी सहानुभूति का संबंध धर्म की दृष्टि से कलाकृति के आस्वाद से होता है विशुद्ध सौन्दर्यास्वाद से नहीं। सौन्दर्यास्वाद के क्षणों में दर्शक कृति को मानों ईश्वरीय दृष्टि से देखता है, जो गीता के अनुसार किसी के शुभ-अशुभ कर्मों की ओर ध्यान न देकर, अपने सूर्य का प्रकाश न्यायी और अन्यायी पर समान रूप से करता है।"[2]

पश्चिम में तादात्म्य की चर्चा समानुभूति (एम्पेथी) सिद्धान्त के अन्तर्गत की गई है। पहले स्पष्ट किया जा चुका है कि समानुभूति का अर्थ पश्चिम के विद्वानों ने किसी-न-किसी रूप में विषय और विषयी के बीच द्वैत चेतना का लोप स्वीकार किया है। परन्तु इस अद्वैत सिद्धि की प्रक्रिया के संबंध में भारतीय तादात्म्य की व्याख्या किंचित् भिन्न है। थ्योडर लिप्स जहाँ द्वैत के लोप की प्रक्रिया में विषयी के द्वारा विषय पर अहं का प्रक्षेपण स्वीकार करते हैं, वहाँ भारतीय मनीषी विषय में विषयी के अहं का विलय—तदाकरण मानते हैं। विषय और विषयी के इस पारस्परिक अन्तःप्रवेश से जहाँ उसका अनुभव समृद्ध होता है, वहाँ यह प्रक्रिया—अपने चेतनधर्मा चित्त से कलावस्तु को सजीवित करने का प्रयास, कलावस्तु में निहित अनुभूति को ग्रहण करने की अपेक्षा, उस पर अपना दृष्टिकोण आरोपित करने का प्रयत्न अधिक प्रतीत होती है। अभिनवगुप्त ने इस अनुभव को आत्मास्वाद तो माना है अपने महत्त्व का बोध नहीं। आत्मास्वाद भी इस नाते कि विश्वात्मा के साथ सर्वव्यापी चेतन-तत्त्व के साथ तदाकार हो जाने पर उसका आस्वाद आत्मास्वाद

---

[1] द ट्रान्सफॉर्मेशन ऑफ नेचर इन आर्ट, पृ० ५२, १९७

[2] वही, पृ० १९८

से भिन्न नहीं होता। इसके अतिरिक्त भी कलावस्तु को भारतीय काव्यशास्त्र में उस अर्थ में जड़ नहीं माना गया, जिस अर्थ में थ्योडर लिप्स ने उसे जड़ स्वीकार किया है। पश्चिम में समानुभूति के सिद्धान्त की व्याख्या मूर्ति, चित्र आदि कलाओं के संदर्भ में हुई, इसलिए उसे जड़ कहकर, उसके प्रति उत्पन्न विपयिगत संवेगों के कलाकृति पर प्रक्षेपण का प्रतिपादन किया गया। भारतीय विचारकों ने तादात्म्य की व्याख्या उस शब्दार्थमय काव्य के संदर्भ में की, जिसमें भापा के माध्यम से स्वयं चेतनधर्मी चित्त की अनुभूतियाँ वद्ध रहती है। अत: प्रश्न उनको ग्रहण करने का होता है, आत्मप्रक्षेपण का नहीं। इसलिए समानुभूति की पाश्चात्य धारणा और 'साधारणीकरण' के सिद्धान्त में मूल अन्तर यही है कि एक में जहाँ इदं में आत्म के विलय की, दोनों के तदाकरण की बात कही गई है, वहाँ दूसरे में इदं पर आत्म के प्रक्षेपण या आरोपण की। 'समानुभूति' सिद्धान्त की इस परिसीमा का प्रमुख कारण यही है कि इस सिद्धान्त की व्याख्या काव्येतर कलाओं के संदर्भ में तो की ही गई, कभी-कभी कला-इतर सामान्य सौन्दर्य के प्रति चित्त की भावात्मक प्रतिक्रिया की व्याख्या के लिए भी की गई और इसीलिए वहाँ शारीरिक चेष्टाओं पर भी पर्याप्त बल दिया गया।

पश्चिमी विचारकों में विल्हेम वोरिंगर द्वारा की गई 'समानुभूति' की व्याख्या, साधारणीकरण सिद्धान्त के सर्वाधिक निकट है। उन्होंने दो बातों पर विशेप बल दिया है। एक तो यह कि 'समानुभूति' केवल उन्हीं कलाओं से हो सकती है, जो ऐन्द्रिय बोध-सुलभ मूर्तिमत्ता और मांसलता से युक्त हों, ऐसी कृतियों से नहीं जो अमूर्त हों, अथवा जिनमे ज्यामितिक रूपों की प्रधानता हो। वे दोनों ही मानव की सहज अनुभूति का विपय नहीं हो सकती, उन तक केवल कल्पना के माध्यम से सहज मानवीय प्रकृति का अतिक्रमण करके ही पहुँचा जा सकता है। इसलिए ग्राहक के चित्त में समानुभूति जाग्रत करने के लिए कलाकृति को मांसल और मूर्त होना ही चाहिए, क्योंकि समानुभूति में ग्राहक का मन 'संक्रमण' करता है, 'अतिक्रमण' नहीं; और 'संक्रमण' का अर्थ है—कलाकृति मे अपने-आपको लय कर देना। इस 'समानुभूति' के लिए सामान्य जीवनानुभव की सीमाओ से ग्राहक के मन की मुक्ति अनिवार्य है, यह कहना व्यर्थ है। विपय में विषयी के मन का विलय ही संक्रमण है, ऐसा उन्होंने अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में कहा है। वे समानुभूति को विश्व और मानव के सुखद सहानुभूतिपूर्ण संबंध का परिणाम मानते है। साधारणीकरण की स्थापना काव्य के संदर्भ में की गई, जो भावमूलक कला है, जिसके प्रति मानव-मन की प्रतिक्रिया अनुभूत्यात्मक ही होती है। वह काव्य का अनुभावन है, बौद्धिक या कल्पनाप्रवण 'अनुचिन्तन' नहीं। अतः यह कहना कि समानुभूति का विषय वे ही कलाएँ हो सकती है जो ग्राहक में अनुभूति जगा सकें, भारतीय मान्यता के अत्यंत अनुकूल है। दूसरी ओर अहं के वोध से मुक्ति, मम और पर की भावना का परिहार, सामान्य जीवनानुभव के ही रूप है। वस्तुत: संस्कृत काव्यशास्त्र में निरूपित 'तन्मयीभवन' का सिद्धान्त कही अधिक गहन है। अभिनवगुप्त के रसविवेचन में तन्मयीभवन का वड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान है। 'तन्मयीभवन' का प्रयोग उन्होंने रस-निरूपण के दौरान अनेक प्रसंगों में किया है। उदाहरण के लिए :

(१) इत्यत्रानुभावविभावावबोधनोत्तरमेव तन्मयीभवनयुक्त्या तद्विभावानुभावोचित-चित्तवृत्तिवासनानुरंजितस्वसंविदानन्दचर्वणा गोचरोऽर्थो रसात्मा ।[1]

(२) हृदयसंवादवलात् विभावानुभावप्रतीतौ तन्मयीभावेनास्वाद्यमान एव रस्यमानतैकप्राण सिद्धस्वभावसुखादिविलक्षण परिस्फुरति ।[2]

(३) पुनरनुभावप्रतिपादने हि पुनरुक्तिरतन्मयीभावो वा ।[3]

(४) क्रौञ्चस्य द्वन्द्ववियोगेन य शोक स एव तथाभूतविभावतदुत्थाक्रन्दाद्य-नुभावचर्वणया हृदयसंवादतन्मयीभवनक्रमादास्वाद्यमानतां प्रतिपन्न ।[4]

(५) तच्चित्तवृत्तितन्मयीभवनमेव ह्यनुभवनम् ।[5]

(६) सस्कृत अनुमानस्मृत्यादिसोपानमारुह्यैव तन्मयीभावोचितचर्वणाप्राणतया ।[6]

(७) एकाग्रे च सामाजिके तन्मयीभूत आस्वादयितृता ।[7]

(८) तर्यं सम्यग्वद्धा हृदयसंवादक्रमेण तन्मयीभावापन्नप्रमातृभूम्यभेदमुपसम्प्राप्ता अचिरया स्थायिन आ समन्तात्साधारणीभावेन निर्विघ्नप्रतिपत्तिवशात् ।[8]

अभिनवगुप्त के मन्तव्यगत तन्मयीभवन को स्पष्टतया समझने के लिए 'ईश्वर प्रत्यभिज्ञा' में प्रस्तुत एक लौकिक उदाहरण विशेष सहायक हो सकता है ।[9] हम एक घट का प्रत्यक्ष करते हैं । घट हमारी चक्षुरिन्द्रिय पर प्रतिफलित होकर हमारे मानस-पटल पर उपस्थित होता है । मन पटल व्यष्टि चेतना का ही एक प्रसृत रूप है, विमर्श का ही एक स्पन्दित रूप है । इस प्रकार बाह्य घट हमारी प्रकाश-विमर्शमयी सत्ता का ही एक अंग बन जाता है । विषय की यह *आत्मसात्* परिणति ही '*तन्मयीभवन*' है । *अभिनवगुप्त के* मन्तव्य को और स्पष्ट करते हुए भास्करकण्ठ[10] कहते हैं कि "बाह्य पदार्थों का जो रूप

---

[1] ध्वन्यालोक-लोचन, पृ० ८२
[2] वही, पृ० ८१
[3] वही, पृ० ८३
[4] ध्वन्यालोक लोचन, पृ० ८६-८७
[5] वही, पृ० १६३
[6] अभिनवभारती, भाग १, पृ० १८४
[7] वही, पृ० २८९
[8] वही, पृ० २९०
[9] तथा च घटो मम स्फुरतीति कोऽर्थः ? मदीय स्फुरण स्पन्दनमाविष्ट मद्रूपतामापन्न एव, चिन्मयत्वात् ।

डॉ० प्रेमस्वरूप गुप्त रसगंगाधर का शास्त्रीय अध्ययन, पृ० २०२ पर उद्धृत ।

[10] ग्रहण समये भावस्य मायया भावत्वेन भासित निज सहजशुद्धप्रकाशात्म स्वरूपमेव प्रमातारं प्रति स्फुटीभवति यतः, तदा प्रमाता तद्वस्तु प्रति दिदृक्षासमये व्यापकीभवति । यदुक्तम्—

दिदृक्षयेव सर्वार्थान् यदा व्याप्यावतिष्ठते ।
तदा किं बहुनोक्तेन स्वयमेवावभास्यते ॥

व्यापकीभवंश्च तद्वस्तु स्वात्मसात्करोति तन्मयीभावासादन च वस्तुन शुद्धप्रकाशस्वरूपत्वा-सादनमेव, प्रमातु शुद्धप्रकाशमात्ररूपत्वात् ।" वही, पृ० २०२ पर उद्धृत

प्रमाता की चेतना के समक्ष आता है, वह मूलतः प्रकाश से भिन्न नहीं है, तथापि माया के द्वारा पृथक रूप से भासित होता हुआ संकुचित चेतना के सामने आता है। प्रमाता की चेतना उस वस्तु के साक्षात्कार के समय व्यापक होकर फैल जाती है और फैलकर उस वस्तु को अपना अंग बना लेती है। पदार्थों की यह आत्मरूपता की प्राप्ति ही 'तन्मयीभाव' है।" इस प्रकार अभिनवगुप्त के 'तन्मयीभवन' का अर्थ है—प्रमेय की आत्मकारा परिणति। काव्य के संदर्भ में काव्य-विषय की सहृदय-हृदयाकारा परिणति ही तन्मयीभवन है।

नाट्यदर्शन अथवा काव्यदर्शन के द्वारा सहृदय का हृदय द्रवीभूत होकर फैल जाता है और इस प्रकार वह अपने अन्तर्गत काव्य-भाव को भी समाविष्ट कर लेता है। इसी प्रक्रिया को अभिनवगुप्त ने 'तन्मयीभवन' की संज्ञा दी है।

किन्तु तन्मयीभवन का एक अन्य अर्थ भी संस्कृत काव्यशास्त्र में प्राप्त होता है जिसके प्रतिपादक रसगंगाधरकार पंडितराज जगन्नाथ हैं। उन्होंने अभिनवगुप्त के तन्मयीभाव की वेदान्ती व्याख्या करते हुए चित्तवृत्ति की विषयकारा परिणति का निरूपण किया है।[1] दोनों मान्यताओं में अन्तर यह है कि अभिनवगुप्त के तन्मयीभवन में प्रक्रिया बाहर से भीतर की ओर है, जबकि पंडितराज में भीतर से बाहर की ओर। एक के अनुसार प्रमेय प्रमाता के साथ तन्मय होता है और दूसरे के अनुसार प्रमाता प्रमेय के साथ। किन्तु दोनों ही स्थितियों में प्रमाता का हृदय प्रमेय के द्वारा फैलकर व्यापक होता है। प्रमाता के पक्ष में यह किसी-न-किसी रूप में आत्मविस्तार ही कहा जाएगा। रसानुभूति के लिए तन्मयीभवन की प्रक्रिया का अत्यधिक महत्त्व है; तन्मयीभाव की युक्ति से काव्य का आस्वाद संभव होता है। स्पष्ट ही तन्मयीभवन की इस दर्शनाधृत गहन प्रक्रिया की तुलना में पाश्चात्य 'एम्पेथी' सतही एवं सपाट प्रतीत होती है।

मानसिक अंतराल और तन्मयीभवन

सौन्दर्यानुभूति में ग्राहक कलाकृति के साथ तादात्म्य अनुभव करने के साथ ही जिस प्रकार एक सीमा तक दूरी बनाए रखता है, उसको देखते हुए 'एम्पेथी' अथवा 'समानुभूति' सिद्धान्त अपर्याप्त प्रतीत होता है। संभवतः इसीलिए, जैसा कि स्पार्शाट ने कहा है, कालक्रम से 'समानुभूति' सिद्धान्त बिना खंडन के ही त्याग दिया गया।[2] सौन्दर्यानुभूति में तादात्म्य पर बल देते हुए लिप्स और ली यह भूल गए कि उनसे पहले 'अनासक्ति' सिद्धान्त की स्थापना हो चुकी थी और निरपवाद रूप से प्रायः सभी क्षेत्रों में यह स्वीकार किया गया था कि सौन्दर्यानुभूति के लिए आसक्तिहीनता की शर्त अनिवार्य है। 'समानुभूति' सिद्धान्त के साथ कठिनाई यह है कि इसके द्वारा आसक्तिहीनता की व्याख्या नही हो सकती, क्योंकि समानुभूति के अन्तर्गत आसक्तिहीनता के लिए गुंजाइश ही नहीं है। इस दृष्टि से एडवर्ड बुलो द्वारा प्रस्तावित 'मानसिक अन्तराल' (साइकिकल डिस्टेंस) का सिद्धान्त समानुभूति का पूरक ही नहीं बल्कि अपेक्षाकृत अधिक संतोषप्रद है। यद्यपि शब्दगत औचित्य की दृष्टि

---

[1] यद्वा विभावादिचर्वणामहिम्ना सहृदयस्य निजहृदयतावशोन्मिषितेन तत्तत्स्थाय्युपहित-स्वरूपानन्दाकारा समाधाविव योगिनश्चित्तवृत्तिरुपजायते, तन्मयीभवनमिति।

रसगंगाधर, पृ० ८६

[2] द स्ट्रक्चर ऑफ़ एस्थेटिक्स, पृ० २४३

से मानसिक अन्तराल सर्वथा भी सुसंगत नहीं है क्योंकि अन्तराल से स्पष्टतः दूरी का ही बोध होता है और यह दूरी चाहे जितनी कम हो किन्तु उससे तादात्म्य तो दूर, निकटता का भी ग्रहण नहीं होता।

परन्तु शब्दगत अपर्याप्तता के रहते भी मानसिक अन्तराल की जो व्याख्या बुलो ने की है उससे कलाकृति और ग्राहक के संबंध की निकटता और दूरी का एक साथ ही बोध हो जाता है। मानसिक अन्तराल की स्थापना करने से पहले बुलो के सम्मुख 'अनासक्ति', वस्तुनिष्ठता अनुचिन्तन प्रभृति अवधारणाएँ विद्यमान थीं। इन अवधारणाओं से बुलो को पूरा संतोष इसलिए न था कि इनमें मात्रा भेद के लिए अवकाश न था। उदाहरण के लिए अनासक्ति या तो पूर्ण हो सकती है या अपूर्ण—इन दोनों के बीच में अनासक्ति की कोई स्थिति संभव नहीं है। इस प्रकार अनासक्ति एक प्रकार की स्थिर अवधारणा है जिसमें लचीलेपन का सर्वथा अभाव है। बुलो ने इस स्थिरता के बदले 'मानसिक अन्तराल' जैसी पर्याप्त लचीली अवधारणा का प्रस्ताव किया जिसमें मात्रा भेद के लिए पूरा अवकाश है। जैसा कि उन्होंने स्वयं कहा है "अन्तराल में स्वभावतः मात्राओं के लिए पूरा स्थान है। कलाकृति की प्रकृति के अनुसार कलाकृति और ग्राहक के बीच की दूरी घट-बढ़ सकती है—क्योंकि अपनी प्रकृति के अनुरूप प्रत्येक कलाकृति ग्राहक से अधिक या कम दूरी स्थापित कर लेती है। इसके अतिरिक्त कलाकृति और ग्राहक के बीच की दूरी स्वयं ग्राहक की ग्रहण-क्षमता के अनुसार भी घट बढ़ सकती है।"[1]

निस्सन्देह बुलो के मानसिक अन्तराल सिद्धान्त में पर्याप्त लचीलापन है और उसमें निहित निकटता और दूरी दोनों की संभावनाओं को देखते हुए अनेक विचारकों द्वारा उसे समर्थन प्राप्त हुआ है। सूज़न लैंगर ने तो अपने प्रतीकात्मक रूप के ग्रहण में 'मानसिक अन्तराल' को उपयोगी पाकर स्वीकार किया ही; वर्जिल सी॰ एल्ड्रिच ने भी इसी सिद्धान्त को विषय विषयी संबंध की सबसे संतोषप्रद व्याख्या मानकर अपनी सहमति व्यक्त की है। अपनी दृष्टि से मानसिक अन्तराल की व्याख्या करते हुए उन्होंने कहा है कि "यह दूरीकरण वस्तुतः उस विषय से नहीं है जिसे हम कलात्मक दृष्टि से देखते हैं बल्कि ऐसी दूरी है जिसमें प्रमाता भौतिक वस्तु के रूप में विषय से अपने-आपको दूर रखता है। विषय को इस ढंग से ग्रहण करते हुए वह वस्तुतः विषय के साथ एक विशेष प्रकार की आत्मीयता में प्रवेश करता है और जिस सीमा तक उस विषय के कलात्मक पक्ष उसके सम्मुख उद्घाटित होते हैं उस सीमा तक आत्मीयता भी होती है। इस दूरी के कारण विषय कलात्मक वस्तु के रूप में परिलक्षित होता है।"[2]

इस प्रकार ऐल्ड्रिच के अनुसार मानसिक अन्तराल में एक विशेष प्रकार की आत्मीयता

---

[1] ब्रिटिश जर्नल ऑफ साइकालोजी, जून १९१२, पृ० १४

[2] "Thus the distance or detachment is not from the thing on which aesthetic attention bears; rather percipient distances himself only from the thing as physical *object*. By pretending the thing he actually gets into a special sort of intimacy with it in as much as its aspects are then revealed to him. It is then the thing as aesthetic object."

—*Philosophy of Art*, p. 25

(इन्टिमेसी) के लिए भी अवकाश है और इसके द्वारा कला-विषय अपने भौतिक रूप को अलक्षित रखकर कलात्मक वस्तु के रूप मे गोचर होता है। किन्तु इन संभावनाओ के रहते हुए भी मानसिक अन्तराल में एक प्रकार की यन्त्रगत नाप-तोल की प्रतीति होती है। इस सिद्धान्त के प्रयोग मे निकटता और दूरी को जिस प्रकार घटाने-बढ़ाने का विधान है, वह किसी यन्त्र के लिए तो संभव है किन्तु सामान्य अनुभव में किसी सहृदय के द्वारा इस प्रकार की चेष्टा दृष्टिगोचर नहीं होती। कोई सहृदय कलाकृति को ग्रहण करते समय अपने हृदय को उससे निकट या दूर रखने की मात्रा का ऐसा सचेत और गणनापरक व्यायाम नही करता। मनोवैज्ञानिक परीक्षण के लिए सभवतः यह सिद्धान्त उपयोगी हो सकता है, जो कि बुलो के प्रयोग का मूल क्षेत्र भी था, किन्तु सौन्दर्यानुभूति संबंधी साक्षात अनुभव की सुकुमारता को देखते हुए 'मानसिक अन्तराल' की उपयुक्तता मे संदेह है।

इसके विपरीत अभिनवगुप्त के 'तन्मयीभवन' अथवा 'तादात्म्य' मे काव्यकृति और सहृदय के संबंध का सर्वथा सुसंगत विवेचन प्राप्त होता है। 'तन्मयीभवन' न तो 'एम्पेथी' के समान नितान्त एकाकारता की स्थिति है और न 'साइकिकल डिस्टेंस' के समान किंचित् अन्तराल की, बल्कि इसमें विषय और विषयी की भिन्न स्वतन्त्र सत्ता को स्वीकार करते हुए दो सत्ताओ के बीच तादात्म्य-स्थापन का विधान है। इस सबंध-भावना के मूल में एक निश्चित दार्शनिक आधार है। "कश्मीरी आगमिकों की यह धारणा है कि रसास्वाद के लिए द्वैत की भूमिका आवश्यक है, अन्यथा आस्वाद-आस्वाद्य और आस्वादक की अपेक्षित भूमियाँ न होंगी और न होंगी तो रसास्वाद न होगा।······द्वैत के साथ ही, रसबोध के लिए, अद्वैत भी आवश्यक है। अभिनव के अनुसार यह स्थिति प्रत्यभिज्ञादर्शन से ही संभव है जहाँ अद्वैत मे भी द्वैत है, पर वह आस्वाद-बोध के लिए स्वातन्त्र्यवश कल्पित है। इसलिए सच्चा रसास्वाद न एकान्ततः द्वैत-मत वालों की दृष्टि से सगत हो सकता है, न एकान्तत अद्वैत-मत वालो की दृष्टि से।"[1]

इसीलिए काव्यास्वाद के सदर्भ मे तन्मयीभवन का विवेचन करते हुए अभिनवगुप्त स्पष्ट शब्दों मे कहते है कि सहृदय न तो अनुकार्य के भावो को अनुभव करता है, न नट के भावो को। विभावादि तथा नटादि का महत्त्व भावों के उद्बोधन तक ही सीमित है। रसास्वाद तो प्रत्येक सहृदय अपने ही भावो के सस्कार का करता है। विभावादि के भाव सहृदय के हृदय मे सक्रमित नही होते : वे केवल सहृदय के हृदय मे अव्यक्त पड़े हुए भावो को व्यक्त करने के निमित्त मात्र है। इस प्रकार काव्यगत भावो और सहृदयगत भावो मे अन्त तक द्वैतता सुरक्षित रहती है। यदि विषय और विषयी के भावो का परस्पर संक्रमण होता तो 'एम्पेथी' के समान 'तादात्म्य' माना जाता। दूसरी ओर यदि काव्यगत भाव और सहृदयगत भाव सर्वथा विजातीय होते तो उनमें अन्तराल स्वीकार किया जाता। किन्तु यहाँ स्थिति विलक्षण है। एक ही विश्व-चेतना के अंग होने के कारण एक ओर काव्यगत भाव और सहृदयगत भाव सजातीय है तो दूसरी ओर आस्वादप्रक्रिया मे दोनो का अस्तित्व अपने स्थान पर पूर्णतः सुरक्षित है। इस प्रकार यहाँ द्वैत मे अद्वैत और अद्वैत मे द्वैत की स्थिति स्वीकार की गई है।

---

[1] **डॉ० राममूर्ति त्रिपाठी : रस विमर्श, पृ० ५३**

रसास्वादगत तन्मयीभवन के स्वरूप को समझाने के लिए अभिनवगुप्त ने एक लौकिक उदाहरण दिया है : "जैसे कंकश कंकड़ियों के समूह से कण्टकित भूमि भाग पर कठिनाई से सञ्चरण करते हुए किसी जन को देखकर सुकुमारहृदया प्रमदा उसमें मानो आत्मानुप्रवेश करके अत्यन्त खिन्न हो जाती है उसी प्रकार सहृदय का भी मार्ग है क्योंकि सुकुमारता निर्मलता का पर्याय है और कवि हृदय के साथ तादात्म्य स्थापित कर सकने की योग्यता ही सहृदयत्व का उत्कर्ष है।"[1] इस उद्धरण में 'इव' अर्थात् 'मानो' शब्द ध्यान देने योग्य है। अभिनवगुप्त ने सीधे आत्मानुप्रवेश नहीं कहा है, बल्कि यह कहा है कि मानो आत्मानुप्रवेश होता है क्योंकि किसी अन्य व्यक्ति में पूर्णतः अनुप्रवेश असंभव है। इस प्रकार तन्मयीभवन में निहित तादात्म्य एवं पार्थक्य दोनों स्थितियों का अत्यन्त स्पष्ट उल्लेख प्राप्त होता है।

इस मान्यता के अनुरूप इधर पाश्चात्य चिन्तन में भी विचार करने की प्रवृत्ति दृष्टिगोचर हो रही है। सुप्रसिद्ध आस्ट्रियन सौन्दर्यशास्त्री अर्न्स्ट फिशर ने लिखा है कि "प्रेक्षक प्रदर्शित वस्तु के साथ तादात्म्य नहीं करता बल्कि उससे दूरी बनाए रहता है, वह सचेत प्रतिरूपण के द्वारा वास्तविकता के प्रत्यक्ष प्रभाव को सह लेता है और कला में उस सुखद स्वतन्त्रता को उपलब्ध करता है जिससे दैनंदिन जीवन के भार उसको वंचित रखते हैं।"[2] फिशर ने यद्यपि तादात्म्य का निषेध करते हुए पार्थक्य की आवश्यकता पर बल दिया है किन्तु संपूर्ण संदर्भ को देखते हुए उनके मन्तव्य में पार्थक्य के साथ तादात्म्य का प्रतिपादन व्यंजित होता है जो बहुत कुछ भारतीय परंपरा के अनुरूप है।

कवि, काव्य और पाठक का साधारणीकरण

साधारणीकरण सिद्धान्त में एक और महत्त्वपूर्ण प्रश्न जो उठाया गया है, वह यह है कि साधारणीकरण किसका होता है?

इस प्रश्न का उत्तर पूर्व और पश्चिम दोनों में संपूर्ण प्रक्रिया के संबंध में ही दिया गया है। कवि के साधारणीकृत भाव द्वारा रचित काव्यकृति देशकाल व्यक्ति-संसर्गों से मुक्त साधारणीकृत रूप में अस्तित्व ग्रहण करती है और इसी विलक्षण अलौकिक स्वायत्त रूप के कारण सर्व सामाजिकों को साधारणीकृत स्थायी भाव एवं निस्संग चित्तवृत्ति से ग्रहण करने पर सुलभ होती है। वस्तुतः यदि आस्वाद की दृष्टि से देखा जाए, तो प्रासंगिक पाठक की चित्तवृत्ति का साधारणीकरण ही है, शेष का संबंध एक ओर सृजन प्रक्रिया से है तथा दूसरी ओर काव्यकृति की स्वरूप व्याख्या से है।

---

[1] यथा हि कंकशकर्करानिकरकण्टकिते देशे दुस्सञ्चरे सञ्चरन्तं जनं पश्यन्त्या अपि सुकुमारहृदयायाः प्रमदायास्तदात्मानुप्रवेश इव जायमानः खेदमतितरामादत्ते प्रहारपातादौ वा तथा सहृदयस्य स एव मार्गः सुकुमारता हि वैमल्यापरपर्याय सहृदयत्वे हृदयस्य हि कविहृदयतादात्म्यापत्तियोग्यतैव उत्कर्षः। अभिनवभारती भाग २ पृ० ३६

[2] The onlooker does not identify himself with what is represented but gains distance from it, overcomes the direct power of reality through its deliberate representation and finds in art that happy freedom of which the burdens of everyday life deprive him. *The Necessity of Art*, p. 9

पश्चिम में साधारणीकरण किसका या किससे होता है ? यह प्रश्न ठीक इसी रूप में नहीं उठाया गया, न ही आचार्य विश्वनाथ द्वारा प्रतिपादित आश्रय से तादात्म्य या पंडितराज जगन्नाथ की मौलिक स्थापना—दोष की कल्पना का समकक्षी कोई सिद्धान्त पश्चिम की चिन्तन-प्रणाली में मिलता है ।

आधुनिक युग के चिन्तकों में आचार्य शुक्ल की विचारधारा आचार्य विश्वनाथ से प्रभावित थी । अतः उन्होंने भी आश्रय से तादात्म्य का प्रतिपादन करते हुए स्थापना की कि साधारणीकरण आलम्वनत्व धर्म का होता है, जो पहले आश्रय-रूप कवि में सिद्ध होता है । पश्चिम के विचारकों ने ठीक इसी प्रकार आश्रय, आलम्वन आदि के भेद न करके संपूर्ण काव्यकृति के निर्वैयक्तिक वस्तुगत अस्तित्व को निस्संग हृदय से ग्रहण करने की वात की है । यों शब्द-भेद से आश्रय के स्थान पर नायक से तादात्म्य के प्रश्न पर वहाँ भी विचार किया गया है । वस्तुतः काव्य का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण और प्रधान पात्र होने के कारण पूर्व और पश्चिम दोनों में ही नायक को कवि की भावना का प्रतीक माना गया, क्योंकि कथा का नयन उसी के द्वारा होता है । इसीलिए भट्टतोत ने कहा था : **"नायकस्य कवेः श्रोतुः समानोऽनुभवस्ततः ।"**[१] आचार्य शुक्ल ने तो यहाँ तक कहा कि जहाँ पाठक का तादात्म्य आश्रय या नायक से नही होता, वहाँ हमारा अनुभव निम्न कोटि का होता है ।[२] अर्थात आचार्य अभिनवगुप्त जब 'तन्मयीभवन' और निमग्नता की वात करते है, तो उनका आशय पूर्ण तादात्म्य से होता है ।

पश्चिमी विचारकों ने कृति के प्रति एकाधिक प्रकार की प्रतिक्रियाओं की संभावना स्वीकार की है । किसी उपन्यास या कविता के विविध पात्रों के प्रति हमारी प्रतिक्रिया नायक की ही प्रतिक्रिया नही होती । इस भाव-वैविध्य की व्याख्या करते हुए टॉमस मुनरो ने कहा है : "एक कहानी के अनुभव-काल में व्यक्ति निरन्तर एक ही पात्र से या क्रमानुसार एकाधिक पात्रों से तादात्म्य कर सकता है । इस प्रसंग में होनेवाली प्रतिक्रिया दो वातों पर निर्भर रहती है : अंशतः कलाकार के अभिप्राय और अपने दृष्टिकोण पर ।"[3] मुनरो के अनुसार, : "किसी भी विशेष पात्र के साथ तादात्म्य की मात्रा वहुत दूर तक व्यक्ति के अपने व्यक्तित्व पर निर्भर है, जिसमें उसकी अचेतन स्थितियाँ भी सम्मिलित है ।"[४]

वस्तुतः नायक से तादात्म्य की वात जिस साहित्य को दृष्टि मे रखते हुए की गई है, उसमें न केवल नायक सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण एवं केन्द्रीय पात्र होता था, वही कार्यव्यापार का नियंता और संचालक भी होता था; वल्कि भारतीय काव्यशास्त्र में तो इस पात्र की कल्पना विशेष गुणयुक्त रूप में की गई है । अतः ऐसे पात्र से तादात्म्य करने में पाठक के सम्मुख कोई व्यावहारिक कठिनाई उपस्थित नही होती । आज कदाचित् यह सहज-संभव नही है । किसी भी काव्यकृति के प्रति, जिसमें जटिल स्थितियों की संघटना हो, हमारी

---

१ **ध्वन्यालोक-लोचन, पृ० ६३**

२ **चिन्तामणि, पृ० २३१**

3 *The Failure Story : An Evaluation,* Journal of Aesthetics & Art Criticism, Vol, XVII, No. 3, p. 367.

४ *Ibid.*

प्रतिक्रिया एकांगी होगी क्योंकि नायक के साथ पूर्ण तादात्म्य की स्थिति में, हमारी प्रतिक्रियाएँ उसी के विचार संवेगात्मक दृष्टिकोण से संचालित होंगी और हम प्रत्येक स्थिति में नायक के समान प्रतिक्रिया के लिए बाध्य हो जाएँगे, जो सदैव संभव नहीं है।

नायक से तादात्म्य का अर्थ है कि हम समस्त काव्यव्यापार को कवि के दृष्टिकोण से न रखकर नायक के दृष्टिकोण से देखें और परिणामतः जटिलताओं से युक्त काव्यकृति अपनी समग्रता में हमारे लिए ग्राह्य न रहे क्योंकि कवि का दृष्टिकोण सदैव वही नहीं होता जो नायक का दृष्टिकोण होता है। नायक के अत्यधिक महत्त्वपूर्ण होने पर भी उसे समग्र कृति का पर्याय नहीं माना जा सकता। पाठक के रस ग्रहण के लिए आवश्यक है कि उसकी पहुँच कृति में चित्रित स्थितियों के सभी पहलुओं तक हो जबकि नायक के सामने प्रायः उसका एक ही पक्ष होता है। जान हॉस्पर्स ने इस समस्या पर विचार करते हुए कुछ ऐसी स्थितियों के उदाहरण दिए हैं जहाँ नायक किसी प्रकार के दुर्भाग्य या विपत्ति का शिकार है और उन्होंने स्थापना की है कि ऐसी स्थिति में चरित्र के प्रति हमारी सहानुभूति किसी तरह एक प्रकार की निस्संगता के साथ वर्तमान रहती है जिसमें हम ग्रहण करते हुए चाहते हैं—नहीं इससे और अधिक हम चाहते हैं—आख्यान के द्वारा प्रस्तुत सब कुछ को उसकी समग्रता में। विशेष पात्रों के प्रति हमारा भावनात्मक संबंध अन्य तथा अधिक महत्त्वपूर्ण संवेगों की अनुभूति में सहायक होता है। ये अनुभूतियाँ प्रत्यक्ष रूप से हमारी समझ और अनुचिन्तन के माध्यम से आती हैं जैसे-जैसे हम उस सत्य को समग्रता में ग्रहण करते हैं जो घटनाओं को उनके गन्तव्य तक पहुँचानेवाली लहर के सदृश वर्तमान रहता है।[१]

किसी भी पात्र विशेष से तादात्म्य का पश्चिम में विरोध हुआ है। आइ० ए० रिचर्ड्स व अन्य नव्य आलोचकों ने विडम्बना (आयरनी) को श्रेष्ठ कविता का लक्षण माना है। और उनके अनुसार विडम्बना कवि की उस सजगता का सहज परिणाम होती है जिससे वह अपनी कविता में प्रत्यक्ष रूप से अभिव्यक्त अनुभवों से भिन्न यहाँ तक कि विरोधी अनुभवों का महत्त्व समझता है और उन्हें समाविष्ट करने का प्रयास करता है। ऐसी स्थिति में यदि पाठक का तादात्म्य नायक अथवा किसी अन्य पात्र से हो जाए तो वह स्थितियों के इस विडम्बनापूर्ण रूप से अवगत नहीं हो पाता। जब तक पाठक विभिन्न संभावनाओं से एक अंतराल की रक्षा नहीं करता वह कविता में सम्मूर्तित जटिल अनुभूति को पर्याप्त स्पष्टता और सूक्ष्मता के साथ ग्रहण नहीं कर पाता।

यह कहना व्यर्थ है कि विशेष प्रकार के नायकों से तो सदैव तादात्म्य और भी असंभव होगा। उदाहरण के लिए प्रहसन के नायक के साथ यह कैसे संभव हो सकता है कि हम उसकी असामान्य और विशिष्ट—सभी प्रकार की प्रवृत्तियों से तादात्म्य कर लें। इसके अतिरिक्त भी जहाँ कविता और पाठक के बीच कोई तीसरा मध्यस्थ पात्र नहीं है वहाँ तादात्म्य किसका होगा? उदाहरण के लिए आत्मप्रवण प्रगीतियों में। अतः निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि यद्यपि क्षणिक रूप से नायक अथवा किसी भी अन्य पात्र के साथ तादात्म्य की संभावना हो सकती है और यह संभावना कवि के उद्देश्य और उसके

---

[१] एसेज इन क्रिटिसिज्म जिल्द ५, १९५५, पृ० ३८०

द्वारा प्रयुक्त कलात्मक पद्धति पर निर्भर रहती है, परन्तु विशिष्ट पात्रों के प्रति एक निस्संगता का बोध हमसे कभी नहीं छूटता। इस प्रकार पाठक का तन्मयीभवन नायक से न होकर संपूर्ण काव्य-रचना से होता है। दूसरे शब्दों में कविता या नाटक पढ़ते समय हमारा तादात्म्य कवि के दृष्टिकोण और अनुभूतियों से होता है। हम उसे नायक की दृष्टि से न देखकर कवि की दृष्टि से देखते हैं। जहाँ तक पात्रों का प्रश्न है, उनके साथ तादात्म्य केवल क्षणिक, अस्थायी और पर-निर्भर होता है, जबकि उनसे निस्संगता स्थायी और पूर्ण होती है।

साधारणीकरण में जिस रूप में यह समस्या उठाई गई है कि साधारणीकरण किसका होता है? ठीक उसी रूप में यह प्रश्न शायद पश्चिम में उठाया नहीं गया। वहाँ काव्य के विभाव पक्ष का आश्रय, आलम्बन आदि भेदों में विभाजन नहीं मिलता। अतः आलम्बनत्व धर्म के साधारणीकरण की समस्या वहाँ उठाई ही नहीं गई। नायक के साथ साधारणीकरण का उल्लेख कहीं-कहीं किया गया है, वस्तुतः बहुत कम। इस संबंध में डॉ० नगेन्द्र की यह मान्यता कि साधारणीकरण कवि-अनुभूति से होता है, पश्चिम की बहुशः स्वीकृत मान्यता है। अधिकांश पाश्चात्य विद्वानों का इस संबंध में यही मत है कि कवि स्वानुभूति के आधार पर कलाकृति के माध्यम से एक ऐसे बिम्ब का निर्माण करता है, जो उसकी अनुभूति का ही प्रतीक होता है और उसे धारण करता है। इस बिम्ब के द्वारा वह पाठक को अपना सहभोक्ता बना ले, यह उसका दायित्व है। इसे चाहे शुक्लजी के शब्दों में आलम्बन को सामान्य गुणों से युक्त करना कह दिया जाए, अथवा संपूर्ण विभाव पक्ष को। वस्तुतः समग्र कलाकृति ही कवि की अनुभूति का प्रतिरूप होती है, उससे अनुविद्ध रहती है।

सहृदय प्रमाता की अनुभूति का तादात्म्य कवि की अनुभूति से होता है, इसका संकेत प्लेटो की काव्यानुभूति संबंधी मान्यता में मिलता है। प्लेटो ने जब यह स्वीकार किया कि काव्य-रचना के क्षणों में कवि अपने निसर्ग व्यक्तित्व पर एक अन्य आरोपित व्यक्तित्व धारण कर लेता है तो उनका आशय इतना ही था कि उसका अहं पूर्णतः काव्य-विषय में तल्लीन हो जाता है। यही नहीं बल्कि वे काव्य का पाठ करनेवाले चारण और सहृदय प्रेक्षक के मन में भी उन्हीं भावों का अनुभवन स्वीकार करते हैं, जिन्हें कवि अपनी कृति के माध्यम से संप्रेष्य बनाता है।[1] काव्य-देवियों के द्वारा कवि, चारण और पाठक, तीनों के अभिभूत होने की स्वीकृति भी उनके मध्य वर्तमान एक सामान्य सूत्र की ओर संकेत ही है।

पाठक और कवि के बीच समानुभूति की इस मान्यता का पोषण अत्यंत व्यापक रूप से पश्चिम के सौन्दर्यशास्त्र में हुआ है। ड्यूई[2] ने भी इस मत का समर्थन किया कि संवेदनशील पाठक कवि के 'समान हृदय' वाला होता है। उनके अनुसार कलाकार और दर्शक को पृथक् नहीं करना चाहिए क्योंकि 'कला की प्रतीति के लिए दर्शक को अपने अनुभवों की सृष्टि करनी आवश्यक है।' इसी प्रकार स्पिंगार्न ने कहा कि : "प्रतिभा और

---

[1] विशेष विवरण के लिए देखिए : प्लेटो के काव्य-सिद्धान्त, पृ० ५५–५८

[2] आर्ट एज एक्सपीरिएन्स, पृ० ५४, ३२५

आस्वाद की अभिन्नता कला-विषयक आधुनिक चिन्तन की चरम सिद्धि है और उसका अर्थ यही है कि अपने सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण क्षणों में सृजनात्मक और आलोचनात्मक वृत्तियाँ मूलतः एक हैं।"[1] अर्थात् जो कवि के सृजन-क्षण की अनुभूति होती है, वही समीक्षक के आस्वाद क्षण की और समीक्षक किसी भी अन्य सहृदय पाठक का समानधर्मा होता है।

यूरोपीय विचारधारा में उक्त मत की अनुगूंज शब्द-भेद से अनेक विचारकों के मत में सुनाई पड़ती रही। एम्पसन ने इसी बात को इस प्रकार कहा कि "किसी कवि को समझने की प्रक्रिया, अपने मन में उसकी कविताओं के पुनस्सृजन में निहित रहती है।"[2] कवि के शब्दों के माध्यम से इस प्रकार पाठक अपने लिए उसकी कविता का पुनस्सृजन करता है। पाश्चात्य विचारकों ने कवि और पाठक की अनुभूति में इतनी दूर तक समानता प्रतिपादित की है कि कवि के लिए सृजन-क्षण में जिस आत्म-विस्मरणकारी मनःस्थिति की अनिवार्यता निरूपित की गई, उसी प्रकार पाठक के लिए भी। रॉबर्ट ग्रेव्स ने कहा "कविता के पाठक को उसके पूर्ण रूप में ग्रहण के लिए पूर्णतः समाधि की अवस्था में लीन होना आवश्यक है।"[3] भारतीय काव्यशास्त्र में जब काव्यानुभूति को 'विगलित वेद्यान्तर' या 'वेद्यान्तरस्पर्शशून्य' स्थिति कहा जाता है, तब आशय इसी अन्य ज्ञान विरहित समाधि की अवस्था से होता है। इस सिद्धान्त के व्यापक प्रचार और सर्वस्वीकृति का प्रमाण यह है कि अधुनातन विचारकों में इसको समर्थन प्राप्त हुआ है। ज्योक मारिते ने भी सृजन और आस्वाद को अभिन्न मानते हुए कहा है "जिस प्रकार सृजनात्मक प्रतिभा का उदय कलाकार और विषय वस्तु के तादात्म्य से होता है, उसी प्रकार सौन्दर्यानुभूति-अथवा कलाकृति के पुनस्सृजन का उदय दर्शक और कलाकृति के तादात्म्य से होता है। समीक्षा इस प्रकार सृजन प्रक्रिया की पुनरावृत्ति है।"[4]

कवि और पाठक के बीच तादात्म्य का समर्थन केवल आलोचकों ने ही नहीं, स्वयं सृजनशील कलाकारों ने भी किया है। रोमाण्टिक कवि वर्ड्सवर्थ ने कहा "जब पाठक कवि की अनुभूति से नहीं पढ़ता, तो उसके लिए सब दुस्साध्य हो जाता है।"[5] वर्जीनिया वुल्फ ने अपने पाठकों को सावधान किया कि "अपने लेखक को आदेश न दो, वह जो है, वही होने का प्रयास करो। उसके सहचर और समानधर्मा बनो।"[6]

प्रसिद्ध फ्रांसीसी उपन्यासकार और आलोचक मार्सेल प्रूस ने भी काव्यास्वाद की प्रक्रिया को सृजन प्रक्रिया का ही एक भिन्न रूप माना है। दोनों में भिन्नता क्रिया के स्तर पर होती है, प्रयोजन के स्तर पर नहीं। उनके अनुसार "वास्तव में प्रत्येक पाठक, पढ़ने

---

[1] क्रिटिक्स एण्ड क्रिटिसिज़्म एनशिएण्ट एण्ड मॉडर्न (सं० आर० एस० क्रेन), पृ० ५१० पर उद्धृत

[2] सेविन टाइप्स ऑफ एम्बिगुइटी, द्वितीय संस्करण की भूमिका, पृ० १५

[3] द कॉमन एसफोडल, पृ० १

[4] क्रिएटिव इन्ट्यूशन इन आर्ट एण्ड पोएट्री, पृ० ३६

[5] अर्ली लेटर्स, पृ० ३०६

[6] द कॉमन रीडर, पृ० २५६

की प्रक्रिया में, स्वयं अपना पाठक होता है। लेखक की कृति केवल एक प्रकार के पर्यवेक्षण-यन्त्र के समान होती है जिसे वह पाठक को प्रदान करता है ताकि पाठक कृति में संभवतः जो स्वयं न देख सके, उसे विविक्त कर ले।"[१] बोदलेयर ने समस्त कलाओं के संदर्भ मे इस तथ्य पर बल दिया है कि उनमें एक रिक्त स्थान होता है, जिसकी पूर्ति आस्वादयिता की कल्पना के द्वारा होती है। "इस रिक्तता को रचनाकार की किसी कलात्मक अक्षमता का सूचक नहीं समझना चाहिए। इसका अस्तित्व तभी तक होता है, जब तक आस्वादयिता 'प्रतीति' की स्थिति तक नहीं पहुँच पाता। जब कृतिगत अनुभूति पाठक के अन्तःकरण का अंग हो जाती है और वह उसका आस्वादन करने लगता है तो यह रिक्तता समाप्त हो जाती है।"[२] इसके घटित होने पर कृतिकार और आस्वादयिता के बीच पूर्ण तादात्म्य हो जाता है। पैस्कल के शब्दों में : "मोण्टेन में नहीं, बल्कि स्वयं अपने भीतर मुझे वह सब कुछ प्राप्त होता है, जो मैं उनमें देखता हूँ।"

निष्कर्ष

१. रसानुभूति की प्रक्रिया की जैसी सम्यक संपूर्ण व्याख्या भारतीय काव्यशास्त्र के साधारणीकरण सिद्धान्त में सुलभ होती है, उसके तुल्य पाश्चात्य सौन्दर्यशास्त्र एव काव्यशास्त्र में कोई एक अकेला सिद्धान्त या सर्वांगपूर्ण अवधारणा नही है।

२. साधारणीकरण की तुलना में प्रायः जिस 'एम्पेथी' सिद्धान्त को उपस्थित किया जाता रहा है, वह साधारणीकरण-व्यापार के केवल एक अंश से तुलनीय है और वह अंश है—तादात्म्य अथवा तन्मयीभवन, किन्तु 'एम्पेथी' में 'तन्मयीभवन' के भी केवल एक पक्ष से ही समानता दिखाई पड़ती है।

३. पाश्चात्य सौन्दर्यशास्त्र में मानसिक अन्तराल (साइकिकल डिस्टेंस) नामक सिद्धान्त 'एम्पेथी' के साथ संयुक्त होकर साधारणीकरणगत 'तन्मयीभवन' की पूरी समता करने में समर्थ हो पाता है।

४. साधारणीकरण-सिद्धान्त की पूर्णता इस बात में है कि एक ही सिद्धान्त के द्वारा रसास्वाद प्रक्रिया के संपूर्ण सोपानों और सभी घटकों के पारस्परिक सबधों का निरूपण संभव हो जाता है। इसके अन्तर्गत कवि, काव्य और सहृदय तीनों की अनुभूतियो के साधारणीकरण की विवेचना के साथ कवि से सहृदय तक के संपूर्ण संप्रेषण व्यापार की व्याख्या सुलभ है। इसके समानान्तर पाश्चात्य सौन्दर्यशास्त्र में कही कवि और कहीं पाठक के। इस दृष्टि से भी पाश्चात्य परंपरा में साधारणीकरण से तुलनीय कोई एक संतुलित एवं सांगोपांग सिद्धान्त निर्मित नहीं हो सका है।

५. काव्यगत विभावादि के साधारण्य का विचार करते हुए संस्कृत काव्यशास्त्र मे विशेष से सामान्य होने की जो प्रक्रिया बतलाई गई है, उसके समान पाश्चात्य सौन्दर्यशास्त्र में 'यूनिवर्सलाइज़ेशन' और 'टाइप' सिद्धान्तों का निरूपण मिलता है। परन्तु पश्चिमी साहित्य की परंपरा में 'यूनिवर्सल' और 'टाइप' संबंधी मान्यता सदैव स्वीकृत नही रही।

---

[१] टाइम रीगेन्ड (अंग्रेजी अनुवादक—स्टीफ़ेन हडसन), पृ० २६५-२६६
[२] *Oeuvres Completes,* (Ed. by Y. G le Datec) p. 1041.

रोमाण्टिक आन्दोलन के प्रभाव से आधुनिक युग में प्राय 'व्यक्ति' अथवा 'विशेष' की ही प्रतिष्ठा दिखाई पड़ती है।

६ संस्कृत काव्यशास्त्र में काव्यगत विभावादि को पूर्णतया सहृदय-ग्राह्य होने के लिए साधारणीकरण-व्यापार द्वारा लौकिक से अलौकिक बनाने का विधान है जिसके तुल्य पाश्चात्य सौन्दर्यशास्त्र में नाटकीय आभास' अथवा 'प्रतिभास' का सिद्धान्त प्राप्त होता है।

७ भाव के स्तर पर साधारणीकरण व्यापार राग द्वेष-लेश से युक्त भावों को परिशुद्ध करके सतोमुख करता है जिसे प्राय पाश्चात्य काव्यशास्त्र के अरस्तू के विरेचन अथवा कैथार्सिस से तुलनीय माना जाता है किन्तु विवेचन से स्पष्ट है कि भावगत साधारणीकरण विरेचन की तुलना में अधिक विधेयात्मक है।

८ साधारणीकरण-व्यापार में जहाँ व्यक्ति-सबंधों से मुक्ति की बात की गई है उसकी तुलना में पाश्चात्य काव्यशास्त्र में प्रतिपादित 'निर्वैयक्तिकता' को उपस्थित किया जा सकता है किन्तु दोनों की तुलना करने पर स्पष्ट हो जाता है कि व्यक्ति-सबंधों के विकल्पों का विवेचन संस्कृत काव्यशास्त्र में अधिक सूक्ष्मता और गहराई के साथ किया गया है साथ ही वह निर्वैयक्तिकता की अपेक्षा कम निषेधात्मक है।

९ साधारणीकरण-व्यापार के अन्तर्गत भाषा के काव्यात्मक प्रयोग को जो महत्व प्राप्त है उसकी गूँज पाश्चात्य काव्यशास्त्र में भी यत्र-तत्र सुनाई पड़ती है, किन्तु भारतीय काव्यशास्त्र में भाषा के काव्यात्मक रूप का 'व्यजना व्यापार' के नाम से जिस प्रकार स्पष्टत निर्देश किया गया है उस प्रकार की स्पष्टता पाश्चात्य काव्यशास्त्र में सुलभ नहीं है।

१० किसी पाश्चात्य सिद्धान्त से साधारणीकरण की तुलना करते समय यह तथ्य ध्यातव्य है कि साधारणीकरण एक निश्चित दर्शन की उपज है। शैवाद्वैत तथा शाकर अद्वैत जैसे व्यापक जीवन दर्शन से ही साधारणीकरण जैसे समर्थ काव्य सिद्धान्त की उत्पत्ति सभव है। भारतीय दर्शन की इस विशिष्ट पृष्ठभूमि के बिना साधारणीकरण की सागो पागता का रहस्य समझना कठिन है।

६

काव्य का अधिकारी

सहृदय

विषय-पक्ष में जो काव्यार्थ है, विषयी पक्ष में वही 'सहृदयत्व' है। इसीलिए आचार्यो ने रस के स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए 'सहृदय' की अवधारणा का व्याख्यान किया है। संस्कृत काव्यशास्त्र के अनुसार सहृदय कोई काव्य-बाह्य व्यक्ति न होकर काव्य का अपरिहार्य एवं अभिन्न अंग है। आनंदवर्धन की दृष्टि में सहृदय काव्य-लक्षण निश्चित करनेवाला एक तत्त्व है। जिस काव्यार्थ को काव्य की आत्मा—रस माना जाता है, वह वस्तुतः 'सहृदय-श्लाघ्य' होता है।[1] इस प्रकार सहृदय के हृदय को आह्लादित करने वाला शब्दार्थमयत्व ही काव्य का लक्षण है।[2] वस्तुतः सहृदय की अवधारणा के बिना रस के स्वरूप का ठीक-ठीक निरूपण असंभव है। जैसा कि प्रो० गणेश त्र्यंबक देशपाण्डे का कथन है : "रस में समूहावलंबनता होने से ही रसिक दर्शक रस-प्रयोग से बाहर नहीं रह सकता। इस संपूर्ण रस-व्यापार में रसिक भी एक अपरिहार्य अंश है। रसिक को रस-प्रयोग-बाह्य समझकर विवेचक भी रस-विवेचन नही कर पाता। रसिक को बाह्य मानकर यदि विवेचक काव्य-नाट्य का विवेचन करता है तो वह लौकिक घटना का विवेचन होता है, रस का नही। काव्यगत अर्थो को विभावत्व प्राप्त ही रसिकानुभूति की दृष्टि से होता है, रसिक-निरपेक्षता से नही।"[3]

इसका प्रमाण यह है कि भरत मुनि का प्रेक्षक अथवा सामाजिक भी नाट्य का अपरिहार्य अंग था। मुनि के नाट्य में कवि, काव्य, नायक आदि के साथ नट और सामाजिक का भी समावेश है। 'नाट्यशास्त्र' का यह सामाजिक ही कश्मीरी शैव आचार्यो के यहाँ आकर 'सहृदय' के रूप में रूपान्तरित हो गया। 'सहृदय' शैवागम में सामान्य शब्द के रूप में नहीं बल्कि विशेष अर्थ-सम्पन्न पारिभाषिक शब्द के रूप में व्यवहृत हुआ है। शैवागम मे इस शब्द का प्रयोग केवल रागात्मिका शक्ति के लिए नहीं बल्कि स्वयं संवित् या चित् के लिए हुआ है।[4] इसीलिए सामाजिक, रसिक आदि शब्दों का प्रयोग करते हुए भी कश्मीरी शैवाचार्यों ने 'सहृदय' के प्रति विशेष झुकाव दिखाया है। कश्मीरी शैव-परंपरा में 'सहृदय' शब्द की लोकप्रियता का एक प्रमाण तो यही है कि ग्रंथों के नाम तक 'सहृदय-हृदय-दर्पण', 'सहृदयालोक' अथवा 'सहृदय-हृदयालोक' जैसे हुआ करते थे। अनेक प्राचीन ग्रंथों मे 'ध्वन्यालोक' को 'सहृदयालोक' और 'सहृदय-हृदयालोक' भी कहा गया है। अभिनव-गुप्त ने 'लोचन' में आनंदवर्धन को 'सहृदय चक्रवर्ती' नाम से सादर स्मरण किया है। कुछ विद्वानों का तो यहाँ तक कहना है कि ध्वनि कारिकाओं के निर्माता का नाम 'सहृदय' था।

---

१ योऽर्थः सहृदयश्लाघ्यः काव्यात्मेति व्यवस्थितः। ध्वन्यालोक, १।२
२ सहृदय-हृदयाह्लादि-शब्दार्थमयत्वमेव काव्यलक्षणम्। वही, पृ० २३
३ भारतीय साहित्यशास्त्र, पृ० ३२४
४ रेनीरो नोली : एस्थेटिक एक्सपीरिएंस एकॉर्डिंग टु अभिनवगुप्त, पृ० ६५

इतना तो कहा ही जा सकता है कि 'सहृदय' संबंधी अवधारणा के निर्माण, व्याख्यान एवं प्रचलन का श्रेय 'ध्वन्यालोक' के रचयिता आनंदवर्धन को है। उन्होंने स्पष्ट रूप से प्रश्न उठाया है कि सहृदयत्व क्या है? क्या रस-भाव की अपेक्षा न करके काव्य के आश्रित समय (संकेत) विशेष की जानकारी रखना सहृदयत्व है? अथवा रस-भाव आदि से युक्त काव्य के स्वरूप के परिज्ञान का नैपुण्य सहृदयत्व है? प्रथम विकल्प का निराकरण करने के उपरान्त द्वितीय प्रश्न का समर्थनपरक उत्तर देते हुए आचार्य ने आगे कहा है कि 'रसज्ञता ही सहृदयत्व है। रसज्ञता क्या है? रसादि के प्रति समर्पित होने का नैसर्गिक सामर्थ्य ही रसज्ञता है और रसादि शब्दों का ऐसा 'विशेष' है जो उस प्रकार के सहृदयों द्वारा संवेद्य होता है। और वह विशेष व्यंजकत्व है जिसके आश्रित मुख्य चारुत्व होता है।"[1]

आनंदवर्धन के इस विवेचन से स्पष्ट है कि रसज्ञता ही सहृदयत्व है। इस रसज्ञता के लिए वे 'समर्पण' भाव को आवश्यक मानते हैं, परन्तु उनकी दृष्टि में यह समर्पण 'नैसर्गिक सामर्थ्य' है। सहृदयत्व को नैसर्गिक सामर्थ्य कहने का कारण कदाचित् यह है कि आनंदवर्धन सहृदयत्व को भी एक प्रकार की 'प्रतिभा' मानते थे। परवर्ती आचार्यों ने भी सहृदयत्व को प्रतिभा विशेष के रूप में स्वीकार किया है। राजशेखर के अनुसार जिस प्रकार कवि में 'कारयित्री' प्रतिभा होती है, उसी प्रकार भावक में भी 'भावयित्री' प्रतिभा।

ध्वनिवादी आचार्यों ने व्यंग्यार्थ को ग्रहण करने के लिए सहृदय में प्रतिभा का होना अनिवार्य माना है। अभिनवगुप्त श्रोता से प्रतिभा के सहकारित्व को व्यंजना का प्राण मानते थे।[2] और मम्मट ने तो सहृदय के लिए 'प्रतिभाजुष्' शब्द का ही प्रयोग किया। मम्मट के इस प्रयोग की व्याख्या करते हुए प्रदीपकार ने स्पष्ट किया कि "प्रतिभाजुष् शब्द का प्रयोग करके मम्मटाचार्य यह प्रतिपादित करते हैं कि व्यंग्यार्थ की प्रतीति प्रतिभा होने पर ही होती है। प्रतिभा का अर्थ है—नवनवोन्मेषशालिनी प्रज्ञा। उसी को वासना भी कहते हैं। इसके बिना पाठक को व्यंग्यार्थ की प्रतीति नहीं होती। यही कारण है कि वैयाकरण को सहृदय के समान रस प्रतीति नहीं होती। जो सवासन अर्थात प्रतिभावान हैं उन्हीं को नाट्यादि में रसप्रतीति होती है, जो निर्वासन अर्थात प्रतिभाहीन हैं वे नाट्यगृह के पाषाण और दीवारों के समान हैं।"[3] शब्द के व्यंग्यार्थ-प्रतिपादन के लिए मम्मट ने प्रतिभा की

---

१ किमिदं सहृदयत्वं नाम ? किं रसभावानपेक्षकाव्याश्रित-समय-विशेषाभिज्ञत्वम् उत रस भावादिमयकाव्य-स्वरूप-परिज्ञान-नैपुण्यम्। रसज्ञतैव सहृदयत्वमिति। तथाविधैः सहृदयैः संवेद्यो रसादि-समर्पण-सामर्थ्यमेव नैसर्गिक शब्दानां विशेष इति व्यंजकत्वाश्रय्येव तेषां मुख्य चारुत्वम्। ध्वन्यालोक, पृ० ३९४

२ प्रतिपत्तृप्रतिभासहकारित्वमस्माभि द्योतनस्य प्राणत्वेन उक्तम्।

ग० त्र्यं० देशपाण्डे द्वारा भारतीय साहित्यशास्त्र, पृ० २०९ पर उद्धृत

३ प्रतिभाजुषमित्यनेन नवनवोन्मेषशालिनी प्रज्ञा प्रतिभा। सा वासना इत्युच्यते। तस्यां सत्यामेव वक्तृवैशिष्ट्यादिसत्त्वेऽपि व्यंग्यप्रतीतिरिति प्रतिपादितम्। अतएव वैयाकरणादीनां न तथा रसप्रतीति। तथा चोक्तम्—

सवासनानां नाट्यादौ रसस्यानुभवो भवेत्।

निर्वासनास्तु रंगान्तर्वेश्मकुड्याश्मसन्निभाः।' काव्यप्रदीप, पृ० ४९

विमलता, विदग्धता के परिचय, प्रकरण आदि के ज्ञान की सापेक्षता को अनिवार्य माना है। इसी से वाचक एवं लक्षक शब्द व्यंग्यार्थ-प्रतिपादक अर्थात व्यंजक होता है।[1] वक्ता, प्रकरण आदि की विशेषताएँ समझ लेने के उपरान्त प्रतिभावान सहृदय की बुद्धि में शब्द अथवा अर्थ से जो एक संस्कारविशेष प्रतिभा की सहायता से उदित होता है या उसे ज्ञात होता है, वह संस्कार विशेष ही व्यंजना है। ऐसा नागेश मानते थे।[2] निष्कर्ष रूप में ध्वनि-वादी आचार्यों ने सहृदय-प्रतिभा को व्यंग्यार्थ ग्रहण के लिए अनिवार्य माना है। जो कवि के पक्ष में नवनवोन्मेषशालिनी प्रज्ञा है, वही सहृदय के पक्ष में वासना और संस्कार विशेष अर्थात व्यंजना है। रस का आधार क्योंकि व्यंजना-व्यापार है, अतः रसास्वाद के लिए सहृदयगत प्रतिभा की अनिवार्यता स्वयं सिद्ध है। अभिनवगुप्त ने भी सहृदय को 'विमल-प्रतिभानशाली' कहा है।[3] परन्तु अभिनवगुप्त का महत्त्व इससे भी अधिक इस बात में है कि उन्होंने सहृदय की इस विशेष प्रतिभा की व्याख्या करते हुए सहृदय संबंधी अवधारणा को परिनिष्ठित रूप दिया—यहाँ तक कि परवर्ती काव्यचर्चा में वह सर्वमान्य मान्यता के रूप में प्रायः उद्धृत होती रही। अभिनवगुप्त जब सहृदय को विमल प्रतिभानशाली कहते हैं तो इसके साथ ही उसके लिए 'अधिकारी' शब्द का भी प्रयोग करते हैं। इसका अर्थ यह है कि सहृदय ही काव्य का अधिकारी है, हर व्यक्ति नहीं। और वह अधिकारी इसलिए है कि उसमें काव्यार्थ को ग्रहण करने की 'मानसी साक्षात्कारात्मिका शक्ति' होती है। इस शक्ति के द्वारा वह काव्य के विभावादि का मानस-साक्षात्कार करने में समर्थ होता है और विभावादिकों को मानस-चक्षुओं के सामने साक्षात घटित होते हुए देख लेता है। प्राचीन आचार्यों ने इसी शक्ति को 'भावना' नाम से भी अभिहित किया है। कदाचित् यह शक्ति वही है जिसे आधुनिक विद्वान 'कल्पना' नाम से व्यक्त करते हैं।

विभावादि के बिम्ब-ग्रहण में सहृदयगत प्रतिभा तभी समर्थ होती है जब वह अभिनवगुप्त के शब्दों में मुकुर के समान 'विमल' अथवा 'विशद' हो। अभिनवगुप्त ने इसी को अन्यत्र 'नैर्मल्य' नाम से भी अभिहित किया है। आपाततः सामान्य प्रतीत होते हुए भी अभिनवगुप्त की चिन्तन-पद्धति में 'नैर्मल्य' विशेष पारिभाषिक शब्द है। उनके अनुसार नैर्मल्य 'सजातीय घटकों की अति निविड़ या एकघन संगति है।'[4] मुकुर के उपमान से यदि इस मन्तव्य को स्पष्ट किया जाए तो मुकुर तब तक विशद या विमल न कहा जाएगा जब

---

१ प्रज्ञावैमल्यवैदग्ध्यप्रस्तावादिविधायुजः।
अभिधालक्षणायोगी व्यंग्योऽर्थः प्रथितो ध्वनेः॥

तथा प्रतिभाविदग्धपरिचयप्रकरणादिज्ञानसापेक्षो वाचको लक्षकश्च व्यंग्यमर्थं ध्वनि-शब्दो व्यनक्ति।

शब्दव्यापार-विचार, ग० त्र्यं० देशपांडे द्वारा भारतीय साहित्य शास्त्र, पृ० २०९-२१० पर उद्धृत

२ वक्त्रादिवैशिष्ट्यज्ञानप्रतिभाद्युद्बुद्धः संस्कारविशेषो व्यंजना।
परमलघुमंजूषा, देशपांडे द्वारा भारतीय साहित्य शास्त्र, पृ० २१० पर उद्धृत

३ अधिकारी चात्र विमलप्रतिभानशालिहृदयः। अभिनवभारती, भाग १, पृ० २७९

४ नैर्मल्यं चातिनिबिड-सजातीयैकसंगतिः। तंत्रालोक, ३।७

तब वह वाष्प या धूल आदि के कणों के विजातीय तत्त्वों से आच्छादित हो। विजातीय तत्त्व मुकुर में स्पष्ट बिम्ब पड़ने में बाधक होते हैं। इन विजातीय तत्त्वों के हटने से मुकुर शुद्ध सजातीय तत्त्वों से युक्त रहकर विमल दृष्टिगोचर होता है। किन्तु केवल सजातीय तत्त्वों का होना ही पर्याप्त नहीं है यदि इन सजातीय तत्त्वों में अति निबिड एवं घन संगति न हो। यदि मुकुर के सजातीय तत्त्व विघटित हों और इस प्रकार मुकुर यदि टूटा हुआ हो तब भी उसमें पड़नेवाला बिम्ब खंडित होगा। इसलिए मुकुर की निर्मलता सजातीय घटकों की एकघनता और अखंडता में ही संभव है। मुकुर संबंधी ये सभी बातें यदि मन हृदय पक्ष पर घटित की जाएँ तो हृदय का नैर्मल्य इस स्थिति में माना जाएगा कि नाट्य-साक्षात्कार या काव्य पाठ के समय सहृदय के हृदय में न तो किसी विजातीय घटक का मिश्रण हो और न हृदय किसी प्रकार विभक्त या खंडित हो।

किन्तु अभिनवगुप्त के अनुसार सहृदय के लिए विमल हृदय होना ही पर्याप्त नहीं है। विमल हृदय से युक्त होने के कारण ही सहृदय सहृदय नहीं है बल्कि वह कवि के समान हृदय होने की क्षमता भी रखता है। जब उसमें हृदय-संवाद एवं तन्मयीभवन की क्षमता होती है तभी वह पूर्णरूपेण सहृदय-पद का अधिकारी होता है। संवाद का सामान्य अर्थ है—समान अनुभव। जब रसिक अपने हृदय का संवाद कवि-हृदय के साथ करने के साथ ही स्वयं अपने हृदय में भी उस संवाद का अनुभव करता है तो उसे हृदय संवाद भाव कहा जाता है। निस्संदेह समान अनुभव का तात्पर्य एकदम कवि जैसा ही अनुभव नहीं है क्योंकि सहृदय को ठीक ठीक वही अनुभव कदाचित नहीं भी हो सकता जो कि स्वयं कवि के मन में होता है अथवा कवि जिसे काव्य में व्यक्त करता है। इसलिए इस असंभव आदर्श की माँग न करते हुए अभिनवगुप्त ने केवल समान अनुभव की आवश्यकता बतलाई है। इस संदर्भ में हृदय-संवाद का इतना महत्त्व है कि स्वयं भरत मुनि ने भी इस बात पर बल दिया है कि जो अर्थ हृदय-संवादी होता है उसका भाव रसोद्भव करता है।[1]

हृदय-संवाद से ही सहृदय में तन्मयीभवन की क्षमता आती है। तन्मयीभवन को ही अभिनवगुप्त ने 'आवेश' 'समावेश' आदि शब्दों से स्पष्ट किया है। जब अस्वतन्त्र चित् स्व-तद्रूप को निमज्जित करके पर-तद्रूपता को प्राप्त होता है तो उसे आवेश कहते हैं।[2] अस्वतन्त्र चित वह है जो लौकिक अवस्था में होता है और इस प्रकार जो देश-काल नियति के बंधनों से संकुचित रहता है। काव्य के साक्षात्कार से जब संकुचित स्व मुक्त होने की दिशा में अग्रसर होता है तो अनिवार्यतः उसके स्व-रूप का निमज्जन हो जाता है और वह काव्य के विभावादि के साथ पर-तद्रूपता ग्रहण कर लेता है। इस प्रकार सहृदय व्यापक एवं स्वतंत्र कविगत विश्वात्मक बुद्धि से एकात्मक हो जाता है। इस प्रक्रिया में माध्यस्थ अथवा उदासीनता के भाव का अपसरण आवश्यक है। अभिनवगुप्त ने इसी को चित्त

---

[1] योऽर्थो हृदयसंवादी तस्य भावो रसोद्भवः ।
शरीरं व्याप्यते तेन शुष्कं काष्ठमिवाग्निना ॥ नाट्यशास्त्र ७।७

[2] आवेशश्चास्वतन्त्रस्य स्वतद्रूपनिमज्जनात् परतद्रूपता । तन्त्रालोक १।१७७

की 'स्पन्दमानता' कहा है। ऐसे स्पन्दमान हृदय से युक्त सहृदयजन आनन्द का अनुभव करता है।[१]

अभिनवगुप्त ने सहृदय की इन समस्त विशेषताओं को 'लोचन' में एकत्र ही सूत्रबद्ध करते हुए लिखा है :

येषां काव्यानुशीलनाभ्यासवशाद्विशदीभूते मनोमुकुरे
वर्णनीयतन्मयीभवनयोग्यता ते हृदयसंवादभाजः सहृदयाः।[२]

डा० राघवन् भोज-द्वारा निरूपित 'रसिक' की विशेषताओं पर विचार करते हुए 'सहृदय' एवं रसिक की पारस्परिक तुलना के द्वारा इस निष्कर्ष पर पहुँचे है कि अभिनव-गुप्त की सहृदय-संबंधी मान्यता सर्वाधिक संतोषप्रद है। उनके विचार से स्वयं 'सहृदय' जैसे शब्द का चुनाव ही अर्थपूर्ण एवं विवेकसम्मत है और इसे अभिनवगुप्त की विशिष्ट देन समझना चाहिए।[3]

निस्सन्देह यदि अभिनवगुप्त के 'सहृदय' की तुलना भोज के 'रसिक' से करे तो 'सहृदय' सम्बन्धी अवधारणा का महत्त्व अधिक स्पष्ट रूप में उभर कर सामने आता है। भोज का रसिक एक वर्ग-विशेष का गुण-संपन्न प्राणी है। जैसा कि डॉ० राघवन ने कहा है, भोज का 'रसिक' काव्य के आस्वादयिता की स्थिति का मनुष्य नहीं, बल्कि वह कतिपय मानवीय गुणों के नाते ही एक विशिष्ट मनुष्य है। भोज की रसिकता ऐसी विशेषता है, जिसका संबंध मनुष्य के व्यक्तित्व के किसी उत्तमांश से है। यह उत्तमांश उसे ऐसा गौरव प्रदान करता है जिसके द्वारा उसका व्यवहार समाज में उसे उन सभी लोगों से विशिष्ट बना देता है, जो नीरस कहे जाने योग्य है।[४] इसके विपरीत अभिनवगुप्त का सहृदय काव्य के संदर्भ में ही अर्थ रखता है। सहृदय की सार्थकता काव्यास्वाद की अवस्था तक ही सीमित है, काव्य-पाठ का काल समाप्त हो जाने के बाद लौकिक अवस्था में सहृदय भी सामान्य जन के समान है। इस प्रकार अभिनवगुप्त के अनुसार प्रत्येक पाठक की सहृदयता काव्य-विशेष के साथ हृदय-संवाद तक सीमित है। इसीलिए अभिनवगुप्त ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि **'सर्वस्य न सर्वत्र हृदयसंवादः'** एक ही पाठक वीर रस प्रधान काव्य के लिए सहृदय हो सकता है, किन्तु वही शान्त रस प्रधान काव्य के लिए अहृदय हो सकता है। ऐसी स्थिति में उस व्यक्ति को सहृदय-पद से सर्वथा वंचित कर देना समीचीन न होगा। इस प्रकार सहृदयत्व को निश्चित एवं सीमित अर्थ प्रदान करने के कारण ही अभिनवगुप्त की स्थापना काव्य-शास्त्रीय दृष्टि से संतोषप्रद एवं निर्दोष मानी जाती है।

---

१ तथाहि मधुरे गीते स्पर्शो वा चन्दनादिके।
माध्यस्थ्यविगमे यासौ हृदये स्पन्दमानता॥
आनन्दशक्तिः सैवोक्ता यतः सहृदयो जनः। तन्त्रालोक, २।२००

२ ध्वन्यालोक-लोचन, पृ० ३९-४०

3 शृंगारप्रकाश, पृ ४६७-४६८

४ The word Rasika did not simply mean the man in the state of an enjoyer of poetry or drama, but was applied by Bhoja to man as man. That is, it is an attribute referring to some excellence in man's personality which goes to make up the grace that distinguishes his behaviour in society from that of another who is called 'Nirasa'
Bhoja's *Shringara Prakasha* p. 466

आदर्श ग्राहक

सौन्दर्यानुभूति का परिनिष्ठित रूप स्थिर करने के लिए पाश्चात्य कला चिन्तन और काव्यशास्त्र में भी आदर्श ग्राहक अथवा आदर्श पाठक की परिकल्पना की गई है। इस विषय पर पहुँचने के लिए प्रायोगिक एवं सैद्धान्तिक दोनों दिशाओं में प्रयास हुए हैं।

यदि सौन्दर्यानुभूति में मात्रा भेद अनुभव सिद्ध है तो निश्चय ही कला के ग्राहकों में भी प्रकार भेद अपरिहार्य है। चित्त की एकाग्रता, संवेदनशीलता तथा बोध शक्ति के न्यूनाधिक होने से ग्राहकों की भी कोटियाँ होती हैं। इन कोटियों के निर्धारण का एक आधार तो प्रत्यक्ष अनुभव है, किन्तु प्रायोगिक सौन्दर्यशास्त्रियों ने इतने ही से सन्तुष्ट न होकर ग्राहकों की कोटियाँ निर्धारित करने के लिए, प्रयोगसिद्ध प्रमाण एकत्र करने की दिशा में महत्वपूर्ण प्रयास किया है। इस दृष्टि से अग्रज मनोवैज्ञानिक एडवर्ड बुलो के रंग संबंधी प्रयोग अत्यधिक मूल्यवान हैं। इन्होंने द पर्सेप्टिव प्रॉब्लम इन द एस्थेटिक एप्रिसिएशन आफ सिंगल कलर्स[1] और द परसेप्टिव प्राबलम इन द एस्थेटिक एप्रिसिएशन आफ सिम्पल कलर-काम्बिनेशन्स[2] में क्रमश: अकेले रंगों और रंगों के मिश्रणों को विभिन्न व्यक्तियों के सम्मुख रखकर उनकी प्रतिक्रियाओं के विवरण विश्लेषण द्वारा ग्राहकों के निम्नलिखित चार प्रकार निर्धारित किए

१ आसंगात्मक (एसोसिएटिव)

२ शरीरक्रियात्मक (फिजिओलाजिकल)

३ वस्तुनिष्ठ (आब्जेक्टिव)

४ चरित्र (कैरेक्टर)

आसंगात्मक ग्राहक वे हैं जो रंगों के साथ पूर्वस्मृत संवेगात्मक आसंगों को संबद्ध करते हैं और आसंगजनित प्रतिक्रियाएँ व्यक्त करते हैं। बुलो ने आसंगात्मक ग्राहकों के भी दो भेद किए हैं। एक तो वे हैं जिनके संवेगात्मक आसंग प्रस्तुत रंग से सर्वथा असंबद्ध होते हैं और दूसरे वे जिनके आसंग प्रस्तुत रंग के गुण से कुछ-न-कुछ सम्बद्ध होते हैं। पहले प्रकार के आसंग कलात्मक दृष्टि से अवैध हैं क्योंकि उनमें रंगों का उपयोग वैयक्तिक आसंगों के मात्र प्रेरक-रूप में किया जाता है। इसके विपरीत दूसरे प्रकार के आसंग पूर्णत: अकलात्मक नहीं हैं। वे निश्चित रूप से प्रतिग्रहण के कलात्मक मूल्य में वृद्धि करते हैं और जैसा कि बुलो ने कहा है वे सौन्दर्यानुभूति की स्वनिष्ठ प्रकृति को कहीं भी बाधित न करते हुए रंग को अर्थवत्ता और गौरव प्रदान करते हैं।[3]

शरीर क्रियात्मक प्रकार के ग्राहक वे हैं जो किसी वस्तु के बारे में उन वैयक्तिक शारीरिक प्रभावों के अनुसार निर्णय देते हैं जो वह वस्तु उन पर डालती है। ऐसे व्यक्ति को एक रंग 'ठंडा' लगता है तो एक रंग आलस्य का भाव जगाता है और किसी अन्य दर्शनार्थी को शरीर रेंगने की सी अनुभूति। ये समस्त उदाहरण 'शरीरक्रियात्मक'

---

1 ब्रिटिश जर्नल आफ साइकॉलोजी, २ (१९०८)

2 वही ३ (१९१०)

3 वही, पृ० ४५६

ग्राहक की उस प्रवृत्ति के सूचक है, जिसके अनुसार वह अपनी शारीरिक क्रियाओं की दृष्टि से प्रस्तुत वस्तु के गुणों का व्याख्यान करता है।

इसके विपरीत 'वस्तुनिष्ठ' प्रकार के ग्राहक अपनी वैयक्तिक प्रतिक्रियाओं की सर्वथा उपेक्षा करके प्रस्तुत वस्तु की प्रकृति का नितान्त वस्तुनिष्ठ विवरण उपस्थित करते है। वे वस्तु के गुणों का एक-एक करके विश्लेपण करते है और किसी प्रतिमान या निकष के आधार पर उन गुणों का मूल्यांकन करते है।

अन्तिम वर्ग उन ग्राहकों का है, जिन्हे बुलो ने 'चरित्र' संज्ञा प्रदान की है। बुलो की दृष्टि में 'चरित्र' प्रकार के ग्राहक आदर्श ग्राहक है। ये ग्राहक प्रस्तुत वस्तु में वैयक्तिक रूप से समभागी होने के साथ ही निर्वैयक्तिक वस्तुनिष्ठता का अद्‌भुत सामंजस्य करने मे समर्थ होते हैं।[१]

इन चारो प्रकारों का परिचय देने के बाद बुलो ने कलात्मक दृष्टि से इन ग्राहकों की कोटियों का भी निर्देश किया है।[२]

निम्नतर कोटि 'शरीर क्रियात्मक' प्रकार के ग्राहकों की है; उनसे ऊपर 'असंबद्ध आसंगात्मक' ग्राहक है, फिर 'वस्तुनिष्ठ' ग्राहक, और अन्त में क्रमशः 'संबद्ध आसंगात्मक' और 'चरित्र' प्रकार के ग्राहकों का स्थान है। बुलो के तारतम्य-निरूपण से स्पष्ट है कि सफल सौन्दर्यानुभूति के निकट केवल 'संबद्ध आसगात्मक' और 'चरित्र' प्रकार के ग्राहक आते है।

बुलो के प्रयोगों की पुष्टि थोड़े-बहुत सशोधन के साथ अन्य प्रयोगकर्त्ताओं ने भी की है। जिस तरह बुलो ने रंगों के साथ ग्रहणशीलता संबंधी प्रयोग किया, उसी प्रकार चार्ल्स एस० मायर्स ने 'इण्डिविजुअल डिफ़रेन्स इन लिसनिंग टु म्यूजिक'[3] शीर्षक निबंध में संगीत संबधी प्रयोगों के विवरण और निष्कर्ष प्रकाशित किए। इसी तरह एल० फ़ीज़े ने रूपाकार संबंधी प्रयोगों को 'सम एक्सपेरिमेण्ट्स ऑन एस्थेटिक्स'[४] शीर्षक निबंध मे प्रस्तुत किया, और सी० डब्ल्यू० वैलेन्टाइन ने 'एन इण्ट्रोडक्शन टु द एक्सपेरिमेण्टल साइकॉलोजी ऑफ़ ब्यूटी' (१९१९) नामक पुस्तक में चित्रों और संगीत-स्वरों के द्वारा और भी व्यापक स्तर पर विचार किया।

निश्चय ही ये प्रयोग बहुत-कुछ प्रायोगिक मनोविज्ञान से संबंधित है; किन्तु प्रयोग-कर्त्ताओं का उद्देश्य स्पष्ट रूप से सौन्दर्यानुभूति संबंधी ठोस तथ्यों को प्रकाश में लाना रहा है। अब यह सौन्दर्यशास्त्र के अध्येताओं के विचार का विषय है कि ये प्रयोग सौन्दर्यशास्त्रीय अध्ययन में कहाँ तक उपयोगी है। यदि ग्राहकों के अन्य प्रकारों को किसी प्रकार यादृच्छिक भी मान लें तो बुलो द्वारा प्रस्तावित 'चरित्र' प्रकार का ग्राहक साहित्य-समालोचकों द्वारा

---

१ ब्रिटिश जर्नल ऑफ़ साइकॉलोजी, जिल्द ३, पृ० ४६१–६३

२ वही, पृ० ४५८

3 वही, जिल्द १३, (१९२२), पृ० ५२–७१

४ वही, जिल्द १२, (१९२१), पृ० २५३–७२

प्रस्तावित 'आदर्श पाठक' तथा सौन्दर्यशास्त्रियों द्वारा उल्लिखित 'आदर्श दर्शक' से काफी समानता रखने के कारण प्रस्तुत विवेचन के लिए पर्याप्त प्रामाणिक है।

ज्याँ पाल सार्त्र के शब्दों में "मस्तिष्क के संपूर्ण कृतित्व में उस पाठक की प्रतिमा वर्तमान रहती है जिसके लिए उनकी रचना की जाती है।"[1] वस्तुतः कलाकृति रचनाकार और पाठक के सहयोगी प्रयास का परिणाम मानी जाती है। जैसा कि काण्ट का कहना था, कोई कलाकृति अपना अस्तित्व तभी प्राप्त करती है जब उसे कोई देखता है। किसी कृति की सार्थकता इसी बात में है कि वह ग्रहण की जाए या पढ़ी जाए। एक पाठक की चेतना के द्वारा ही लेखक अपने कृतित्व के लिए अपने आपको आवश्यक मानता है। यह धारणा इतनी स्वतः सिद्ध है कि इसे अधिक तर्कपूर्वक प्रमाणित करने की आवश्यकता नहीं है। रचना के लिए पाठक के सहयोग का महत्त्व इतना अधिक है कि पाश्चात्य सौन्दर्यशास्त्र में पाठक की ग्रहणशीलता को भी एक प्रकार की सृजनशीलता कहा गया है। सार्त्र ने तो ग्रहणशीलता को सृजनशीलता का द्वन्द्वात्मक सह-संबंधी (डायलेक्टिकल कारिलेटिव) कहा है।[2] इसीलिए सार्त्र जैसे रचनाकार अपने लेखन को लेखक की स्वतन्त्रता के साथ ही पाठक की स्वतन्त्रता के लिए भी किया गया प्रयास मानते हैं क्योंकि एक 'स्वतन्त्र पाठक' ही किसी कलाकृति को सही अर्थों में ग्रहण कर सकता है। यदि पाठक उदासीन, तटस्थ या निष्क्रिय हो तो सृजन-कार्य कठिन हो जाता है। पाठक की उत्सुकता, प्रतीक्षा, जिज्ञासा और सक्रियता रचनाकार का उत्साहवर्धन ही नहीं करती, बल्कि उसे रचनात्मक शक्ति भी प्रदान करती है।

किन्तु इसके लिए आवश्यक नहीं है कि वह पाठक कोई व्यक्ति विशेष अथवा कुछ निश्चित व्यक्तियों का समूह ही हो। सार्त्र ने स्वयं स्वीकार किया है कि लेखक 'सार्वभौम पाठक' के लिए लिखता है।[3] यह 'सार्वभौम पाठक' वही है जिसे अन्य समालोचकों ने कभी 'आदर्श पाठक', कभी 'विशिष्ट पाठक', कभी 'कुशल पाठक' और कभी 'पूर्ण पाठक' कहा है। एक प्रकार से यह डॉ० जानसन का 'सामान्य पाठक' भी है, जिसके साहचर्य में वे प्रसन्नता का अनुभव करते थे। कहने की आवश्यकता नहीं कि सामान्य पाठक का अभिप्राय औसत पाठक अथवा जो भी पढ़ लेने की थोड़ी बहुत क्षमता रखता है, नहीं है।

फ्रांस के विख्यात कवि बादलेयर ने संवेदनशील आलोचक ज्याक रेविएर के बारे में कहा था कि वे आदर्श पाठक थे, जो लिखते समय अनिवार्य रूप से हर लेखक के ध्यान में वर्तमान रहते थे।[4] इस उदाहरण से स्पष्ट है कि पढ़ने देखने में रुचि लेनेवाला हर व्यक्ति किसी कलाकृति को पूर्णतः ग्रहण करने में समर्थ नहीं होता। यह सामर्थ्य दीर्घ अभ्यास, कला शिक्षा एवं सतत प्रयास का परिणाम है। जो पाठक स्वयं आगे बढ़कर आधे रास्ते ही लेखक से मिलने का प्रयास करता है और लेखक के मूल अभिप्राय को समझ लेता है वही विशिष्ट पाठक कहलाने का अधिकारी हो सकता है। ऐसे अनेक पाठकों का आदर्शीकृत

---

[1] ह्वाट इज लिटरेचर, पृ० ५२

[2] वही, पृ० २६

[3] वही, पृ० ४६

[4] द आइडियल रीडर, आमुख।

रूप ही आदर्श पाठक की अभिधा प्राप्त करता है। सौन्दर्यशास्त्र में आदर्श पाठक वस्तुतः एक सैद्धान्तिक अवधारणा है, जिसके आधार पर कलानुभूति के स्वरूप को स्पष्ट करने का प्रयास किया जाता है। सूजन लैंगर के अनुसार : "आदर्श दर्शक कलाकृति की वस्तुनिष्ठता का मापक है।"[१] आदर्श पाठक को विलियम के० विमसॉट ने 'नाटकीय पाठक' की संज्ञा प्रदान करते हुए कहा है कि : "काव्य का वास्तविक पाठक बहुत-कुछ अन्य पाठक के कन्धे पर झुका हुआ पाठक है; वह नाटकीय पाठक के माध्यम से पढता है। नाटकीय पाठक वह व्यक्ति है, जिसे एक कल्पित स्थिति मे कविता का सपूर्ण स्वर सबोधित होता है।"[२]

आलोचको ने इस 'आदर्श पाठक' की विशेषताओ पर विस्तार से विचार किया है। डॉ० एफ० आर० लीविस ने रेने वेलेक को उत्तर देते हुए 'साहित्य-समालोचना और दर्शन' शीर्षक निबंध मे लिखा है : "काव्य के आलोचक से मेरा तात्पर्य पूर्ण पाठक से है : आदर्श आलोचक आदर्श पाठक होता है।······दर्शन के पाठक से वह इस बात मे भिन्न होता है कि किसी विषय के बारे मे सोचने की अपेक्षा काव्यकृति का अनुभव करता है या 'तद्वत' हो जाता है और शब्दो से प्राप्त होने वाले जटिल अनुभव को उपलब्ध करता है। काव्यकृति अपने पाठक से केवल भरी-भरी सी मांसल प्रतिक्रिया की ही अपेक्षा नही रखती, बल्कि अपेक्षाकृत और अधिक पूर्ण ग्रहणशीलता की आकाक्षा रखती है।······काव्य के पाठक की पहली चिन्ता प्रस्तुत कविता को सपूर्ण मासलता के साथ स्वायत्त करने की होती है और मूल्याकन की ओर अग्रसर होने की प्रक्रिया मे भी पूर्ण स्वायत्तीकरण खो न जाए, इसकी सतत चिन्ता उसमे बनी रहती है।[3]

डॉ० लीविस के अनुसार आदर्श पाठक मे मुख्यतः तीन विशेषताएँ होती है : मासल ग्रहणशीलता, सुसंगति और मूल्यबोध से युक्त विवेक। इस सदर्भ मे उन्होने इस बात पर विशेष बल दिया है कि काव्य के आदर्श पाठक को मूल्याकन के लिए किसी अन्य व्यक्ति या ग्रथ से प्रतिमान ग्रहण करने की आवश्यकता नही पडती, बल्कि उसकी अपनी ग्रहण-शीलता ही सुसगत होने के क्रम मे अपने लिए मूल्याकन का एक प्रतिमान विकसित कर लेती है।

टी० एस० इलियट ने साधारण पाठको से विशिष्ट या असाधारण पाठक को अलग करते हुए कहा है कि उसमे अपने अनुभवो के वर्गीकरण एव तुलना के साथ ही एक को दूसरे के आलोक मे देखने की क्षमता होती है। इलियट ने काव्य-ग्रहण के तीन सोपान माने है, जिनका आरभ कैशोर प्रतिक्रिया मे होता है, किन्तु जिसकी परिणति प्रौढ़ अभिरुचि मे होती है। जब हम कवि के साथ एकाकार होने की प्रवृत्ति से मुक्त होकर कविता को वस्तुनिष्ठ रूप मे देखने योग्य हो जाते है और जब कविताओ को स्वीकार-अस्वीकार करने की सरल वृत्ति छोडकर संपूर्ण अनुभवो को व्यवस्थित एव पुनर्व्यवस्थित करने की क्षमता

---

१ फीलिंग एण्ड फॉर्म, पृ० ३९३

२ The actual reader of a poem is something like a reader over another reader's shoulder; he reads through the dramatic reader, the person to whom the full tone of the poem is addressed in the fictional situation.
The Verbal Icon, Introduction, p. xv.

3 द कॉमन परसूट, पृ० २१२-१३

प्राप्त कर लेते हैं तो हम काव्य म परिपक्व आस्वाद की अवस्था तक पहुँच जाते है। स्वय इलियट क शब्दा म भोगवृत्ति परिवर्धित होकर आस्वाद तक पहुँच जाती है जो अनुभूति के मूल घनत्व को एक बौद्धिक आयाम प्रदान करती है।[१]

इस विषय पर अन्यत्र इलियट ने यह भी कहा है कि किसी कलाकृति को देखते समय पाठक के चित्त म तत्काल स्वय उस रचना द्वारा उदबुद्ध सवेगो के अतिरिक्त अन्य कोई सवेग नहीं होना चाहिए और वे सवेग भी जब वैध हो तो सवेग नहीं रह जा सकते।[२]

आदर्श पाठक की इन समस्त विशेषताओ के निरूपण के बाद भी अन्तत इलियट के शब्दो म यही कहना पड़ता है कि उसे समझदार होना चाहिए और समझदारी के अन्तर्गत बहुत-कुछ आ जाता है। इससे यह भी ध्वनित होता है कि इसके लिए नुस्खे और नियमो की सूची बनाना अनावश्यक है क्योकि यह प्रत्येक पाठक की आत्म साधना का परिणाम है।

निष्कर्ष

काव्यानुभूति के स्वरूप का निर्णय अन्तत काव्य के ग्राहक पर निर्भर है इसलिए काव्यानुभूति पर विचार करते हुए मनीषियो को प्रतिमान के रूप म एक आदर्श पाठक की परिकल्पना करनी पड़ी है। सस्कृत काव्यशास्त्र म उसे सामाजिक सहृदय और रसिक की सज्ञा प्रदान की गई है। पाश्चात्य सौन्दर्यशास्त्र मे उसी को आदर्श प्रेक्षक आदर्श ग्राहक एव काव्यशास्त्र मे आदर्श पाठक नाम से अभिहित किया गया है।

यह आदर्श पाठक काव्येतर बाह्य तत्त्व न होकर उसका अभिन्न अग है। रस एक समूहावलबित प्रक्रिया है और रसज्ञ पाठक इस समूह का या रस चक्र का अतरग अग है। वह काव्य की सरसता का प्रतिमान है। आनन्दवर्धन ने तो शब्दार्थमय काव्य को ही सहृदय श्लाघा का विषय माना है। भरत जिस प्रकार कवि काव्य और नट का प्रयोग पारिभाषिक अर्थ म करते हैं उसी प्रकार सामाजिक का भी। पश्चिम म भी काव्य के पाठक को इतनी दूर तक कविता का अग माना गया है कि बेटसन ने उसके अभाव म कविता की सत्ता का ही अस्वीकार किया है। उनका कहना है कि कविता के चार अनिवार्य तत्त्व हैं—कवि पाठक एक सामान्य भाषा और एक सामान्य साहित्यिक परपरा।[3] इन चारो तत्त्वो म से भी पाठक की महत्ता की पुनरावृत्ति उन्होने यह कहकर की है कि कविता तभी कविता होती है जब वह पढ़ी जाती है।[४] इसी प्रकार सी० के० स्टीड ने अपनी सद्य प्रकाशित पुस्तक द न्यू पोयटिक (१९६४) की भूमिका म कविता की स्थिति को

---

[१] द यूज आफ़ पोएट्री एण्ड द यूज आफ क्रिटिसिज्म, पृ० १८ १९

[२] द सेक्रेड वुड

[3] Of the four essential elements of poetry the removal of any one of which from a poem is literally impossible without the poem ceasing to exist viz the poet, the reader, a common language and a common literary tradition *English Poetry A Critical Introduction* p 102

[४] a poem only becomes a poem in the ordinary sense of the word, when it is read *Ibid*, p 69

एक त्रिकोण के रूप में स्वीकार करते हुए कवि, पाठक और वास्तविकता—सत्य या प्रकृति—को उसके तीन विन्दु स्वीकार किया है। इनमें भी सर्वोत्तम कविताएँ वे उन्हें मानते है, जिनकी स्थिति एक समभुज त्रिकोण में होती है और संतुलित तनाव के क्षण में प्रत्येक बिन्दु का खिचाव समान होता है।[१]

रस-चक्र या काव्य-चक्र में कवि और 'आदर्श पाठक' की परस्परावलंवित स्थिति पर पूर्व और पश्चिम दोनों के मनीपियों ने समान बल दिया है। एक ओर यदि अभिनवगुप्त सरस्वती के तत्त्व (काव्य) को कवि और सहृदय दोनो के द्वारा आख्यात कहते है,[२] तो दूसरी ओर ज्यॉ पाल सार्त्र उतने ही प्रवल शब्दों में काव्य को कवि और पाठक के संयुक्त प्रयास का परिणाम मानते हैं। उनके अनुसार कलावस्तु की काल्पनिक और मूर्तिमान सत्ता के लिए यही सह-प्रयास उत्तरदायी है। 'कुछ के द्वारा और कुछ के लिए' के अतिरिक्त कलावस्तु की कोई अन्य सत्ता नहीं है।[3] वेटसन के समान ही सार्त्र ने भी कलाकृति की सत्ता ग्राहक-सापेक्ष मानी है। उनके मतानुसार : "कलाकृति का अस्तित्व ही तव है, जब कोई उसकी ओर देखता है।"[४]

काव्यानुभूति संवंधी समग्र विवेचन का प्रतिमान आदर्श पाठक है। ठीक उसी प्रकार जैसे पौरस्त्य आचार्यो ने उसे रस-चक्र का अंग मानते हुए काव्यार्थ या रस को सहृदय-श्लाघ्य कहा, वैसे ही सार्त्र ने स्वीकार किया कि : "मस्तिष्क की सभी कृतियों में एक पाठक की मूर्ति सहज रूप से अन्तर्निहित रहती है। ऐसा पाठक जिसके लिए उनकी रचना होती है। अर्थात हर संवोधित-असंबोधित रचना में एक ऐसा आदर्श ग्राहक स्वतः निहित रहता है, जिसके लिए वे रचनाएँ की जाती हैं।"[५]

काव्य का पाठक काव्यचक्र का अभिन्न अंग ही नहीं, बल्कि कवि-तुल्य भी माना गया है। एक ओर अभिनवगुप्त 'कविर्हि सामाजिक तुल्य एव'[६] कहकर प्रकारान्तर से सामाजिक को भी कवि-तुल्य स्वीकार करते हैं तो दूसरी ओर ज्याँ पाल सार्त्र भी पाठक को लेखक का प्रतिरूप मानते हैं।[७] सार्त्र के अनुसार पाठक 'वह अन्य' (द अदर) है, जो लेखक के समान ही 'सृजन' करता है। इस प्रकार प्राच्य एवं पाश्चात्य दोनों ही चिन्तन-परंपराओं में पाठक को समान रूप से महत्त्व दिया गया है।

किन्तु इसके साथ ही यह भी सत्य है कि इस महत्त्व के अधिकारी सभी पाठक नहीं होते। आचार्यों ने काव्य के समुचित ग्रहण के लिए पाठक में कतिपय अपेक्षित विशेषताओं का विधान किया है, जिनसे संपन्न होने पर ही वह काव्य का सच्चा अधिकारी कहला

---

१ द न्यू पोएटिक, भूमिका, पृ० ११-१२

२ सरस्वत्यास्तत्त्वं कविसहृदयाख्यं विजयते ॥ ध्वन्यालोक-लोचन पृ० १

3 It is the joint effort of author and reader which brings upon the scene that concrete and imaginary object which is the work of the mind. There is no art except for and by others. *What is Literature*, pp. 29-30.

४ ...it exists only if one looks at it. *Ibid.*, p. 34

५ ...all works of the mind contain within themselves the image of the reader for whom they are intended. *Ibid.*, p. 52

६ अभिनवभारती, भाग १, पृ० २९४

७ ह्वाट इज लिटरेचर, पृ० ५५

सकता है। अन्ततः इन विशेषताओं का मूल आधार पाठक की संस्कृति अथवा 'संस्कार' है। पाश्चात्य काव्य चिन्तन में इस संस्कार को सामाजिक संदर्भ प्रदान करते हुए काव्य के अधिकारी को विशिष्ट वर्ग (Elite) का प्रतिनिधि माना गया। इस मत के अनुसार जो व्यक्ति इस विशिष्ट वर्ग में उत्पन्न होता है अथवा किसी प्रकार उससे संबद्ध होता है उसमें स्वभावतः काव्यास्वाद के उपयुक्त संस्कार भी आ जाता है। कहना न होगा कि किसी समाज में यह विशिष्ट वर्ग अत्यन्त अल्पसंख्यक होता है। अल्पसंख्यक के रूप में काव्य के अधिकारी संबंधी मान्यता पाश्चात्य चिन्तन में बहुत दिनों से चली आ रही है। कलावादियों के अतिरिक्त वर्तमान युग में टी० एस० इलियट, आइ० ए० रिचर्ड्स और एफ० आर० लीविस जैसे विचारक भी किसी-न-किसी रूप में अल्पसंख्यक सिद्धान्त के प्रति आग्रहशील रहे हैं। किसी समाज में काव्य के सच्चे ग्राहक कुछ थोड़े से लोग ही होते हैं यह ऐसा अनुभवसिद्ध तथ्य है जिसके लिए सामान्यतः किसी सिद्धान्त की आवश्यकता नहीं पड़नी चाहिए। स्पष्ट है कि अल्पसंख्यक सिद्धान्त केवल इतना ही आग्रह नहीं करता बल्कि इसके मूल में एक निश्चित सामाजिक दृष्टि है। टी० एस० इलियट जब अल्पसंख्यक वर्ग को काव्य का अधिकारी बतलाते हैं तो उस वर्ग को एक दीर्घ जातीय परंपरा का उत्तराधिकारी मानते हैं। इस दृष्टि से उन्होंने कार्ल मानहाइम के अल्पसंख्यक सिद्धान्त से अपना स्पष्ट मतभेद प्रकट किया है। मानहाइम के अनुसार कला और संस्कृति के संरक्षक अल्पसंख्यक समुदाय का निर्णय कुल जाति या संपत्ति के आधार पर नहीं बल्कि प्रत्येक व्यक्ति द्वारा स्वतः उपार्जित बौद्धिक उपलब्धियों के आधार पर किया जाना चाहिए। इसके विपरीत इलियट वैयक्तिक स्तर पर इस प्रकार की संस्कार-संपन्नता को असंभव मानते हैं। उनके अनुसार कला-आस्वाद की क्षमता जातिगत परंपरा से उत्तराधिकार स्वरूप प्राप्त होती है।[1] स्पष्ट ही इलियट का संकेत अभिजात वर्ग की ओर है क्योंकि यह वह वर्ग है जो सुदीर्घ जातीय परंपरा का उत्तराधिकारी है। इस मत के अनुसार औद्योगिक समाज व्यवस्था से उत्पन्न होनेवाला मध्यवर्ग समस्त शिक्षा और अध्ययन के बावजूद किसी वर्गगत पूर्व परंपरा के अभाव में संस्कारहीन ही कहलाएगा।

इस विषय में डा० एफ० आर० लीविस भी काफी दूर तक टी० एस० इलियट से सम्मत प्रतीत होते हैं। उनके अनुसार जनतंत्र और शिक्षा के व्यापक प्रसार के कारण काव्य के आस्वाद की दिशा में किसी प्रकार के विकास की अपेक्षा ह्रास ही अधिक हुआ है। इसलिए उन्होंने भी इस 'समूह सभ्यता' के विपरीत अल्पसंख्यक संस्कृति के महत्त्व पर बल देते हुए कहा है कि जिस प्रकार किसी राज्य में कागज की विस्तृत करंसी के मूल में स्वर्ण का अनुपात अत्यन्त स्वल्प होता है उसी प्रकार प्रत्येक समाज में काव्य के सच्चे ग्राहकों की संख्या भी थोड़ी ही होती है।[2] लीविस ने इस अल्पसंख्यक समुदाय के

---

[1] नोटस टुवर्ड्स द डेफिनेशन आफ कल्चर, पृ० २१

[2] In any period it is upon a very small minority that the discerning ...

... genuine personal response. The accepted valuations are a kind of paper currency based upon a very small proportion of gold

Mass Civilization and Minority Culture p 3

वर्गगत आधार को इलियट के समान स्पष्ट नहीं किया है, फिर भी उनके कथन से प्राचीन अभिजात वर्ग के अवशेष का ही संकेत मिलता है। वैसे डॉ० लीविस एक ओर जहाँ जनतंत्र के नाम पर प्रचारित व्यावसायिकता और समूह-सभ्यता का विरोध करते हैं, वहाँ दूसरी ओर अभिजात अभिरुचि के नाम पर हाथी-दाँत की मीनारो मे रहनेवाले तत्कालीन 'ब्लूम्सबरी दल' की संकीर्णता का भी विरोध करते है; फिर भी काव्याधिकारी के निर्णय में उनकी सामाजिक संकीर्णता का पक्ष ही प्रबल दिखाई पडता है।

संस्कृत काव्यशास्त्र मे इन मान्यताओं के समकक्ष 'शृंगारप्रकाश' के रचयिता भोज के रसिक संबंधी विचारों का उल्लेख किया जा सकता है। जैसा कि डॉ० राघवन ने कहा है : "भोज का रसिक केवल काव्य के आस्वादयिता की स्थिति का मनुष्य नही, बल्कि वह कतिपय मानवीय गुणों के नाते एक 'विशिष्ट मनुष्य' हैं। भोज की 'रसिकता' ऐसी विशेषता है जिसका संबंध मनुष्य के व्यक्तित्व के किसी उत्तमांश से है। भोज का रसिक 'सत्त्वात्मा', 'विशेपजन्मा' तथा जन्मान्तर के अनुभव से निर्मित वासना से युक्त विशिष्ट व्यक्ति है।"[1] भोज ने इन समस्त गुणों के लिए मूलभूति 'अहंकृति' की संज्ञा दी है; किन्तु 'विशेपजन्मा' विशेषण से ही स्पष्ट है कि भोज का रसिक जन्मना अभिजात वर्ग से संबद्ध है।

भोज के रसिक संबंधी विचारों के पीछे एक सुदीर्घ चिन्तन-परंपरा है। भोज का रसिक बहुत-कुछ कामसूत्रकार वात्स्यायन के 'नागरक' और भामह-दंडी के 'विदग्ध' की ही परंपरा में आता है। वात्स्यायन का 'नागरक' वस्तुतः अभिजात वर्ग का सुसंस्कृत व्यक्ति था। इसी प्रकार भामह-दंडी का 'विदग्ध' भी सुशिक्षित उच्चवर्ग का ही सदस्य था। इस प्रकार पश्चिम के समान भारत में भी काव्य के अधिकारी को वर्गविशेष से संबद्ध करके देखने की विचार-पद्धति कुछ आचार्यो के बीच प्रचलित थी। अन्तर इतना ही है कि जो विचार भारत में प्राचीन सामंती युग में प्रचलित थे, उनका आग्रह पश्चिम में आधुनिक जनतांत्रिक युग मे भी किया गया। यदि भोज ने ग्यारहवी शताब्दी मे रसिक को 'विशेप-जन्मा' कहा तो उस युग की सीमा को देखते हुए यह सर्वथा स्वाभाविक ही था। किन्तु पश्चिम के आधुनिक विचारको ने उसी विचार को दुहराकर अनुदारता एवं पिछड़ेपन का परिचय दिया है।

काव्य के 'आदर्श पाठक' या 'सहृदय' में पूर्व और पश्चिम के मनीषियों ने जिन गुणों की अपेक्षा की है, उनमें भी यह दृष्टि-भेद स्पष्ट है। भारतीय आचार्यो ने 'सहृदय' में जिन गुणों पर बल दिया है, उनका रूप 'प्रातिभ' अधिक है, अर्जित कम। इसके विपरीत पश्चिमी विचारक 'आदर्श पाठक' में ग्रहणशीलता के गुण को सतत साधना, शिक्षा एवं प्रयास का परिणाम मानते है। इस पाठक में सहज या नैसर्गिक भावयित्री प्रतिभा की स्वीकृति उन्होंने भी की है, परन्तु वहाँ भी यह अभिजात वंशानुक्रम-परंपरा से विरासत में प्राप्त होनेवाला संस्कार ही अधिक है, आशु प्रतिभा नही।

संस्कृत के आचार्यो ने काव्य-रचना के संदर्भ मे मुख्य रूप से तीन हेतुओं की चर्चा की है—प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यास। इन तीनों में से काव्यास्वाद के संदर्भ में शब्द-भेद से अनेक रूपों मे वे पहली, अर्थात 'प्रतिभा' (भावयित्री) के ही स्वरूप की प्रतिष्ठा

[1] भोज का शृंगारप्रकाश, पृ० ४६६

बार-बार करते हैं, शेष दो की नहीं। अभिनवगुप्त ने इसी को 'रसज्ञता' या 'समर्पण की नैसर्गिक सामर्थ्य' कहा है। राजशेखर इसे 'भावयित्री प्रतिभा' के नाम से अभिहित करते हैं। ध्वनिवादी आचार्यों ने इसी को 'सवासन' होना कहा है। आनन्दवर्धन के अनुसार इसी संस्कार या वासना के आधार पर सहृदय व्यंग्यार्थ की प्रतीति में सक्षम होता है। व्यंग्यार्थ-ग्रहण की यह सामर्थ्य अभ्यासजनित एवं प्रयत्न-साध्य न होकर प्रातिभ होती है, इसका प्रमाण यही है कि आनन्दवर्धन कवि-पक्ष में जिसे नवनवोन्मेषशालिनी प्रज्ञा मानते हैं, सहृदय-पक्ष में उसी को वासना और संस्कार विशेष अर्थात् व्यञ्जना मानते हैं। अभिनवगुप्त ने भी इसीलिए सहृदय का 'विमलप्रतिभानशाली' कहा है। अभिनवगुप्त ने इस विवेचन को और आगे बढ़ाते हुए सहृदय को उस 'मानस-साक्षात्कारात्मिका' शक्ति से संपन्न माना है, जो प्राचीन शब्दावली में 'भावना' और आधुनिक शब्दावली में 'कल्पना' है।

पश्चिम में जहाँ सार्त्र, लैंगर, विमसाट, एफ० आर० लीविस प्रभृति विद्वानों ने 'आदर्श पाठक' में ग्रहणशीलता, अनुभवसामर्थ्य आदि नैसर्गिक गुणों की आवश्यकता का निर्देश किया है, वहाँ वे कला-ग्रहण की क्षमता को दीर्घ अभ्यास, कला शिक्षा एवं सतत प्रयास के आधार पर अर्जित भी मानते हैं। सार्त्र के अनुसार तो कला का ग्रहण एक प्रकार की पुनरचना ही है, अतः उसके लिए निश्चित प्रकार के अभ्यास की आवश्यकता स्वयंसिद्ध है। यदि कहें कि पश्चिमी चिन्तन के अनुसार काव्यास्वाद भी एक प्रकार का कलात्मक प्रयास है तो अनुचित न होगा। शास्त्रीय शब्दावली में भारतीय विचारकों के अनुसार यदि काव्यास्वाद नैसर्गिक प्रतिभा के द्वारा काव्य का भावन है, तो पश्चिमी विचारकों के अनुसार वह प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यास के द्वारा काव्य का पुनस्सृजन है, भले ही उसमें प्रतिभा का महत्त्व सर्वाधिक हो। इसीलिए पश्चिम में काव्य और कलाएँ एक और भी अधिक संकुचित और ऐसे परिसीमित दायरे के ग्राहकों का प्राप्य हो जाती हैं, जिन्होंने कुछ तो वंशानुक्रम संस्कार के आधार पर और कुछ शिक्षा और सतत अभ्यास से एक प्रकार की कलात्मक रुचि (आर्टिस्टिक टेस्ट) का विकास कर लिया हो।

इस दृष्टि से भारतीय आचार्यों—विशेषकर अभिनवगुप्त द्वारा निरूपित 'सहृदय' संबंधी अवधारणा अपेक्षाकृत निर्दोष है। यद्यपि उनका 'सहृदयत्व' भी मूलतः 'वासना' एवं 'संस्कार-विशेष' ही है, किन्तु उसका आधार जाति, वर्ण, कुल अथवा किसी प्रकार की सामाजिक प्रतिष्ठा नहीं है। 'वासना' अधिक से अधिक मानव-सुलभ भाव-परंपरा की ओर संकेत करती है, किन्तु इसके साथ ही 'प्रतिभा' को संयुक्त करके अभिनवगुप्त ने सहृदयत्व का मानसिक गुण के रूप में प्रतिष्ठित किया है। इसके अतिरिक्त सहृदयत्व को काव्य-पाठ की अवधि तक ही सीमित करके अभिनवगुप्त ने उसे और भी वैज्ञानिक आधार प्रदान कर दिया। इससे स्पष्ट है कि काव्य-विशेष के संदर्भ में काव्यानुभूति की क्षमता के अनुरूप ही सहृदयत्व का निर्णय किया जा सकता है, सहृदयत्व कोई ऐसा शाश्वत गुण नहीं है, जो एक बार प्राप्त कर लिया गया तो सदैव अक्षुण्ण रह सकता है।

काव्यानुभूति की विघ्न-बाधाएँ

रस-विघ्न

सहृदय को निर्विघ्न रसनात्मक प्रतीति का होना ही रस का लक्षण है। यह प्रतीति रसनात्मक या चर्व्यमाण तभी हो सकती है, जब वह निर्विघ्न हो, अतः 'निर्विघ्नता इसकी

अवश्योपाधि है'। अभिनवगुप्त ने रस-विघ्नों का विस्तारपूर्वक वर्णन किया है। कवि-रसिक हृदयसंवाद-रूप रसप्रतीति में कविगत, काव्यगत, नटगत अथवा रसिकगत कोई भी विघ्न बाधक हो सकता है। अभिनवगुप्त ने सात रस-विघ्नों का निर्देश किया है, जो इस प्रकार हैं—(१) संभावनाविरह, (२) स्वपरगतदेशकालविशेषावेश, (३) निजसुखादिविवशीभाव, (४) प्रतीत्युपायवैकल्य, (५) स्फुटत्वाभाव, (६) अप्रधानता, तथा (७) संशययोग।[1] इनमे से प्रथम तीन रसिकगत एवं शेष काव्यगत या कवि एवं नटगत हैं, अतः सहृदयत्व से उनका सबंध नही है। पहले तीन रस-विघ्नो से काव्यरसिक का सहृदयत्व दुष्ट हो जाता है, अतएव प्रस्तुत संदर्भ मे वे ही विचारणीय हैं :

१. **संभावनाविरह** का अर्थ है—कल्पना का अभाव। इस विघ्न की संभावना कवि और रसिक दोनो मे हो सकती है। कवि मे समर्थ कल्पना का अभाव काव्य-गुण का क्षय करता है, और सहृदय मे कल्पना का अभाव प्रतीति-विश्रान्ति मे बाधक होता है। रस-चर्वणा या रसना 'सकलविघ्नविनिर्मुक्त' प्रतीति है और यह तभी सभव है, जब अनुसधित्सु सहृदय, अपनी कल्पना-क्षमता के सहारे कवि-सृष्ट स्थिति मे अनुप्रवेश कर व्यंजित काव्यार्थ का भावन या आस्वादन करने में समर्थ हो। आनंदवर्धन इसी 'अनुसंधि' को सहृदयता का रहस्य मानते थे (अनुसंधिर्हि रहस्यं सहृदयतायाः)। यह अनुसधि-शक्ति सहृदय की उर्वरा कल्पना पर ही निर्भर है। अभिनवगुप्त का तर्क है कि काव्यो मे प्रख्यात या ऐतिहासिक वृत्त को ग्रहण करने के मूल मे कारण यही रहा कि प्रख्यात वृत्त प्रमाता की कल्पना द्वारा सहज ग्राह्य होते हैं।

२. **स्वपरगतदेशकालविशेषावेश** का अभिप्राय है—व्यक्ति-संबंधो से मुक्ति का अभाव, अर्थात काव्य-रसिक स्वगत सुख-दु.ख से आबद्ध रहने के कारण, निज सवित् का नही, लौकिक सुख-दु.ख का आस्वाद करता है। संक्षेप मे इसे कहेंगे—सहृदय की चित्तवृत्ति के साधारणी-भवन का अभाव, परिणामतः तन्मयीभवन का अभाव। जब तक वह 'स्व' और 'पर' के भेद-भाव की भूमिका से ऊपर नही उठ जाता, उसके व्यक्तित्व का विगलन नही होता, और वह रसास्वाद में असमर्थ रहता है।

३. **निजसुखादि-विवशीभाव**—दर्शक कभी-कभी प्रेक्षण या पठन के समय निजी सुख-दु.ख की भावना से ग्रस्त रहता है। पहले से ही व्यग्र होने के कारण काव्यार्थ मे उसकी संविद्‌विश्रान्ति नही होती, अतएव उसकी सहृदयता दुष्ट हो जाती है। पूर्व-कथित रस-विघ्न से इसमे भेद कदाचित् यही है कि पहले मे कारण-रूप विभावादि के रहते हुए भी सहृदय की अनुभूति का कार्य-रूप मे साधारणीकरण होने के स्थान पर निज सुख-दुःखात्मक भाव का उन्मेष, अर्थात विपरीत कार्य होता है; जबकि निजसुखादिविवशीभाव मे प्रमाता पहले से ही पूर्वानुभूत भावनाओ से आक्रान्त हृदय से काव्य के प्रेक्षण मे प्रवृत्त होता है, अतः रसास्वाद इनके उपशमन के बिना संभव नहीं होता। नाट्य मे सगीत, नृत्य, मण्डपवैचित्र्य आदि की योजना से सहृदय के हृदय-नैर्मल्य की सभावना आचार्यो ने सभव मानी है।

---

[1] विघ्नाश्चास्यां प्रतिपत्तावयोग्यता—संभावनाविरहो नाम स्वगतत्वपरगतत्वनियमेन देश-कालविशेषावेशो निजसुखादिविवशीभावः प्रतीत्युपायवैकल्यं स्फुटत्वाभावो अप्रधानता संशययोगश्च। अभिनवभारती, भाग १, पृ० २८०

कलानुभूति की बाधाएँ

सफल सौन्दर्यानुभूति को नियमत निर्विघ्न होना चाहिए। किन्तु ग्राहकों की निजी सीमाओं को देखते हुए व्यवहार में सौन्दर्यशास्त्रियों ने प्राय एकाधिक बाधाओं, विघ्नों और कठिनाइयों का परिलक्षित किया है। सौन्दर्यानुभूतिगत बाधाओं के निश्चित रूपों का अनुसधान करने के लिए विचारकों ने प्रायोगिक अनुसधान पद्धति के आधार पर विविध पाठकों की प्रतिक्रियाओं का सकलन विश्लेषण और वर्गीकरण किया है। इस दृष्टि से एक ओर एडवर्ड बुलो[1] के रग सबधी अनुसधान और दूसरी ओर आइ० ए० रिचर्ड्स के काव्य सम्बन्धी अध्ययन विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

बुलो ने 'आत्मगतात्मक' शरीरक्रियात्मक', 'वस्तुनिष्ठ' और 'चरित्र' जो चार प्रकार के ग्राहक निर्धारित किए हैं उनमे से तीन ऐसे हैं जिनकी रग सबधी प्रतिक्रिया किसी-न-किसी विघ्न से बाधित है। बुलो की तुलना में रिचर्ड्स का अनुसधान कहीं अधिक व्यापक है। उनका अध्ययन यद्यपि केवल कविताओं तक ही सीमित है किन्तु उपयोग की दृष्टि से उसकी व्याप्ति अन्य कलाओं तक भी सभव प्रतीत होती है।

रिचर्ड्स ने ग्राहक के सदर्भ मे उन विघ्नों की चर्चा की है[2] जिन्हें वे काव्यानुभूति के मार्ग मे बाधक मानते हैं। सक्षेप मे वे इस प्रकार हैं

१ काव्यार्थ को ग्रहण करने की क्षमता का अभाव रिचर्ड्स का विचार था कि एक बडी सख्या मे कविता के पाठक, यहा तक कि ऐसे पाठक जिनकी रुचि काव्य मे होती है, कविता के सही अर्थ को समझने मे असमर्थ रहते हैं और उसी अनुपात मे कविता मे अन्तर्निहित भावना कवि के अभिप्राय और उसकी कथन भगिमा सबधी उनकी समझ गलत होती है।

२ काव्यार्थ के ग्रहण मे बाधा कभी-कभी ऐन्द्रिय ग्रहण सबधी कठिनाई के कारण प्रस्तुत होती है। प्रत्येक काव्य-कृति का प्रभाव हमारी विभिन्न इन्द्रियों पर पडता है। शब्द एक निश्चित क्रम मे ढलकर अपनी गति और अपनी लयात्मकता से हमारे विविध ऐन्द्रिय सवेदनों को जाग्रत करते हैं। अत वही पाठक जो सहज रूप मे तत्काल अपनी ऐन्द्रिय बौद्धिक और सवेगात्मक, सभी ग्राहक शक्तियों के साथ समवेत रूप मे ग्रहण करता है, काव्य का सही अधिकारी होता है।

यही बात काव्य के सदर्भ मे बिम्ब ग्रहण, विशेष रूप से दृश्य बिम्ब के विषय मे सत्य है। विभिन्न पाठकों की प्रत्यक्षीकरण की क्षमता मे अन्तर होता है। वही पाठक जो बिम्ब-ग्रहण मे समर्थ हो, बिम्बों के माध्यम से काव्यकृति के अन्तस्तल तक पहुँच सकता है। परन्तु बिम्ब की गति बहुत कुछ अनिश्चित होती है अत कभी-कभी पाठक विशेष के मन मे उद्भूत बिम्ब उसी कविता मे अन्य पाठकों के मन मे प्रकट होनेवाले बिम्बों से, यहाँ तक कि कभी-कभी रचयिता कवि के मन मे स्थित बिम्बों से भी भिन्न हो सकते हैं।

३ स्मृतिगत अप्रासगिकताएँ भी बहुधा पाठक की काव्यानुभूति को बाधित करती हैं।

---

१ 'द पर्सेप्टिव प्रोब्लम इन द एस्थेटिक एप्रिसिएशन ऑफ सिंगल कलर्स' ब्रिटिश जर्नल ऑफ साइकोलोजी, अक २ (१९०८)

२ प्रैक्टिकल क्रिटिसिज़्म, पृ० १३-१७

काव्य-पाठ के क्षणों में कविता से पूर्णतः असंबद्ध व्यतीत घटनाओं और संबंधों की स्मृति तथा विगत अनुभूतियो की अनुगूंज वर्तमान में हस्तक्षेप कर सर्वथा अलक्षित और अनायास रूप से पाठक की अनुभूति को वाधित करती है।

४. **अभ्यासजन्य प्रतिक्रियाएँ** : यह बाधा कही अधिक रोचक और उलझन-भरी है। यह एक सुविधाजनक प्रतिक्रिया है, जिसमें पाठक किसी कृति-विशेष की अपनी विशिष्टता का पता लगाने के लिए प्रयास करने की अपेक्षा उसकी सामान्य विशेषताओं के आधार पर रूढ़ प्रतिक्रिया व्यक्त करता है। अभ्यासजनित प्रतिक्रिया प्रायः समूहगत धारणाओ एवं संवेगों का सुरक्षित अनुकरण मात्र होती है। संवेग के धरातल पर प्रायः हम चिर-परिचित विषयों से संबद्ध कविताओं पर बनी-बनाई लोक-प्रचलित प्रतिक्रिया व्यक्त करते है। उदाहरण के लिए देश-प्रेम संबंधी बहुत-सी साधारण कविताएँ केवल कुछ ऐतिहासिक स्थान और पुरुषो की नाम-गणना के द्वारा पाठकों में प्रायः अभ्यासजनित रूढ़ प्रतिक्रिया उत्पन्न कर ले जाने मे सफल हो जाती है। इसी प्रकार विचारों के धरातल पर भी अभ्यासजनित प्रतिक्रिया दिखाई पड़ती है। उदाहरण के लिए, जब कोई पाठक अपनी ही विचारधारा के किसी कवि की कोई साधारण-सी रचना भी पढ़ता या सुनता है तो उसके गुण पर विचार किए विना अपेक्षित आशंसा व्यक्त करता है। बहुत-सी धार्मिक और राजनीतिक कविताओं के संबंध में इसी प्रकार की अभ्यासजनित प्रतिक्रियाएँ देखने में आती है।

५. **भावुकता** : इस वाधा का उल्लेख अनेक आलोचकों ने किया है और यह कवि तथा पाठक दोनों के लिए अनुभूतिगत दुर्बलता मानी गई है; किन्तु जैसा कि रिचर्ड्स ने स्वीकार किया है, भावुकता को यथातथ्यतः परिभाषित करना बहुत कठिन है। भावुकता वह प्रतिक्रिया कही जाती है जो मात्रा में अवसर की माँग से अधिक होती है। किसी कृति में जितनी अनुभूति जाग्रत करने की क्षमता हो और पाठक उससे अधिक अनुभूति व्यक्त करे तो उसे भावुकता का परिणाम समझना चाहिए। यह भी एक तरह से अतीतवर्ती अभ्यास अथवा स्मृति का परिणाम होती है। भावुक पाठक हल्की-सी उत्तेजना से भी अधिक-से-अधिक संवेगात्मक प्रतिक्रिया व्यक्त करने के अभ्यस्त होते है। इसका अर्थ यह नही है कि उनमे संचित भावराशि की मात्रा अधिक होती है। तथ्य तो यह है कि भावुक पाठकों मे भावराशि सामान्यतः स्वल्प होती है, केवल उसकी अभिव्यक्ति अनवसर और अस्थानगत होती है। भावुकता में एक प्रकार का अनौचित्य होता है। बाधा यह इसलिए है कि भावुकता पाठक की दृष्टि को आँसुओं से धुंधला देती है और वह प्रस्तुत कृति को यथातथ्य रूप में देखने में असमर्थ रहती है।

६. **वर्जना** : आपाततः यह वाधा भावुकता का विलोम है, क्योंकि यह भावुकता के विपरीत एक प्रकार की कठोर हृदयता अथवा भाव-शून्यता को जन्म देती है; किन्तु जैसा कि रिचर्ड्स ने कहा है, वर्जना भावुकता का ही एक रूप है। वर्जना का मूल स्रोत किसी दु खद अनुभव में होता है, जिसके कारण पाठक जीवन के किसी अप्रिय प्रसंग के काव्यगत अनुचिन्तन से बचने के लिए अपने चित्त को उस विषय के प्रति कठोर बना लेता है। इसलिए वर्जना प्रायः एकक्षेत्रीय होती है। एक ही पाठक विषय विशेष के प्रति भावुक हो सकता है और किसी अन्य विषय के प्रति कठोर हृदय। यदि ऐसी वर्जना किसी पाठक में स्थायी और व्यापक रूप ग्रहण कर ले तो उसकी सवेदनशीलता सामान्यतः कुण्ठित हो जाती है।

सैद्धान्तिक पूर्वाग्रह जिस युग मे परस्पर विरोधी विचारो का तीव्रतम द्वन्द्व हो, उस समय सैद्धान्तिक पूर्वाग्रह काव्य के आस्वाद मे बाधक हो जाता है। यदि पाठक की विचारधारा कवि की विचारधारा से भिन्न ही नही, बल्कि नितान्त विरुद्ध हो, तो वह कवि की कृति का पूर्णत ग्रहण करने मे असमर्थ हो जाता है। रिचर्ड्स ने इस समस्या का समाधान इस प्रकार ढूँढा है कि कविता अयथवक्तव्य होने कारण विचारधाराओ से परे होती है। इसलिए पाठक के पूर्वाग्रह को भिन्न विचारधारा से युक्त काव्य के आस्वाद मे नियमत बाधक नहीं होना चाहिए। इसके विपरीत टी० एस० इलियट ने इस प्रश्न पर परस्पर विरोधी विचार व्यक्त करते हुए भी अन्तत यह स्वीकार किया है कि एक पाठक के नाते मैं अपने निजी विचारो को छोडकर या भूलकर किसी काव्य का आस्वाद नही कर सकता। इन तमाम समाधानो के रहते भी व्यवहार मे स्थिति यही है कि पाठक का सैद्धान्तिक पूर्वाग्रह प्राय किसी रचना के पूर्ण आस्वाद मे बाधक होता है। इसी के अन्तर्गत आलोचनात्मक सिद्धान्तो का पूर्वाग्रह भी आता है, जिसके कारण कभी-कभी समर्थ आलोचक अपनी मान्यता से भिन्न किसी इतर काव्य-प्रवृत्ति की रचना को ग्रहण करने मे अक्षम दृष्टिगोचर होते हैं। रिचर्ड्स ने शिल्पगत पूर्वधारणा की गणना भी एक भिन्न बाधा के रूप में की है, जिसके शिकार प्राय रचनाकार पाठक होते हैं। एक शिल्प विशेष मे रचना करनेवाले कवि प्राय भिन्न शिल्प की रचनाओ के प्रति कठोर हो जाते हैं।

निष्कर्ष

अभिनवगुप्त और रिचर्ड्स द्वारा निरूपित काव्य-विघ्नो की तुलना से एक बात स्पष्ट है कि प्राच्य एव पाश्चात्य दोनो ही चिन्तन-परम्पराएँ सहृदय की सम्यक् काव्यानुभूति के मार्ग मे आनेवाली बाधाओं के प्रति सजग हैं। इन बाधाओं को अभिनवगुप्त ने 'विघ्न' की सज्ञा दी तो रिचर्ड्स ने 'कठिनाई' (डिफिकल्टी) की। इन विघ्नो पर दोनों आचार्यों ने जितना बल दिया है, उससे प्रकट होता है कि सामान्य पाठक ही नही, बल्कि विशिष्ट पाठक या सहृदय को भी किसी-न किसी अवस्था मे इन विघ्नों मे से कुछ का सामना करना ही पडता है। अभिनवगुप्त के विघ्न-विवेचन मे निस्सदेह कुछ विघ्नो का सबध कवि-कर्म से है तो कुछ का सबध नितान्त सहृदय धर्म से। इसके विपरीत रिचर्ड्स की सभी कठिनाइयाँ पाठकों से ही सबधित हैं। कारण स्पष्ट है। अभिनवगुप्त की विवेचन-पद्धति में काव्य-सृजन से लेकर काव्य-ग्रहण तक के समस्त व्यापार पर एक ही साथ विचार किया गया है, जबकि रिचर्ड्स ने विशेषत काव्य-ग्रहण के सदर्भ म ही कठिनाइयो का विवेचन किया है। इतना होते हुए भी दोनो ही आचार्यों के विघ्न विवेचन मे कुछ बातो मे अद्भुत समानता है। उदाहरण के लिए, रिचर्ड्स द्वारा निरूपित 'ऐन्द्रिय ग्रहण सबधी कठिनाई' अभिनवगुप्त के 'सभावना-विरह' का स्मरण करा देती है। रिचर्ड्स के अनुसार कुछ पाठक कभी-कभी काव्य का अर्थ-ग्रहण तो कर लेते है, किन्तु बिम्ब ग्रहण नही कर पाते क्योकि बिम्ब-ग्रहण के लिए इन्द्रिय-प्रत्यक्ष की अपेक्षा होती है और उनमे बिम्ब विशेष के लिए अपेक्षित इन्द्रिय उतनी जाग्रत एव सवेदनशील नही होती। कहना न होगा कि बिम्ब-ग्रहण के लिए अपेक्षित ऐन्द्रिय-बोध बहुत-कुछ ग्राहक की कल्पना-शक्ति पर निर्भर होता है, विशेषत काव्य-बिम्ब के सदर्भ मे। सामान्य वस्तु के बिम्ब-ग्रहण का कार्य प्राय जाग्रत इन्द्रियो के द्वारा ही सफलता

से संपन्न हो जाता है; किन्तु काव्यगत बिम्बों के लिए तीव्र कल्पना-शक्ति की अपेक्षा होती है। कल्पना ही पाठक की इन्द्रियों को उद्‌बुद्ध करके काव्यगत बिम्ब को ऐन्द्रिय बोध के स्तर पर अनुभव कराने की दिशा में सक्रिय रहती है। इसलिए जिस पाठक में कल्पना-शक्ति क्षीण होती है, वह बुद्धि के द्वारा कविता का अर्थ ग्रहण करते हुए भी उसे अनुभूति के रूप में प्राप्त नहीं कर पाता। 'संभावना-विरह' नामक विघ्न के अन्तर्गत अभिनवगुप्त ने इस कल्पना-क्षीणता की ओर ही संकेत किया है।

इसी प्रकार रिचर्ड्‌स ने 'स्मृतिगत अप्रासंगिकता', 'भावुकता', 'वर्जना' आदि नामों से जिन तीन कठिनाइयों का अलग-अलग उल्लेख किया है, वे प्रकारान्तर से एक साथ ही अभिनवगुप्त द्वारा निरूपित 'निज-सुखादिविवशीभाव' के अन्तर्गत समाविष्ट हो जाती हैं। जो पाठक काव्य पढ़ते समय अथवा नाटक देखते समय अपने निजी सुख-दुःख के वशीभूत रहता है, स्वभावतः उसका मन काव्य-निबद्ध वस्तु पर केन्द्रित न होकर इतर अप्रासंगिक बातों पर भटकता रहता है। ऐसा पाठक प्रेम की कविता पढ़ते समय उस कविता में व्यक्त प्रेम तक सीमित न रहकर तद्विषयक अपनी निजी स्मृतियों के लोक में स्थानान्तरित हो जाता है। इस प्रकार प्रस्तुत काव्य उसके लिए अपने-आप में आस्वाद्य न होकर निजी स्मृतियों का उत्प्रेरक साधन-मात्र रह जाता है। स्पष्ट ही यह स्थिति काव्यानुभूति के लिए विघ्न है। रिचर्ड्‌स ने इसी को 'स्मृतिगत अप्रासंगिकता' की संज्ञा दी है।

इसके अतिरिक्त 'निज-सुखादि-विवशीभाव' प्रसंग-भेद से दो सर्वथा विरोधी स्थितियों का भी कारण होता है; इससे कभी तो अतिशय भावुकता उत्पन्न होती है और कभी नितान्त भावनाहीनता। अपने दुःख से अभिभूत पाठक कभी-कभी किसी करुण काव्य को पढ़कर अपेक्षित भाव से अधिक अतिरिक्त भावानुभूति का परिचय देने लगता है। यह भावातिरेक विघ्न इसलिए है कि इसके कारण पाठक की दृष्टि अश्रु-धूमिल हो जाती है और वह प्रस्तुत काव्य को अभीष्ट रूप में नहीं देख पाता। अनुभूति उसे अवश्य होती है, किन्तु उस अनुभूति को काव्यानुभूति की संज्ञा नहीं दी जा सकती। इसके विपरीत कभी-कभी ऐसी भी स्थिति होती है, जब अपने दुःख के कारण पाठक का हृदय भिन्न भाव-बोध वाले काव्य के प्रति एकदम ठण्डा हो जाता है, उसे अपने-आप से इतना अवकाश ही नहीं मिलता कि मुक्त हृदय से काव्य का आस्वादन कर सके। पाठक की यह स्थिति दुःख में ही नहीं बल्कि सुख में भी होती है; बल्कि निजी सुख भावनाओं की वर्जना का अधिक प्रबल कारण होता है। इस प्रकार भावातिरेक और भावहीनता जैसी परस्पर विरोधी मनोदशाएँ अभिनवगुप्त द्वारा निरूपित एक ही विघ्न 'निज-सुखादि-विवशीभाव' से उत्पन्न होती है और प्रसंग-भेद से काव्यानुभूति में विघ्न का कार्य करती है।

इन समानताओं के अतिरिक्त रिचर्ड्‌स ने एक ऐसे विघ्न का उल्लेख किया है, जो अभिनवगुप्त के विघ्न-विवेचन में एकदम अप्राप्त है। वह विघ्न है—सैद्धान्तिक पूर्वाग्रह। कभी-कभी ऐसी स्थिति उत्पन्न हो जाती है कि प्रस्तुत काव्य में व्यक्त विचार पाठक के अपने विचारों के साथ मेल नहीं खाता, और अपने विचारों के आग्रह के कारण पाठक काव्यनिष्ठ भावों के साथ पूर्णतः तादात्म्य स्थापित करने में असमर्थ रहता है। ऐसी स्थिति में 'सैद्धान्तिक आग्रह' काव्यानुभूति के लिए विघ्न हो जाता है। अभिनवगुप्त के विघ्न-विवेचन में इसका स्पष्ट उल्लेख नहीं है। निश्चय ही इसका कुछ कारण होना चाहिए।

ऐसा नहीं है कि संस्कृत-काव्य दर्शन से सर्वथा अप्रभावित हो। रामायण, महाभारत ही नहीं, कालिदास के काव्य और नाटक भी किसी-न-किसी दर्शन पर आधारित हैं। इसके साथ ही यह भी निश्चित है कि उन काव्यों को पढ़नेवाले ऐसे भी पाठक रहे हैं जो उनमें निहित दार्शनिक विचारों से भिन्न मान्यता रखते थे। प्राचीन भारत के सम्प्रदाय बहुल समाज में काव्य और पाठक के बीच सिद्धान्त-भेद की सम्भावना को अस्वीकार करना कठिन है। फिर भी आचार्यों ने यदि सैद्धान्तिक पूर्वग्रह को रस विघ्न के रूप में स्वीकार नहीं किया तो इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि यहाँ काव्य के सन्दर्भ में सैद्धान्तिक मतभेद आड़े नहीं आता। इसे प्राचीन भारत की सैद्धान्तिक सहिष्णुता का भी सूचक माना जा सकता है। और यदि ऐसा नहीं है तो फिर यह भी सम्भव है कि सैद्धान्तिक मतभेद के बावजूद समूचा समाज जीवन-जगत संबंधी कुछ आधारभूत मूल्यों के प्रति लगभग समान मत रखता था। इसीलिए किसी भी दर्शन के प्रभाव से निर्मित काव्य के आस्वादन में पाठक को कठिनाई का अनुभव नहीं होता था। इसके विपरीत पाश्चात्य काव्य-चिन्तन आरम्भ से ही दार्शनिक मान्यता से आक्रान्त रहा है, इसलिए वहाँ काव्यास्वाद में आस्था (बिलीफ) का प्रश्न बारबार उठता रहा है। प्लेटो ने दर्शन की कसौटी पर काव्य को हेय घोषित करके पहली बार काव्यास्वाद में आस्था का प्रश्न उठाया, तभी से प्लेटो की छाया पाश्चात्य काव्य-चिन्तन को घेरे हुए है जिससे वह आज तक मुक्त न हो सका। दर्शन के समान काव्य से भी सत्य और ज्ञान की आशा करने का अर्थ ही था—काव्यास्वाद के सन्दर्भ में सैद्धान्तिक आग्रहों का अनुप्रवेश। आधुनिक युग में जब परस्पर विरोधी विचारों का द्वन्द्व और भी प्रबल रूप में सामने आया तो काव्य-ग्रहण की प्रक्रिया भी उससे अप्रभावित न रह सकी। स्वभावतः पाश्चात्य काव्यशास्त्र के विचारकों की दृष्टि इस व्यावहारिक कठिनाई की ओर गई और आइ० ए० रिचर्ड्स ने आधुनिक युग में पहली बार इस प्रश्न को सैद्धान्तिक स्तर पर 'प्रिंसिपल्स आफ लिटरेरी क्रिटिसिज्म' में 'पोएट्री एण्ड बिलीफ' शीर्षक से उपस्थित किया, जिसका विस्तार आगे चलकर उन्होंने क्रमशः 'साइंस एण्ड पोएट्री' एवं 'प्रैक्टिकल क्रिटिसिज्म' नामक पुस्तकों में किया। काव्य और पाठक के बीच सैद्धान्तिक भेद-जन्य बाधा को दूर करने के लिए रिचर्ड्स ने एक ओर काव्यनिष्ठ आस्था को आस्था मानने से इनकार किया तो दूसरी ओर इसी आधार पर पाठक को भी अपनी निजी आस्था से मुक्त होने का सुझाव दिया। टी० एस० इलियट ने कुछ दुविधा की स्थिति में रिचर्ड्स के मत का खंडन करते हुए यह स्थापित किया कि पाठक की आस्था काव्यास्वाद में सदैव बाधक ही नहीं होती बल्कि कभी-कभी साधक भी होती है।

रिचर्ड्स और इलियट का आस्था विषयक विवाद क्रमशः पाश्चात्य आलोचना का केन्द्र बिन्दु बन गया जिसकी अन्यतम परिणति 'साहित्य और आस्था' नामक परिसंवाद में प्रतिफलित होती है। जैसा कि इस पुस्तक के सम्पादक प्रो० अब्राम्स ने प्रस्तावना में सभी मतों का सार संक्षेप में प्रस्तुत करते हुए कहा है, काव्यास्वाद में आस्था के प्रश्न को महत्त्वपूर्ण मानते हुए भी यह कहना कठिन है कि पाठक की आस्था सदैव विघ्न ही होती है। इस प्रकार रिचर्ड्स द्वारा निरूपित सैद्धान्तिक पूर्वाग्रह नामक विघ्न जिसका उल्लेख अभिनवगुप्त के विघ्न विवेचन में नहीं मिलता, अन्ततः पाश्चात्य काव्य-चिन्तन में भी विवादास्पद ही है।

खण्ड २

काव्यकृति

- काव्य की स्थिति : कृति की स्वनिष्ठता
- काव्य के घटक तत्त्व
- काव्य के उपादान
- काव्य का माध्यम

७

काव्य की स्थिति : कृति की स्वनिष्ठता

रस-सिद्धान्त में काव्य की वस्तुनिष्ठता

अभिनवगुप्त की व्याख्या के उपरान्त 'रस' शब्द आज लगभग काव्यास्वाद का वाचक हो गया है और इस प्रकार वह नाट्यगत वस्तु-सत्ता रूप न रहकर सहृदयगत अनुभूति-सत्ता रूप हो गया है। रस को सहृदयगत काव्यास्वाद का पर्याय मानने की प्रवृत्ति बहुमत से संस्कृत काव्यशास्त्र और तदुपरान्त हिन्दी काव्य-चिन्तन में भी प्रचलित हुई है।

इस सदर्भ में यह प्रश्न सर्वथा उपेक्षणीय नहीं है कि रस की सत्ता भावगत है या वस्तुगत, वह आस्वाद है या आस्वाद्य ? तथा भरत मुनि ने उसका प्रयोग किस अर्थ में किया था ? भरत-सूत्र के प्रथम दो व्याख्याता आचार्यों—भट्टलोल्लट और शंकुक—ने रस की अनुकार्यगत प्रतिष्ठा का जो प्रयास किया था, वह दृष्टि-भ्रम मात्र था, यह भी नहीं कहा जा सकता। यदि ऐसा था, तो भी इस तथाकथित भूल के निमित्त कारण स्वयं आदि आचार्य के 'नाट्यशास्त्र' में निहित थे। बाद में जब रस-चर्चा नाट्य को छोड़कर काव्य के संदर्भ में व्यापक होने लगी, तो ध्वनिवादी आचार्यों ने उसे सर्वथा सहृदयनिष्ठ बना दिया। रस की वस्तुगत सत्ता उनकी इस विषयिपरक व्याख्या में कुछ इस प्रकार लुप्त हो गई कि परवर्ती आचार्यों ने इस प्रश्न को फिर से उठाने और इस पर विचार करने की आवश्यकता ही नहीं समझी।

आधुनिक युग में इस प्रश्न की पुनर्व्याख्या का श्रेय मराठी के विद्वानों को है। डॉ० सुरेन्द्र बारलिंगे ने रस को काव्यास्वाद और आनन्द का पर्याय मानने की प्रवृत्ति का स्पष्ट विरोध करते हुए कहा है कि : "मुनि-सम्मत मत के अनुसार रस की सत्ता नाट्यगत होती है, अतः 'रस' शब्द-प्रयोग में वस्तुनिष्ठता का आशय ग्रहण करना ही अधिक संगत है।"[१] भरत मुनि के अनुसार विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी आदि के संयोग से जिस रस की निष्पत्ति होती है, वह नाट्यरस ही है। यही कारण है कि उन्होंने 'रस-निष्पत्ति' और 'रसास्वाद' की प्रक्रिया का पृथक्-पृथक् प्रतिपादन किया है। बाद मे अभिनवगुप्त तक पहुँच कर यही 'निष्पत्ति' सहृदय के चित्त में 'अभिव्यक्ति' हो गई और इस प्रकार उसने रसास्वाद से अभिन्न रूप धारण कर लिया। भरत के मतानुसार यह नाट्य-रस की निर्मिति है जिसका आस्वादन परवर्ती प्रक्रिया है।

इस निर्मित रस का स्वरूप क्या है ? इस संबंध में भरत का मत अत्यंत स्पष्ट है। वह आस्वाद न होकर आस्वाद्य है।[२] भरत के मत मे रस आस्वाद—अनुभूतिरूप न होकर

---

१ 'भरत मुनि का रस-सिद्धान्त', समालोचक, अगस्त १९५८

२ रस इति कः पदार्थः। उच्यते आस्वाद्यत्वात्। नाट्यशास्त्र, भाग १, पृ० २८८

पदार्थ रूप है इस बात का स्पष्ट प्रमाण यही है कि आस्वाद्यत्व धर्म या गुण से युक्त रस पदार्थ आस्वाद्य हो जाता है इस प्रक्रिया की व्याख्या उन्होंने पृथक् रूप से की है। 'निष्पत्ति' उसका निर्मिति-पक्ष है आस्वादन इस निर्मित रस-पदार्थ का 'भोग' पक्ष है और सहृदय की वासना निर्मिति का आधार न होकर आस्वाद पक्ष का आधार है। रस भरत के मतानुसार नाट्य[1] है आस्वाद नहीं। क्योंकि वह आस्वाद्य है, अतः कवि और सहृदय से भिन्न उसकी पृथक् स्वतन्त्र सत्ता है और वह मूर्त, आस्वाद्य एवं पदार्थ रूप है। यदि भरत का अभिप्राय यह न होता तो वे 'आस्वाद्यत्वात्' का प्रयोग न करके 'आस्वादात्' का प्रयोग करते। आस्वाद के विषय इस मूर्त पदार्थरूप नाट्यरस में स्थूल या मूर्त उपकरणों—वाचिक आंगिक और सात्त्विक अभिनय के साथ ही स्थायी, संचारी आदि सूक्ष्म मनोभाव-रूप अमूर्त उपकरण भी संयुक्त रहते हैं। भरत ने स्थायी भावों की ही रसत्व प्राप्ति का विवेचन किया है। परन्तु सहृदय पक्ष में जो स्थायी भावों के आधार पर रसत्व को प्राप्त होता है वही नाट्य पक्ष में मूर्त पदार्थ रूप में निर्मित होता है। भरत इसको पदार्थ-रूप ही स्वीकार करते थे इसका एक स्पष्ट प्रमाण यह भी है कि उन्होंने प्रश्न ही 'रस इति कः पदार्थः ?' कहकर किया है।

डॉ० सुरेन्द्र बारलिंगे ने तर्क-युक्ति द्वारा सिद्ध किया है कि भरत ने रस शब्द का ग्रहण सांख्य से किया है। वहीं से यह आयुर्वेद और नाट्यशास्त्र दोनों में आया है। अतः सांख्य में इसका जो अर्थ निर्दिष्ट है वही मूल अर्थ है। और सांख्य में 'रस का तात्पर्य है मातृ निरपेक्ष वस्तुमात्र'। इसी प्रकार आयुर्वेद में रस का तात्पर्य है—वनस्पतिगत वस्तुमात्र। अतएव डा० बारलिंगे के मतानुसार 'नाट्यशास्त्र में रस का तात्पर्य है नाट्य में उपलब्ध वस्तुमात्र।'[2] भरत मुनि के अनुसार रस प्रमाता का आस्वाद नहीं, शब्दों और भावों से अनुबद्ध काव्य-नाट्य है। विभाव अनुभाव और व्यभिचारी की सहायता से हृदयस्थ भाव साकार रूप धारण करते हैं और हृदयस्थ भावों के इसी मूर्त, वस्तुगत रूप को भरत 'रस' मानते हैं। भाव इन वस्तुरूप रसों के साधन होते हैं।[3]

इतना ही नहीं जिन आचार्य अभिनवगुप्त के प्रमाण पर रस को सहृदयनिष्ठ एवं आस्वाद रूप मानने की प्रवृत्ति प्रचलित हुई उन्होंने भी रस को केवल सहृदयनिष्ठ अनुभूति सत्ता नहीं माना है। भरत के द्वारा उद्धृत आनुवंश्य श्लोक के 'तस्मान्नाट्यरसाः' अंश की व्याख्या करते हुए उन्होंने कहा है कि 'नाट्य समुदाय रूप से होनेवाला रस है अथवा नाट्य ही रस है। क्योंकि रस समुदाय रूप ही नाट्य है।'[4] 'समुदाय' उक्त प्रसंग में विभावादि रस-सामग्री का वाचक है। प्रसंग को और आगे बढ़ाते हुए उन्होंने कहा है कि यह रस न केवल नाट्य में ही होता है बल्कि काव्य में भी होता है।[5] अभिनवगुप्त कवि

---

[1] तेन रस एव नाट्यम। अभिनवभारती, भाग १ पृ० २६७

[2] सौन्दर्य-तत्त्व और काव्य सिद्धान्त, पृ० ६०

[3] भाव इति कारणसाधन। नाट्यशास्त्र भाग १, पृ० ३४४

[4] नाट्यात् समुदायरूपाद्रसाः। यदि वा नाट्यमेव रसाः। रस समुदायो हि नाट्यम।
अभिनवभारती, भाग १, पृ० २९०

[5] न नाट्य एव च रसाः काव्येऽपि नाट्यायमान एव रसः। वही, पृ० २९०

से काव्य और काव्य से सामाजिक तक रस की स्थिति और व्याप्ति मानते है। रस-तत्त्व कवि, काव्य और सामाजिक मे क्रमशः बीज, वृक्ष और फल-फूल की भाँति वर्तमान रहता है, ऐसा भरत द्वारा उद्धृत आनुवंश्य श्लोक की व्याख्या करते हुए अभिनवगुप्त ने कहा है कि : "उसी कविगत-साधारणीभूत सविन्मूलक काव्य के द्वारा नट का व्यापार होता हे और वही संवित् वास्तव मे रस है। ···इस प्रकार मूल बीज के स्थान पर कविगत रस है।··· उससे वृक्षस्थानीय काव्य उत्पन्न होता है। उसमे पुष्पस्थानीय अभिनयादि रूप नट का व्यापार होता है। उसमे फलस्थानीय सामाजिक का रसास्वाद होता है।"[1]

कहने का तात्पर्य यह है कि अभिनवगुप्त कवि से सामाजिक तक रस-व्याप्ति मानते है, जिसमे कविगत रस कारण है, काव्यगत कार्य है और सामाजिकगत रस उसका फल है। जिस प्रकार बीज और वृक्ष के विना फल की उत्पत्ति असंभव है, उसी प्रकार सहृदयगत रस का आधार कवि और काव्यगत रस है।

रस की स्थिति कहाँ होती है ? इस प्रश्न को विवाद के रूप मे संस्कृत के आचार्यो ने नही उठाया, किन्तु रस की व्याख्या स्थिति की दृष्टि से दो रूपो में मुख्यत. की गई— नाट्यगत दृष्टि से और सहृदयगत दृष्टि से। कला-सृष्टि के दौरान होनेवाली रसानुभूति का विवेचन अपेक्षाकृत कम हुआ है। भरत के 'नाट्यशास्त्र' में जिस रस को अत्यत सहज रूप मे नाट्यरूप मान लिया गया था और उसके वस्तुनिष्ठ रूप की ओर ही भट्टलोल्लट और शंकुक ने संकेत किया था, उसी के आत्मनिष्ठ रूप की व्याख्या विस्तारपूर्वक आचार्य अभिनवगुप्त ने की। उन्होने रस की वस्तुरूपता के संबंध मे विशेप विस्तार से प्रकाश नही डाला, इसका कारण कदाचित् यही था कि उनसे पूर्व रस की वस्तुनिष्ठता का पर्याप्त और सागोपाग विवेचन हो चुका था। इसलिए उन्होने उस पक्ष का अधिक विस्तारयुक्त विवेचन किया जिस पर पूर्ववर्ती विद्वानों ने विशेप विचार नही किया था। रस नाट्यगत भी होता है, इसके विरोध मे न केवल उन्होने कही कुछ नही कहा वल्कि जैसा स्पप्ट किया जा चुका है कवि, काव्य और सामाजिक तीनो के मध्य उन्होने रस की परस्परावलबित स्थिति स्वीकार की। इस प्रकार संस्कृत के आचार्यो ने रस को सिद्धान्त-रूप मे कविगत, काव्यगत और सहृदयगत तीनो रूपो मे स्वीकार किया है और न्यूनाधिक वल के साथ कविनिष्ठ, काव्यनिष्ठ और सहृदयनिष्ठ रस की तीनो स्थितियो का विवेचन किया है, जिनमें काव्य-निष्ठ रस की चर्चा परवर्ती काल मे गौणता प्राप्त करते हुए भी सर्वथा उपेक्षित नही थी।

रस की वस्तुनिष्ठता की पुष्टि इस बात से भी होती है कि व्यवहार में संस्कृत के आचार्यो ने सहृदयगत रसानुभूति के विवेचन तक अपने को सीमित न रखकर काव्यगत रस के विविध उपादानों का भी विश्लेपण किया है। काव्य की उत्तम, मध्यम एवं अधम कोटियाँ निर्धारित करते समय रस-काव्य अथवा ध्वनि-काव्य को उत्तम कोटि मे रखने से स्पप्ट है कि वे रस को काव्यनिष्ठ भी मानते थे। आदर्श रसानुभूति आदर्श रस-काव्य से

---

[1] कविगतसाधारणीभूतसंविन्मूलश्च काव्यपुरस्सरो नटव्यापारः। सैव च संवित् परमार्थतो रसः।···तदेव मूलं बीजस्थानीयात्कविगतो रसः।···ततो वृक्षस्थानीयं काव्यम्। तत्र पुष्पादिस्थानीयोऽभिनयादिनटव्यापारः। तत्र फलस्थानीयः सामाजिकरसास्वादः।

अभिनवभारती, भाग १, पृ० २९४

ही सम्भव है, किसी भी कोटि या प्रकार के काव्य से नहीं। इससे स्पष्ट है कि संस्कृत के आचार्य रसानुभूति का स्वरूप निश्चित करने के लिए रसोद्रेक करनेवाली काव्यकृति के रस विधायक तत्त्वों का विवेचन अनिवार्य समझते थे। इसी दृष्टि से भरत मुनि ने नाट्यगत भाव विभाव आदि का विस्तृत वर्गीकरण एवं विश्लेषण किया है और ध्वनिवादी आनन्दवर्धन ने रस रूप काव्यार्थ के विविध तत्त्वों को स्पष्ट करने के लिए पदध्वनि से लेकर प्रबन्ध ध्वनि तक का वस्तुगत प्रपंच उद्घाटित करने का प्रयास किया है। संस्कृत काव्यशास्त्र का सामान्य अध्येता भी इस तथ्य को परिलक्षित किए बिना नहीं रह सकता कि प्रायः सभी ग्रन्थों में कवि निरपेक्ष काव्यकृतियों के अर्थ-चारुत्व के वस्तुनिष्ठ विश्लेषण की ही प्रधानता है। संस्कृत काव्यशास्त्र में कवियों की समीक्षा के स्थान पर एक-एक मुक्तक का ही विश्लेषण प्राप्त होता है। यही नहीं, बल्कि वहाँ किसी आचार्य की अपनी विषयिनिष्ठ मनोगत भावात्मक प्रतिक्रिया का भी आभास पाना कठिन है। काव्यशास्त्र के ग्रन्थों में जिस प्रकार लक्षण के लिए उद्धृत छन्दों का विवेचन किया गया है, उसमें पाठकगत भावोच्छ्वास का अभाव है। आधुनिक काव्य समीक्षा में जिस प्रकार किसी कृति-विशेष की आलोचना के प्रसंग में आलोचक की निजी रुचि-अरुचि की प्रभावाभिव्यंजक स्थिति का स्पष्ट संकेत प्राप्त होता है, वैसी प्रतिक्रिया आनन्दवर्धन, मम्मट अथवा पण्डितराज के काव्य-विश्लेषण में दुर्लभ है। उन आचार्यों के विवेचन में एक प्रकार की शास्त्रीय तटस्थता और स्पृहणीय वस्तुनिष्ठता मिलती है।

आलोचना के क्षेत्र में जिस वस्तुनिष्ठता के आदर्श को पाश्चात्य काव्यशास्त्र ने लम्बे संघर्ष के बाद अभी कुछ ही समय पूर्व—इस शती के तीसरे दशक में उपलब्ध किया, वह संस्कृत काव्यशास्त्र का आरम्भिक बिन्दु ही नहीं, चिराचरित परिपाटी रही है। आलोच्य वस्तु कृति है कृतिकार नहीं—यह आज की पाश्चात्य समीक्षा का ही सत्य नहीं, प्राचीन संस्कृत काव्यशास्त्र का भी स्थापित तथ्य है। यहाँ तक कि पश्चिम की रोमाण्टिक आलोचना प्रणाली से प्रभावित संस्कृत काव्यशास्त्र के आधुनिक विद्वानों ने संस्कृत की इस विशेषता को दुर्बलता समझकर उसकी आलोचना भी की है। उदाहरण के लिए प्रो० एस० के० डे शिकायत के-से स्वर में कहते हैं कि 'संस्कृत काव्यशास्त्र ने काव्यकृति को रचित और सिद्ध तथ्य के रूप में ग्रहण किया और फिर उसी रूप में उसके विश्लेषण की ओर अग्रसर हुआ, उसने काव्यकृति को काव्य-सृजन की प्रक्रिया से सम्बद्ध करके विचार करने की आवश्यकता ही नहीं समझी और न उसे मानव चेतना की अभिव्यंजना क्रिया के रूप में ग्रहण किया। उसने केवल उसी पर विचार किया जो पहले से ही अभिव्यक्त है, वह अभिव्यक्ति क्यों होती है और कहाँ से होती है, इसकी चिन्ता उसे नहीं हुई, उसकी जिज्ञासा की दिशा 'किम् इदम्' की ओर थी, 'कथम् इदम्' या 'कुत इदम्' की ओर नहीं।'[1]

---

[1] It took the poetic product as a created and finished fact, and forthwith went to *analyze* it as such, without pausing to consider its relation to the process *of* poetic creation as the expressive activity of the human spirit It chose to deal with what was already expressed, never bothering itself with the *whys* and wherefores of expression, its enquiry was directed chiefly to *Kim idam*, and not to *Katham idam* or *Kuta idam*

Sanskrit Poetics as a Study of Aesthetics, Introduction, p 2

स्पष्ट ही प्रो० डे जिसे संस्कृत काव्यशास्त्र की परिसीमा समझते है वही टी० एस० इलियट, एफ० आर० लीविस अथवा क्लीन्थ ब्रुक्स जैसे नव्य-आलोचकों की दृष्टि में संस्कृत काव्यशास्त्र की सामर्थ्य हो सकती है।

'नव्य-समीक्षा' में कृति की स्वनिष्ठ सत्ता

काव्यकृति के स्वरूप पर पाश्चात्य काव्यशास्त्र में तीन कोणों से विचार किया गया है : कवि-मुख से, पाठक-मुख से और स्वयं कृति-मुख से। प्रधानता की दृष्टि से प्रत्येक कोण का एक अपना विचार-सम्प्रदाय है।

कवि-मुख से काव्यकृति पर विचार करनेवाले विद्वानों का आग्रह है कि काव्यकृति सृजन-प्रक्रिया का पर्याय है, इसलिए काव्यकृति की वास्तविक स्थिति वे कवि के सृजनशील मानस में मानते है। इस धारणा के अनुसार काव्यकृति के स्वरूप को समझने के लिए कवि के आन्तरिक अभिप्राय का पता लगाकर सृजन-प्रक्रिया का विश्लेषण कर लेना पर्याप्त है। इस विचार-सम्प्रदाय के पुरस्कर्ता अधिकांशतः रोमाण्टिक प्रवृत्ति के कवि-आलोचक तथा मनोवैज्ञानिक है। नव्य-समीक्षकों ने इस स्थापना का तीव्र प्रतिवाद किया है। काव्य की निर्वैयक्तिकता के प्रतिपादक टी० एस० इलियट ने बहुत पहले इस रोमाण्टिक धारणा का खंडन करते हुए कहा कि : "कुछ अर्थों में कविता का अपना स्वतंत्र जीवन होता है, इसके अंग कुल मिलाकर जो कुछ निर्मित करते है वह कवि की जीवनी से संबंधित समस्त तथ्यों के व्यवस्थित रूप से भिन्न होता है। किसी कविता से निष्पन्न होनेवाली अनुभूति, संवेग या अन्तर्दृष्टि कवि की मनोगत अनुभूति, संवेग या अन्तर्दृष्टि से काफ़ी भिन्न होती है।"[१] आगे चलकर विमसॉट-बियर्ड्स्ले ने उक्त प्रवृत्ति को 'अभिप्रायपरक हेत्वाभास' (इन्टेन्शनल फ़ैलेसी)[२] की संज्ञा से अभिहित करते हुए कविगत अभिप्राय के अनुसार काव्यकृति के स्वरूप को स्पष्ट करने के दावे को भ्रामक प्रमाणित किया। सम्प्रति काव्यकृति के स्वरूप को समझने के लिए कविगत अभिप्राय को अधिक-से-अधिक सहायक मात्र माना जाता है, जिसका उपयोग निपुण आलोचक आवश्यकतानुसार यथासमय कर सकने के लिए स्वतंत्र हैं।

पाठक-मुख से काव्यकृति का स्वरूप-निर्णय करने वाले विचारकों का मत है कि किसी कविता की वास्तविक स्थिति उसके पाठकों की प्रतिक्रिया में होती है, इसलिए विभिन्न पाठकों की प्रतिक्रियाओं अथवा आदर्श पाठक की काव्यानुभूति के द्वारा ही किसी कविता का वास्तविक स्वरूप समझा जा सकता है। ये विचारक एक प्रकार से काव्यकृति को काव्यानुभूति का पर्याय मानते हैं। इस दृष्टि से काव्यानुभूति ही काव्यशास्त्र का मुख्य विषय है। सौन्दर्यशास्त्र में सौन्दर्यानुभूति पर विशेष बल देनेवाले विचारक इसी विचार-सम्प्रदाय के अन्तर्गत आते हैं। अत्यधिक सतर्कता बरतने के बावजूद डॉ० आइ० ए० रिचर्ड्स मुख्यतः इसी विचार-सम्प्रदाय के समर्थक प्रतीत होते है। विमसॉट-बियर्ड्स्ले ने इस मान्यता को 'प्रभावपरक हेत्वाभास' (एफ़ेक्टिव फ़ैलेसी)[३] की अभिधा प्रदान करते हुए भ्रामक बतलाया है। युक्ति यह है कि किसी वस्तु का प्रभाव और स्वयं वह वस्तु एक नहीं है। प्रत्येक वस्तु अपने प्रभाव से

---

[१] सेक्रेड वुड, १९२८ की भूमिका, पृ० १०

[२] सेवानी रिव्यू, जिल्द ५४, १९४६

[३] सेवानी रिव्यू, जिल्द ५७, १९४९

भिन्न होती है। जिसे हम किसी वस्तु का प्रभाव कहते हैं उसमें भावक या ग्राहक की अपनी मानसिक अवस्था का भी अंश मिला हुआ होता है। यह भी संभव है कि किसी पाठक पर एक कविता का ऐसा प्रभाव पड़े जिसका संबंध उस कविता के अर्थ से बिलकुल ही न हो। इसलिए प्रभाव के अनुसार किसी काव्यकृति के स्वरूप का निर्णय करना खतरे से खाली नहीं है। विमसाट-बियर्ड्स्ले की युक्तियाँ सारयुक्त होते हुए भी उक्त मान्यता के एकांगी आग्रह मात्र का ही निरसन करती हैं। निस्संदेह प्रभावाभिव्यंजक आलोचना के अतिरेक के युग में ऐसी बहुत सी समीक्षाएँ सामने आई थीं जिनमें काव्यकृति के वास्तविक अर्थ को उद्घाटित करने की अपेक्षा भावक अपनी मानसिक प्रतिक्रिया का ही भावोच्छ्वसित विवरण प्रस्तुत करता था। इस अतिरेक को मर्यादित करने के लिए विमसाट-बियर्ड्स्ले का 'प्रभाव-परक हेत्वाभास' का सिद्धान्त अत्यन्त उपयोगी है। किन्तु इसके द्वारा पाठकगत प्रभाव का महत्त्व एकदम समाप्त नहीं होता। यदि बिना पढ़े ही किसी कविता के स्वरूप का बोध किसी प्रकार संभव होता तो कदाचित् एक बार पाठकगत प्रभाव को अप्रासंगिक मान भी लिया जाता। किन्तु यह निर्विवाद है कि कविता के स्वरूप-बोध के लिए उसे पढ़ना आवश्यक है और पढ़ते समय चाहे जितनी निर्वैयक्तिकता बरती जाए, प्रत्येक पाठक की निजी भाव-संपदा का अनुप्रवेश दुर्निवार है, इसलिए काव्यकृति और उसके प्रभाव को पर्याय न मानते हुए भी प्रभाव की उपयोगिता से इनकार करना असंभव है।

कृति-मुख से विचार करनेवाला तीसरा संप्रदाय काव्यकृति के स्वरूप को समझने की दिशा में सृजन-प्रक्रिया और काव्यानुभूति दोनों को सर्वथा अप्रासंगिक एवं अनावश्यक मानकर काव्यकृति मात्र को विवेच्य समझता है। इस संदर्भ में टी॰ एस॰ इलियट का यह प्रसिद्ध कथन उल्लेखनीय है कि "कविता की स्थिति कवि और पाठक के बीच में कहीं है।"[१] इस संप्रदाय का बीज मंत्र है 'कागज पर की कविता' (पोएम ऑन द पेज)। उसकी पद्धति है 'सूक्ष्म पाठ और विश्लेषण' (क्लोज़ रीडिंग एण्ड एनालिसिस)। इस मत के अनुसार प्रत्येक कविता एक 'भाषापरक शिल्प-संघटना' (लिंग्विस्टिक आर्टिफैक्ट) है। इस प्रकार प्रत्येक कविता 'स्व-निष्ठ', 'स्व-पर्याप्त', 'स्व-संपूर्ण' एवं 'निरपेक्ष' है, जिसके अर्थ के लिए कवि या पाठक को उससे बाहर अथवा बाह्य वास्तविकता तक जाने की आवश्यकता नहीं है। विमसाट के शब्दों में कविता अन्तःसंगति (कोहेरेंस) की वस्तु है, बाह्य समानान्तरता (कॉरेस्पॉण्डेंस) की नहीं।[२] जब कविता 'आत्म-परतंत्र' है तो किसी प्रकार की बाह्य सहायता लिए बिना केवल कृति-विशेष का अपने-आप में विश्लेषण करना ही संगत है। इसलिए इस वर्ग के विचारक प्रत्येक काव्यकृति के रूपगत विश्लेषण के द्वारा ही काव्य-स्वरूप का निर्णय करने का प्रयास करते हैं। उनकी धारणा है कि आन्तरिक असंगतियों से युक्त असफल कृतियाँ उनके सूक्ष्म विश्लेषण के सम्मुख अपने-आप उड़ जाएँगी और उनके विपरीत जो कृतियाँ सूक्ष्म विश्लेषण के सामने टिक जाएँगी उनकी सफलता स्वतः सिद्ध होगी। इस मत के सबसे कट्टर समर्थक 'शिकागो-समीक्षक' हैं, किन्तु थोड़े-बहुत अन्तर के साथ नव्य-समीक्षा के अधिकांश आलोचक इसी मान्यता के अनुयायी प्रतीत होते हैं। विश्वविद्यालयों

---

१ द यूज़ ऑफ पोएट्री एण्ड द यूज़ ऑफ क्रिटिसिज़्म, पृ॰ ३०

२ लिटरेरी क्रिटिसिज़्म : ए शॉर्ट हिस्ट्री, पृ॰ ७४८

में प्रायः पाठ्य पुस्तक के रूप में स्वीकृत 'थियरी ऑफ़ लिटरेचर' (१९४९) नामक पुस्तक के लेखक रेने वेलेक और आस्टिन वॉरेन ने 'साहित्य के आन्तरिक अध्ययन' (इन्ट्रिजिक स्टडी ऑफ़ लिटरेचर) के नाम पर इसी मत की प्रतिष्ठा की है। रेने वेलेक ने काव्यकृति की विशिष्ट 'तात्त्विक सत्ता' (अॅन्टोलॉजिकल स्टेटस) स्वीकार की है।

क्लीन्थ ब्रुक्स भी काव्यकृति को 'सुघटित मृत्पात्र' के समान मानते हैं, जैसा कि उनकी सुप्रसिद्ध आलोचना पुस्तक 'द वेल-रॉट अर्न' के नाम से ही स्पष्ट है। सौन्दर्यशास्त्री एलिसिओ वाइवास ने भी 'कविता क्या है' शीर्षक निबंध मे काव्यकृति की सत्ता को 'स्व-पर्याप्त' (सेल्फ़-सफ़ीशिएंट) माना है, यद्यपि इस शब्द से वे पर्याप्त संतुष्ट नही है फिर भी उन्होंने 'स्व-तंत्र' (ऑटोनॉमस) शब्द से इसे बेहतर समझकर अपनाया है।[1] सभी संबंध-सूत्रों से काव्यकृति को विच्छिन्न कर देने के बाद विश्लेषण करने के लिए काव्यकृति के नाम पर केवल रूपविन्यास ही बच रहता है, इसलिए कभी-कभी इस प्रवृत्ति को 'रूपवादी' भी कहा जाता है। विमसॉट ने जहाँ 'अभिप्रायपरक' और 'प्रभावपरक' हेत्वाभासों की चर्चा की है, वही शिकागो-समीक्षकों का उल्लेख करते हुए इस प्रवृत्ति की चरम मान्यता को 'रूपवादी हेत्वाभास' (फ़ॉर्मलिस्ट फैलेसी) की संज्ञा दी है।[2]

इन तीनों संप्रदायों की सीमाओं का आकलन करने के बाद काव्यकृति की वास्तविक स्थिति के विषय में संतुलित ढंग से विचार करने की समस्या सामने आती है। सामान्य दृष्टि से कवि, काव्य और पाठक तीनों तत्त्व काव्य-सृजन के एक ही अविच्छिन्न व्यापार के अंग है, सृजन-व्यापार कवि से लेकर पाठक तक प्रवहमान रहता है, जिसमें काव्यकृति कवि और पाठक के बीच संयोजक-शृंखला के रूप में स्थित होती है। इस दृष्टि से प्रत्येक काव्य-कृति एक निश्चित देश-काल अर्थात इतिहास के संदर्भ से संबद्ध होती है। ऐसी स्थिति में सामान्यतः काव्यकृति की स्वतंत्र सत्ता का प्रश्न नहीं उठना चाहिए, किन्तु व्यवहार में काव्यकृति की समीक्षा करते समय अनेक आलोचकों ने कृति से अधिक उसके संदर्भ पर इतना बल दे दिया है कि नव्य-समीक्षकों को नए सिरे से काव्यकृति की वास्तविक स्थिति का प्रश्न उठाना पड़ा है।

'सेक्रेड वुड' की १९२८ की भूमिका में टी० एस० इलियट ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि : "इस पुस्तक के समस्त निबंध कविता की स्वनिष्ठता (इंटेग्रिटी) की समस्या को लेकर लिखे गए है, इसलिए इस निष्ठा की रक्षा के लिए उन्होने घोषणा की कि जब हम कविता पर विचार करें तो सबसे पहले कविता के रूप में उस पर विचार करें, किसी अन्य वस्तु के रूप में नहीं।"[3] 'अन्य वस्तु' से उनका संकेत काव्य के बाह्य संदर्भो की ओर है। कुछ आलोचक कविता को कवि के जीवनचरित या किसी समाज मे ऐतिहासिक दस्तावेज के रूप में इस्तेमाल करते है। इलियट ने जिस समय उपर्युक्त घोषणा की थी, उस समय कदाचित् प्रभावाभिव्यंजक, मनोवैज्ञानिक एवं ऐतिहासिक आलोचना की प्रवृत्ति प्रबल थी। इसलिए उन्होंने कविता को काव्येतर अनुषंगों से अलग करके देखने का आग्रह किया।

---

[1] क्रिएशन एंड डिस्कवरी, पृ० ७६

[2] वर्बल आइकॉन, भूमिका, पृ० १६

[3] सेक्रेड वुड, भूमिका, पृ० ८

किन्तु इलियट के कथन में सबसे महत्त्वपूर्ण शब्द है—'सबसे पहले', जिसका स्पष्ट अर्थ है कि काव्येतर अनुषंगों से काव्यकृति को अलग करके विचार करना आलोचना का प्रथम सोपान है, अन्तिम सोपान नहीं। इलियट की इस सावधानी के रहते हुए भी कुछ आलोचकों ने प्रथम सोपान को ही अन्तिम सोपान मानकर काव्यकृति की स्वतन्त्र सत्ता घोषित कर दी।

किन्तु नव्य-समीक्षकों में जो विवेकवान हैं, उन्होंने सिद्धान्त और व्यवहार दोनों में इलियट के कथन की मूल चेतना की रक्षा की। उदाहरण के लिए नव्य-समीक्षा को व्यवस्थाबद्ध करनेवाले प्रतिष्ठित आलोचक क्लीन्थ ब्रुक्स लिखते हैं:

"आलोचना के सम्मुख सर्वप्रथम विचारणीय विषय है कविता की अन्विति—वह परिपूर्ण रूप जो साहित्यिक कृति निर्मित करती है अथवा निर्मित करने में असफल हो जाती है, और फिर उस परिपूर्ण रूप के निर्माण में संलग्न विभिन्न अंगों का पारस्परिक संबंध।"[1] इसके तत्काल बाद ही क्लीन्थ ब्रुक्स ने यह भी स्पष्ट किया है कि काव्यकृति को काव्येतर अनुषंगों से मुक्त करते हुए भी वे कवि के अभिप्राय और पाठक की प्रतिक्रिया को सर्वथा त्याज्य नहीं मानते, किन्तु इन दोनों तत्त्वों का उपयोग वे विशेष प्रकार की काव्योचित सीमा में करने के पक्षपाती हैं। इस संदर्भ में उनका कहना है:

"रूपवादी आलोचक स्वयं काव्यकृति की आलोचना करने के लिए दो मान्यताएँ स्वीकार करके अग्रसर होता है : १. वह मानता है कि लेखक का प्रासंगिक अंश वह है जो वस्तुतः काव्यकृति में व्यक्त होता है, अर्थात् काव्यकृतिगत व्यक्त अभिप्राय ही सच्चे अर्थों में प्रासंगिक 'अभिप्राय' है, वह नहीं जो केवल उसके मन में आकांक्षा के रूप में रह जाता है, और २. रूपवादी आलोचक एक आदर्श पाठक की सत्ता मानकर चलता है, अर्थात् वह अनेक संभाव्य व्याख्याओं पर दृष्टि दौड़ाने की अपेक्षा एक निश्चित केन्द्र से कविता या उपन्यास के रूप विन्यास पर प्रकाश डालता है।"[2]

क्लीन्थ ब्रुक्स के दोनों उद्धरणों से स्पष्ट है कि वे कविता को प्रथमतः अन्य वस्तुओं से अलग करके विवेच्य मानते हुए भी कवि और पाठक की उस स्थिति को भी स्वीकार करते हैं जो काव्यकृति से प्रत्यक्ष संबद्ध है। इस प्रकार ब्रुक्स द्वारा निरूपित काव्यकृति में कवि और पाठक दोनों विद्यमान हैं।

इसी प्रकार एलीसिओ वाइवास ने 'कविता क्या है' शीर्षक निबंध में स्पष्ट लिखा है कि "कलाकृति की बहुत-सी वस्तुगत विशेषताओं का ज्ञान तभी होता है जब हम उस कृति के निर्माण में लगी हुई सृजन क्रिया तथा उसके अभीष्ट लक्ष्य एवं प्रभाव की पहचान में सफल होते हैं। इन दोनों पक्षों की उपेक्षा करके कला को केवल 'सौन्दर्यात्मक वस्तु' के रूप में समझने का प्रयास कलाकृति के अपूर्ण रूप का बोध कराता है।"[3] उन्होंने उन विचारकों की आलोचना की है जो कविता को सर्वथा भाषा-निर्मित मानकर भाषा की अनन्यपरतन्त्र सत्ता स्वीकार करने का आग्रह करते हैं और तदनुसार भाषा-विश्लेषण को

---

[1] इर्विंग हो द्वारा संपादित मॉडर्न लिटरेरी क्रिटिसिज्म, भूमिका, पृ० २४ पर उद्धृत

[2] वही

[3] क्रिएशन एण्ड डिस्कवरी, पृ० ६०

ही काव्य-समीक्षा का एकमात्र लक्ष्य मानते है। वाइवास ने इस मत का खंडन करते हुए कहा है कि : "एक तो भापा सामाजिक व्यापार है, दूसरे कविता भापा से कुछ अधिक है क्योकि उसके संगठन के रूप संबंधी नियम व्याकरण से भिन्न होते है। इसलिए काव्यकृति को समस्त संदर्भो से विच्छिन्न करके देखना एकांगी दृष्टि का परिचायक है।"[१]

कवि और पाठक के अतिरिक्त व्यापक वास्तविकता के संदर्भ में भी काव्यकृति की सत्ता का प्रश्न विचारणीय है। रेने वेलेक ने इस सदर्भ में कलाकृति की 'विशेष तात्त्विक सत्ता' (स्पेशल आन्टोलॉजिकल स्टेटस) की प्रतिष्ठा करते हुए यथासंभव समस्त संभाव्य विकल्पों का विश्लेपण करके यह निष्कर्ष निकाला है कि कलाकृति न तो प्रतिमा के समान वास्तविक होती है, न पीड़ा या प्रकाश के अनुभव के समान मानसिक और न त्रिभुज के समान अतीन्द्रिय या अमूर्त ही। वह आदर्श अवधारणाओं के प्रतिमानों की ऐसी प्रणाली है जो किसी एक व्यक्ति की मनोजात न होकर सामूहिक चेतना की सृष्टि होती है। वह सामूहिक चिन्तन-प्रणाली में स्थित होते हुए भी केवल व्यक्ति के मानसिक अनुभवों द्वारा ही गम्य है।[२]

रेने वेलेक का यह कथन किंचित् अस्पष्टता और दर्शन-प्रभावित अमूर्तता के रहते भी एक तथ्य को पूरे बल के साथ प्रस्तुत करता है कि कलाकृति की सत्ता इन्द्रिय-प्रत्यक्ष, मन-प्रत्यक्ष तथा अतीन्द्रिय आदि से विलक्षण है। सूजन लैंगर कलाकृति को 'तात्त्विक सत्ता' (वर्चुअल एन्टिटी)[३] घोपित करते हुए जिस तथ्य की ओर सकेत करना चाहती है, संभवतः वही अभिप्राय रेने वेलेक का भी है। जिस प्रकार सौन्दर्यानुभूति को सामान्य जीवनानुभव से विलक्षण माना जाता है, उसी प्रकार कलाकृति को भी लोक-विलक्षण मानना आवश्यक है।

जब तक हम कलाकृति को जीवन से संवद्ध किन्तु जीवन से विलक्षण तात्त्विक सत्ता के रूप मे स्वीकार नहीं करते, तब तक कला-समीक्षा मे अनेक उलझनें पैदा होती रहेगी। इसलिए रेने वेलेक द्वारा काव्यकृति अथवा कलाकृति की वास्तविक सत्ता सबंधी उठाया हुआ प्रश्न कोरा बुद्धि-विलास अथवा बाल की खाल निकालने जैसा शास्त्रीय प्रयास मात्र नही, बल्कि कला-समीक्षा का आधारभूत प्रश्न है। कलाकृति की वास्तविक सत्ता का निर्णय होने के बाद ही कलाकृति के स्वरूप, वस्तु-रूप, संबंध, रूप-संघटना तथा अर्थ-मीमांसा आदि विपयों पर सम्यक् विचार सभव है।

संक्षेप मे, उपर्युक्त विवेचन से हम इस निष्कर्प पर पहुँचते है कि आधुनिक पाश्चात्य समीक्षा में काव्यकृति (और प्रकारान्तर से कलाकृति) कवि और पाठक के बीच अपनी सापेक्ष-स्वतंत्र सत्ता रखती है और जीवनगत वास्तविकता के संदर्भ मे उसकी 'विलक्षण तात्त्विक सत्ता' स्वीकार की जाती है।

---

१ क्रिएशन एण्ड डिस्कवरी, पृ० ७५

२ 'मोड ऑफ़ एग्जिस्टेंस ऑफ़ द लिटररी वर्क' सदर्न रिव्यू, १९४२; थियरी ऑफ़ लिटरेचर, अध्याय १२ के रूप में पुनर्मुद्रित, पृ० १५७

३ प्रॉबलम्स ऑफ़ आर्ट, पृ० ५

निष्कर्ष

काव्यकृति संबंधी भारतीय एवं पाश्चात्य काव्यशास्त्र के उपर्युक्त तथ्यों की तुलना से स्पष्ट है कि काव्यकृति की वस्तुनिष्ठता दोनों ही परंपराओं में मान्य है। किन्तु इन तथ्यों की पूरी जानकारी के अभाव में प्राय यह धारणा व्यक्त की जाती रही है कि भारतीय रस सिद्धान्त विषयिनिष्ठ है और उसके विपरीत आधुनिक पाश्चात्य समीक्षा वस्तुनिष्ठ है। उदाहरण के लिए टामस मुनरो आज भी यह कहते पाए जाते हैं कि हिन्दू और बौद्ध धर्म से प्रभावित प्राचीन प्राच्य संस्कृति पश्चिम की तुलना में अधिक अन्तर्मुखी है उसमें एक आदर्श मानसिक अवस्था की प्राप्ति के लिए मानसिक आत्म नियंत्रण के लिए विशेष चिन्ता दिखाई पड़ती है।[1] इस सामान्य धारणा की भूमिका के उपरान्त कलास्वाद की चर्चा करते हुए मुनरो स्पष्ट शब्दों में कहते हैं कि जहाँ तक आस्वाद का प्रश्न है पश्चिम में हम वस्तुगत पक्षों पर अधिक बल देते हैं। हम अपने छात्रों में कला के इतिहास के बारे में ज्ञान प्राप्त करने के लिए कहते हैं विभिन्न शैलियों में भेद करने की विधि बतलाते हैं। हम उनसे इन बातों पर ध्यान देने के लिए कहते हैं कि रेखाएँ रंग और स्वर हमसे बाहर स्थित कलाकृति में किस प्रकार हम तक आते हैं। हम अपने छात्रों से इस विषय पर बहुत कम बात करते हैं कि कलाकृति से सहानुभूति रखने और उसका आस्वादन करने के लिए अपने आपको उचित मानसिक स्थिति में किस प्रकार रखा जा सकता है। इसके विपरीत भारतीय सौन्दर्यशास्त्री इस बात पर विशेष बल देते हैं कि किसी नाटक का प्रेक्षक किस प्रकार उचित मन स्थिति प्राप्त कर सकता है और उसे किस प्रकार क्रमश सामान्य जीवन से निःसंग वृत्ति उपलब्ध हो सकती है और किस प्रकार उसको नाट्यगत चरित्रों के साथ तादात्म्य अनुभव करने की क्षमता प्राप्त हो सकती है। इस प्रकार पाश्चात्य प्रवृत्ति आन्तरिक जीवन को बहिर्मुखी करने और वस्तुनिष्ठ रूप देने की है साथ ही वृत्तियों और विचारों को बाह्य वस्तु की ओर उन्मुख करने की प्रवृत्ति है। इसके विपरीत प्राच्य विषयिनिष्ठता इन्द्रिय विषयों के जगत से पराङ्मुख करके ध्यान को अन्तर्मुखी करती है।[2] इतना कहने के बाद मुनरो कुछ सतर्क हो जाते हैं और अपने कथन को संतुलन प्रदान करने के प्रयास में आगे कहते हैं कि पाश्चात्य वस्तुनिष्ठता और प्राच्य आत्मनिष्ठता की विषमता को अतिरंजित करना ठीक नहीं है क्योंकि एक तो यह अंतर केवल मात्रागत है और दूसरे दोनों ही पक्षों में अनेक अपवाद भी विद्यमान हैं।[3] मुनरो की इस हिचक को भलीभाँति लक्षित करते हुए प्रोफेसर आर्ची जे० बाम ने दृढ़ता के साथ इस विषमता का प्रत्याख्यान किया है।[4] किन्तु वे भी अपने कथन की पुष्टि में उपयुक्त तथ्य न दे सके। स्पष्ट है कि भारतीय रस सिद्धान्त में निरूपित काव्यकृति की वस्तुनिष्ठता संबंधी अपेक्षित तथ्यों से

---

[1] ओरिएण्टल एस्थेटिक्स पृ० ६७

[2] वही पृ० ६९ ७०

[3] वही पृ० ७१

[4] मुनरोज ओरिएण्टल एस्थेटिक्स' जर्नल आफ एस्थेटिक्स एण्ड आर्ट क्रिटिसिज्म जिल्द २४ संख्या ४ १९६६ पृ० ५८६ ८७

अनेक विचारक भलीभाँति परिचित नहीं हैं। यदि वे तथ्य सुलभ होते तो इस प्रकार की भ्रान्त धारणाएँ उत्पन्न ही नही होतीं।

वस्तुतः जैसा कि ऊपर स्पष्ट किया गया है, पश्चिम की नव्य-आलोचना के समान संस्कृत रस-सिद्धान्त काव्यकृति के विश्लेपण में पूर्णतः वस्तुनिष्ठ था। यही नहीं, वल्कि विमसाट-बियर्ड्स्ले द्वारा निर्दिष्ट 'अभिप्रायपरक हेत्वाभास' और 'प्रभावपरक हेत्वाभास' से संस्कृत-आलोचना आरंभ ही से सर्वथा मुक्त थी। संस्कृत के आचार्य न तो किसी कविता की कविगत सृजन-प्रक्रिया का पता लगाने के चक्कर मे पड़े और न उन्होने किसी कृति को अपने मन पर पड़नेवाले भावात्मक प्रभाव के रूप में आकलित करने की भूल की। संस्कृत आचार्यो की दृष्टि सदैव कवि-सहृदय-निरपेक्ष काव्यकृति पर केन्द्रित रही और उनके रस-निरूपण का आधार कृतिगत काव्यार्थ ही रहा। इस दृष्टि से संस्कृत रस-विवेचन व्यवहार के स्तर पर पश्चिम की नव्य-आलोचना से भी अधिक वस्तुनिष्ठ कहा जा सकता है।

इसके अतिरिक्त सैद्धान्तिक स्तर पर यदि अभिनवगुप्त और क्लीन्थ ब्रुक्स के विचारों की तुलना करें तो यही निष्कर्ष निकलता है कि दोनों ही ओर काव्यानुभूति को कवि-काव्य-सहृदय तीनों तत्त्वों को परिव्याप्त करनेवाला एक अखंड व्यापार माना गया है। अभिनवगुप्त यदि रसानुभूति के स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए प्रमाता की अनुभूति को आधार मानते है तो काव्यगत रस की सत्ता की उपेक्षा नहीं करते। रसानुभूति को वीज, वृक्ष एवं फूल-फल के दृष्टान्त द्वारा स्पष्ट करने का अर्थ ही है—काव्य की सावयव परिकल्पना, जिसे क्लीन्थ ब्रुक्स 'ऑर्गेनिक थियरी' के नाम से प्रस्तुत करते हैं। इस प्रकार पूर्व और पश्चिम दोनों ही चिन्तन-परंपराओं में काव्यानुभूति के स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए काव्यकृति की वस्तुनिष्ठता स्वीकार की गई है और इस दृष्टि से काव्यकृति के वस्तुनिष्ठ विश्लेपण पर वल दिया गया है।

८

काव्य के घटक तत्व

काव्यकृति की स्वनिष्ठता प्रतिपादित हो जाने के उपरान्त यह आवश्यक हो जाता है कि कृति को अपने ही घटक तत्वों की संगति के रूप में देखा जाए। काव्यकृति को स्वायत्त और स्वनिष्ठ मानने पर भी विद्वानों ने अध्ययन के निमित्त उसके घटक तत्वों के विवेचन की आवश्यकता का उल्लेख किया है।

काव्यकृति को पश्चिम के नव्य-समीक्षक[1] बाह्य निरपेक्ष स्वायत्त आवयविक सत्ता मानने के पक्ष में हैं। कविता एक रचनापूर्ण इकाई के रूप में तभी सफल होती है जब उसके विविध तत्व एक आवयविक अन्तस्संबंध में पूर्णतः आबद्ध रहते हैं, यह भी इस प्रकार कि सम्पूर्ण कृति एक आवयविक सत्ता के रूप में भासित हो। पश्चिम की नव्य-समीक्षा में कला संबंधी अवधारणा में एकता के प्राचीन सिद्धान्त का स्थान आवयविक एकता के सिद्धान्त ने ले लिया है। यहाँ तक कि काव्य की जो दो जातिगत विशेषताएँ स्वीकार की गई हैं उनमें से स्वनिष्ठता को उसकी आवयविक प्रकृति पर निर्भर माना जाता है।[2]

टी॰ एम॰ ग्रीन[3] ने भी समस्त सौन्दर्यशास्त्र का अन्तिम मापदण्ड समूर्त और आवयविक एकता से युक्त पूर्ण कलाकृति को माना है। फिर भी यह उन्होंने भी स्वीकार किया है कि विश्लेषण के निमित्त इस सावयविक रचना को हमें छिन्न भिन्न करना पड़ता है और इस प्रकार हम उसके जीवित संगठित रूप की हिंसा करते हैं।

ठीक यही बात अभिनवगुप्त ने काव्य की अखंडता का समर्थन करते हुए कही थी कि अखंड बुद्धि से आस्वाद्य होने पर भी अपोद्धार बुद्धि से काव्य का विभाजन किया जाता है।[4]

पश्चिम में घटक तत्वों के रूप में कन्टेन्ट और फार्म का विवेचन किया जाता रहा है। 'कन्टेन्ट' के लिए मैटर शब्द का प्रयोग भी प्रायः किया गया है और अधुनातन समीक्षा में भारतीय मत के समान ही फॉर्म और मीनिंग (अर्थ) पर बल दिया जाता है। आधुनिक समीक्षकों ने 'मीनिंग' को घटक ही नहीं माना बल्कि मूल्य (वेल्यू) के साथ उसका संबंध जोड़ते हुए उसे 'मूल्य' का पर्याय स्वीकार किया है।

---

[1] एलीसिओ वाइवास : क्रिएशन एण्ड डिस्कवरी, पृ० ७६-७७

[2] वही, पृ० ७८

[3] द आर्ट्स एण्ड द आर्ट क्रिटिसिज्म, पृ० १२६

[4] ध्वन्यालोक-लोचन, पृ० २३

भारतीय काव्यशास्त्र में काव्य के घटक तत्त्वों के रूप में शब्द और अर्थ का विवेचन ही व्यापक रूप से किया गया है।

शब्द और अर्थ का 'साहित्य'

पाश्चात्य काव्यशास्त्र में काव्यकृति का स्वरूप जिस प्रकार वस्तु (कंटेंट) और रूप (फ़ॉर्म) जैसे दो काव्य-घटकों के द्वारा निरूपित किया गया है, उसी प्रकार संस्कृत काव्यशास्त्र में शब्द और अर्थ के माध्यम से काव्य की परिभाषा की गई है। पाश्चात्य काव्य-चिन्तन में गृहीत 'वस्तु' और 'रूप' मूलतः चित्रकला की विवेचना में प्रचलित थे, जो कालक्रम से संपूर्ण ललित कलाओं के विवेचन के लिए स्वीकृत हो गए। यद्यपि नव्य-समीक्षा में वस्तु-रूप संज्ञक शब्दावली को छोड़कर काव्य की परिभाषा नए सिरे से 'शाब्दिक निर्मिति' (वर्बल आर्टिफ़ेक्ट) के रूप में की जाने लगी है, फिर भी किसी-न-किसी रूप में वस्तु-रूप-संबंधी अवधारणा परंपरागत आग्रह के कारण पाश्चात्य काव्य-चिन्तन में अब भी अवशिष्ट है। भारत में काव्यशास्त्र का उदय **'व्याकरणस्य पुच्छम्'** के रूप में हुआ, इसलिए आरंभ से ही काव्य की परिभाषा शब्द और अर्थ के घटकों द्वारा संपन्न हुई और रस-सिद्धान्त के प्रतिष्ठित हो जाने पर भी काव्य के मूल घटक शब्द और अर्थ ही रहे। रसध्वनिवादी मम्मट ने काव्य की परिभाषा शब्दार्थ के युगलत्व के रूप में ही की।[1]

मम्मट की इस परिभाषा पर, यद्यपि यह आक्षेप किया गया है कि उन्होंने काव्यात्मा के रूप में प्रसिद्ध रस का उल्लेख इस परिभाषा में नहीं किया है, तथापि जैसा कि प्रो० ग० त्र्यं० देशपाण्डे ने युक्तिसंगत ढंग से इस आक्षेप का निराकरण करते हुए कहा है कि : "उनका स्पष्ट रूप से कथन है कि शब्दार्थों को यदि काव्य की संज्ञा देनी है तो उन्हें 'व्यंग्य-व्यंजनक्षम' शब्दार्थ होने चाहिए। स्पष्ट रूप से विदित होता है कि 'अर्थ' शब्द से उनका अभिप्राय 'व्यंग्यार्थ' से है एवं व्यंग्य का सर्वश्रेष्ठ भेद रस ही है। इसके अतिरिक्त अपने ग्रंथ की रचना उन्होंने जिस प्रकार की है, उस प्रकार की ओर ध्यान देने से 'अर्थ' शब्द के प्रयोग में उनका अभिप्राय रस से ही है, इस विषय में तनिक भी आशंका नहीं रहती।"[2]

तात्पर्य यह कि रस-सिद्धान्त के अनुसार काव्यकृति मूलतः शब्दार्थ का साहित्य है। शब्द और अर्थ के सहित-भाव के रूप में काव्य की परिभाषा काव्यशास्त्र में रस-सिद्धान्त की प्रतिष्ठा से पूर्व अलंकारवादी आचार्यों द्वारा ही प्रचलित हो चली थी, किन्तु रसवादी आचार्यों की यह विशेषता है कि उन्होंने परंपरा से प्राप्त इस परिभाषा को विकसित शब्दार्थ-विचार के उच्चस्तर पर समुचित अर्थवत्ता प्रदान की। भामह प्रथम आलंकारिक हैं जिन्होंने काव्य को **'शब्दार्थौ सहितौ'** कहकर परिभाषित किया।[3] उन्होंने शब्दार्थों के सहित भाव के रूप में काव्य को परिभाषित करके अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कार्य किया, क्योंकि यह सर्वविदित है कि काव्य शब्दों से रचा जाता है और काव्यगत शब्द अर्थपूर्ण होते हैं। यहाँ तक तो कोई

---

[1] **तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि।** काव्यप्रकाश, १।४, पृ० १९

[2] **भारतीय साहित्यशास्त्र, पृ० १३१-३२**

[3] **काव्यालंकार, १।१६**

कठिनाई नहीं है। किन्तु इसके बाद प्रश्न उठता है—काव्यगत शब्द और अर्थ के बीच संबंध का, और यहीं से कठिनाई का आरंभ होता है। भामह के सम्मुख शब्द और अर्थ का संबंध निरूपित करने के लिए अलंकार थे जिनमें से कुछ शब्दालंकार थे और कुछ अर्थालंकार। उन्होंने स्वभावतः अर्थालंकार को उत्तम समझकर उन्हीं के रूप में शब्दार्थों के सहित भाव का निरूपित किया। किन्तु काव्यशास्त्र के परवर्ती इतिहास से पता चलता है कि भामह के बाद आनेवाले आचार्य भामह के समाधान से पूरी तरह संतुष्ट नहीं हुए। इसलिए काव्यशास्त्र में शब्दार्थों के साहित्य का स्वरूप निश्चित करने के लिए प्रत्येक आचार्य ने अपने ढंग से प्रयास किया। वामन ने पुनः यह प्रश्न उठाया कि क्या सामान्य शब्द और अर्थ काव्य हैं? और इस प्रश्न का उत्तर ढूँढ़ते हुए वे सौन्दर्य तक पहुँचे। अन्ततः इस प्रश्न को सबसे सार्थक ढंग से कुन्तक ने उठाया और उसका समाधान प्रस्तुत करते हुए तत्संबंधी चिन्तन को ऐसे बिन्दु पर पहुँचा दिया जहाँ से रस ध्वनिवादी आचार्यों को अन्तिम समाधान प्राप्त करने में सुविधा हुई।

कुन्तक ने यह प्रश्न उठाया है कि शब्द और अर्थ तो सदा साथ साथ ही ज्ञान में स्फुरित होते हैं इसलिए 'सहितौ' इस पद से आप कौन-सी नई बात प्रतिपादित कर रहे हैं?[1] उत्तर है कि शब्द और अर्थ के वाच्य वाचक रूप नित्य संबंध को लेकर साहित्य नहीं कहा गया है।[2] क्योंकि यह तो ठीक है कि शब्दार्थों का वाच्य-वाचक सहभाव सर्वत्र होता है किन्तु यह भी सत्य है कि इस सहभाव का परमार्थ काव्य मार्ग में ही पाया जाता है।[3] आगे इस परमार्थ काव्य मार्ग की व्याख्या करते हुए कुन्तक कहते हैं कि काव्य में रमणीयता की दृष्टि से शब्दार्थों की अन्यून एवं अनतिरिक्त अवस्थिति होती है।[4] रमणीयता बढ़ाने के लिए काव्य में शब्द और अर्थ के बीच परस्पर स्पर्धा चलती है जिसमें दोनों में से किसी भी एक में न्यूनत्व अर्थात् अपकर्ष नहीं है और न अतिरिक्तत्व अर्थात् उत्कर्ष ही है।[5] इस स्पर्धा के द्वारा शब्द और अर्थ काव्य में परस्पर साम्य-सुभगावस्थान प्राप्त करते हैं और यह परस्पर साम्य ही शब्द और अर्थ का सहभाव है इसी से काव्य में सुगमता, रमणीयता, आह्लाद आदि की सृष्टि होती है।[6] इस प्रकार कुन्तक ने शब्द और अर्थ के संबंध को वाच्य वाचक संबंध से भिन्न ऐसे विशेष संबंध के रूप में निरूपित किया जिसमें शब्द और अर्थ के बीच

---

१ शब्दार्थौ सहितावेव प्रतीतौ स्फुरतः सदा।
सहिताविति तावत्र किमपूर्वं विधीयते॥ वक्रोक्तिजीवितम् १।१६

२ किन्तु न वाच्यवाचकलक्षणशाश्वतसंबंधनिबंधनं वस्तुतः साहित्यमुच्यते।
हिन्दी वक्रोक्तिजीवित पृ० ५६

३ वाच्योऽर्थो वाचकः शब्दः प्रसिद्धमपि यद्यपि।
तथापि काव्यमार्गेऽस्मिन् परमार्थोऽयमेतयोः॥ वही १।१८

४ साहित्यमनयोः शोभाशालितां प्रति काप्यसौ।
अन्यूनानतिरिक्तत्वमनोहारिण्यवस्थितिः। वही १।१७

५ अन्यूनानतिरिक्तत्वमनोहारिणी, परस्परस्पर्धित्वरमणीया। यस्यां द्वयोरेकतरस्यापि न्यूनत्वनिकर्षो न विद्यते नाप्यतिरिक्तत्वमुत्कर्षो वास्तीत्यर्थः। वही पृ० ६०

६ तस्मात् स्पर्धित्वेन याऽसाववस्थितिः परस्परसाम्यसुभगमवस्थानं सा साहित्यमुच्यते।
वही पृ० ६१

रमणीयता की सृष्टि के लिए परस्पर स्पर्धा होती है और उस स्पर्धा की परिणति 'साम्य' की स्थिति में होती है और इस स्थिति का ही दूसरा नाम सहभाव या साहित्य है। इस प्रकार कुन्तक का निष्कर्ष यह है कि शब्द और अर्थ दोनों का 'संमिलित' रूप ही काव्य है।[१]

शब्द और अर्थ के सहभाव का प्रतिपादन राजशेखर ने भी किया है। उनके अनुसार शब्द और अर्थ के यथावत् सहभाव से विद्या निर्मित होती है, वह साहित्यविद्या है।[२] भोज ने भामह को उद्धृत करते हुए स्पष्ट शब्दों में काव्य को शब्दार्थ-साहित्य के रूप में परिभाषित किया है,[३] यही नही बल्कि उन्होंने पहले यह प्रश्न उठाते हुए उत्तर दिया है कि 'साहित्य क्या है ?' जो शब्दार्थ का संबंध है, और वह बारह प्रकार का होता है।[४] डॉ० राघवन के अनुसार 'श्रृंगारप्रकाश' से पूर्णतः परिचित रत्नेश्वर 'सरस्वतीकण्ठाभरण' के एक छंद पर टीका करते हुए कहते है कि : "साहित्य शब्द और अर्थ का सबंध है। वहाँ शब्द क्या है, इस अपेक्षा से इसके ध्वनि इत्यादि विभाग किए जाते हैं, और अर्थ तो लोक तथा शास्त्र में स्तम्भ-कुम्भ आदि लक्षण से प्रसिद्ध ही है। संबंध कोई अनादि है। काव्य में तो यह सबंध सर्वस्वायमान है।"[५] इस प्रकार रत्नेश्वर ने भोज के शब्दार्थ संबंधी मत को और भी स्पष्ट किया है।

किन्तु शब्दार्थ-संबंध पर विचार करते हुए रसवादी भोज ने इससे भी आगे बढ़कर ध्वनि और तात्पर्य दोनो का समन्वय करते हुए पदार्थ-वाक्यार्थ सबध के आधार पर भाव और रस के बीच तद्वत् संबंध स्थापित किया।[६] शारदातनय ने भोज का अनुसरण करते हुए कहा है कि : "रस का यह वाक्यार्थ शब्द और अर्थ के संबंध से प्राप्त होता है।"[७]

भोज ने कुन्तक के शब्दार्थ-साम्य सिद्धान्त के ढंग की बात 'संमितत्त्व' गुण के अन्तर्गत करते हुए कहा है कि : "जिस प्रकार तुला के दोनों पलड़े संतुलन की स्थिति में सम होते है, उसी प्रकार काव्य मे शब्द अर्थ के समकक्ष संमितत्त्व प्राप्त करता है और पक्षान्तर मे अर्थ शब्द का संमितत्त्व ढूंढता है।[८] इसकी व्याख्या करते हुए रत्नेश्वर कहते है कि : "अर्थस्य

---

१ तेन शब्दार्थौ द्वौ सम्मिलितौ काव्यमिति स्थितम्। हिन्दी वक्रोक्तिजीवित, पृ० २५

२ शब्दार्थयोर्यथावत् सहभावेन विद्या साहित्यविद्या। काव्यमीमांसा, पृ० १२

३ तत् (काव्यं) पुनः शब्दार्थयोः साहित्यमामनन्ति। तद्यथा—'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्' इति। श्रृंगारप्रकाश, पृ० ८७ पर डॉ० राघवन द्वारा उद्धृत

४ किं साहित्यम् ? यः शब्दार्थयोः संबंधः। स च द्वादशधा वही

५ साहित्यं च शब्दार्थयोः संबंधः। तत्र शब्द एव क इत्यपेक्षायामयं विभागो ध्वनिरित्यादि। अर्थस्तु स्तम्भकुम्भादिलक्षणः लोके शास्त्रे च प्रसिद्धः। संबंधः कश्चिदनादिः। सर्वस्वायमानस्तु संबंधः नान्यत्रेति अस्मिन्नायतते। वही, पृ० ८८

६ किन्तु अन्यपरतया ते (विभावादयः) उपादीयमानाः तत्रैव न्यग्भवन्ति। न वाक्यार्थप्रतिपत्तौ पदार्थाः पृथक् स्फुरन्तीति। वही, पृ० ९१

७ काव्यादिबन्धबद्धस्य रसस्य स्थायिनोऽपि च।
वाक्यार्थत्वं च शब्दार्थसम्बन्धादवगम्यते॥ भावप्रकाशन, पृ० १४५

८ (क) अत्र अर्थस्य पदानां च तुलाविधृतवत् तुल्यत्वेन संमितत्वम्।
सरस्वतीकण्ठाभरण, पृ० ५८

(ख) शब्दार्थौ यत्र तुल्यौ स्तः संमितत्वं तदुच्यते। वही, १।८६

विभज्य तुलाधृतवत् प्रतिनिवेश समितत्वमिति । अर्थमुद्दिश्य शब्दतुलन काव्यभावबोज शब्दगुण, शब्दमुद्दिश्यत्वर्थतुलनमर्थगुणश्च ।"[१]

इस प्रकार तुला की उपमा से शब्द और अर्थ के तुल्य-संबंध पर एक अन्य कोण से प्रकाश पड़ता है।

रसवादी आचार्यों में भट्टनायक ने भी शब्दार्थ-संबंध पर विचार करते हुए कहा है कि 'शास्त्र शब्दप्रधान होता है और आख्यान अर्थप्रधान, किन्तु काव्य में दोनों गुणत्व में निहित व्यापार का प्राधान्य होता है।"[२]

संस्कृत काव्य-परंपरा में शब्द और अर्थ के सहभाव संबंधी मान्यता का इतना प्रचार था कि शास्त्र के अतिरिक्त काव्य में भी रससिद्ध कवियों ने इसकी पुष्टि की है। कालिदास ने वाक् और अर्थ को पार्वती और परमेश्वर के सदृश मानते हुए उन दोनों के संबंध के समान ही वाक् और अर्थ की प्रतिपत्ति की आकांक्षा व्यक्त की है।[३] अर्धनारीश्वर की यह कल्पना परवर्ती कवियों में इतनी प्रिय हुई कि एकाधिक कवियों ने कविकुलगुरु का अनुसरण करते हुए शब्दार्थ के साहित्य—काव्य की उपमा अर्धनारीश्वर से दी। विद्याधर ने 'एकावली' में यदि यह कहा कि

"सम्भोऽर्धनारीश्वर श्लाघालङ्घनजाड्यक ।"

तो नीलकण्ठ दीक्षित ने 'शिवलीलार्णव' में

"सत्य वपु शब्दमय पुरारेरर्थात्मक दक्षिणमामनन्ति ।
यद्भ जगन्मङ्गलमैश्वर तद् अर्हन्ति काव्य स्यमलपुण्या ।"[४]

कहकर काव्य की सार्थकता प्रतिपादित की।

कवि आचार्य माघ ने इसी बात को अपनी शास्त्रीय शैली में इस प्रकार कहा है कि "सत्कवि के समान विद्वान् शब्द और अर्थ दोनों की अपेक्षा करते हैं।"[५]

उपर्युक्त प्रमाणों से सिद्ध है कि रससिद्ध कवि तथा रस सिद्धान्त के समर्थक आचार्य सभी काव्य में शब्द और अर्थ के परस्पर सहभाव को स्वीकार करते थे और इस सहभाव की विशिष्टता को अपने-अपने ढंग से निरूपित करने का प्रयास करते थे।

जो शब्द और अर्थ दोनों के स्थान पर दो में से केवल एक तत्त्व 'शब्द' को ही काव्य मानते थे, वे भी अर्थ की सर्वथा उपेक्षा करने के बदले शब्द में ही अर्थ का भी समावेश कर लेते थे। उदाहरण के लिए पण्डितराज जगन्नाथ केवल शब्द को ही काव्य मानते थे किन्तु उनका शब्द रमणीयार्थ का प्रतिपादक था। अपने मत की पुष्टि के लिए पंडितराज ने अत्यन्त सबल युक्तियाँ दी हैं और उन्होंने तर्कबल से शब्दार्थ-द्वैत के स्थान

---

१ डॉ० राघवन द्वारा 'भोज का शृंगारप्रकाश', पृ० १०२ पर उद्धृत।

२ शब्दप्राधान्यमाश्रित्य तत्र शास्त्र पृथग्विदु ।
अर्थतत्त्वेन युक्त तु वदन्त्याख्यानमेतयो ॥
द्वयोर्गुणत्वे व्यापारप्राधान्ये काव्यधीर्भवेत् ॥ ध्वन्यालोक लोचन, पृ० ८६ पर उद्धृत

३ वागर्थाविव सम्पृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये ।
जगत पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ ॥ रघुवंश, १।१

४ शिवलीलार्णव, १।१५

५ शिशुपालवध, २।८६

पर शब्द-अद्वैत की प्रतिष्ठा की है।[1] पंडितराज की इस मान्यता के पीछे श्रुति का प्रमाण तो था ही, वैयाकरणों का शब्द-ब्रह्म सिद्धान्त भी कहीं-न-कहीं अवश्य विद्यमान था। भर्तृहरि के 'वाक्यदीप' के अनुसार शब्द ब्रह्म है और अर्थ शब्द का विवर्त है। यदि व्याकरणदर्शन के इस कथन को स्वीकार करें तो ब्रह्म के समान केवल शब्द ही सत् है और तदनुसार शब्द को ही काव्य मानना संगत है।

पंडितराज जगन्नाथ का यह मत पश्चिम के कतिपय रूपवादी विचारकों की उस धारणा का स्मरण करा देता है जो अपनी 'रूप' संबंधी धारणा को व्यापक बनाकर उसी के अन्तर्गत 'वस्तु तत्त्व' का भी समावेश करते हुए रूप-मात्र को ही कला मानने का आग्रह करते हैं।

निष्कर्ष यह कि जिस प्रकार पश्चिम में वस्तु-रूप संज्ञक द्विविध घटकों के माध्यम से कलाकृति के स्वरूप का विश्लेषण करते हुए अन्ततः दोनों के समन्वित रूप 'आवयविक रूप' (ऑर्गेनिक फ़ॉर्म) की प्रतिष्ठा हुई, उसी प्रकार संस्कृत काव्यशास्त्र में शब्दार्थ के सहभाव के रूप में काव्य की परिभाषा निश्चित की गई।

वस्तु और रूप की अन्विति

जिस प्रकार संस्कृत काव्य-शास्त्र में काव्य को शब्द और अर्थ के 'साहित्य' के रूप में परिभाषित करने का प्रयास हुआ है, उसी प्रकार पाश्चात्य सौन्दर्यशास्त्र और साहित्य-शास्त्र में अन्य कलाओं की तरह साहित्य की भी व्याख्या वस्तु (कन्टेन्ट) और रूप (फ़ॉर्म) के संयोग के रूप में की गई है। वस्तु और रूप कलाकृति की स्वरूप-व्याख्या की आधार-भूत अवधारणाएँ है, फलस्वरूप क्रमशः वस्तु और रूप की परिभाषाओं एवं उनके

---

[1] शब्दार्थयुगलं न काव्यशब्दवाच्यम्, मानाभावात्। 'काव्यमुच्चैः पठ्यते', 'काव्यादर्थोऽवगम्यते', 'काव्यं श्रुतमर्थो न ज्ञातः', इत्यादिविश्वजनीनव्यवहारतः प्रत्युत शब्दविशेषस्यैव काव्यपदार्थत्वप्रतिपत्तेश्च। व्यवहारः शब्दमात्रे लक्षणयोपपादनीय इति चेत्, स्यादप्येवम्, यदि काव्यपदार्थतया पराभिमते शब्दार्थयुगले काव्यशब्दशक्तेः प्रमापकंदृढतरं किमपि प्रमाणं स्यात्। तदेव तु न पश्यामः। विमतवाक्यं त्वश्रद्धेयमेव। इत्थं चासति काव्यशब्दस्य शब्दार्थयुगलशक्तिग्राहके प्रमाणे प्रागुक्ताद्व्यवहारतः शब्दविशेषे सिद्ध्यन्तीं शक्तिं को नाम निवारयितुमीष्टे। एतेन विनिगमनाऽभावादुभयत्र शक्तिरिति प्रत्युक्तम्। तदेवं शब्दविशेषस्यैव काव्यपदार्थत्वे सिद्धे, तस्यैव लक्षणं वक्तुं युक्तम्, न तु स्वकल्पितस्य काव्यपदार्थस्य। एवं च वेदपुराणादिलक्षणेष्वपि गतिः। अन्यथा तत्रापीयं दुरवस्था स्यात्।

यत्त्वास्वादोद्बोधकत्वमेव काव्यत्वप्रयोजकम्, तच्च शब्दे चार्थे चाविशिष्टमित्याहुः, तन्न, रागस्यापि रसव्यंजकताया ध्वनिकारादिसकलालंकारिकसम्मतत्वेन प्रकृते लक्षणीयत्वापत्तेः। किं बहुना नाट्यांगानां सर्वेषामपि प्रायशस्तथात्वेन तत्त्वापत्तिर्दुर्वारैव। एतेन रसोद्बोधसमर्थस्यैवात्र लक्ष्यत्वमित्यपि परास्तम्।

अपि च काव्यपदप्रवृत्तिनिमित्तं शब्दार्थयोर्व्यासक्तम्? प्रत्येकपर्याप्तं वा? नाद्यः, 'एको न द्वौ' इति व्यवहारस्येव 'श्लोकवाक्यं न काव्यम्' इति व्यवहारस्यापत्तेः। न द्वितीयः, एकस्मिन् काव्ये काव्यद्वयव्यवहारापत्तेः। तस्माद्वेदशास्त्रपुराणलक्षणस्येव काव्यलक्षणस्यापि शब्दनिष्ठतैवोचिता। रसगंगाधर, पृ० १४–१६

पारस्परिक संबंधों का निर्णय करके ही कलाकृति की प्रकृति निर्धारित की जा सकती है। इस संबंध में दो प्रश्न मुख्य रूप से विचारणीय हैं (१) रूप की सीमा, और (२) विषय और रूप का पारस्परिक संबंध। इसी से जुड़ी हुई तीसरी समस्या कलाकार और ग्राहक के मध्य कला की स्थिति की है।

विमसाट ने इस समस्या पर काव्य के संदर्भ में विचार करते हुए कवि, काव्य और ग्राहक के बीच का संबंध निम्नलिखित चित्र से स्पष्ट किया है
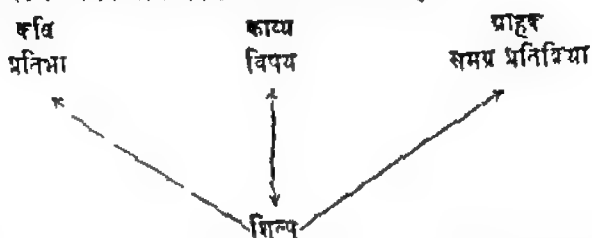
इस चित्र के अनुसार काव्य वस्तु कविता का वह नैसर्गिक अंश है जो शिल्प के कलात्मक माध्यम से कविता का रूप धारण करता है। यह वस्तु रूपमय काव्य कवि प्रतिभा से उत्पन्न होकर ग्राहक की समग्र प्रतिग्राहता में स्थानान्तरित होता है। काव्य उत्पत्ति की दृष्टि से कवि से संबद्ध है और ग्रहणशीलता की दृष्टि से ग्राहक से। इस प्रकार काव्य की स्थिति कवि और ग्राहक दोनों के मध्य निश्चित की जा सकती है। किन्तु जैसा कि कुछ लोग कहते हैं काव्य कवि और ग्राहक के बीच की 'वस्तु' नहीं, बल्कि 'क्रिया-व्यापार' है—एक ऐसा वाग्व्यापार जो कवि से ग्राहक तक प्रवहमान रहता है।

पाश्चात्य सौन्दर्यशास्त्र के इतिहास में 'रूप' की सीमा को लेकर सबसे अधिक खींचतान हुई है इसलिए सर्वप्रथम रूप पर विचार करना ही समीचीन होगा। अरस्तू ने अपने काव्यशास्त्र में रूप के लिए जिन शब्दों का प्रयोग किया है उन्हें अंग्रेजी में क्रमशः 'मीडियम' और 'मैनर' कहा जाता है। 'मीडियम' के अन्तर्गत शब्दावली और संगीत का समावेश है तो 'मैनर' के अन्तर्गत 'दृश्य' का। इससे इतना तो स्पष्ट है कि अरस्तू द्वारा निरूपित 'रूप बोधक' शब्द संपूर्ण कलाकृति के पर्याय नहीं हैं किन्तु वह अवधारणा निश्चित रूप से रूप की मध्ययुगीन मान्यता से कहीं व्यापक थी। मध्ययुग में 'रूप' का अर्थ-संकोच हो गया और उसका अर्थ शैली का शिल्प मात्र रह गया। इसके अतिरिक्त कलाकृति का सन्देश कथ्य या वक्तव्य आदि जो शेष रहता है, वह सब 'वस्तु' के अन्तर्गत मान लिया गया। एक ओर रूप संबंधी यह सर्वाधिक संकुचित परिभाषा है और दूसरी ओर आधुनिक अभिव्यंजनावादी परिभाषा है जिसके अनुसार 'रूप' इतना व्यापक है कि वह संपूर्ण कलाकृति का पर्याय मान लिया जाता है। यहाँ तक कि रूप में अनेक वस्तुगत विशेषताओं का भी समावेश कर लिया जाता है। रूप संबंधी सामान्य धारणा इन दो अतिवादों के बीच अवस्थित है।

रोमाण्टिक कवियों और चिन्तकों ने जब से 'सावयव रूप' (आर्गेनिक फॉर्म) का सिद्धान्त प्रवर्तित किया 'वस्तु' और 'रूप' का यान्त्रिक विभाजन समाप्त हो गया और दोनों के अगाधि संबंध की धारणा का सूत्रपात हुआ। एक प्रकार से वस्तु और रूप के द्वन्द्वात्मक संबंध की आधुनिक मान्यता का विकास भी रोमाण्टिक कला सिद्धान्त से ही संभव हुआ।

इस मान्यता के अनुसार वस्तु रूप के साथ इस प्रकार अविच्छेद्य रीति से संपृक्त होती है कि रूप को क्षति पहुँचाए बिना संपूर्ण वस्तु को किसी वक्तव्य के रूप में निकाल लेना सदैव संभव नही है। जैसा कि विमसाट ने 'साहित्य-समीक्षा : एक संक्षिप्त इतिहास' में संपूर्ण विवेचन का उपसंहार करते हुए वस्तु-रूप संबंध पर नव्य-समीक्षा का सामान्य स्वीकृत मत प्रस्तुत करते हुए कहा है : " 'रूप' वस्तुतः 'सन्देश' को इस प्रकार परिव्याप्त एवं अनुप्रविष्ट करता है कि उसके अन्तर्गत अमूर्त सन्देश अथवा सहज-विच्छेद्य अलंकरण से कही गहनतर और तात्त्विक अर्थ का ग्रहण होता है। वैसे तो अमूर्त वैज्ञानिक एवं व्यावहारिक आलकारिक दोनों आयामो मे सन्देश तथा सन्देशवाहक साधन दोनों ही स्थित रहते हैं, किन्तु काव्यात्मक आयाम वह नाटकीयतापूर्वक एकान्वित अर्थ है, जिसकी चरम परिणति उसी विन्दु पर होती है, जहाँ रूप की।"[1]

कलाकृति में रूप और वस्तु के इस पारस्परिक संबंध के विषय में एक आधारभूत प्रश्न यह है कि क्या किसी पूर्ण कलाकृति में इस प्रकार का श्रेणी-विभाजन संभव या अनिवार्य है ? और यदि है, तो इस प्रकार के विभाजन की कोई उपयोगिता या औचित्य है अथवा नही। पश्चिम के सौन्दर्यशास्त्र में इस प्रश्न के उत्तर अनेक रूपों में दिए गए है। कभी कलाकृति में इस प्रकार का विभाजन कर वस्तु और रूप दोनों के महत्त्व पर समतुल्य वल दिया गया, तो कभी कलाकृति को रूप-मात्र कहकर वस्तु को नकार दिया गया। किसी संपूर्ण कलाकृति के 'वस्तु' और 'रूप' जैसे दो भागो में विभाजन की उपयोगिता पर भी विद्वानों ने प्रश्न-चिह्न लगाया है। उनका कथन है कि इस प्रकार का विभाजन शिक्षा के निमित्त तो उपयोगी हो सकता है, परन्तु कलाकृति के आस्वाद के निमित्त कृति को विभाजित करना न संभव है और न उपयोगी। विश्लेषण-व्याख्या के निमित्त यह शिक्षक का साधन हो सकता है, आस्वाद के लिए ग्राहक या आलोचक का नही।

इस आपत्ति को कुछ ही दूर तक स्वीकार किया जा सकता हे। कलाकृति की स्पष्ट व्याख्या के लिए इस प्रकार के विभाजन की अपनी उपयोगिता है, जिससे पूरी तरह इन्कार नही किया जा सकता। इसके अतिरिक्त जहाँ तक ग्राहक या आलोचक का प्रश्न है, यह तो निर्विवाद हो सकता है कि वह कलाकृति का आस्वाद समग्र और पूर्ण रूप में करता है, 'वस्तु' और 'रूप' में विभक्त खंडों में नही। परन्तु उस आस्वाद के व्याख्या-विश्लेषण के लिए किसी-न-किसी प्रकार के विभाजन का आश्रय लेना उसके लिए उपयोगी होगा।

इस विभाजन के विरुद्ध दूसरा तर्क यह दिया जाता है कि कलाकृति में 'वस्तु' और 'रूप' अन्योन्याश्रित और अविभाज्य रूप से संयुक्त रहते है, इसलिए एक के अभाव मे दूसरे

---

[1] 'form' in fact embraces and penetrates 'message' in a way that constitutes a deeper and more substantial meaning than either abstract message or separable ornament. In both the scientific or abstract dimension and in the practical or rhetorical dimension there is both message and the means of conveying message, but the poetic dimension is just that dramatically unified meaning which is coterminous with form. *Literary Criticism : A Short History*, p. 748.

का अस्तित्व नहीं जाना जा सकता। वस्तुतः यह कहना कि वे परस्पर निर्भर और अविभाज्य होते हैं, एक प्रकार का विरोधाभास है, क्योंकि परस्पर-निर्भरता ही द्वैत की सूचक है। दोनों में पृथक्ता जाने बिना यह कैसे कहा जा सकता है कि कौन किस पर और कितना निर्भर है?

कलाकृति में इस प्रकार के विभाजन-विरोध का दूसरा रूप उसकी अखंड सत्ता की स्थापना में व्यक्त हुआ। पश्चिम में कलाकृति को रूप-मात्र मानने की प्रवृत्ति रूपवादी आलोचकों में अत्यंत प्रबल रही। क्लाइव बेल ने कलाकृति में 'सार्थक रूप' की प्रतिष्ठा करते हुए कहा

"रेखाओं और रंगों का एक विशेष विधि में योग, विशिष्ट रूप और रूपगत संबंध हमारे सौन्दर्यपरक संवेगों को चंचल कर देते हैं। रेखाओं और रंगों के इन संयोगों और संबंधों को, सौन्दर्यपरक रीति से सस्वर इन रूपों को मैं 'सार्थक रूप' कहता हूँ। और 'सार्थक रूप' समस्त चाक्षुष् कलाओं की सामान्य विशेषता है।"[1]

क्लाइव बेल ने आगे चलकर और भी स्पष्ट रूप से कहा है कि "सौन्दर्यानुभूति के लिए महत्त्वपूर्ण केवल यही रूप है, और कलाकृति में निरूपित तत्त्व हानिकर भले ही न हो, अप्रासंगिक अवश्य होता है। क्योंकि किसी कलाकृति के आस्वाद के लिए जीवन-संबंधी संवेगों और अनुभवों की कोई आवश्यकता नहीं होती। अनिवार्य होता है केवल रूप और रंग का बोध, और तीन आयामों वाले दिक् का ज्ञान।"[2]

क्लाइव बेल की रूप संबंधी इस स्थापना में ध्यान देने की पहली बात यह है कि उन्होंने 'सार्थक रूप' की प्रतिष्ठा 'चाक्षुष' कलाओं के संदर्भ में की, जिनमें स्वभावतः संगीत और साहित्य नहीं आते। यह भी सर्वविदित है कि क्लाइव बेल ने सिद्धांत निरूपण मुख्यतः चित्रकला के संदर्भ में किया। यहाँ भी उनका यह कथन कि कलाकृति में कथ्य या वस्तु महत्त्वपूर्ण न होकर केवल रंग-रेखाओं की संयोजनाएँ ही महत्त्वपूर्ण होती हैं, अधिक-से-अधिक 'आधुनिक कला' पर लागू किया जा सकता है, 'क्लासिकी' शैली की कलाकृतियों पर नहीं। यों भी बेल की रूप संबंधी अवधारणा अत्यंत व्यापक थी। उसमें उन्होंने ऐन्द्रिय विशेषता का भी अन्तर्भाव कर लिया। वे रंगों के संबंधों और विशेषताओं को रंगों से पृथक् नहीं करते।

बेल की रूप संबंधी मान्यता में सबसे महत्त्वपूर्ण शब्द 'सार्थक' (सिग्निफिकेन्ट) है, जिसे वे रूप का विशेषण मानते हैं। 'सार्थक' से बेल का अभिप्राय ठीक-ठीक क्या है, यह बहुत स्पष्ट नहीं है। मेल्विन रेडर के अनुसार कलाकार में अभिव्यक्त संवेग ही बेल की दृष्टि में रूप को 'सार्थक' बनाते हैं।[3] किन्तु स्पार्शाट[4] ने रेडर की इस व्याख्या को पूर्णतः अमान्य सिद्ध करते हुए कहा है कि उन्होंने 'सार्थक' शब्द का प्रयोग लगभग निरर्थक

---

[1] आर्ट, पृ० ६
[2] वही, पृ० २५
[3] ए माडर्न बुक ऑफ एस्थेटिक्स, पृ० ३३०
[4] द स्ट्रक्चर ऑफ एस्थेटिक्स, पृ० ३४१

के विलोम-अर्थ में किया है, क्योंकि वे संवेगादि को सौन्दर्यशास्त्र से बाह्य तत्त्व-मीमांसा के अन्तर्गत मानते है। इसलिए रूपवादी वेल द्वारा 'सार्थक रूप' के अन्तर्गत संवेगों के समावेश का प्रश्न ही नही उठता। इसके अतिरिक्त जैसा कि आर्नहाइम[१] ने कहा है, वेल की सबसे बड़ी दुर्बलता यह है कि उनकी रूप की व्याख्या प्रायः सदैव वस्तु की स्वीकृति पर निर्भर है, जिसकी उपेक्षा किसी भी दर्शक के लिए असंभव है। कदाचित् इसीलिए वेल ने दवे स्वर से एक स्थान पर कला में प्रतिदर्शन की प्रासंगिकता स्वीकार करते हुए कहा है कि : "यदि तीन आयामों वाले दिक् का प्रतिदर्शन, 'प्रतिदर्शन' कहा जा सकता है तो मै मानता हूँ कि कम-से-कम एक प्रकार का प्रतिदर्शन ऐसा है, जो अप्रासगिक नही है।"[२] कला में प्रतिदर्शन का सर्वथा निषेध करनेवाले वेल भी जब कम-से-कम एक प्रकार के प्रतिदर्शन को प्रासंगिक मानने के लिए बाध्य हो जाते है, तो कलाकृति में वस्तु की सत्ता, गौण रूप में ही सही, प्रमाणित हो जाती है। रोजर फ़ाइ, जो सामान्यतः क्लाइव वेल के रूप-विषयक चरम आग्रह को कम करने का प्रयास करते हैं, वे भी एक स्थान पर उनसे भी अधिक ऐकान्तिक आग्रह का परिचय देते हुए एक प्रसंग में कहते है कि : "सभी स्थितियों मे कलाकृतियों के संदर्भ में हमारी प्रतिक्रिया एक संबंध के प्रति होती है, संवेदनों, वस्तुओं, व्यक्तियों या घटनाओं के प्रति नही।"[३]

स्पष्ट ही रोजर फ़ाइ ने कलाकृति के प्रभाव से वस्तु-तत्त्व को पूर्णतः बहिष्कृत कर दिया। सौन्दर्यानुभूति के लिए वे वस्तु-तत्त्व की प्रयोजनीयता को अस्वीकार करते हुए 'विशुद्ध रूप' का महत्त्व-प्रतिपादन करते है। सन् १९१३ में जी० लाओस डिकिन्सन को एक पत्र में कविता के संबंध में रोजर फ़ाइ ने लिखा :

"मैं जानना चाहता हूँ कि वस्तु का प्रयोजन क्या है, और मै इस सिद्धान्त का विकास कर रहा हूँ······कि यह केवल रूप का निदेशक है तथा समस्त अनिवार्य सौन्दर्यपरक विशेषताओं का संबंध विशुद्ध रूप से है। समग्र संश्लिष्ट अनुभूतियों में से इसी विशिष्ट अनुभूति का विश्लेषण कर पाना भयंकर रूप से कठिन है, परन्तु मेरे विचार से कविता जैसे-जैसे अधिक सघन होती जाती है, उसी अनुपात में रूप के द्वारा वस्तु का पुनर्निमाण होता है और उसका पृथक् रूप से कोई मूल्य नही रहता।"[४]

फ़ाइ की इस स्थापना में 'विशुद्ध रूप' और 'एक विशिष्ट अनुभूति' का समीकरण ध्यान देने योग्य है। क्योंकि यही बात उनसे बहुत पहले अधिक विस्तार और सतर्कता के साथ वाल्टर पेटर १८९४ ई० में कह चुके थे। पेटर के मतानुसार : "सभी कलाएँ निरंतर संगीत की स्थिति की आकांक्षा करती है। क्योकि जहाँ कला के अन्य सभी प्रकारों में रूप से वस्तु को अलग करना संभव होता है और हमारी समझ सदा यह भेद कर सकती है, कला का सतत प्रयास इस भेद को मिटाने की ओर होता है। कविता की सामग्री यानी—उसका विषय, प्रस्तुत घटनाएँ और स्थितियाँ अथवा किसी चित्र की सामग्री—घटना विशेष

---

१ आर्ट एण्ड विजुअल पर्सेप्शन, पृ० २६

२ आर्ट, पृ० २७

३ ट्रान्सफ़ॉर्मेशन्स, पृ० ४

४ वर्जीनिया वुल्फ : रोजर फ़ाइ, पृ० १८३

की वास्तविक परिस्थितियाँ किसी प्रकृति चित्र की वास्तविक स्थलाकृति—का रूप के अभाव में कोई अर्थ नहीं होता प्रत्येक कला निरंतर इसी साधना में लीन रहती है कि यह रूप प्रयोग की यह पद्धति स्वयं सिद्धि हो जाए वस्तु के प्रत्येक अंश में यह अनुविद्ध रहे। यही वह लक्ष्य है जिसकी दिशा में सभी कलाएँ निरंतर प्रयत्नशील रहती हैं और मात्रा भेद से उसी को उपलब्ध करती हैं।[1]

रोजर फ्राइ और वाल्टर पेटर दोनों ने शब्द भेद से यह स्वीकार किया है कि कलाकृति में वस्तु और रूप जो मूलतः विभाज्य होते हैं रचना क्रम में अधिकाधिक अभिन्न और एकाकार होने के प्रयास में लीन रहते हैं। किन्तु उनके वक्तव्यों से कुछ ऐसा प्रतीत होता है कि वस्तु और रूप के एकाकार होने की इस प्रक्रिया में वस्तु रूप में विलीन होकर अपनी सत्ता खो देती है। रूप और वस्तु के एकीकरण के नाम पर प्रकारान्तर से यह रूप की प्रधानता प्रतिष्ठित करने का ही प्रयास है।

वस्तु और रूप के मिश्रण की यही बात मारिस वाइट्स ने की है किन्तु उनके कथन में बलाघात अन्यत्र पड़ता है। उनके अनुसार कलाकृति में जो कुछ भी है उस सबको वस्तु और रूप दोनों मिलकर समाहित किए रहते हैं। कलाकृति मांसल माध्यम में व्यक्त सावयव समष्टि है। यह समष्टि अनेक तत्त्वों और व्यंजक विशेषताओं तथा उनसे उत्पन्न होनेवाले संबंधों से निर्मित होती है। इसलिए हम वस्तु और रूप संबंधी समस्त प्रयुक्त अर्थों को त्याज्य समझते हैं क्योंकि एक ओर तो वे कलाकृति की अखंड प्रकृति के साथ पूरा न्याय नहीं करते और दूसरी ओर वे दिग्भ्रान्त सौन्दर्यशास्त्रीय विवादों को जन्म देते हैं।[2]

यद्यपि वाइट्स के कथन से कहीं भी स्पष्ट नहीं होता कि वस्तु और रूप की सावयव समष्टि में वे किसको प्रधान और किसको गौण समझते हैं और न यही स्पष्ट है कि इस समष्टि की प्रक्रिया क्या है? फिर भी फ्राइ और पेटर के मत से वाइट्स का मत इस अर्थ में भिन्न प्रतीत होता है कि उनकी सावयव समष्टि में रूप के साथ ही वस्तुगत तत्त्वों की सत्ता भी सुरक्षित रहती है।

वस्तु-रूप समष्टि की जो प्रक्रिया मारिस वाइट्स के वक्तव्य में अस्पष्ट रह गई है उसका स्पष्ट संकेत एक अन्य कलाशास्त्री—डोनाल्ड टोवे के निम्नलिखित उद्धरण में मिलता है प्रत्येक कला में विषय-सामग्री और रूप के बीच एक अन्तर्विरोध होता है जो उस स्थिति में शमित होता है जब कलाकृति की रचना पूर्णतः सफल होती है। यह सफलता जैसी भी हो कलाकार और आलोचक के मस्तिष्क में वह अन्तर्विरोध इस सीमा तक बराबर बना रहता है कि सामग्री का कुछ भाग शिल्प संबंधी नियम का विशेष विषय प्रतीत होता है जो किसी अन्य नियम के लिए दुर्लभ है। साहित्य और दृश्य कलाओं में विषय और शिल्प के संबंध के बीच यह अन्तर्विरोध न्यूनाधिक रूप में सदैव सुरक्षित रहता है। ये कलाएँ ऐसी वस्तुओं का प्रतिदर्शन करती हैं जिनकी स्वतन्त्र सत्ता पूर्वप्रतिष्ठित होती है इसलिए हम विषय में नवीनता की अपेक्षा स्वयं वस्तुओं में मौलिकता की खोज

---

[1] द रेनेसाँ, पृ० १४०

[2] द फिलासफी आफ द आर्ट्स, पृ० ४४–४७

करते हैं जिससे शिल्प को सफलता प्राप्त होती है। केवल संगीत ही ऐसी कला है, जिसमें हम यह निर्णय नहीं कर पाते कि अनेक पक्षों में से किसे विषय कहें और किसे शिल्प।"[१]

टोवे के इस कथन से संक्षेप में यह निष्कर्ष निकलता है कि कलाकृति में वस्तु और रूप नाम के दो पृथक् तत्त्व होते है, जिनमें से वस्तु-तत्त्व की पूर्व सत्ता होती है। काव्य-सृजन की प्रक्रिया एक अन्तर्विरोधयुक्त तनावपूर्ण स्थिति से आरंभ होती है। रूप में वस्तु जैसे-जैसे रूपान्तरित होती जाती है, यह विरोध क्षीण होता जाता है जिसकी चरम परिणति उक्त विरोध के पूर्णतः शमन में होती है। यह तभी संभव है जब कलाकृति अपने विधान में पूर्णतः निर्दोष हो। यह भी स्पष्ट है कि टोवे संगीत के अतिरिक्त सभी कलाओं में वस्तु और रूप के बीच भेद स्वीकार करते है।

आधुनिक कवि-विचारक स्टीफ़ेन स्पेंडर ने इस संघर्ष-निर्भर प्रक्रिया को और भी स्पष्ट करते हुए कलाकृति मे रूप की अपेक्षा वस्तु का महत्त्व प्रतिपादित किया है। उनके शब्दों में :

"तब हमें प्रतीत हुआ कि रूप नियमों के सही निर्वाह में नही, बल्कि उस संघर्ष में है, जो एक रूपाकार के अन्तर्गत जीवंत सामग्री की उपलब्धि के लिए किया जाता है। उदाहरण के लिए एक पूर्णतः निर्दोष छंद के लिए कवि जब अपने अभिप्रेत का बलिदान करने से इन्कार करता है तो उसे स्वयं निर्दोपता से अधिक छंद की शक्ति का अनुभव होता है। क्योंकि इससे रूपोन्मुख संघर्ष का संकेत मिलता है। इस संघर्ष में गति और दिशा होती है और निस्संदेह इच्छाशक्ति की अभिव्यंजना भी; इसलिए वह एक ऐसे आदर्श रूप का प्रक्षेपण करता है, जिसकी ओर कविता संचरण करती हुई स्वयं उस रूप की सीमा से भी आगे निकल जाती है।"[२]

इस प्रकार वे पूर्वस्थित रूपों को, भले ही वे कितने ही निर्दोप हों, महत्त्वहीन मानते है। साथ ही वे कलाकृति का सच्चा रूप उसे मानते है, जिसका शोध सृजन की प्रक्रिया में कलाकार अपने अभिप्रेत के लिए इच्छा-शक्ति के अनुरूप करता है। पूर्वस्थित नियमबद्ध रूप के सही निर्वाह में सच्ची कला-सृष्टि नहीं होती, बल्कि जीवंत सामग्री की उपलब्धि के लिए 'आदर्श रूप' की खोज में होती है। कवि किसी पूर्वस्थित निर्दोप रूप के लिए अपने अभिप्रेत का बलिदान नहीं करता, बल्कि उसका लक्ष्य अपनी इच्छा-शक्ति की अभिव्यंजना के निमित्त एक ऐसे 'आदर्श रूप' का निर्माण होता है, जिसकी ओर अग्रसर होती हुई कविता स्वयं उस रूप की सीमा का भी अतिक्रमण कर जाए। स्पष्ट ही, स्पेण्डर की दृष्टि में कवि का अभिप्रेत, उसकी इच्छा-शक्ति, एक शब्द में उसका 'कथ्य' रूप से प्रधान होता है।

वस्तु और रूप के मध्य संबंध और परस्पर निर्भरता का प्रश्न बहुत दूर तक कलाओं की प्रकृति और उनके मध्यवर्ती भेद पर निर्भर है। सामान्यतः वस्तु और रूप का पूर्ण अभेद संगीत कला में ही स्वीकार किया जाता है। चित्रकला का सौन्दर्य अधिक रूप-निर्भर

---

[१] हैण्डल ऐज कम्पोजर : एन्साइक्लोपीडिया ब्रिटानिका, ग्यारहवां संस्करण, जिल्द १२, पृ० ६१२–१५

[२] वर्ल्ड विदिन वर्ल्ड, पृ० ३१३-१४

होता है। इसी प्रकार पद्य का सौन्दर्य बहुधा नाद और लय के सौन्दर्य पर निर्भर रहता है परन्तु जैसा कि स्पार्शाट ने कहा है ऐसी लयात्मक पद्य रचना जो अर्थ की दृष्टि से तुच्छ या विरूप हो या तो नगण्य प्रभाव डालती है अथवा प्रभाव शून्य होती है। जब पद्य रचना की इस प्रकार की विशेषताओं की ओर संकेत किया जाता है तो कहने का आशय प्रायः यही होता है कि ध्वनि अनुक्रम विषय के अनुकूल है न कि यह कि वह स्वतन्त्र रूप से सुन्दर है।[1] स्पार्शाट ने तो काव्यकला में भाव और विचार की महत्ता इतनी दूर तक स्वीकार की है कि रूपगत सौन्दर्य के संबंध में उनका कथन है यह निश्चय ही संभव है कि पद्य की अनुमानित समरसता प्रायः विचार की काल्पनिक अनुगूँज के अतिरिक्त कुछ न हो। उपन्यास में रूप इन्द्रियग्राह्य विशेषताओं पर शायद ही निर्भर रहता है वहाँ घटनाओं का सन्तुलन जीवनियों का अन्तर्ग्रथन आदि इसी प्रकार का विधान होता है। सॉनेट में रूपगत प्रकर्ष नियत पंक्तियों और अन्त्यानुप्रास के ढाँचे में भावनाओं के पारस्परिक सन्तुलन से प्राप्त होता है। इसलिए यदि हम साहित्य में वस्तु के ऊपर रूप की प्रधानता प्रतिष्ठित करते हैं तो हम उस विधान का विरोध करना पड़ेगा जिसमें शब्द-संघटना के साथ विचार प्रवाह का घात प्रतिघात होता है। जो बात दृश्य कलाओं के बारे में सत्य है वह साहित्य के बारे में कहीं अधिक सत्य है कि अव्याख्यायित रूपों के पर्यवेक्षण के लिए जिस अमूर्तता की आवश्यकता है उसका निर्वाह नहीं किया जा सकता और यदि किसी तरह किया भी गया तो दृष्टिगोचर तत्त्व कलाकृति का प्रामाणिक सौन्दर्यपरक रूपाकार न होगा।[2] इसी प्रकार नाटक में भी रूप का अर्थ भिन्न हो सकता है और नाटकीय रूप के अन्तर्गत संपूर्ण कार्यावस्थाएं चरित्र विधान आदि सम्मिलित किए जा सकते हैं जिसके विरोध में वस्तु तत्त्व केवल नाटक का संदेश ही हो सकता है। किन्तु नाटकीय रूप की यह व्याप्ति भी बेल द्वारा दृश्य कलाओं के सन्दर्भ में निरूपित रूप के व्यापक अर्थ से पर्याप्त भिन्न है।

निष्कर्ष

काव्य के घटक तत्त्वों की दृष्टि से पाश्चात्य काव्य चिन्तन की यदि कोई प्रवृत्ति रस सिद्धान्त के निकट पड़ती है तो वह है—बीसवीं शताब्दी की नव्य-समीक्षा। जिस प्रकार संस्कृत में काव्य को शब्दार्थ सहभाव के रूप में परिभाषित किया गया है उसी प्रकार अब पश्चिम की नव्य समीक्षा भी काव्य को शाब्दिक निर्मिति मानती है एलिसिओ वाइवास जिसे 'लिंग्विस्टिक आर्टिफैक्ट' कहते हैं और विमसाट 'वर्बल आइकन'। पश्चिम में इस धारणा के उदय का निश्चित ऐतिहासिक कारण है। नव्य समीक्षा से पूर्व काव्यकृति का विश्लेषण कला चिन्तन से गृहीत वस्तु और रूप नामक घटक तत्त्वों के द्वारा ही होता था जो एक प्रकार से कथात्मक एवं वर्णनात्मक लम्बी काव्यकृतियों के विवेचन के लिए उपयोगी थे। किन्तु छोटी कविताओं के विश्लेषण के लिए वे घटक यथेष्ट सुनिश्चित न थे। नव्य समीक्षा के सामने मुख्य प्रश्न छोटी कविताओं के विश्लेषण का ही था इसलिए उन्होंने विश्लेषण पद्धति को वैज्ञानिक यथातथ्यता प्रदान करने के लिए लघुतम काव्य घटकों के रूप में शब्द और अर्थ की खोज की। इस दृष्टि से नव्य समीक्षा संस्कृत काव्यशास्त्र के ही भाग का

---

[1] द स्ट्रक्चर आफ एस्थेटिक्स पृ० ३४६

[2] वही पृ० ३४६ ४७

अनुसरण करती प्रतीत होती है, क्योंकि संस्कृत मे भी मुक्तको के विश्लेषण में ही शब्दार्थ घटक प्रयुक्त हुए।

इसके अतिरिक्त बाह्य संदर्भो से काव्यकृति को मुक्त करके स्वनिष्ठ रूप मे विवेच्य मानने के कारण भी उसे शाब्दिक निर्मिति के रूप मे देखना आवश्यक हो गया। काव्यकृति में रूप के साथ वस्तु अथवा विषयवस्तु के अनुसधान का अर्थ था—बाह्य संदर्भ मे काव्यकृति को देखना। विषयवस्तु अनुषंगतः पाठक का ध्यान काव्यकृति की स्वनिष्ठता से हटाकर बाह्य तथ्यो की ओर ले जाती है। इसलिए स्वनिष्ठता के आग्रह ने नव्य-समीक्षकों को विषयवस्तु के स्थान पर किसी अन्य अवधारणा की खोज के लिए प्रेरित किया। इसी प्रकार 'रूप' शब्द भी प्राचीन शास्त्रवादी चिन्तन के कारण एक प्रकार की यान्त्रिकता की प्रतीति कराता था जो आधुनिक 'आवयविक रूप' संबंधी धारणा से बहुत दूर है। इसलिए नव्य-समीक्षकों ने एक ही साथ वस्तु के स्थान पर अर्थ और रूप के स्थान पर शब्द को स्वीकार करके काव्यकृति को इन दोनो की आवयविक सघटना के रूप मे स्थापित किया। यहाँ भी नव्य-समीक्षा संस्कृत काव्यशास्त्र की अनुवर्तिनी है, क्योंकि सस्कृत मे काव्यकृति आरभ से ही लोकनिरपेक्ष स्वतःसंपूर्ण सत्ता के रूप मे विवेचित होती रही है।

१

काव्य के उपादान

काव्यकृति ऐसी शाब्दिक निर्मिति है जिससे किसी भाव, वस्तु, स्थिति अथवा व्यक्ति का बोध होता है। इन्हीं को एक शब्द में 'काव्यार्थ' कहा जाता है। लोक में भी कुछ ऐसी ही धारणा प्रचलित है कि कविता 'कुछ-न-कुछ' कहती है। यह 'कुछ-न-कुछ' वस्तुतः काव्य का उपादान है जिसके अन्तर्गत काव्यगत भाव एवं उन भावों के हेतु—विभाव की गणना की जाती है। इसलिए काव्य के उपादान के रूप में क्रमशः भाव और विभाव का विवेचन करना समीचीन होगा।

रस सिद्धांत के अनुसार काव्यसृजन आलम्बन विषयों के माध्यम से कवि के भाव का काव्यगत निवेशन है। इसलिए काव्यसृजन संबंधी सामग्री का विवेचन रस सिद्धान्त में दो रूपों में किया गया—भावपक्ष एवं विभाव पक्ष। इन दोनों में प्रधानता के कारण भाव विवेचन को ही प्राथमिकता दी जाती है।

काव्यगत भाव : स्वरूप और भेद

रस सिद्धान्त के अन्य प्रसंगों की भाँति भाव विवेचन भी सर्वप्रथम भरत के 'नाट्य शास्त्र' में ही प्राप्त होता है। प्रचलित मत है कि सामान्यतः भाव की सत्ता वस्तुगत मानते हुए 'कवेरन्तर्गतं भावं' कहकर भरत ने भाव की आत्मगत सत्ता की ओर भी संकेत किया। यहाँ प्रश्न उठता है कि क्या भरत वास्तव में भाव की केवल वस्तुगत सत्ता मानते थे? भाव की व्युत्पत्ति मूलक व्याख्या करते हुए उन्होंने लौकिक भावों एवं नाट्यभावों का अन्तर निरूपित किया। जिज्ञासा उठाई गई 'भावा इति कस्मात्। किं भवन्ति इति भावाः, किंवा भावयन्ति इति भावाः।' और उत्तर था "वागङ्गसत्वोपेतान् काव्यार्थान् भावयन्ति इति भावाः' जो होते हैं (लौकिक पक्ष में) वे नहीं जिनका (काव्यार्थों) का भावन किया जाता है (नाट्य पक्ष में) वही भाव होते हैं। दूसरा प्रश्न है कि विभाव, अनुभाव, सात्त्विक आदि के द्वारा जो अर्थ भावित होता है, वह क्या है? क्योंकि ये सब तो अर्थाभिव्यक्ति के साधन मात्र हैं। भरत का उत्तर है—यह काव्यार्थ कवि का अन्तर्गत भाव ही है। अतः भाव=काव्यार्थ=कवि का अन्तर्गत भाव।

कवि का यह भाव भी उसका व्यक्तिगत मनोविकार नहीं जिसकी उत्पत्ति लौकिक कारणों से होती है, यह तो प्रतिभा से प्रकाशमान काव्यार्थ है जो आस्वाद्य होता है और इसी अर्थ में लौकिक भाव से भिन्न होता है। परवर्ती आचार्यों ने इसे देशकाल की सीमाओं से परे साधारणीभाव की अभिधा प्रदान की है। यह भाव विभावादि के द्वारा अभिव्यक्त होकर आस्वाद योग्य होता है।[1]

---

[1] कवेः वर्णनानिपुणस्य यः अन्तर्गतोऽनादिप्राक्तनसंस्कारप्रतिभानमयो न तु लौकिकविषयजो रागादिः (रसः) एवं देशकालादिभेदाभावात्सर्वसाधारणीभावेन आस्वादयोग्यस्तं भावयन् आस्वादयोग्यीकुर्वन्। अभिनवभारती, पृ० ३४५-४६

इस प्रकार पात्रों, अभिनय के विविध प्रसाधनों के माध्यम से भावित नाट्यभाव या काव्यार्थ ही भाव है, जो कवि के लौकिक मनोविकार से भिन्न साधारणी भाव का पर्याय है। विभावानुभावों के माध्यम से अभिनीत या कवि द्वारा वर्णित ये भाव एक ओर कवि के अन्त.स्थित भाव को भावित करते है और दूसरी ओर काव्य-रसिक या सहृदय को व्याप्त करते है। कवि का अन्तर्गत भाव ही काव्यार्थ है, जिसकी अभिव्यंजना विभावादि सामग्री के माध्यम से होती है और प्रेक्षक इसी काव्यार्थ से कवि के अन्तर्गत भाव का भावन करता है।

मराठी विद्वान गणेश त्र्यंबक देशपांडे ने भाव के व्युत्पत्तिमूलक अर्थों में पहले **'भवति इति भावः'** को निर्मिति पक्ष मानकर उसका संबंध लौकिक व्यक्तिगत व्यवहार से जोड़ा है। है। उनका मत है कि "नाट्य को वह लागू नहीं होता।" **'भावयति इति भावः'** यही भरत-सम्मत पक्ष है।[1]

भरत ने भाव-विवेचन के संदर्भ में तीन आनुवंश्य श्लोक उद्धृत किये है :

विभावेनाहृतो योऽर्थो अनुभावैस्तु गम्यते।
वागंगसत्वाभिनयैः स भाव इति संज्ञितः ॥१॥
वागंगमुखरागेण सत्वेनाभिनयेन च।
कवेरन्तर्गतं भावं भावयन्भाव उच्यते ॥२॥
नानाभिनयसम्बद्धान्भावयन्ति रसानिमान्।
यस्मात्तस्मादमी भावा विज्ञेया नाट्ययोक्तृभिः ॥३॥[2]

विद्वानों ने प्रायः स्वीकार किया है कि भरत ने 'भू' धातु के दो अर्थो—'होने' और 'करने' में से दूसरे को ही भाव-प्रसंग में ग्रहण किया है। भाव वह जो भावित, अर्थात वासित या व्याप्त करता है। उक्त तीनों श्लोकों में भाव की व्याख्या क्रमशः काव्यार्थ, कवि एवं नट के दृष्टिकोण से की गई है :

१. भाव काव्यार्थ है : वह अर्थ जो विभावों के द्वारा निष्पन्न होकर, वाचिक, आंगिक तथा सात्त्विक अनुभावों के द्वारा गम्य होकर प्रतीति-योग्य होता है। यहाँ भाव काव्यार्थ के रूप में काव्य में अस्तित्व या स्थिति का द्योतक है।

२. भाव कवि का अन्तर्गत भाव है : जो चतुर्विध अभिनय के माध्यम से भावित करता है।

३. नानाविध अभिनयों से संबद्ध रसों को भावित अर्थात सहृदय समाज के चित्त मे व्याप्त करने के कारण नाट्यकर्ता इन्हें भाव-संज्ञा से अभिहित करते है।

इस प्रकार 'भाव' पहले श्लोक में काव्यार्थ का, दूसरे में कवि के अन्तर्गत भाव का और तीसरे में नट-सामाजिक के भाव का द्योतक है। वस्तुतः पहले और तीसरे में विशेष अन्तर नहीं है। काव्यार्थ की सार्थकता सहृदय के चित्त में उसकी व्याप्ति में ही है और उसका माध्यम रस-व्यंजक सामग्री है। इस रूप में दूसरे श्लोक का भी प्रकारान्तर से वही

---

[1] ग० त्र्यं० देशपांडे : भारतीय साहित्यशास्त्र, पृ० २५५

[2] अभिनवभारती, भाग १, पृ० ३४५-४६

अर्थ हो जाता है, अर्थात् कवि का हृद्‌गत भाव, जो इस सामग्री के माध्यम से भावित होता है। इस प्रकार भाव—कवि का हृद्‌गत भाव है जो काव्य के संदर्भ में काव्यार्थ है और विभावादि सामग्री के माध्यम से सहृदय के संदर्भ में संवेद्य है। निष्कर्ष यह कि विभावादि सामग्री जैसे संवेदन-तत्त्वों के माध्यम से संवेद्य काव्यार्थ या कवि का अन्तर्गत भाव ही 'भाव' है। अभिनवगुप्त के अनुसार भरत द्वारा निर्दिष्ट भाव चित्तवृत्ति विशेष ही है

(१) भाव शब्देन तावच्चित्तवृत्तिविशेषा एव विवक्षिता।[1]

जिसके अन्तर्गत स्थायी, व्यभिचारी और सात्त्विक आते हैं

तस्मात्स्थायिव्यभिचारिसात्त्विका एव भावा।[2]

इस प्रकार अभिनवगुप्त ने स्पष्ट रूप से विभावानुभाव आदि को 'बाह्य' एवं 'एकान्तजड़ स्वभाव' होने के कारण भाव की सीमा से बाहर माना है। चित्तवृत्ति के अर्थ में प्रयोग करने पर भी भाव के लौकिक अर्थ से काव्यगत अर्थ में भेद-निरूपण इसी आधार पर किया गया कि लोक में चित्तवृत्ति केवल होती या रहती है। नाट्य में वह भावित, वासित या व्याप्त होती है। अतः वहाँ उसके करणार्थक प्रयोग की ही सार्थकता है

भू इति करणे धातुस्तथा च भावितं वासितं कृतमित्यनर्थान्तरम्।

लोकेऽपि च प्रसिद्धम् अहो ह्यनेन गन्धेन रसेन वा सर्वमेव भावितमिति। तच्च व्याप्त्ययम्।[3]

अर्थात् 'भू' धातु का यहाँ करणार्थक प्रयोग हुआ है। भावित का अर्थ है—वासित। लोक में भी ऐसा व्यवहार होता है कि अमुक गन्ध या रस से समस्त भावित हो गया, जिसका अर्थ यहाँ व्याप्ति है।

परवर्ती आचार्यों ने इसी मत की पुनरावृत्ति की। भोज ने 'सरस्वतीकण्ठाभरण' में कहा

भावना वेशापन्ना चित्तवृत्ति भाव भावना वासना व्याप्तिरित्य नर्थान्तरम्। तथा ह्युच्यते (भरतेन) अनेन गन्धेन रसेन वा सर्वं भावितमिति।[4]

डॉ० कान्तिचन्द्र पाण्डे ने भाव का कारण-रूप प्रयोग भी दो अर्थों में स्वीकार किया है[5]—१ वाचिक, आंगिक, सात्त्विक अभिनयों के माध्यम से रस के कारण-रूप में और (२) प्रेक्षक समाज के चित्त में व्याप्ति के कारण रूप में। उनका मत है कि पहला अर्थ—कवि शिक्षा की दृष्टि से और दूसरा प्रेक्षक पर पड़नेवाले प्रभाव की दृष्टि से ग्राह्य है तथा ये दोनों प्रयोग करणार्थक हैं—एक 'भावन' के अर्थ में और दूसरा 'वासन' या 'व्याप्ति' के अर्थ में। अतः भाव का पहला अर्थ है—नट और नाटककार की चित्तवृत्ति विशेष, जो क्रमशः चतुर्विध अभिनय और समुचित भाषा के द्वारा रस-रूप प्राप्त करती है।

वासन या व्याप्ति के दूसरे अर्थ में हमें दृष्टि सहृदय-केन्द्रित रखनी होगी। इस संदर्भ में भाव उसी रूप में सहृदय के चित्त को वासित या व्याप्त करते हैं, जिस रूप में

१,२ अभिनवभारती, भाग १, पृ० ३४२-३४३

३ नाट्यशास्त्र, पृ० ३४४-४५

४ सरस्वतीकण्ठाभरण १, पृ० ५८

५ हिस्ट्री ऑफ इण्डियन एस्थेटिक्स, पृ० २७-२८।

सुगंध के संसर्ग से वस्त्र वासित हो जाता है। दोनों अर्थों में भाव की संवेद्यता पर बल दिया गया है।

संस्कृत काव्यशास्त्र में काव्यगत स्थायी, संचारी और सात्त्विक भावों अर्थात मानसिक-शारीरिक संवेदनों के अर्थ में भाव का सर्वाधिक प्रयोग हुआ। इनमें भी बाद में सात्त्विक भावों को अनुभावों के अन्तर्गत रखकर स्थायी-संचारी के अर्थ में ही भाव शब्द का प्रयोग प्रचलित हो गया। भरत मुनि ने मनोभाव के अतिरिक्त काव्यार्थ के जिस व्यापक अर्थ में भाव शब्द का प्रयोग किया था, वह भरतोत्तर आचार्यों के मध्य परिसीमित होते-होते क्रमशः मनोभाव के अधुना अर्थ मे व्यवहृत होने लगा। भरत ने चित्तवृत्ति मात्र के अर्थ में तो भाव का प्रयोग किया ही नही था, वे इसे उससे कुछ अधिक—काव्यार्थ तथा भावित करनेवाला मानते थे। कुछ विद्वानों ने तो भरत के द्वारा भाव शब्द का प्रयोग—विभावादि समग्र रस-सामग्री के लिए भी स्वीकार किया है। धनिक ने 'भावक' या सहृदय के अनुभूयमान सुख-दुःख को ही भाव मान लिया और अभिनवगुप्त ने उसे स्पष्ट ही चित्तवृत्ति का बोधक मानते हुए विभावानुभाव आदि रस-सामग्री के लिए इस शब्द के प्रयोग का विरोध किया।[१] मम्मट, विश्वनाथ आदि आचार्यो ने इसी मत को पुष्ट किया।

आधुनिक काल के चिन्तकों में इस विषय का उल्लेखनीय मनोवैज्ञानिक विवेचन आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने किया। शुक्लजी ने भाव-विवेचन को लगभग वहीं पहुँचा दिया, जहाँ से वह आरंभ हुआ था। उन्होंने भरत की ही भाँति उसे इतना व्यापक बनाया कि उसमें स्थायी के अतिरिक्त संचारी भाव, अनुभाव तथा सात्त्विक भावों का भी अन्तर्भाव हो सका; दूसरी ओर उसमें मानव-मन की अंतस्संज्ञा में प्रवृत्ति या संस्कार-रूप में वर्तमान वासनाओं को भी समाविष्ट किया। उनके विवेचन पर विद्वानों ने मानसशास्त्रज्ञ शैण्ड का प्रभाव स्वीकार किया है।[२] शुक्लजी ने उक्त प्रभाव को ग्रहण करके भाव के तीन अंगों की व्याख्या इस प्रकार प्रस्तुत की :

१. वह अंग जो प्रवृत्ति या संस्कार-रूप में अंतस्संज्ञा में रहता है, अर्थात वासना।

२. वह अंग जो विषय-बिम्ब के रूप में चेतना में रहता है और भाव का प्रकृत स्वरूप है, अर्थात भाव, आलम्बन आदि की भावना।

३. वह अंग जो आकृति या आचरण में अभिव्यक्त होता है और बाहर देखा जा सकता है, अर्थात अनुभाव और नाना प्रयत्न।[3]

इस प्रकार वे भाव को केवल भावना या मनोविकार-स्वरूप न मानकर 'प्रत्ययबोध, अनुभूति और वेगयुक्त प्रवृत्ति इन तीनों के गूढ़ संश्लेष'[४] के रूप में ग्रहण करते है। यहाँ

---

[१] भावशब्देन तावच्चित्तवृत्तिविशेषा एव विवक्षिताः।
······ये त्वेते ऋतुमाल्यादयो विभावा बाह्याश्च बाष्पप्रभृतयोऽनुभावा······ते न भाव-शब्दव्यपदेश्याः। अभिनवभारती, भाग १, पृ० ३४२

[२] (क) डॉ० रामलाल सिंह : आचार्य शुक्ल के समीक्षा-सिद्धान्त, पृ० ३४६
(ख) डॉ० मनोहर काले : आधुनिक हिन्दी-मराठी में काव्यशास्त्रीय अध्ययन, पृ० १४

[3] रसमीमांसा, पृ० १६४

[४] वही, पृ० १६८

एक बात का स्पष्टीकरण अभीष्ट है। वेगयुक्त प्रवृत्ति में अनुभाव तथा शारीरिक चेष्टाओं का अन्तर्भाव करके शुक्लजी केवल उन्हीं शारीरिक अवस्थाओं को भाव के व्यापक क्षेत्र में समाविष्ट करते हैं जिनका किसी-न-किसी मनोभावना से सीधा संबंध हो। मनोभावों से असंबद्ध शारीरिक अवस्थाओं को वे भावान्तर्गत नहीं मानते। उन्होंने उदाहरणस्वरूप परंपरा से संचारियों में विहित आलस्य को संचारी भाव मानने में आपत्ति प्रकट की है।[1] आलस्य ही नहीं शारीरिक अवस्थाओं के निर्देशक अन्य संचारी भावों के संबंध में भी शुक्लजी का यही मत है।[2]

वस्तुतः प्रश्न संबंध-असंबंध भावना का इतना नहीं जितना पूर्वापर-क्रम का है क्योंकि प्रायः सभी शारीरिक अवस्थाएँ मनोभावनाओं से निस्संग नहीं होतीं। वे किसी-न-किसी मनोभावना का अनिवार्य परिणाम या हेतु होकर प्रकट होती हैं। आलस्य को ही लिया जाए तो वह अनुभूति से सर्वथा भिन्न या असंपृक्त शारीरिक चेष्टा नहीं हो सकती। अन्तर केवल यह होगा कि यदि वह शारीरिक श्रम या अन्य प्राकृतिक कारणजन्य है तो भाव के अन्तर्गत नहीं आएगी और यदि वह किसी मनोभावना की सहचरी या अनुवर्तिनी है तो निश्चय ही भावान्तर्गत संचारी अथवा अनुभाव में परिगणित की जाएगी। प्रत्येक शारीरिक चेष्टा किसी-न-किसी संवेदन से संबद्ध रहती है। अतः निर्णायक प्रश्न असंबद्धता का नहीं पूर्वापर कारण-कार्य क्रम का ही होना चाहिए।

आधुनिक युग के अन्य हिन्दी-आलोचकों में डॉ० श्यामसुन्दर दास, बाबू गुलाबराय एवं डॉ० नगेन्द्र के भाव विषयक विचार विशेष उल्लेखनीय हैं।

डॉ० श्यामसुन्दर दास ने साहित्यालोचन में भाव संबंधी पाश्चात्य एवं भारतीय मान्यताओं का पृथक्-पृथक् विवेचन किया है। पश्चिमी मत के अनुसार भाव को मानसिक जीवन का अंगरूप एवं उसमें सदैव व्याप्त रहने वाला बताकर वे उसके स्वरूप को शब्दों के माध्यम से अवर्णनीय मानते हैं।[3]

बाबू गुलाबराय मनोविज्ञान एवं साहित्य के भावों में भिन्नता स्वीकार करते हैं। उनके मतानुसार साहित्य में भाव से अभिप्राय मन के उस विकार का होना है जिसमें सुखदुःखात्मक अनुभव के साथ कुछ क्रियात्मक प्रवृत्ति भी रहती है। मनोवेग के इस व्यापक रूप में हल्के, गहरे, मन्द और तीव्र सभी प्रकार के भाव शामिल रहते हैं। उनके अनुसार इसकी व्यापकता में भाव का क्रियात्मक पक्ष भी वर्तमान रहता है। अनुभाव भी तो भाव ही कहलाते हैं।[4] दूसरे शब्दों में संस्कृत साहित्यशास्त्र का भाव मनोविज्ञान के इमोशन से अधिक व्यापक शब्द है।

डॉ० नगेन्द्र ने संस्कृत आचार्यों एवं पश्चिम के मनःशास्त्रियों के भाव विवेचन का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया। उनके मतानुसार बाह्य जगत् से संवेदना से मनुष्य के

---

[1] रसमीमांसा पृ० २२५
[2] वही पृ० २३०
[3] साहित्यालोचन पृ० २११
[4] सिद्धान्त और अध्ययन पृ० १७५

हृदय में जो विकार उठते हैं, वे ही मिलकर भाव की संज्ञा प्राप्त करते हैं।"[1] इस परिभाषा के उपरान्त पश्चिम में प्रचलित भाव शब्द की अर्थ-व्याप्ति पर उन्होंने प्रकाश डाला और अन्त में वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे :

"इस प्रकार भाव का विषय अर्थात आलम्बन, भाव का स्वरूप, भाव की शारीरिक प्रतिक्रिया अर्थात अनुभाव, भाव के सहचारी विकार (आंशिक रूप से संचारी) आदि सभी भाव-विवेचन में अन्तर्भूत किए गए। भारतीय मनीषियों ने भाव के मानसिक और शारीरिक रूप के पूर्वापरक्रम में शारीरिक रूप को मानसिक का परिणाम माना और पश्चिम के विद्वानों के मध्य यह विवाद का विषय रहा।"[2]

भाव-विभाजन

भरत से पंडितराज जगन्नाथ तक मानव-मन की चित्तवृत्तियों या भावों का विभाजन दो वर्गों—स्थायी और संचारी में किया गया। स्थायी और संचारी में भेद स्थिरता एवं अस्थिरता का है। इन भावों का परस्पर भेद-निरूपण आचार्यों ने भिन्न तर्कों के आधार पर किया, जिनका सार इस प्रकार है :

१. ये आठों स्थायी ही रसत्व को प्राप्त होते है।

२. अन्य विभावानुभाव व्यभिचारी भाव इन्ही के आश्रित रहते है तथा इनकी सत्ता 'स्वामी' या 'नरेन्द्रवत्' होती है एवं अन्य भावों की 'परिजन' रूप।

३. स्थायी भाव जन्मजात अर्थात वासना या संस्कार-रूप होते हैं।

४. स्थायी भाव विरोधी या अविरोधी भावों से उच्छिन्न नही होते।

५. ये स्थायी भाव ही अन्ततः आस्वाद्य होकर आनन्दरूपता को प्राप्त करते हैं।

मराठी के विद्वानों ने, अभिनवगुप्त के आधार पर, 'पुरुपार्थोपयोगिता' तथा 'उचितविपयनिष्ठा' का भी स्थायी के गुणों के रूप में उल्लेख किया है।[3] स्पष्ट ही उक्त मान्यता तर्क-पुष्ट नही है। जुगुप्सा, भय आदि को पुरुपार्थचतुष्टय का साधक, प्रत्यक्ष संबंध से तो माना ही नही जा सकता; इसके अतिरिक्त औचित्य काव्य के प्रत्येक तत्त्व का अपेक्षित या वांछित धर्म है। वह स्थायी की व्यावर्त्तक विशेषता, अतः लक्षण नहीं हो सकता।

यहाँ स्थायी-संचारी के उपर्युक्त विभाजन में वह व्यावर्त्तक विशेपता शंकास्पद है, जिसके अनुसार केवल स्थायी को ही रस-दशा-प्राप्ति में समर्थ माना गया है, संचारी को नही।

संस्कृत के आचार्यों का उक्त भाव-विभाजन अद्यावधि विद्वानों में मान्य रहा। उसके औचित्य-परीक्षण अथवा पुनर्व्याख्या का प्रश्न आधुनिक युग में तब तक नही उठा, जब तक पश्चिम के विकसित मनोविज्ञान से भारतीय मनीषा का संश्लेष नही हुआ। आधुनिक विद्वानों में सबसे पहले इस विषय पर उल्लेखनीय पुनर्विचार करने का श्रेय आचार्य शुक्ल को है।

---

[1] रीतिकाव्य की भूमिका, पृ० ६४

[2] वही, पृ० ६५

[3] डॉ० मनोहर काले : आधुनिक हिन्दी-मराठी में काव्यशास्त्रीय अध्ययन, पृ० २७-२८

शुक्लजी ने भाव विभाजन स्थायी-संचारी नामक परम्परागत भेदों में न करके दो प्रकार की भावस्थितियाँ स्वीकार की हैं। अनुभूति के इन दो रूपों को वे भाव एवं भावकोश कहते हैं और भाव को ही भावकोश के निर्माण का कारण स्वीकार करते हैं। 'भावकोश' शब्द से भाव समष्टि या भावसमूह की भ्रान्ति संभव हो सकती है, अतः उन्होंने स्पष्ट किया कि भावकोश (सेंटिमेंट) का अभिप्राय अंतःकरण में संघटित एक प्रणालीमात्र है जिसका निर्माण भावों से ही होता है और जिसमें भिन्न भिन्न भावों का संचार हुआ करता है। भाव और भावकोश में उनके मतानुसार अन्तर यही है कि भाव में संकल्प वेगयुक्त होते हैं और भावकोश में धीर और संयत। 'भावकोश का विधान भावविधान से उच्चतर है, अतः इसका विकास पीछे मानना चाहिए।'[1] शुक्लजी स्थायी भावों को भाव के अन्तर्गत मानते हैं और जिसे उन्होंने भावकोश या स्थिरवृत्ति कहा है वह स्थायी भाव के आगे उसी पर आधृत मन स्थिति है। भाव और स्थायी दशा में वे मुख्यतः निम्न अन्तर मानते हैं :

१. जिस मूल भाव के आधार पर स्थायी दशा विशेष की स्थिति होती है, वह अपनी स्थायी दशा का संचारी होकर बार बार आवृत्त होता है। जैसे 'भाव' के प्रतीति काल में उसी की कुछ अन्तर्दशाएँ।

२. अनुभाव भावस्थिति में ही प्रकट होते हैं, उसकी स्थायी दशा में नहीं।

३. भाव दशा में सुखात्मक एवं दुःखात्मक संचारी समानधर्मा होंगे। परन्तु स्थायी दशा में सुखात्मक दुःखात्मक दोनों प्रकार के भाव आ सकते हैं। शुक्लजी ने संस्कृत के आचार्यों की इस मान्यता से असम्मति व्यक्त की है कि स्थायी भाव को विरोधी या अविरोधी कोई भाव संचारी रूप में आकर तिरोहित नहीं कर सकता। अपनी असहमति की पुष्टि वे इस तर्क से करते हैं कि रति को छोड़कर सुखात्मक भावों से निष्पन्न रसों में दुःखात्मक एवं दुःखात्मक भावों से निष्पन्न रसों में सुखात्मक संचारियों का विधान इन आचार्यों ने नहीं किया। इसीलिए उन्हें रति नामक स्थायी भाव को स्थायी दशा के अन्तर्गत स्थान देना पड़ा।

आचार्य शुक्ल ने एक तीसरी भावस्थिति की भी स्थापना की—'शीलदशा'। स्थायी दशा से इसका व्यावर्तक धर्म उन्होंने भाव विशेष का प्रकृतिस्थ हो जाना ही माना है।[2] शीलदशा को प्राप्त भाव प्रकृतिस्थ होकर मनुष्य-स्वभाव का अंग बन जाता है एवं विभिन्न आलम्बनों के प्रति प्रकट होता है। उनका अभिप्राय मनुष्य की स्वभावगत स्थायी चारित्रिक वृत्ति से है। इस 'शीलदशा' का निर्वाह शुक्लजी प्रबंधों के अन्तर्गत चरित्र निरूपण के रूप में मानकर रसोत्पत्ति में इसे सहायक स्वीकार करते हैं। वस्तुतः यह विभाजन अतिरिक्त है। स्थायी दशा से उक्त दशा का भेद निरूपण व्यर्थ है। दोनों में अन्तर केवल स्थायित्व की मात्रा का है। जो भावना या वृत्ति मनुष्य के स्वभाव अथवा चारित्र्य का स्थायी लक्षण या गुण बन जाती है उसे स्थायी भाव या स्थिर वृत्ति के अतिरिक्त और कोई नाम देना अनावश्यक है।

---

[1] रस सिद्धान्त पृ० २२६ ३०

[2] रसमीमांसा पृ० १८३-८७

डॉ० नगेन्द्र ने संस्कृत के भाव-विवेचन को आधुनिक मनोविज्ञान से पूरी तरह संगति न होने पर भी अनुभव के आधार पर युक्तिसंगत माना है।

स्थायी भाव—संख्या का प्रश्न

भाव-विभाजन से संबद्ध दूसरा प्रश्न भावों की संख्या का है। संस्कृत के काव्यशास्त्र में अनेक बार इस संबंध में शंका व्यक्त की गई, भावों की संख्या घटाई-बढ़ाई भी गई और वह पुनः नौ पर आकर स्थिर हो गई।

भरत ने मूलतः आठ रस एवं आठ स्थायी भाव माने, उनमें भी रति, उत्साह, क्रोध, जुगुप्सा को ही वे प्रधान और मूल मानते है और उनसे क्रमशः हास, विस्मय, शोक तथा भय को व्युत्पन्न मानते है। बाद में शम की उद्भावना हुई। नवोद्भावनाओं का यह क्रम चलता रहा, और अनेक रस और उनके आधारभूत विविध स्थायी भावों की स्थापना की गई। अन्ततः अभिनवगुप्त द्वारा स्वीकृत नौ स्थायी भावों को ही संस्कृत काव्यशास्त्र में मान्यता प्राप्त हुई। ये स्थायी भाव है—रति, हास, शोक, क्रोध, भय, उत्साह, जुगुप्सा, विस्मय और निर्वेद। इनके अतिरिक्त वत्सल भाव और भगवद्विषयक रति ही ऐसे दो भाव हैं, जो कुछ सीमा तक स्थायित्व के अधिकारी बन पाए, शेष या तो इन्ही में अन्तर्भूत किए गए अथवा संचारी की कोटि में गृहीत हुए।[1]

संचारी भाव

संचारी भावों के विवेचन के संबंध में दो प्रश्न उठते है: १. क्या सभी स्थायी-संचारी भावों के मध्य स्थैर्य-अस्थैर्य के आधार पर व्यावर्त्तन संभव है? क्या सदैव स्थिरता से विद्यमान रत्यादि स्थायी भाव में उन्मग्न, निमग्न अर्थात आविर्भूत-तिरोभूत होनेवाले (स्थायी भावरूपी जल में तरंगों की भाँति संचरण करनेवाले) भाव संचारी कहलाते है? २. क्या संचारियों की संख्या तेंतीस ही हो सकती है?

पहले प्रश्न का उत्तर यही होगा कि जिस ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में भरत ने भाव-विभाजन उपर्युक्त वर्गों में किया, उस समय नाटक ही साहित्य की प्रमुख विधा थी। अतः अभिनयात्मक दृष्टि ही उनके सम्मुख प्रधान रही, और उन्होंने आठों रसों में सामान्यतः संचरणशील मन और शरीर की सभी अवस्थाओ का अन्तर्भाव कर लिया। आज इस विभाजन को यथावत् स्वीकार करना असंभव नहीं तो कठिन अवश्य है। मानव की मूलभूत वृत्तियाँ जन्मजात तो होती ही है, किन्तु परोक्ष रूप से निश्चित सभ्यता एवं संस्कृति की देन भी होती हैं। आदिम युग के मानव में 'शम' जैसी स्थायी वृत्ति वर्तमान रही होगी, कहा नहीं जा सकता। उसकी स्थायी वृत्तियों का परिवेश उसकी आदिम आवश्यकताओं तक ही परिसीमित रहा होगा। निर्वेद की परिकल्पना एक अपेक्षाकृत विकसित समाज की देन ही हो सकती है। इसी प्रकार आचार्य भरत के युग में यह अकल्पनीय था कि सहस्राब्दियों के उपरान्त आणविक युग में जीनेवाले मानव के मन में अनिश्चय, चिन्ता या आशंका स्थायी वृत्ति के रूप में घर कर सकती है। आज का मानव जिस माहौल में जी रहा है, उसमें उपर्युक्त प्रवृत्तियाँ हास्य, क्रोध या जुगुप्सा किसी भी वृत्ति

[1] डॉ० नगेन्द्र : रस-सिद्धान्त, पृ० २२९-३०

के समान स्थिर एवं व्यापक हैं। अतः यह कहना कि कुछ भाव मूलवृत्तियों पर आधारित रहने के कारण स्थिर व अन्य अस्थिर होते हैं उचित नहीं लगता। सभी मानसिक वृत्तियों का संबंध हमारी मूल वृत्तियों से है। वे इन्हीं भावों के विविध छाया-रूप हैं या इनमें मात्रा भेद हैं। इनका स्थायित्व एवं संचारित्व इनके विभाव-पक्ष परिस्थिति एवं संदर्भ पर निर्भर रहता है। इन्हें बाँटकर कटघरे बनाना असम्भव है। उदाहरण के लिए ग्लानि शंका दैन्य चिंता जड़ता विषाद व्याधि त्रास उन्माद मरण आदि आलंबन परिस्थिति संदर्भ और स्वरूप भेद से शोक भय आदि तथाकथित स्थायी भावों की विविध छायाएँ ही हैं। इनमें से जड़ता व्याधि उन्माद आदि के संबंध में कुछ सीमा तक शंका की जा सकती है कि शायद ये जीवन की स्थिर वृत्ति का रूप धारण नहीं कर पाएँ। इसी प्रकार आज यह कैसे कहा जा सकता है कि इनमें से कौन सी वृत्ति जीवन की गति के साथ स्थायी वृत्ति का रूप धारण कर लेगी। इस संबंध में बाबू गुलाबराय ने भी शंका उठाकर उसका समाधान करने का प्रयास किया है। उनका मत है कि त्रास शंका, विषाद और अमर्ष आदि कुछ भावों के स्वतंत्र अस्तित्व के संबंध में शंका हो सकती है कि उनका अन्तर्भाव भय शोक और क्रोध जैसे स्थायी भावों में हो जाता है किन्तु उन्होंने इसका समाधान इस रूप में किया है कि साम्य होने पर भी शंका और त्रास का भय से अमर्ष का क्रोध से और विषाद का शोक से स्पष्ट भेद है। आधुनिक विद्वानों ने जब मनोविज्ञान के प्रकाश में रस का अध्ययन किया तो इस विभाजन के औचित्य पर अनेक प्रश्नवाचक चिह्न लगाए गए। सबसे बड़ी शंका जो इस संदर्भ में उठाई गई यही थी कि इन तैंतीस में से अधिकांश संचारी भाव मनोविकार नहीं हैं। डा० राकेश गुप्त उनमें से केवल १४ को मनोविकार रूप मानते हैं। शेष में से ४ को ज्ञानात्मक अनुभव ५ को शारीरिक संवेदन एवं १० को मानसिक अनुभव ही नहीं मानते।[१]

बाबू गुलाबराय ने इन शंकाओं को स्वयं उठाकर समाधान करते हुए कहा कि स्वप्न निद्रा अपस्मार विबोध आदि की मात्र भौतिक स्थिति नहीं उसके अनुकूल मानसिक स्थिति भी है। यही बात वे धृति मति अवहित्थ आदि ज्ञानमूलक संचारी भावों के संबंध में कहते हैं। उनका मत है कि इनके भाव होने में कोई बाधा नहीं पड़ती, क्योंकि प्रायः सभी भाव ज्ञानाश्रित होते हैं।[२]

इसी प्रकार की आस्थावादी परम्परानिष्ठ दृष्टि का परिचय देते हुए डा० प्रेमस्वरूप गुप्त ने शास्त्र विहित समस्त संचारी भावों की स्थिति को चित्तवृत्ति-रूप सिद्ध कर दिया है किन्तु मनोविज्ञान के आधार पर नहीं भारतीय दर्शन का संबल लेकर। उनका यह कहना उचित ही है कि तथाकथित भौतिक स्थितियों में भी चित्तवृत्ति रूप भाव की स्थिति अनिवार्यतः विद्यमान रहती है। और इसी प्रकार जिन्हें डा० राकेश गुप्त ज्ञानात्मक अनुभव कहते हैं (धृति मति वितर्क अवहित्थ) वे भी चित्तवृत्ति-रूप हैं (भारतीय दर्शन के साम्य पर)।[३]

---

[१] साइकोलाजिकल स्टडीज इन रस पृ० १४५

[२] सिद्धान्त और अध्ययन पृ० १३२–३४

[३] रसगंगाधर का शास्त्रीय अध्ययन पृ० २३९ ४०

वस्तुतः मानव की अंतश्चेतना में वर्तमान, बुद्धि और मन, ज्ञान और भाव या चित्तवृत्ति, ज्ञानात्मक अनुभव और भावात्मक अनुभव, के बीच आत्यन्तिक पार्थक्य असंभव है। प्रत्येक भौतिक स्थिति से संपृक्त या समानान्तर एक ज्ञानात्मक एवं चित्तवृत्ति-रूप अनुभव जुड़ा रहता है; ठीक इसी प्रकार ज्ञान और भाव से संवद्ध क्रमशः भावात्मक और ज्ञानात्मक स्थितियाँ होती है। किसी अनुभव की विशुद्धता की कल्पना का अभिप्राय केवल उसके पक्ष-विशेष का प्रवल होना ही है; और किसी विशेष अनुभव की अभिधा उसी के आधार पर निश्चित की जाती है। इसका अभिप्राय यह नहीं है कि वह विशुद्ध शारीरिक अनुभव या ज्ञानात्मक अनुभव है। ऐसा तो अपस्मार जैसे स्थूल शारीरिक अनुभव और धृति व वितर्क जैसे ज्ञानात्मक अनुभव के विषय मे भी नही कहा जा सकता।

संचारियों की संख्या, उनकी इयत्ता एवं स्थायी भावों से उनके व्यावर्तन संबंधी अनेकानेक शंकाओं के बावजूद सुरक्षित रूप से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि उनका स्थायित्व या संचारित्व तो काव्य मे निर्वाह पर निर्भर है। अतः दोनों के बीच स्थायी व्यावर्तक रेखा खीचना असंभव है। इसलिए संचारी भावों का यह विवेचन न एतादृश रूप में ग्राह्य हो सकता है और न ही इस प्रकार के विभाजन-विवेचन का कोई उपक्रम आत्यन्तिक रूप से संभव एवं सफल हो सकता है।

सात्त्विक भाव

सात्त्विक भावों की गणना भी भरत मुनि ने भाव वर्ग के अन्तर्गत की है। जब वे भावो की संख्या उनचास कहते है तो आठ स्थायी और तैंतीस संचारी भावों के साथ आठ सात्त्विक भावों का भी समावेश कर लेते है। परन्तु उन्होंने भाव-विवेचन में स्तम्भ, स्वेद, स्वरसाद अथवा स्वरभंग, वेपथु, अश्रु तथा प्रलय नामक ८ भावो को सात्त्विक संज्ञा देकर शेष ४१ स्थायी संचारियों से पृथक माना है। परवर्ती आचार्यो ने उनके मत का समर्थन और व्याख्या भी की तथा मतभेद भी प्रकट किया। तत्संबंधी चिन्तन का सार इस प्रकार है:

१. समाहित मन से सत्त्व की निष्पत्ति होती है जिसके विना रोमांच आदि सात्त्विक भाव स्वाभाविक रूप से उत्पन्न नहीं हो सकते।[1] अर्थात दूसरे शब्दों में सात्त्विक भाव अयत्नज एवं सहज होते हैं।

२. सामान्यतः सभी भाव सत्त्वज, अतः सात्त्विक होते है; किन्तु इनके पृथक विवेचन का कारण यही है कि इनका संबंध सत्त्वमात्र से होता है।[2]

३. कुछ आचार्यो के मतानुसार इन सात्त्विकों की स्थिति वाह्य व्यभिचारियों से अभिन्न है।[3]

४. अनुभावों के सदृश सात्त्विकों के मूल में भाव का आधार संस्कृत के सभी

---

[1] नाट्यशास्त्र, भाग १, पृ० ३७४-७५

[2] शिंगभूपाल, रसार्णवसुधाकर, १।३१०
शारदातनय, भावप्रकाशन, पृ० ३८
शृंगारप्रकाश, जिल्द २, पृ० ३५४-५५, डॉ० राघवन द्वारा पृ० ४३९ पर उद्धृत

[3] अभिनवभारती, भाग १, पृ० ३४२

आचार्यों ने स्वीकार किया है। दोनों ही अन्तस्थ भाव की बाह्य अभिव्यक्ति हैं। दोनों की अभिव्यक्ति शारीरिक प्रतिक्रिया के रूप में होती है। काव्य के मूल अमूर्त भाव को दोनों मूर्त रूप में प्रस्तुत करते हैं और इस प्रकार सहृदय की रसानुभूति में सहायक होते हैं।

उपर्युक्त स्थापनाओं में से प्रत्येक में वैमत्य का अवकाश है। पहला प्रश्न तो यही है कि क्या सभी सात्त्विक भाव सत्त्वज हैं? भरत मुनि ने सत्त्व को मन प्रभव कहा है तथा इस सत्त्व की व्याख्या वे मन की समाहित अवस्था कहकर करते हैं। डा० मनोहर काले के शब्दों में जब मन भावों से एकाग्र हो जाता है तभी सत्त्व की निष्पत्ति होती है। रोमांच अश्रु वैवर्ण्य आदि उसके स्वभाव (बाह्य चिह्न) हैं जो तदनुरूप मूल भावों से उत्पन्न होते हैं। इस प्रसंग में सत्त्व शब्द का किंचित स्पष्टीकरण उचित होगा। आज सत्त्व शब्द सत रज तम आदि तीन गुणों के अर्थ में सर्वसाधारण में अतिप्रचलित है जो क्रमश सृजन भोग एवं विनाश की प्रवृत्तियाँ मानी जाती हैं। सच्चे श्रेष्ठ निष्कपट, निर्विकार आदि के व्यावहारिक अर्थ में आज जिस प्रकार सत शब्द का प्रयोग किया जाता है वह उसका मूल अर्थ नहीं यद्यपि शब्द का यह अर्थ विकास उसके मूल अर्थ से ही हुआ है। सत्त्व का अर्थ है—सत्ता स्थिति सार प्रकृति तत्त्व, प्राकृतिक धर्म अन्तर्जात अवस्था जीवन आत्मा चेतना मन इन्द्रिय आदि।[1] सात्त्विक का शब्दार्थ हुआ—वे शरीर धर्म जिनसे स्थिति एवं सत्ता का भान हो शरीर के प्राकृतिक तात्त्विक धर्म, चेतना व इन्द्रियों के सहज धर्म। सात्त्विक का अर्थ हुआ—किसी भाव विशेष में तल्लीन तदाकृत निष्ठ तन्मयी भाव या समाहित मन के अभिव्यंजक सहज शरीर धर्म। सत्त्वोद्भूत इन भावनाओं का अभिप्राय ऐसे धर्मों से है जो शरीर चेतना के तात्त्विक अयत्नज प्राकृतिक धर्म हैं, और इस अर्थ में निश्चय ही वे सत्त्वज हैं। सत्त्व मन प्रभव है किसी भाव विशेष में समाहित तन्मयीकृत मन इस सत्त्व की अवस्था अर्थात प्राकृतिक अवस्था को प्राप्त होता है और इस संवेदन की अभिव्यक्ति सहज रूप में चेतना व शरीर के अनिवार्य धर्मों के रूप में होती है। यदि आचार्यों का आशय सतोगुणमयी मन स्थिति से होता तो रोमांच एवं स्वरभंग की गणना का क्या औचित्य? क्योंकि रोमांच एवं स्वरभंग तो भय अथवा जुगुप्साजन्य भी हो सकते हैं और भय तथा जुगुप्सा सत्त्वोद्रेकमयी स्थितियाँ कैसे मानी जाएँगी? इस शंका का समाधान यही है कि सात्त्विक से अभिप्राय शरीर के भावजन्य अनायास व्यक्त सहज धर्मों से है। वे धर्म जिनसे चेतना शरीर की सत्ता या स्थिति की धारणा अथवा भान बना रहे।

दूसरा प्रश्न बाह्य व्यभिचारियों और सात्त्विकों में भेदाभेद से संबद्ध है। संचारी भावों के संदर्भ में यह स्पष्ट किया जा चुका है कि व्यभिचारियों के अन्तर्गत विशुद्ध शारीरिक चेष्टाओं या भौतिक स्थितियों की परिगणना अनुचित है। व्यभिचारी का संबंध हमारे हृदय से है और उनकी सत्ता भावरूपिणी है। अत आगे बढ़कर उनके आन्तरिक और बाह्य दो भेद करने अमंगल हैं। दोनों में मूल अन्तर कार्य-कारण का है। सात्त्विक और अनुभाव भावों के कार्य और परिणाम हैं एवं व्यभिचारी स्वयं कारण। दोनों में एकरूपता का प्रश्न उठाना ही भ्रामक है।

इस समस्या का अन्तिम प्रश्न अनुभाव और सात्त्विक भावों के बीच अन्तर का है।

---

[1] आप्टेज डिक्शनरी, भाग २, पृ० ६५२

इस विषय में संस्कृत के आचार्य के मन में भी आरंभ से ही शंका रही है, और अनेक आचार्यों ने अपने-अपने मतानुसार दोनों में भेद-निरूपण किया है :

१. विश्वनाथ सत्त्व का अर्थ आन्तरिक धर्म करते हुए तज्जनित शारीरिक विकारों को सात्त्विक मानते है। उनके मतानुसार अनुभावों के लिए आन्तरिक धर्म की अनिवार्यता नहीं है, अन्य अनेक अनुकूल कारणों से उनकी निष्पत्ति होती है।[1]

२. भानुदत्त के मतानुसार सात्त्विक भावों में शरीर की मूल संघटना में परिवर्तन हो जाता है, जैसे स्वर बदलना, रोमांच होना, पसीना आना आदि। परन्तु अनुभावों में शारीरिक अवयवों की चेष्टाएँ मात्र होती है।[2]

३. धनंजय के मत में सत्त्व का अर्थ भावना से समरस मन है, अत: सत्त्व से निर्वृत सात्त्विक अनुभाव कहलाते हैं, सत्त्व-इतर शारीरिक चेष्टाएँ अनुभाव है।[3]

४. शारदातनय सात्त्विक भाव और अनुभाव में अभेद मानते हैं, उनका मत है कि केवल पूर्व-परंपरा का पालन करने के लिए ही इनका पृथक-पृथक विवेचन किया जाता है।[4]

५. भोज सत्त्व का अर्थ रजोगुण और तमोगुण से रहित मन स्वीकार करते हैं।[5]

उपर्युक्त मान्यताओं मे भोज का मत सर्वथा अग्राह्य है। पहले स्पष्ट कर दिया गया है कि सात्त्विक भावों के संदर्भ में सत्त्व का अर्थ रज-तम-विहीन मन की सतोगुणमयी स्थिति नहीं है। शेष के आधार पर अनुभावों और सात्त्विक का मूल अन्तर इस प्रकार है:

सात्त्विक भाव सत्त्व रूपी उस आन्तरिक धर्म की अयत्नज अभिव्यक्ति है, जिसके कारण शरीर की मूल सघटना में अन्तर आ जाता है एवं जिनका उद्भव भावना से समरस मन से होता है। इसके विपरीत अनुभाव किसी भाव विशेष की अभिव्यंजक वे शारीरिक चेष्टाएँ हैं, जो शरीर के आन्तरिक धर्म के रूप में घटित न होकर सायास चेष्टाओं के रूप में घटित होती है। अत: इनमें मूल अन्तर सहज और यत्नज अवशता और सवशता का है। उदाहरण के लिए कटाक्ष अनुभाव है, अश्रु अथवा रोमांच सात्त्विक। पहला शरीर का सहज आन्तरिक धर्म नहीं, जिसकी अभिव्यक्ति रति भाव की अनुभूति के परिणामस्वरूप सचेष्ट रूप में की जाती है, और रोमांच अथवा अश्रु शरीर के सहज धर्म हैं, जो अनायास शोक-विगलित मन, अथवा भय या प्रेम की अनुभूति से उद्भूत होते हैं। कटाक्ष यत्नसाध्य, सचेष्ट क्रिया है, अश्रु व रोमांच सहज आन्तरिक धर्म, जिनसे शरीर की मूल संघटना परिवर्तित हो जाती है।

सात्त्विक और अनुभाव के इस सूक्ष्म अन्तर को आचार्य शुक्ल और पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने स्पष्ट किया है। शुक्लजी ने सात्त्विक और अनुभाव के लिए क्रमश: 'अयत्नज' और 'यत्नसाध्य' शब्दों की अपेक्षा 'ऐच्छिक' (वॉलंटरी) और अनैच्छिक

---

[1] साहित्यदर्पण, ३।१३४

[2] रसतरंगिणी, पृ० १४

[3] दशरूपक, ४।४

[4] भावप्रकाशन, पृ० ३८

[5] सरस्वतीकण्ठाभरण, परिच्छेद २०

(इनवॉलंटरी) का प्रयोग उचित मानकर किया है।[1] वे परंपरागत आठ सात्त्विकों में से 'प्रलय' को अनुभाव मानने के पक्ष में हैं और कायिक अनुभावों के अतिरिक्त शेष को सात्त्विक मानने के पक्ष में। शुक्लजी द्वारा प्रयुक्त ऐच्छिक और अनैच्छिक शब्द सर्वथा उचित नहीं। ऐच्छिक और अनैच्छिक शब्दों में भोक्ता की ओर से जो सहयोग या असहयोग ध्वनित होता है, अनुभावों और सात्त्विकों में अन्तर उसका नहीं, सवशता और अवशता का अधिक है। पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र ने इस बात को और भी अधिक स्पष्ट शब्दों में प्रस्तुत करते हुए कहा "सात्त्विक अनुभाव वे हैं, जिन पर धारणकर्ता का कोई अधिकार नहीं होता। भावों के उदित होने से ये स्वतः उद्भूत हो जाते हैं।"[2]

उनकी दूसरी मान्यता भी उचित ही है। वे समग्र अनुभाव जो अयत्नज हैं, जिन पर धारणकर्ता का कोई अधिकार नहीं होता, सात्त्विकों के अन्तर्गत आएँगे, एवं वे कायिक अनुभाव जो यत्नसाध्य होते हैं, अनुभावों के अन्तर्गत। डॉ० मनोहर काले की स्थापना 'सात्त्विक भाव के स्वरूप विश्लेषण में इन्हें 'भाव' की अपेक्षा 'शारीरिक विकार' स्वरूप प्रतिपादित करना अधिक संगत प्रतीत होता है,'[3] असमीचीन प्रतीत होती है। ऐसा करने से समस्या सुलझती नहीं। सात्त्विक भावों की व्याख्या तो कुछ दूर तक हो जाती है, किन्तु अनुभावों से उनका व्यावर्तन नहीं होता। अनुभाव भी तो शारीरिक विकार ही है। अन्तर दोनों में सयत्नज एवं अयत्नज होने का है। पहले ऐसे विकार हैं जो स्वतः अनायास उद्भूत होते हैं, दूसरे सायास। भाव की अन्तःप्रेरणा दोनों के लिए अनिवार्य है। कदाचित् सात्त्विक की सहज भावमयता अनुभावों की अपेक्षा और भी पुष्ट है। मराठी के विद्वान डॉ० वाटवे ने इस अन्तर को भाव की उत्कटता के आधार पर स्पष्ट किया है। सात्त्विकों को वे अत्यन्त उत्कटतावस्था को प्राप्त भावनाओं का अभिव्यंजक मानते हैं, और दूसरी ओर जब ये भावनाएँ अधिक उत्कट न हों, तब इनके कारण जो शारीरिक चेष्टाएँ होती हैं, उन्हें अनुभाव स्वीकार करते हैं। उनकी यह मान्यता निश्चय ही मनोवैज्ञानिक है।[4]

निष्कर्ष रूप में विभाजन आचार्य शुक्ल का एवं लक्षण पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र का ही मान्य होना चाहिए। अर्थात् भावों की वे समग्र बाह्याभिव्यक्तियाँ, जिन पर धारण कर्ता का अधिकार होता है, अनुभाव, एवं जो सहज आन्तरिक धर्मों के रूप में व्यक्त होती हैं, सात्त्विक कहलाएँगी। इस प्रकार ये सात्त्विक अनुभावों के कायिक, आहार्य आदि भेदों से भिन्न एवं मानसिक एवं सात्त्विक भेदों से अभिन्न हैं। जहाँ तक सात्त्विकों की संख्या का प्रश्न है भरत मुनि ने स्तम्भ, स्वेद, रोमांच, स्वरसाद, वेपथु, वैवर्ण्य, अश्रु, प्रलय, इन आठ सात्त्विक भावों का निरूपण किया। बाद में विद्वानों ने इस सूची को बढ़ाने का प्रयास किया, किन्तु तर्क-वितर्क के उपरान्त बात पुनः वहीं पहुँच गई।[5] जैसा रस-सामग्री के अन्य तत्त्वों

---

[1] रसमीमांसा, पृ० ४०७

[2] वाङ्मयविमर्श, पृ० १४५

[3] आधुनिक हिन्दी-मराठी में काव्यशास्त्रीय अध्ययन, पृ० ८७

[4] वही, पृ० ८८

[5] आधुनिक हिन्दी-मराठी में काव्यशास्त्रीय अध्ययन, पृ० ८७

के संबंध में पहले भी निवेदन किया गया है, संख्या नियत करना ही अपने-आप में दुष्प्रयास है।

पाश्चात्य कला-चिन्तन मे संवेग और अनुभूति

काव्य में भाव या अनुभूति के महत्त्व पर किसी-न-किसी रूप में पाश्चात्य चिन्तन-परंपरा में भी वल दिया गया है। सिद्धान्त-रूप में 'भाव' या 'अनुभूति' को काव्य और कलाओं के आधारभूत तत्त्व के रूप में प्रतिष्ठित करने का सचेष्ट प्रयास रोमाण्टिक वर्ग के कवि-आलोचकों द्वारा ही मुख्य रूप से हुआ। यों तो काव्य और कला-विषयक चिन्तन में भाव या अनुभूति-तत्त्व की चर्चा आरंभ से ही मिलती है; प्लेटो, अरस्तू आदि ग्रीक आचार्यों ने त्रासदी के विवेचन मे करुणा और त्रास आदि संवेगों के उत्तेजन की बात कही है, परन्तु अभिव्यक्ति के स्तर पर काव्य के आधारभूत तत्त्व के रूप में संवेग को प्रतिष्ठित करने का श्रेय रोमाण्टिक चिन्तकों को ही है। इनका कारण रोमानी दृष्टिकोण रहा जिसमें वस्तु की अपेक्षा आन्तरिक अनुभूति, अर्थात आत्म-तत्त्व को सर्वाधिक महत्त्व दिया जाता है। पूर्ववर्ती आचार्यो का दृष्टिकोण अधिक वस्तुनिष्ठ था। इसीलिए अरस्तू ने विविध विधाओं में महाकाव्य और त्रासदी को और उनके रचनात्मक तत्त्वों में कथानक को सर्वाधिक महत्त्व दिया। इसके विपरीत रोमानी वर्ग के कवि वर्ड्स्वर्थ ने अपनी अति विख्यात काव्य-परिभाषा में कविता को 'एकान्त में पुनःस्मृत संवेगों का स्वतःस्फूर्त उच्छलन' कहा। इसीलिए रोमाण्टिक धारा के कवि प्रगीत-काव्य को कवि की भावनाओं का वाहक होने के कारण सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण विधा के रूप में स्वीकार और प्रयोग करते रहे। वस्तुतः रोमाण्टिक वर्ग के कवियो और आलोचको के द्वारा ही पहली बार काव्य में अनुभूति या संवेग के महत्त्व को प्रतिष्ठित किया गया। जैसा कि प्रसिद्ध विचारक एम० एच० अब्राम्स ने स्पष्ट किया है: "वर्ड्स्वर्थ की काव्य-परिभाषा से ऐसा प्रतीत होता है, मानो कविता की सामग्री कवि के अन्तः से उद्भूत होती हो, और अपने अभिव्यक्त रूप में उसके संयोजक—मूर्त तत्त्व एवं कार्य-व्यापार न होकर कवि की भावनाओं का तरल प्रवाह हो।"[१]

स्वच्छन्दतावाद के इस युग मे एक स्वर से कवियों और आलोचकों ने काव्य में अनुभूति-तत्त्व का महत्त्व-निरूपण किया। जॉन स्टुअर्ट मिल[२] ने कविता को 'अनुभूतियों का प्रकथन' कहा है। मिल ने शब्द-भेद से अनेक रूपों में काव्य मे अनुभूति-तत्त्व की प्रतिष्ठा की। काव्य उनके अनुसार मात्र 'अभिव्यक्ति' या 'प्रकथन' ही नही, वल्कि 'मानवीय संवेदनों की स्थिति या स्थितियों की प्रदर्शनी' है। इतना ही नहीं, कविता में 'विचारों और शब्दों में संवेग अन्तःस्फूर्त रूप में मूर्तिमान रहते है।'[3] सर वाल्टर स्कॉट चित्रकार, वक्ता और कवि सव का एक ही लक्ष्य मानते थे: "पाठक, श्रोता और दर्शक में उसी भाव को उत्तेजित करना जो उसके अपने हृदय मे वर्तमान था।"[४] और वायरन

---

१ The materials of a poem come from within, and they consist expressly neither of objects nor actions, but of the fluid feelings of the poet himelf. *The Mirror and the Lamp*, p. 47.

२ 'ह्वाट इज पोएट्री ?' अर्ली एसेज, पृ० २०८

3 वही, पृ० २०८, २०३ और २२३

४ 'एसे ऑन द ड्रामा', द प्रोज वर्क्स, पृ० ६, ३१०

को शिकायत थी कि वे कभी लोगों को यह समझाने में सफल नहीं हो पाते कि कविता उत्तेजित आवेगों की अभिव्यक्ति है।[१] बायरन ने तो और आगे बढ़कर कविता को 'संवेग' के स्थान पर 'आवेग' कहा और उसकी उद्दामता पर बल दिया।[२] उन्होंने काव्य की ज्वालामुखी की उपमा से और काव्य सृजन को प्रजनन की समानता देकर समझाया जिसमें क्रिया की स्वतःस्फूर्त प्रकृति और आवेग दोनों गुणों की व्यंजना निहित थी।

हैज़लिट ने इसी सिद्धान्त को अपेक्षाकृत संयत और निरावेश शब्दावली में व्यक्त करते हुए कहा कि बिम्ब और शब्दों का अनुभूति के साथ आदर्श संयोग ही तत्काल वैचारिक सन्तोष प्रदान करता है।[३] अपवादात् कुछ स्वर ऐसे भी थे जो काव्य में व्यापक रूप से भाव के साथ बौद्धिक उद्देश्यों, विचारों, अवधारणाओं की अभिव्यक्ति को स्वीकार करते थे।[४] किन्तु यह प्रवृत्ति रोमाण्टिक युग में बहुत विरल रही।

अनुभूति को काव्य का प्राण तत्त्व मानने की प्रवृत्ति का विस्तार रोमाण्टिक धारा के जर्मन विचारकों तक हुआ। विख्यात कवि नोवालिस ने कहा कि कविता आत्मा की अन्तर्जगत् की उसकी सम्पूर्णता में अभिव्यक्ति है।[५]

क्रमशः चित्रकला और काव्य की अपेक्षा रोमाण्टिक युग में संगीत और काव्य का सह-अध्ययन करने की ओर बढ़ती हुई प्रवृत्ति के मूल में भी अनुभूति तत्त्व की प्रमुखता की स्वीकृति ही था।

नव्य शास्त्रवाद के उदय के साथ रोमाण्टिक कवियों की अतिशय भावुकता का विरोध हुआ, परन्तु ये आलोचक भी अन्ततः तर से काव्य में भावुकता का विरोध ही कर सके, भावमयता का नहीं। टी० एस० इलियट ने एक ओर तो कविता को भाव से पलायन कहा और दूसरी ओर आब्जेक्टिव कोरिलेटिव के सिद्धान्त की स्थापना करते हुए पुनः प्रच्छन्न रूप में भाव को काव्य का आधारभूत तत्त्व स्वीकार कर लिया। उनका विरोध कदाचित् असंयत भावोच्छ्वासपूर्ण एवं व्यक्तिगत आत्माभिव्यक्तियों से था, भाव मात्र की अभिव्यक्ति से नहीं। उन्होंने बल इस बात पर दिया कि कवि अपने भाव बोध को निश्चित वस्तुओं, स्थितियों या घटना शृंखला के माध्यम से व्यक्त करता है, जो उस संवेग विशेष के लिए फार्मूला रूप हो जाती हैं।[६] इस रूप में इन बाह्य तथ्यों के उपस्थित होते ही संवेग तत्काल उद्बुद्ध हो जाता है।[७] अभिप्राय यह कि अपने विवेचन में आपाततः वस्तुनिष्ठ दृष्टि और शास्त्रीय प्रतिबद्धता का आभास देते हुए भी इलियट ने यह स्वीकार कर लिया

---

१ वर्क्स आफ लॉर्ड बायरन, लेटर्स एण्ड जर्नल्स, पृ० ५, ३१८

२ Thus to the r extreme verge the pas ions bro ight Dash into poetry which is but pass on — *Don Juan* IV CVI

३ आन पोएट्री इन जनरल, कम्पलीट वर्क्स, पृ० ५, ७

४ कोलरिज मिस्लेनिअस क्रिटिसिज्म, स० टी० एम० रेज़र, पृ० २०७

५ Romantische Welt *D e Fragmente* ed Otto Mann p 313

६ finding a set of objects a situation a chain of events which shall be the formula of that part cular emotion *Selected Essays* p 124

७ Such that when tl e external facts are given the emot on is imme d ately evoked *Ibid*

कि कलाकार का मुख्य दायित्व कलाकृति के माध्यम से संवेगों की अभिव्यक्ति ही होता है। कविता प्रायः अनेक संवेगो की जटिल अभिव्यक्ति होती है और उसके दौरान संवेग या संवेगों की सिद्धि जिन मूर्त उपादानो या स्थितियो के द्वारा की जाती है, इलियट ने उन्ही को 'ऑब्जेक्टिव कोरिलेटिव' कहा है।

इलियट के समसामयिक विख्यात आलोचक आइ० ए० रिचर्ड्स ने भी काव्य-भाषा को संवेगगर्भित माना है और इस प्रकार उन्होने परोक्ष रूप से काव्य की संवेगमयता का प्रतिपादन किया है। निष्कर्ष-रूप में यह निस्संकोच कहा जा सकता है कि रोमाण्टिक और इस धारा के विरोधी दोनों वर्गों के विद्वानों ने प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से काव्य मे अनुभूति-तत्त्व की महत्ता स्वीकार करते हुए उस पर बल दिया है।

पश्चिम के काव्यशास्त्र तथा सौन्दर्यशास्त्र में भाव या अनुभूति तत्त्व के वाचक एकाधिक शब्दों का प्रयोग किया जाता है। इन शब्दों में प्रमुख है—'इमोशन' (संवेग), 'फीलिंग' (अनुभूति), 'सेन्टिमेन्ट' (भाव), 'पैशन' (आवेग) तथा 'मूड' (मनःस्थिति)। इनमें से भी काव्य और कलाओं के संदर्भ मे 'इमोशन' का प्रयोग सर्वाधिक किया गया है।

काव्य मे 'इमोशन' का रूप क्या है, इस संबंध मे पाश्चात्य चिन्तन में कोई पूर्णतः निश्चित धारणा नही है, तथा इस शब्द का प्रयोग अत्यंत व्यापक रूप में विविध अर्थों में भाव या अनुभूति-मात्र के लिए किया जाता है। यहाँ तक कि यह शब्द वैचारिक अभि-व्यक्तियो एवं ऐन्द्रिय अनुभवों के अतिरिक्त मानव के आन्तरिक जगत के किसी भी पक्ष या अनुभव का वाचक हो सकता है। क्रमशः 'इमोशन' का प्रयोग काव्य एवं कलाओ के संदर्भ मे 'फ़ीलिंग' के व्यापक अर्थ में होने लगा है। सामान्यतः 'इमोशन' विशेष अनुभवों या वस्तुओ के प्रति हमारी 'अनुभूति' या 'मनोवृत्ति' मात्र का पर्याय है। 'फीलिंग' की अपेक्षा 'इमोशन' एक परिसीमित अवधारणा है। फिर भी प्राय. विद्वानों ने जहाँ इन दोनों शब्दो मे प्रयोग-भेद किया भी है, वहाँ वे इस अन्तर को तर्क-युक्ति द्वारा समझा नही सके। 'फीलिंग' के कम-से-कम तीन प्रचलित अर्थ है। पहले अर्थ मे यह शब्द उस 'ऐन्द्रिय' संवेदन का वाचक है जो ठण्डा-गरम, आर्द्र-शुष्क आदि अनुभवगम्य रूपो मे हमारे मस्तिष्क मे आता है। 'फीलिंग' का दूसरा अर्थ वह है जिसे मनोवैज्ञानिको ने प्रायः 'प्रभाव' कहा है। अर्थात किन्ही वस्तुओं या घटनाओं से मन पर पड़नेवाले प्रभाव का अनुभव। 'फ़ीलिंग' का तीसरा प्रयोग अनुभूतियों या संवेगो के अर्थ मे होता है। वस्तुतः मनोवैज्ञानिको और दार्शनिकों मे अनुभूति या संवेग के वास्तविक स्वरूप के विषय मे व्यापक मतभेद है। यह मतभेद 'संवेग' के स्वरूप की नियत व्याख्या संबंधी भी है और शारीरिक अवस्थाओं से संवेगो के संबध के विषय मे भी है। पाश्चात्य मनीषियों को एक ओर 'फीलिंग' और 'इमोशन' के बीच यथातथ्य व्यावर्त्तन करने में सफलता नही मिली और दूसरी ओर उनकी निश्चित स्वरूप-व्याख्या मे भी वे सफल नही हो सके। इसी उलझन से खिन्न होकर आइ० ए० रिचर्ड्स जैसे मनोवैज्ञानिक आलोचक ने यहाँ तक कहा कि : "मनोविज्ञान के क्षेत्र मे 'अनुभूति' शब्द जिस प्रकार अपना अर्थ परिवर्तित करता रहता है, वह भ्रम के स्रोत के रूप में कुख्यात है। इसलिए सुविधाजनक यही है कि इस शब्द को प्रीतिकर-अप्रीतिकर प्रतिक्रियाओ तक ही सीमित रखा जाए और संवेग के पर्याय के रूप मे इसका प्रयोग न

किया जाए, क्योंकि संवेग कहीं अधिक सरलता से आवयविक संवेदनों के आधार पर निर्मिति के रूप में ग्रहण किए जा सकते हैं।"[१]

रिचर्ड्स के अनुसार सामान्य व्यवहार में 'संवेग' उन मानसिक क्रियाओं का वाचक है, जो असामान्य उत्तेजना के क्षणों में घटित होती हैं। रिचर्ड्स प्रत्येक संवेगात्मक अनुभव की दो मुख्य विशेषताएँ मानते हैं।[२] इनमें से एक हमारी ग्रहणशील या संवेदनशील प्रणाली के फलस्वरूप होनेवाली शरीर के विभिन्न अंगों की मिश्र प्रतिक्रिया है। दूसरी एक निश्चित प्रकार की क्रियात्मक प्रवृत्ति है। किन्हीं वस्तुओं या स्थितियों के प्रति हमारी सहजात अन्तःशारीरिक संवेदनाएँ क्रमशः हमारी चेतना में आ जाती हैं और इन्हीं संवेदनाओं से किसी संवेग की विशेष चेतना के मुख्य भाग का निर्माण होता है।

इलियट ने अपना काव्य-सिद्धान्त 'फीलिंग', 'इमोशन' और 'सेन्सिबिलिटी' के त्रिक पर आधारित करते हुए, उन तीनों संज्ञाओं के बीच जो भेद-निरूपण किया है, वह प्रो० आर० पी० ब्लैकमर के अनुसार इस प्रकार है :[३]

इस त्रिक की आधारभूत संज्ञा अनुभूति (फीलिंग) है। यह मूर्त, ऐन्द्रिय, अणुवत्, अनुभवनिष्ठ और विशेष होती है। अनुभूतियों का ही व्यवस्थित रूप संवेग है। जब अनुभूतियाँ व्यवस्थित, सामान्यीकृत, सारभूत एवं रूपबद्ध होती हैं तो उन्हें संवेग कहते हैं। उदाहरण के लिए व्यक्ति की अनुभूति पर आघात किया जा सकता है, संवेग पर नहीं, किन्तु अनुभूति पर आघात करके उसके क्रोध को जाग्रत किया जा सकता है। इस प्रकार अनुभूति और संवेग में कार्य-कारण संबंध है।

संवेदन (सेन्सिबिलिटी) अनुभूतियों का संचित कोष है जिसके आधार पर प्रत्येक स्थिति में नवीन प्रतिक्रियाएँ व्यक्त होती हैं।

इसी प्रश्न से जुड़ा हुआ दूसरा प्रश्न कलागत संवेग तथा अनुभूति के अन्य रूपों के बीच व्यावर्तन का है। एच० आर० मैकेलम ने कलागत संवेगों का स्वरूप स्पष्ट करते हुए कहा है कि जो अस्पष्ट अनुभूतियाँ सामान्यतः ठेठ संवेग समझी जाती हैं उन्हें आवेग या भावोद्वेलन (इमोशन) की संज्ञा देना संगत है, इसके विपरीत 'संवेग' संज्ञा को निश्चित रूप में विवक्षित अनुभूतियों तक ही सीमित रखना चाहिए। इस प्रकार कलाकार जिसे अभिव्यंजित करता है, वही संवेग है और कलात्मक अभिव्यंजना में जो न आ सके, उसे संवेग कहना ठीक नहीं है। कलाकार की संघटना के माध्यम से ही 'आवेग' 'संवेग' का रूप ग्रहण करता है।"[४]

जहाँ एक ओर विद्वानों में 'अनुभूति' (फीलिंग) और संवेग (इमोशन) में भेद करके, संवेग को नियतार्थ में ग्रहण करने की प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है, वहाँ सूज़न लैंगर ने कला के संदर्भ में संवेग शब्द का ही परित्याग कर उसके स्थान पर अनुभूति शब्द

---

१ प्रिंसिपल्स, पृ० ६८

२ वही, पृ० १०१-१०२

३ द लायन एण्ड द हनीकूम, पृ० १७२-७३

४ 'कन्टेम्परेरी एस्थेटिक थ्योरी', इमिटेशन एण्ड डिज़ाइन, १९५३

को स्वीकार करते हुए 'अनुभूति' को व्यापक अर्थ प्रदान किया है। उनके अनुसार : "समस्त अनुभूत वस्तु अनुभूति है जिसके अन्तर्गत ऐन्द्रिय संवेदन, दुःख और सुख, उत्तेजना और विश्रान्ति, चरम जटिल संवेग, बौद्धिक तनाव अथवा चेतन मानव-जीवन के स्थायी अनुभूति-स्वर—सभी वस्तुएँ आ जाती है।"[१]

ज्यां पाल सार्त्र ने संवेग की प्रचलित व्याख्याओं से सर्वथा भिन्न एक नवीन व्याख्या प्रस्तुत की है। वे केवल 'संवेग' के अपने स्वरूप की व्याख्या करने के स्थान पर उसके कारण एवं प्रक्रिया पर भी विचार करते है। 'संवेग' की प्रकृति का स्पष्टीकरण करते हुए सार्त्र ने कहा कि : "संवेग प्रथमतः चेतना है, संसार-विषयक चेतना।"[२] जब कोई व्यक्ति भयभीत होता है तो भय का यह विषय आत्मेतर होता है। 'संवेग' की इस वस्तुनिष्ठता पर बल देते हुए सार्त्र ने उसकी मनोवैज्ञानिक व्याख्या का विरोध किया है।[3] उनका कहना है कि सभी मनोवैज्ञानिकों ने यह स्वीकार किया है कि यद्यपि 'संवेग' इन्द्रिय-बोध के द्वारा सक्रिय होते है तथापि एक बार सक्रिय होकर ये 'संवेग' विषय से पराङमुख होकर आत्मलीन हो जाते है; जबकि स्थिति इसके विपरीत है। 'संवेग' निरन्तर अपने विषय की ओर लौटता है, और वही उसका पोषण होता है। इस प्रकार सार्त्र ने 'संवेग' की विषयनिर्भरता पर बहुत अधिक बल दिया। उनके शब्दों में : "संवेग संसार को ग्रहण करने की विशिष्ट पद्धति है।"[४] उसे वे 'ट्रान्सफ़ॉर्मेशन ऑफ़ द वर्ल्ड' कहते है।

संवेग आस्थानिष्ठ तत्त्व है और इस दृष्टि से वह अपने अस्तित्व के लिए आस्था पर पूर्णतः निर्भर होता है। किसी वस्तु में जब तक पूरी आस्था नही होती, तब तक हम उसके गुणों को वास्तविक नही समझते; और जब तक गुणों की वास्तविकता की प्रतीति न हो, तब तक उसके प्रति सच्चे अर्थों में संवेग उत्पन्न नहीं होता।[५] सार्त्र संवेग की उत्पत्ति को स्वतःस्फूर्त मानते है और उसके अन्तर्गत दो तत्त्वों का समावेश करते हैं : एक का संबंध शरीर-धर्म से है और दूसरे का चैतन्य के प्रत्यक्ष अनुभव से है; और इन दोनों तत्त्वों को अनुभव की प्रत्यक्षता ही परस्पर संयुक्त करती है। साथ ही सार्त्र ने यह भी स्वीकार किया है कि संवेग में अपना नैरन्तर्य स्थापित किए रखने की प्रवृत्ति होती है। यही नही, बल्कि उन्होने 'स्वप्न-जगत' के समान 'संवेग-जगत' के अस्तित्व की चर्चा की है, जिसका तात्पर्य यह है कि संवेग कोई एक मानसिक इकाई नहीं, बल्कि उसका एक अपना 'संसार' होता है।

निष्कर्ष-रूप में संवेग-विषयक पाश्चात्य चिन्तन निम्नलिखित है :

१. संवेग काव्य का आधारभूत तत्त्व है। रोमाण्टिक विचारकों ने प्रत्यक्ष रूप से और रोमाण्टिक विचारधारा के विरोधी विद्वानों ने परोक्ष रूप से यह स्वीकार किया है कि कविता में किसी-न-किसी रूप में संवेगों की अभिव्यक्ति ही प्रधान होती है।

---

[१] प्रॉबलम्स ऑफ़ आर्ट, पृ० १५

[२,3] द इमोशन्स, आउटलाइन ऑफ़ ए थ्योरी, पृ० ५१

[४] वही, पृ० ५८

[५] वही, पृ० ७३–७५

२ काव्य मे सवेग का स्वरूप क्या है इस प्रश्न का अन्तिम रूप म समाधान सहज सभव नही है। इमोशन की यथातथ्य व्याख्या करने तथा उसे अनुभूति के अन्य रूपो से अलगाने के प्रयास म सवेग की विविध विशषताओ की ओर तो सकेत किया गया किन्तु इस विषय म आत्यन्तिक रूप से निर्णय सभव नहीं हो सका।

३ सवेग अनुभूतिपरक होता है इस सबध म प्राय मतभेद नहीं है। परन्तु वह अनुभूति या व्यापक अर्थ मे फीलिंग से भिन्न और विशिष्ट है ऐसा भी अधिकांश विद्वानो ने माना है। सवेग फीलिंग का विशेष रूप या अवस्था है ऐसा बहुमत म मान्य है।

४ इमोशन फीलिंग एटिट्यूड सण्टिमेण्ट मूड पैशन आदि विविध शब्दो का प्रयोग काव्य मे अनुभूति-तत्त्व के वाचक के रूप म किया गया है और इन शब्दो के विविध अर्थों म किए जानेवाले शिथिल प्रयोगो से इनसे उत्पन्न अनिश्चय और असमजस की ओर भी प्राय विद्वानो का ध्यान गया है।

५ इमोशन की जिन विशेषताओं का निर्देश विद्वानो ने किया है विशेषकर वे गुण जो उस अनुभूति के अन्य रूपो से अलगाते हैं इस प्रकार हैं

(क) सवेग उन मानसिक क्रियाओ का वाचक है जो असामान्य उत्तेजना के क्षणों म घटित होती है। ये सवेगात्मक अनुभव मिश्र प्रतिक्रियाओ के रूप म घटित होते हैं। वे शरीर की उन आंगिक प्रतिक्रियाओ के वाचक हैं जो सहजात रूप म क्रमश हमारी चेतना म आ जाती हैं। (रिचड्स)

(ख) अनुभूति सवेग का मूल है। अनुभूतियाँ जब व्यवस्थित सामान्यीकृत सारभूत एव रूपबद्ध होती हैं तो उन्हे सवेग कहते हैं। अनुभूति और सवेग म कार्य-कारण सबध है। (इलियट)

(ग) सवेग निश्चित रूप मे विकसित अनुभूति का पर्याय है। वह केवल कलात्मक अभिव्यजना तक परिसीमित है। उसके ग्राहक या इतर क्षत्र म व्यजित अनुभूति आवेग है। यही आवेग कलाकार की सर्जना के माध्यम से सवेग का रूप ग्रहण करता है।

(मकेलम)

(घ) सवेग अनुभूति का विशिष्ट भेद है। अनुभूति (फीलिंग) व्यापक अवधारणा है जो अनुभव के सभी रूपो की वाचक है। (सूजन लगर)

(ङ) सवेग चेतना है—निरन्तर विषयोन्मुख चेतना। विषय निर्भरता उसका अनिवार्य गुण है। यह ससार को ग्रहण करने की विशिष्ट पद्धति है। अत उसकी उत्पत्ति या उद्बोधन के लिए वस्तु के गुणो मे आस्था आवश्यक है। (सार्त्र)

(च) सवेग के दो मुख्य तत्त्व है—एक का सबध शरीरधर्म से है और दूसरे का चतन्य की प्रत्यक्ष अनुभूति से। इन दोनो तत्त्वो को अनुभव की प्रत्यक्षता परस्पर सयुक्त करती है। (सार्त्र)

(छ) सवेग मानसिक इकाई के रूप म नही निजी ससार के रूप म होता है। वह सरल एकाकी अनुभव नहीं जटिल वैचित्र्यपूर्ण मिश्र अनुभव होता है। (सार्त्र)

भाव और संवेग : तुलना

प्राच्य और पाश्चात्य दोनों चिन्तन-परंपराओं में भाव एवं संवेग को काव्य का मूल तत्त्व माना गया है। एक ओर अभिनवगुप्त ने 'स्थाय्येव रसः' कहकर रसाभिव्यक्ति के आधार-तत्त्व के रूप में 'भाव' की प्रतिष्ठा की तो दूसरी ओर पश्चिम में भी काव्य-मात्र को विविध रूपात्मक शब्दावली के अन्तर से संवेगों की अभिव्यक्ति स्वीकार किया गया है।

भाव अनुभूति-रूप है, जिसका संबंध व्यक्ति की अन्तस्संज्ञा से है, यह भी पूर्व और पश्चिम के विद्वानों ने समान रूप से स्वीकार किया है। जहाँ अभिनवगुप्त, भोज आदि ने उसे चित्तवृत्ति-रूप कहा है, वहाँ पश्चिमी विद्वानों ने भी संवेग को अनुभूति का ही विशिष्ट भेद स्वीकार किया है। इस विषय में दोनों ही चिन्तन-परंपराओं में कोई यथातथ्य, पूर्णतः निश्चित व्याख्या नही मिलती कि इस अनुभूति का रूप क्या है। किन्तु इतना निश्चित है कि रस-सिद्धान्त में प्रतिपादित 'भाव' का स्वरूप रोमाण्टिक कवियों की भाव-विषयक उस अवधारणा से भिन्न है, जिसके अनुसार उसे सर्वथा सहजात अन्तःस्फूर्त उच्छलन माना गया है। भारतीय आचार्यों ने भाव का आधार संस्कार या सवासन चित्त को तो माना है और इस अर्थ में भाव सहजात है; परन्तु संस्कार या वासना वह मूल है, जिसके आधार पर काव्य मे भाव भावित या व्याप्त रहता है। काव्यकृति की दृष्टि से उसमें वासित, भावित या व्याप्त यह भाव—मात्र उद्वेलन या उच्छलन नहीं है। वह विवेकयुक्त, स्थिर और स्पष्ट मनःस्थिति है, जो विभावादि में भाव-रूप में व्याप्त या वासित रहती है, भावज्वार या भावावेश नही है। इस अर्थ में भाव-विषयक भारतीय अवधारणा पश्चिम के आधुनिक नव्य-क्लासिकी विचारकों की तद्विषयक अवधारणा से अधिक मेल खाती है, जहाँ संवेगों को अनुभूति का व्यवस्थित, रूपबद्ध और सामान्यीकृत रूप स्वीकार किया गया है। इस समानता का एक निश्चित ऐतिहासिक कारण है। भारतीय रस-सिद्धान्त और पाश्चात्य रोमाण्टिसिज्म व्यक्तिवादी आत्मकेन्द्रित रोमानी विचार-पद्धति है। इसलिए जैसा कि आनन्द कुमारस्वामी ने स्पष्ट किया है, भारतीय या प्राच्य कला-चिन्तन को व्यक्तिवादी रोमाण्टिक विचार-प्रणाली की अपेक्षा यूरोप के मध्ययुगीन शास्त्रवादी चिन्तन के अधिक निकट समझना चाहिए।[१] यही कारण है कि जहाँ रस-सिद्धान्त में बार-बार काव्य मे व्याप्त भाव के वस्तुगत रूप की व्याख्या और चर्चा की जाती है, वहाँ रोमाण्टिक चिन्ता-धारा में काव्य के माध्यम से अभिव्यक्त कवि-भावना की। रस-सिद्धान्त में आरम्भ से ही सामान्य लौकिक भाव और काव्यगत भाव में भेद करने के अनेक कारणों में से एक यह भी था कि भारतीय आचार्य उसे अधिक-से-अधिक वस्तुगत रूप देकर साधारणी भाव या सामान्य भाव के रूप में उपस्थित करना चाहते थे। परन्तु इससे यह भ्रम नहीं होना चाहिए कि उन्होंने कही एक क्षण के लिए भी उसकी अनुभूत्यात्मकता का निषेध किया है। अभिनवगुप्त ने तो आध्यात्मिक आनन्द से काव्यानन्द का भेद इसी आधार पर निरूपित किया है कि उसमें

---

१ In an admirably well conceived essay on the Theory of Art in Asia, Mr. Ananda K. Coomaraswamy has shown that the aesthetic individualism which has run rampant since the Renaissance was a divergence from the medieval ideal, while the latter accords with the practice and principles of oriental art in general.

Osborne Harold : *Aesthetics and Criticism*, p. 140.

हृदय तत्त्व की प्रधानता होती है। इसके अतिरिक्त जिन स्थायी भावों का निर्देश रस सिद्धान्त म किया गया वे सब तो अनुभूति रूप हैं ही अधिकाश सचारियों का सबध भी अनुभूति से है। केवल कुछ का रूप बौद्धिक है और कुछ अन्य का शारीरक्रियात्मक। परन्तु रस का आधार स्थायी भाव ही होते हैं सचारी नहीं और रस-सूत्र में भरत ने स्थायी का पृथक रूप से उल्लेख न करके यह लगभग सिद्ध कर दिया कि रस अनिवार्यत भावमूलक होता है। कवि और सामाजिक के सदभ मे भाव की हृद्गत सत्ता स्वीकार करना भी उसकी अनुभूतिरूपता की स्वीकृति है।

आधुनिक आचार्यों म आचाय शुक्ल ने भी जहाँ शास्त्रीय विवेचन म भाव का व्यापक अथ ग्रहण करते हुए सचारी भाव अनुभाव एव सात्त्विक आदि सभी को भाव के अन्तगत समाविष्ट कर लिया वहाँ उन्होंने काव्य मे रागात्मिका वृत्ति और हृदय-तत्त्व की प्रधानता पर भी निरतर बल दिया।

भाव की अनुभवरूपता का समर्थन बाबू गुलाबराय ने भी किया। वे उसे मन का विकार मानते हैं जिसमे सुख दुखात्मक अनुभव के अतिरिक्त भी बहुत कुछ आ जाता है।

डा० नगेन्द्र ने तो अत्यत स्पष्ट शब्दों म भाव की सवेदनरूपता का प्रतिपादन किया है। व उसे बाह्य जगत के सवेदनो से मनुष्य के हृदय म उठनेवाले विकार मानते हैं। हृदय म उठनेवाले विकारो का सबध हार्दिक अनुभूतियो से ही होगा।

इस सबध म तो भारतीय और पाश्चात्य विचारकों मे प्राय सहमति है कि काव्य का आधार तत्त्व भाव या सवेग है जिसका रूप अनुभूतिपरक होता है परन्तु इस अनुभूति की वाचक सज्ञा पूव मे नियत है। विशषकर काव्य और कला सबधी चिन्तन में निरपवाद रूप से सवत्र अनुभूति या राग-तत्त्व के वाचक के रूप मे 'भाव' शब्द का प्रयोग किया गया है। इसके विपरीत पश्चिम म यह अवधारणा इतनी अनिश्चित है कि इसके लिए अनेक शब्दों का प्रयोग मिलता है जिनका रूप ही नहीं सबद्ध अवधारणाएँ और अथछायाएँ भी परस्पर भिन्न है। फीलिंग और इमोशन जैसी स्थिर अवधारणाओ से लेकर पैशन और इमोशन जसी आवेश और आवेगजन्य मन स्थितियों को काव्य और कलाओ के दायरे म समेट लिया गया है जबकि मात्र उद्वलन आवेग या आवेश की अभिव्यक्ति कला नहीं हो सकती। कला या काव्य का रूप ग्रहण करने के लिए उससे व्यवस्था सतुलन ठहराव का होना अनिवाय हो जाता है। इसीलिए कदाचित आधुनिक सौन्दयशास्त्रियों ने पुन सभी शब्दो का निषध करते हुए 'फीलिंग' के प्रयोग का समथन किया है क्योंकि उसमे कम से कम भाव की मूल विशषता अनुभूतिरूपता का तो निश्चय हो ही जाता है। पश्चिम मे काव्यगत सवेग के स्वरूप के सबध म जो अनिश्चय व्याप्त था उससे जहाँ एक ओर उलझन पैदा हुई वहाँ दूसरी ओर उसके स्वरूप को स्पष्ट करने का निरतर प्रयास हुआ। भारतीय आचार्यों ने जहाँ उसे चित्तवृत्ति विशष कहकर छोड दिया वहाँ पश्चिम के विद्वानो ने उसके एकाधिक लक्षण निरूपित किए और इस प्रकार कुछ अधिक स्पष्ट और नियत विशषताएँ उभर कर सामने आईं। उदाहरण के लिए 'सवेग' अनुभूति का व्यवस्थित रूप है। सवग असामान्य उत्तजना की स्थिति का परिणाम है। वे हमारी शारीरिक और मानसिक प्रतिक्रियाओ के मिश्र रूप म चेतना मे घटित होते हैं। सवेग का रूप ग्रहण करने

के लिए अनुभूति की निश्चित रूप में विवक्षा अनिवार्य है तथा संवेग के लिए विषय में आस्था और निरंतर विषयोन्मुखता आवश्यक है। इस प्रकार आपाततः आत्मनिष्ठ प्रतीत होते हुए भी संवेग चेतना की वहिर्गामी या वहिर्मुखी वृत्ति है। स्पष्ट ही भारतीय विद्वानों द्वारा प्रस्तुत भाव का लक्षण जहाँ इस दृष्टि से स्पष्ट है; वहाँ सरल और सपाट भी; जिसकी तुलना में पश्चिम के विद्वानों द्वारा किया गया विवेचन अधिक पूर्ण, सूक्ष्म और मनोवैज्ञानिक है, जिससे अपर्याप्तता का वोध नही होता। किन्तु उसकी सबसे वड़ी परिसीमा मतभेद के कारण उत्पन्न उलझाव है, जो भारतीय मत में विल्कुल नहीं है।

भावों के स्वरूप से संवद्ध दूसरा महत्त्वपूर्ण प्रश्न शारीरिक प्रतिक्रियाओं से उनके संवंधं का है। भारतीय आचार्यों ने 'भाव' का प्रयोग अत्यंत व्यापक अर्थ में किया है। एक ओर तो वे 'स्थायी भावों' के रूप में भाव की सत्ता चित्तवृत्ति-रूप मानते है, और दूसरी ओर काव्यार्थ के रूप में और तीसरे इस काव्यार्थ की व्यंजक समस्त रस-सामग्री के रूप में। उक्त तीनों अर्थो की विवक्षा भरत के भाव-विवेचन के आधार पर ही स्वीकार की गई, परन्तु क्रमशः इस व्यापक अर्थ-परिवेश का विरोध कर उसे मनोभाव के अधुना अर्थ में परिसीमित कर दिया गया। मनोभाव के अर्थ मे 'भाव' का प्रयोग केवल कवि या सहृदय के संदर्भ मे ही किया जा सकता है, काव्यकृति मे भाव की सत्ता या स्वरूप का संवंध ऐसी स्थिति मे व्याख्येय ही रह जाता है। आचार्य शुक्ल ने आधुनिक काल मे पुनः भाव का प्रयोग प्राचीनों के व्यापक अर्थ में करते हुए उसमें स्थायी, संचारी के अतिरिक्त अनुभाव तथा सात्त्विकों का भी अन्तर्भाव कर लिया और मानव-मन की अन्तस्संज्ञा में प्रवृत्ति या संस्कार-रूप में वर्तमान वासनाओं का भी समावेश किया। परन्तु काव्यार्थ या काव्य-सामग्री को वे भाव के अन्तर्गत परिगणित न कर सके। भाव की अन्तर्निष्ठा के संवंध में पाश्चात्य मनोविज्ञान के प्रभाव से वे कुछ इतने आश्वस्त हो गए थे कि अनुभाव और संचारियों को भावों के अन्तर्गत समाविष्ट करके भी उन्होने उन्हीं को स्वीकृति दी, जो विशुद्ध शारीरिक संवेदन न होकर, किसी-न-किसी स्तर पर मनोभावों से संवद्ध हो।

पश्चिम में काव्य में 'संवेग' या 'अनुभूति' की महत्ता तो स्वीकार की गई, कला को संवेगों की अभिव्यक्ति भी माना गया, और इस प्रकार कहा जा सकता है कि उन्होंने 'संवेग' को ही परोक्ष रूप में काव्यार्थ स्वीकार कर लिया, परन्तु वहाँ प्रायः शास्त्रीय रूप में उसी प्रकार 'संवेग' का अर्थ-विस्तार नही किया गया, जिस प्रकार यहाँ भाव का। केवल शारीरिक संवेदनों या प्रतिक्रियाओं को 'संवेग' या 'भाव' के अन्तर्गत समाविष्ट करने की समस्या वहाँ भी उठाई गई। भारतीय आचार्यों का मत इस विषय में भी अत्यंत स्पष्ट और द्विधारहित है। स्थायी भाव यहाँ चित्त की वृत्तियाँ—अतः अनुभूतिरूप है। संचारियों मे निश्चय ही कुछ शारीरिक प्रतिक्रियाओं का भी समावेश कर लिया गया है और अनुभाव और सात्त्विक तो शरीरगत ही होते है। परन्तु जैसा 'अनुभाव' शब्द से स्पष्ट है, वे भावों का अनुगमन करते है और सात्त्विक तो इतनी दूर तक भावाश्रित होते है कि उनके लिए सचेष्ट प्रयास भी नही करना पड़ता। संचारियों में भी स्थूल रूप से उन्हीं शारीरिक वृत्तियों को स्वीकार किया गया है, जो भावाश्रित होती है। इस प्रकार भारतीय मत के अनुसार 'भाव' के अन्तर्गत चित्तवृत्तियों के साथ वे शारीरिक वृत्तियाँ भी अन्तर्भूत है, जो भावों पर आश्रित रहती है या उनका अनुगमन करती है। पश्चिम में भी शरीर-धर्म को 'संवेग' रूप

मानने का प्रश्न उठाया गया है। जैसा स्पष्ट किया जा चुका है, रिचर्ड्स और सार्त्र आदि सौन्दर्यशास्त्रियों एवं समीक्षकों ने कलात्मक मनोवेग के अन्तर्गत शारीरिक प्रतिक्रियाओं को भी समाविष्ट किया है, और दूसरी ओर मनोविज्ञान में भी इस प्रश्न को लेकर पर्याप्त विवाद और मतभेद है। वहाँ व्यक्ति की कुछ मूलवृत्तियों (बेसिक इन्सटिंक्ट्स) के आधार पर सबद्ध मनोवेगों (पैशन्स) और सबद्ध या परिणामी शारीरिक वृत्तियों की चर्चा तो की गई, किन्तु काव्य के क्षेत्र में जिन संवेगों को स्वीकार किया गया है, उनमें मनोवेगों के अतिरिक्त शरीर-धर्म या शारीरिक वृत्तियों को भी ग्रहण करना चाहिए या नहीं, इस विषय में निर्विवाद रूप से कोई एक मत निश्चित एवं सर्वमान्य न हो सका।

अभिव्यंजना और व्यंजना

संवेग की अभिव्यंजना

काव्यकृति की संवेगभिता प्रमाणित हो जाने के उपरान्त यह प्रश्न विचारणीय रह जाता है कि संवेगों से काव्यकृति का संबंध किस प्रकार का होता है? संवेगवादी विचारकों ने प्राय अभिव्यंजना सिद्धान्त का सहारा लेकर कहा है कि काव्य संवेगों की 'अभिव्यंजना' है। सौन्दर्यशास्त्र एवं काव्यशास्त्र में संवेगवाद प्राय अभिव्यंजनावाद से संबद्ध रहा है। कला अथवा काव्य में संवेगों की प्रधानता स्वीकार करने वाले विचारकों ने संवेगों की 'अभिव्यंजना' अथवा 'अभिव्यक्ति' के रूप में कला की परिभाषा की है। इस मान्यता के अनुसार कला और संवेग के बीच 'अभिव्यंजकता' का संबंध है। रोमाण्टिक कवियों के प्रभाव से 'संवेगों की अभिव्यंजना' का सिद्धान्त काव्य और कला-चिन्तन के क्षेत्र में व्यापक रूप से प्रचलित हुआ, जिसकी लोकप्रियता आज भी कम नहीं हुई है।

क्रोचे, ब्रैडले, बोसांके, सटायना, कॉलिंगवुड, कैरिट, डुकास जैसे बीसवीं शताब्दी के प्रमुख भाववादी सौन्दर्यशास्त्री किसी-न-किसी रूप में कला को संवेगों की अभिव्यंजना के रूप में स्वीकार करते हैं। दूसरी ओर जो रोमाण्टिसिज्म के विरोधी हैं, वे भी इस अभिव्यंजनावाद के प्रभाव से बच नहीं सके हैं। टी० एस० इलियट ने तो स्पष्ट शब्दों में स्वीकार किया है कि कवि संवेगों और अनुभूतियों की अभिव्यंजना के लिए प्रयास करता है, आइ० ए० रिचर्ड्स जैसे विधेयवादी विचारक भी कोलरिज के प्रभाव में अभिव्यंजनावादी काव्य सिद्धान्त का उपयोग करते प्रतीत होते हैं।[1] जहाँ तक लोकव्यवहार का संबंध है, वहाँ हम प्राय कला और काव्य-चर्चा में अभिव्यंजना शब्द का सामान्य एवं व्यापक प्रयोग हर किसी के मुख से सुनने के अभ्यस्त हैं। किन्तु जहाँ एक ओर 'अभिव्यंजना' शब्द का सामान्य अर्थ में प्रचलन है, वहाँ दूसरी ओर विचारकों ने इसको निश्चित अर्थ भी प्रदान करने का प्रयास किया है। बीसवीं शताब्दी में अनेक विचारकों ने यह अनुभव किया कि 'अभिव्यंजना' जैसे अनिश्चित एवं अस्पष्ट अर्थ वाले शब्द के द्वारा शास्त्रीय चिन्तन में अग्रसर होना असंभव है।

आधुनिक युग में सौन्दर्यशास्त्रीय चिन्तन में 'अभिव्यंजना' संज्ञा के सम्मानित पद और व्यापक प्रचलन का श्रेय असंदिग्ध रूप से इतालवी चिन्तक क्रोचे को है। क्रोचे का

---

[1] हैरल्ड ऑस्बोर्न एस्थेटिक्स एण्ड क्रिटिसिज्म, पृ० १४८

सीधा, सरल एवं संक्षिप्त सूत्र है : कला अभिव्यंजना है। अपनी सरलता एवं संक्षिप्तता के कारण ही यह सूत्र प्रभावशाली भी हुआ। परन्तु, जैसा कि जेम्स स्मिथ ने कहा है,[१] इस सरलता और संक्षिप्तता के द्वारा वह अनेक जटिल समस्याओं से भी अपने को मुक्त कर लेता है। यदि क्रोचे से पूछा जाए कि अभिव्यंजना क्या है तो तत्काल उनका उत्तर होगा कि अभिव्यंजना कला है। स्पष्ट ही ये दोनों शब्द 'रिक्त पर्याय' हैं और एक-दूसरे पर कोई प्रकाश नहीं डालते। प्रकाश प्राप्त करने के लिए क्रोचे पुनः परिभाषा देने को बाध्य होते हैं; किन्तु वे परिभाषाएँ भी बहुत-कुछ यादृच्छिक ही हैं। प्रथमतः वे अभिव्यंजना से संवेग के तथाकथित शारीरिक परिणामों को खारिज कर देते हैं। उदाहरण के लिए चोट खाए मनुष्य का पीड़ा से चीख उठना। वे इस चीख को अभिव्यंजना के अन्तर्गत इसलिए स्वीकार नहीं करते कि उसमें कोई 'विजन' या सिद्धान्त नहीं होता। दूसरी वस्तु जिससे अभिव्यंजना को क्रोचे पृथक करते हैं, वह है बाह्यरूपायन (एक्सटर्नलाइजेशन)। उनके अनुसार तूलिका या छेनी उठने से पहले ही अभिव्यंजना-व्यापार समाप्त हो जाता है; क्योंकि उसके बाद तो कलाकार का 'विजन' मस्तिष्क से हटकर संगमरमर या फलक जैसी स्थूल वस्तुओं पर स्थानान्तरित हो जाता है। किन्तु चित्र एवं मूर्तिकला से हटकर काव्य के क्षेत्र में आते ही क्रोचे यह कहते लक्षित होते हैं कि जब तक कवि का 'विजन' उसके मस्तिष्क में शब्दों का रूप नहीं ले लेता, तब तक 'अभिव्यंजना' का कार्य समाप्त नहीं होता। कहना न होगा कि इन दोनों वक्तव्यों में स्पष्ट असंगति है। चित्रकला एवं मूर्तिकला के संदर्भ में बाह्य रूपायन रेखा कुरेहने, रंग भरने एवं पाषाण उकेरने तक विस्तृत है तो काव्य के संदर्भ में केवल प्रूफ़ देखने तक सीमित है। इस प्रकार क्रोचे की 'अभिव्यंजना' असंगतिपूर्ण ही नहीं, बल्कि प्रातिभ ज्ञान के समान नितान्त रहस्यपूर्ण सत्ता भी है, जिसकी न तो सर्जक के लिए कोई उपयोगिता है, न ग्राहक के लिए।

'अभिव्यंजना' शब्द के प्रयोग की व्यापकता और अराजकता का उल्लेख करते हुए सूज़न लैंगर ने लिखा है कि : "सौन्दर्यशास्त्र के ग्रंथों में इस शब्द का प्रमुख स्थान है; क्योंकि वह एकाधिक अर्थों में प्रयुक्त होता है और परिणामस्वरूप पुस्तक-पुस्तक में ही नहीं बल्कि एक ही पुस्तक के अन्तर्गत अनुच्छेद-अनुच्छेद में इसका अर्थ परिवर्तित होता रहता है।"[२] इसी प्रकार की कठिनाई का अनुभव करते हुए एक अन्य विचारक स्तोलनित्ज ने लिखा है कि 'अभिव्यंजना' शब्द अत्यन्त अस्पष्ट है और उसका एक स्पष्ट निश्चित अर्थ निर्धारित करना कठिन है। इधर 'अभिव्यंजना' के अर्थ संबंधी विश्लेषण की दिशा में व्यवस्थित प्रयास हुए हैं, किन्तु इनमें से किसी भी प्रयास को कदाचित् पूर्ण सफल नहीं कहा जा सकता। यदि 'अभिव्यंजना' शब्द का प्रयोग करनेवाले कुछ व्यक्ति इन समस्याओं का उल्लेख नहीं करते तो इसका अर्थ यह नहीं है कि उन्होंने उन समस्याओं का समाधान प्राप्त कर लिया है। बल्कि यह है कि उन्होंने समस्याओं की उपेक्षा की है।[3]

प्रश्न यह है कि जब हम कला या काव्य को संवेगों की अभिव्यंजना कहते हैं तो

---

१ स्क्रूटिनी, जिल्द २, संख्या १, जून १९३३

२ फ़ीलिंग एण्ड फ़ॉर्म, पृ० २५

3 एस्थेटिक्स एण्ड फ़िलॉसफ़ी ऑफ़ आर्ट क्रिटिसिज़्म, पृ० २४९-५०

'अभिव्यजना' से हमारा ठीक ठीक अभिप्राय क्या होता है ? दूसरे शब्दों में अभिव्यजना की प्रकृति क्या है ? यदि इसी बात को और भी निश्चित भाषा मे रखें तो 'अभिव्यजित और अभिव्यजक' म क्या सबध होता है ?

सर्वविदित है कि पूर्ववर्ती कवियो एव विचारको ने काव्य को भावो की अभिव्यजना मात्र कहकर सतोष कर लिया और उन्होंने इससे आगे जाने की आवश्यकता नही समझी। सौन्दर्यशास्त्र म भावाभिव्यजना को सैद्धान्तिक रूप प्रदान करनेवाले उन्नीसवी शताब्दी के प्रसिद्ध चिन्तक यूजीन वेरोन को शब्द प्रयोग के विषय म सावधानी की आवश्यकता का भी अनुभव नही हुआ और उन्होंने 'एक्सप्रेशन' के स्थान पर निस्सकोच भाव से 'मैनिफेस्टेशन' शब्द का प्रयोग किया।[१] स्पष्ट है कि अपने ज्ञान अथ के अनुसार सवेग का मनिफेस्टेशन आगिक चेष्टा अथवा उद्गार के रूप मे होता है और सभी सौन्दयशास्त्री जानते हैं कि सवेगो का उदगार मात्र कलात्मक नहीं होता। भावावेश म 'आह', 'ओह', या चीख के रूप म भी व्यक्ति के उदगार व्यक्त होते हैं। ऐसे उदगारों से किसी व्यक्ति म सवेग विशेष के अस्तित्व का पता तो चलता है, किन्तु उनम सवेग की अभिव्यक्ति होना अनिवाय नही है। जैसा कि डुकास ने कहा है कला स्वत स्फूत क्रिया की भाँति अधी नही है बल्कि वह सचेत और उत्तरदायित्वपूर्ण व्यापार है।[२] इसलिए उदगार से अभिव्यजना को अलग करना आवश्यक है।

इसी प्रकार सवेगो को व्यक्त करने का एक रूप यह भी है कि उनका वणन किया जाय। उदाहरण के लिए यदि कोई क्रोध-दग्ध व्यक्ति यह घोषणा करे कि मैं क्रुद्ध हूँ और फिर वह अपनी स्थिति का ब्यौरेवार वणन करे तो उस आचरण को क्रोध की 'अभिव्यजना' न कहेगे। इस सदर्भ मे कॉलिगवुड ने सवेगो के वणन से सवेगो की अभिव्यजना को अलग करते हुए स्पष्ट शब्दो म कहा है कि वर्णन अभिव्यजना नहीं है।[३] इसलिए कॉलिगवुड के अनुसार सच्चा कवि जिन सवेगो को अनुभव करता है उनका उल्लेख उनके नाम से नहीं करता।[४] इसके पश्चात उन्होंने अभिव्यजना को अधिव्यक्ति (बिट्रेइग) से पृथक करते हुए कहा है कि सवेगो के लक्षणो का प्रदर्शन अभिव्यजना नही है, क्योंकि वह प्रदर्शन एक प्रकार से सवेगो की अधिव्यक्ति मात्र है।[५] अन्त मे अभिव्यजना का विशिष्ट लक्षण बतलाते हुए कॉलिगवुड ने विशदता (लूसिडिटी) और बोधगम्यता (इण्टेलिजिबिलिटी) का उल्लेख किया है। उनके अनुसार जब कोई व्यक्ति कुछ अभिव्यजित करता है तो उसके द्वारा वह, जिसकी अभिव्यजना करनी है उसके प्रति सचेत हो जाता है और दूसरो को भी इस योग्य बना देता है कि अपने और स्वय उनके अन्दर की उस अभिव्यजना के प्रति सचेत हो जाएँ।[६]

कॉलिगवुड के इस सूत्र को जैसे और भी स्पष्ट करते हुए स्पार्शाट ने अभिव्यजना

---

१ एस्थटिक्स (अनु० आक्सट्राग), पृ० ८६
२ द फिलासफी आफ आट, पृ० ११४
३ द प्रिंसिपल्स ऑफ आर्ट, पृ० १११
४ वही, पृ० ११२
५ वही, पृ० १२१
६ वही, पृ० १२२

को विवक्षा (आर्टिकुलेशन) की संज्ञा दी है, जिसमें विवक्षा का अर्थ सामान्य कथन-मात्र नहीं वल्कि उसमें अव्यक्त को व्यक्त करना, अस्पष्ट को स्पष्ट करना एवं अमूर्त को मूर्त करना आदि भी सम्मिलित हैं। विवक्षित रूप में ही संवेग अपनी संपूर्ण जीवंतता, गहराई और अर्थवत्ता प्राप्त करता है। किसी संवेग को दूसरे के लिए बोधगम्य बनाने का तात्पर्य केवल बुद्धिग्राह्य बनाना नहीं, बल्कि प्रत्यक्ष करना भी है। अविवक्षित स्थिति में जो संवेग अस्पष्ट, निराकार एवं अव्यवस्थित आवेग-मात्र होता है, वह कला-रूप मे विवक्षित होने पर रूपबद्ध संघटना प्राप्त करता है।[१]

इस प्रकार विवक्षा के द्वारा अभिव्यंजना का अर्थ बहुत-कुछ स्पष्ट हुआ, किन्तु अभिव्यंजित और अभिव्यंजक के निश्चित संबंध पर प्रकाश न पड़ सका। इस संबंध को निरूपित करने की दिशा मे प्रथम गंभीर प्रयास डुकास ने किया है। डुकास के अनुसार कलावस्तु और 'अनुभूति-आयात' (फ़ीलिंग इम्पोर्ट) के बीच न तो वाच्य-वाचक संबंध है, न कार्य-कारण संबंध। यह संबंध इन दोनों की अपेक्षा कहीं अधिक घनिष्ठ है। वे कला-वस्तु को संवेग के 'तात्कालिक प्रतीक' की सज्ञा देते हैं। वह ऐसा कुछ नहीं है जिससे हम संवेग का निगमन करें और न तो 'नाइट्रस ऑक्साइड' जैसी कोई ऐसी वस्तु है जो स्वयं तो संवेगहीन हो किन्तु दूसरों में संवेग उद्‌बुद्ध करे। कलावस्तु वस्तुतः संवेगगर्भित होती है; इसलिए उस संवेग का आस्वाद प्राप्त करने के लिए हमें कलावस्तु को प्रतिग्रहण मात्र करना पड़ता है। इस प्रकार डुकास के मत को प्रस्तुत करते हुए जेरोम स्तोलनित्ज ने अपनी टिप्पणी दी है कि संवेगवादी सिद्धान्त समग्र कलाकृति के साथ तभी न्याय कर सकता है, जब वह संवेगात्मक अभिव्यंजना को कलाकृत्ति का अवयव स्वीकार कर ले। आलोचना का विषय वह सिद्धान्त तभी बनता है, जब वह संवेग को कृति-बाह्य मानता है। इसलिए कलात्मक संमूर्तन के अन्तर्गत और माध्यम के अतिरिक्त सवेग का कोई अस्तित्व नही है।[२]

वस्तु एवं अभिव्यंजित संवेग के संबंध पर प्रकाश डालते हुए एक अन्य विचारक प्रो० हेनरी डेविड एकेन ने कहा है कि : "उन दोनों में साध्य-साधन संबंध नही होता, वल्कि वे एक संबद्ध इकाई के अन्तर्गत परस्परावलम्बनकारी अंग रूप होते है।"[3] एकेन के इस कथन से एक बात अत्यन्त स्पष्ट होकर सामने आती है कि अभिव्यंग्य वस्तु और अभिव्यंजित संवेग मे साधन-साध्य संबंध नही है; क्योकि कलाकृति में वस्तु संवेग का साधन मात्र नहीं होती और न ही संवेग वस्तु का साध्य होता है। वस्तुतः किसी कलाकृति मे वस्तु एवं संवेग आवयविक रूप से इस प्रकार परस्पर संयुक्त-रूप में संयुक्त होते है कि वे संयुक्त रूप मे परस्पर समर्थनीय एवं परस्पर समर्थक होते हैं।[४] अभिव्यंजक वस्तु और अभिव्यंजित

---

१ द स्ट्रक्चर ऑफ़ एस्थेटिक्स, पृ० ४०३-४०४

२ एस्थेटिक्स एण्ड फ़िलॉसफ़ी ऑफ़ आर्ट क्रिटिसिज्म, पृ० १८८

3 The relation between the object and (expressed) emotion is not one of means and end at all, but rather, of mutually supporting components within a rational whole.

"Art as Expression and Surface," *Journal of Aesthetics and Art Criticism*, Vol. IV, 1945, p. 89.

४ द सेंस ऑफ़ ब्यूटी, पृ० १९५

संवेग के संबंध पर एक दूसरे कोण से विचार करते हुए जार्ज संटायना ने दोनों के बीच अनुषंग (एसोसिएशन) संबंध मानते हुए लिखा है कि समग्र अभिव्यंजना अनुषंगजन्य होती है। वस्तु का मूल्य उसके अपने अनुषंगों के कारण होता है। किन्तु जब व्यंजित संवेग स्मृति से ओझल होकर वस्तु में परिव्याप्त हो जाता है तो अभिव्यंजना घटित होती है।[1] संटायना के इस कथन का समर्थन करते हुए जरोम स्तालनित्ज ने इसकी सीमा बतलाते हुए कहा है कि अनुषंग अनेक साधक कारणों में से केवल एक है, क्योंकि सभी प्रकार की अभिव्यंजना के लिए अपने आप में अनुषंग मात्र पर्याप्त नहीं है।[2]

इस प्रकार अभिव्यंजनावादी विचारकों ने नाना प्रकार से अभिव्यंजना शब्द की व्याख्या करके आधुनिक सौन्दर्यशास्त्र के क्षेत्र में इस शब्द को सुरक्षित रखने के लिए युक्तियाँ प्रस्तुत की हैं।

किन्तु बीसवीं शताब्दी में दार्शनिक विश्लेषणवाद के प्रभाव से सौन्दर्यशास्त्र के क्षेत्र में भी पूर्वप्रचलित अवधारणाओं की अर्थवत्ता के विश्लेषण की प्रवृत्ति हुई और विचारक्रम में अभिव्यंजना को भी सूक्ष्म परीक्षण का सामना करना पड़ा। नवीन विश्लेषणवादी विचारकों को काव्य के संदर्भ में संवेगों की अभिव्यंजना की बात में संगति खोजने में कठिनाई का अनुभव हुआ। कठिनाई का आधार यह है कि संवेगों को अभिव्यक्त करने की क्षमता चेतन प्राणी में ही होती है और काव्यकृति अचेतन पदार्थ है इसलिए मानव या पशु तो संवेगों की अभिव्यक्ति कर सकते हैं किन्तु काव्यकृति जैसे अचेतन पदार्थ को संवेगों की अभिव्यक्ति का श्रेय देना कठिन है।

रोमाण्टिक विचारकों ने निश्चय ही इस असुविधाजनक प्रश्न की कल्पना भी न की होगी। किन्तु नव्य चिन्तन की बौद्धिक प्रखरता पूरी परख के बिना किसी भी अवधारणा को स्वीकार करने के लिए प्रस्तुत भी न थी। फलतः प्रो० ओ० के० बाउस्मा ने अभिव्यंजना सिद्धान्त की अस्पष्टता और अपर्याप्तता के उद्घाटन के लिए लुडविग विटेगन्स्टाइन की विश्लेषणात्मक पद्धति का उपयोग करके 'कला का अभिव्यंजना सिद्धान्त'[3] शीर्षक क्रान्तिकारी निबंध लिखा। भाषा में अभिव्यंजना शब्द के समस्त प्रचलित प्रयोगों की परीक्षा करते हुए इस शब्द के अर्थों के अन्वेषण के क्रम में प्रो० बोउस्मा ने यह दिखलाने का प्रयास किया कि काव्य को संवेगों की अभिव्यंजना कहना अर्थशून्य है। उनके विवेचन से स्पष्ट हुआ कि संवेग संबंधी भाषा प्रधानतः जल संबंधी भाषा है और संवेग शब्द से जुड़े हुए हमारे अधिकांश अनुषंग (एसोसिएशन्स) लाक्षणिक हैं। उदाहरण के लिए जब वर्ड्सवर्थ कविता को सशक्त संवेगों का स्वतःस्फूर्त उच्छलन कहते हैं तो वहाँ उच्छलन की क्रिया जल के छलकने का ही अनुषंग जाग्रत करती है। इस प्रकार शान्त चित्त में संवेगों के संचय की बात भी जलाशय का स्मरण कराती है।

अभिव्यंजना अथवा अभिव्यक्ति शब्द भी किसी न किसी रूप में इसी प्रकार के अनुषंग से अनुरंजित हैं। जब कोई कहता है कि काव्य संवेगों को अभिव्यक्त करता है तो

---

[1] वही पृ० १६४
[2] एस्थेटिक्स एण्ड फिलासफी आफ आर्ट क्रिटिसिज्म, पृ० २२५
[3] ओ० के० बोउस्मा द एक्सप्रेशन थियरी ऑफ आर्ट (एस्थेटिक्स एण्ड लेंग्वेज, सं० विलियम एल्टन)

उसके कथन से कुछ ऐसा प्रतीत होता है, जैसे 'संवेग' नाम का कोई पृथक्करणीय पदार्थ है, जिसका बहिर्गमन काव्यकृति के माध्यम से होता है। इस द्वैत धारणा का निरसन करते हुए प्रो० बोउस्मा ने स्थापित किया हे कि संवेग काव्यकृति द्वारा अभिव्यक्त होनेवाला कोई पृथक्करणीय तत्त्व नही, बल्कि वस्तु में निहित तत्त्व है। उनके विचार से काव्यकृति सवेगो को उद्‌बुद्ध करती है किन्तु उस अर्थ मे उद्‌बुद्ध नही करती जिस अर्थ मे किसी सुप्त प्राणी को उद्‌बुद्ध किया जाता है; बल्कि जिस प्रकार वाक्य बिम्बो या अर्थों को उद्‌बुद्ध करता है। इस प्रकार प्रो० बोउस्मा ने अभिव्यजना का निरसन करके सवेग और काव्य के बीच उद्‌बोधन-संबध की स्थापना की।

सवेगो की अभिव्यजना को अस्वीकार करनेवाले विचारको मे सूजन लैंगर भी है। कला के संदर्भ मे उन्होने सवेगो के स्थान पर 'अनुभूति' (फीलिंग) को ग्रहण किया है और अनुभूति के साथ कला के सबध को उन्होने असदिग्ध भाव मे स्वीकार किया हे; किन्तु उनके विचार से वह सबध अभिव्यजनापरक नही है। उन्होने स्पष्ट कहा है कि : "कलाकृति अनुभूति को प्रस्तुत करती है······वह प्रतीक के माध्यम से अनुभूति को प्रत्यक्ष-ग्राह्य बनाती हे।"[1] सूजन लैंगर की दृष्टि मे कला 'अनुभूति का बिम्ब हे' और 'अनुभूति का बिम्ब' तभी बिम्ब हो सकता हे जब वह अपने भीतर अनुभूतियो के साथ ही उन तत्त्वो को भी सन्निविष्ट करे जिनसे वे उत्पन्न हुई है। यह तथ्य हे कि अनुभूतियो का अस्तित्व शून्य मे नही होता; या तो वे किसी वस्तु के द्वारा उद्‌बुद्ध होती है या किसी वस्तु की ओर निदेशित होती हे; इसलिए अनुभूति के जिन बिम्बों से कलाकृति निर्मित होती हे, उनमे अनुभूति के साथ-साथ अनुभूति के विषय भी अविच्छिन्न रूप से सन्निविष्ट रहते है। इस मान्यता को स्वीकार कर लेने पर यह निष्कर्ष स्वतः निकलता हे कि कलाकृति अनुभूतियो को 'प्रस्तुत' करती है। यहाँ सूजन लैंगर प्रो० बोउस्मा के मत से कुछ भिन्न मत रखती है। उनके विचार से कला भाषा के सदृश नही, बल्कि स्वयं एक भाषा है। तात्पर्य यह है कि जैसे वाक्य बिम्बों या अर्थो को उद्‌बुद्ध करता है, उसी प्रकार कला भी अनुभूतियो को उद्‌बुद्ध नही करती; बल्कि कला अपने 'अभिव्यंजक रूप' के द्वारा अनुभूतियो को प्रत्यक्ष गोचर करती है।

अनुभूतियाँ काव्यकृति मे 'निहित' होती हे इस मत की पुष्टि विज्ञान के नवीन अनुसधानो के आधार पर भी की गई है। सर रसेल ब्रेन ने प्राणिशास्त्रीय अनुसधान के आलोक मे 'अनुभव की प्रकृति' पर विचार करते हुए कहा हे कि · "कलाकृति, जो कि एक भौतिक पदार्थ है, एक वस्तु है और जिन अनुभूतियो को वह उद्‌बुद्ध करती है दूसरी वस्तु। किन्तु प्रत्यक्ष के क्षेत्र में यह सत्य नही है क्योकि वहाँ स्वय प्रत्यक्षगोचर वस्तु भी विषयिनिष्ठ होती है। प्रत्यक्षगोचर जगत मे अनुभूतियाँ मूर्त रूप मे ही आकार प्राप्त करती हे।······ इसलिए कलाकार अपने निजी प्रत्यक्ष जगत के आधार पर कलाकृति की सृष्टि करते समय अपनी अनुभूतियो के साथ ही अपने निजी दृश्य श्रव्य या स्पृश्य संवेदनों का भी अवलम्ब लेता है। इस प्रकार, कलाकृति मानव अनुभूतियो का प्रतीक नही बल्कि अक्षरशः उनका सम्मूर्तन है।"[2]

---

[1] प्रॉबलम्स ऑफ आर्ट, पृ० २५

[2] द नेचर ऑफ़ एक्सपीरिएन्स, पृ० ४६

मर रसेल के इस कथन से स्पष्ट है कि जिसे हम 'वस्तु' समझते हैं, वह भी किसी-न किसी रूप में अनुभूति-रंजित हो जाती है, क्योंकि अनुभूतिशून्य किसी वस्तु का ग्रहण असंभव है, इस प्रकार कलाकृति प्रकृत्या अनुभूति-संपृक्त होने के लिए बाध्य है। सर रसेल के मत को स्वीकार कर लेने के लिए कलाकृति को अलग से संवेगों की अभिव्यंजना कहने की आवश्यकता ही नहीं रहती, क्योंकि कलाकृति स्वयं अनुभूतिमय होती है।

एलिसिओ वाइवास ने टी० एस० इलियट के 'ऑब्जेक्टिव कोरिलेटिव' सिद्धान्त की समीक्षा[1] करते हुए इस बात के लिए इलियट की आलोचना की है कि 'क्लासिसिज्म' की घोषणा करते हुए भी वे प्रच्छन्न रूप से कविता को संवेग की अभिव्यक्ति मानते हैं, रोमाण्टिक कवियों के भावोच्छ्वास का समर्थन वे भले न करें, किन्तु किसी-न किसी रूप में वे भी मूर्त वस्तुओं के माध्यम से संवेगों एवं अनुभूतियों की अभिव्यक्ति को कविता का लक्ष्य मानते हैं। वाइवास के अनुसार केवल दो ही अर्थों में काव्य को संवेगों की अभिव्यक्ति कहना संगत हो सकता है। एक तो नाटकीय दृश्य में जो अतिपरिचित है, दूसरा अनुषंग-संबंध से—अर्थात् जब कविता कुछ ऐसी स्थिति या वस्तु को अपना विषय बनाती है जो समाज के द्वारा प्रकृत्या अथवा परंपरया किसी भाव से संबद्ध रूप में स्वीकृत होती है। इस प्रकार वह काव्यगत वस्तु पाठक के चित्त में अनुषंग धर्म से अभीष्ट संवेग जाग्रत कर देती है। यदि इसे कोई चाहे तो 'अभिव्यंजना' की संज्ञा प्रदान कर सकता है। किन्तु अर्थ-मीमांसा की दृष्टि से काव्यकृति एवं संवेग के बीच वाचकता का वही संबंध है जो किसी वाचक शब्द और वाच्य वस्तु के बीच होता है। स्पष्ट ही यह संबंध अभिव्यंजना नहीं है, क्योंकि शब्द किसी वस्तु को अभिव्यक्त नहीं करता।

सौन्दर्यशास्त्र में संवेग और वस्तु के संबंध को लेकर 'अभिव्यंजना' शब्द की उपयुक्तता पर जो ऊहापोह हुआ, उसने हमें अब ऐसे बिन्दु पर पहुँचा दिया है जिसके आगे राह नहीं। जैसा कि जेरोम स्टोलनित्ज ने कहा है "विश्लेषणवादी और अनुभववादी दोनों वर्गों के विचारकों की परस्पर विरोधी युक्तियों से विचार इस चरम बिन्दु पर पहुँच गया है कि 'अभिव्यंजना' शब्द की उपयोगिता संदिग्ध हो उठी है। एक पक्ष की युक्ति यह है कि कलाकृति अभिव्यंजक गुणों को अक्षरशः अंगीकृत नहीं कर सकती, तो दूसरे पक्ष का कहना है कि एक कलाकृति भिन्न व्यक्तियों को भिन्न वस्तुएँ अभिव्यंजित करती है। इन दोनों प्रकार की युक्तियों से यह निष्कर्ष निकलता है कि 'अभिव्यंजना' के बारे में कुछ भी कहा जा सकता है और इस प्रकार उसका कुछ भी अर्थ हो सकता है। किन्तु इस दायरे से मुक्ति का उपाय भी हो सकता है और मुक्ति के लिए इतना संकेत करना पर्याप्त है कि कलाकृति अन्तर्वैयक्तिक स्तर पर वस्तुनिष्ठ रूप से विद्यमान रहती है। अभिव्यंजक गुण 'उन्मुक्त संतरित' (फ्री फ्लोटिंग) नहीं, बल्कि वे कृति के भौतिक, रूपात्मक एवं प्रति-रूपात्मक पक्षों पर आधारित होते हैं। विवाद की गंभीरता को पूरी तरह अनुभव करते हुए स्टोलनित्ज ने स्वीकार किया है कि इस समस्या से बाहर निकलने का कोई मुक्तिमार्ग नहीं है। वर्तमान सौन्दर्यशास्त्र में ये प्रश्न गहन चिन्तन के विषय हैं। इससे पहले सौन्दर्य-

[1] क्रिएशन एण्ड डिस्कवरी, पृ० १७५–८६

शास्त्रियों ने इतने दीर्घकाल से व्यापक क्षेत्र में प्रचलित किसी भी पारिभाषिक शब्द पर इतना ध्यान नहीं दिया था। आज किसी सामान्य स्वीकृत उत्तर की उपलब्धि का दावा कोई भी नहीं कर सकता। इस विवाद की सबसे बड़ी उपयोगिता यही है कि यह पाठकों को इस तथ्य के प्रति आत्म-सजग बनाता है कि वे जिस 'अभिव्यंजना' शब्द का प्रयोग धड़ल्ले से करते है, वह इतना निरापद नहीं है।"[1]

निष्कर्ष यह है कि कला को सामान्यतः जिस प्रकार 'संवेगों की अभिव्यंजना' कहा जाता है, उस रूप में तो 'अभिव्यंजना' शब्द ग्राह्य नहीं हो सकता, किन्तु इस सिद्धान्त में सत्य का अंश पर्याप्त है; इसलिए आवश्यकता केवल इस संज्ञा के स्पष्टीकरण की है। अधिकांश व्यक्ति, चाहे वे संवेगवादी हों या नहीं, प्रायः कलाओं के संदर्भ में 'अभिव्यंजना' शब्द का प्रयोग करते हैं; इसलिए प्रचलन की प्राचीनता और व्यापकता को देखते हुए अर्थ-निश्चय के साथ इस शब्द का उपयोग करना अवांछनीय नहीं है। तात्पर्य यह कि 'अभिव्यंजना' शब्द की अर्थ-संभावनाएँ अभी समाप्त नहीं मानी जा सकती।

भाव की व्यंजना

जिस प्रकार पश्चिम में संवेगों की अभिव्यंजना का सिद्धान्त प्रचलित रहा है, उसी प्रकार संस्कृत काव्यशास्त्र में अन्ततः भावों की 'अभिव्यक्ति' के रूप में काव्य की परिभाषा की गई। अभिनवगुप्त ने रस-सिद्धान्त को अभिव्यक्तिवाद के रूप में प्रतिष्ठित किया जिसके अनुसार काव्य भाव की अभिव्यक्ति है। किन्तु जैसा कि आनन्द कुमारस्वामी ने काफ़ी पहले लक्षित किया है : "प्राच्य कला पाश्चात्य व्यक्तिवाद के सर्वथा विलोम है। प्राच्य कलाकार को अपने अहं के विषय में सोचने और अपनी वैयक्तिकता के प्रकाशन की आकांक्षा मात्र में लज्जा का अनुभव होता।"[2] इसलिए अभिव्यक्ति को स्वीकार करते हुए भी भारतीय रस-सिद्धान्त उस अर्थ में काव्य को संवेगों की अभिव्यंजना नहीं मानता, जिस अर्थ में पाश्चात्य रोमाण्टिक काव्य-सिद्धान्त तथा उससे प्रभावित विचार-प्रणालियां मानती है। दोनों परंपराओ का यह भेद इतना सर्वविदित है कि आनन्द कुमारस्वामी के पश्चात तुलनात्मक काव्यशास्त्र के क्षेत्र में कार्य करनेवाले अन्य विचारकों ने भी इस मत की पुष्टि की है। उदाहरण के लिए डॉ० प्रवासजीवन चौधरी ने भी भारतीय काव्यशास्त्र के प्रकाश में अभिव्यंजनावादी काव्य-सिद्धान्त का विश्लेषण करते हुए लिखा है कि अभिनवगुप्त द्वारा प्रतिपादित अभिव्यक्तिवाद पाश्चात्य रोमाण्टिक अभिव्यंजनावाद से मूलतः भिन्न है। उन्होंने ठीक ही लक्षित किया है कि जब अभिनवगुप्त काव्य को भाव की अभिव्यक्ति कहते है तो उसका अर्थ कवि के वैयक्तिक सवेगों का स्वत.स्फूर्त उच्छलन नहीं होता; क्योंकि रस-सिद्धान्त का भाव लौकिक संवेग न होकर साधारणीकृत 'भाव' होता है और जिन व्यक्तियों एवं वस्तुओं के माध्यम से वह व्यक्त होता है वे भी लौकिक व्यक्ति और वस्तु न होकर साधारणीकृत व्यक्ति और वस्तु होते है जिन्हे रस-सिद्धान्त में 'विभाव' की

---

[1] एस्थेटिक्स एण्ड फ़िलॉसफ़ी ऑफ़ आर्ट क्रिटिसिज़्म, पृ० २६३-६४

[2] The art of the orient is the direct opposite of Western individualism. The oriental artist would be ashamed of thinking of his own ego and intending to manifest his own subjectivity in his work.

The Transformation of Nature in Art, p. 23.

संज्ञा दी गई है।[1] इस प्रकार डॉ० चौधरी ने अभिव्यजित भाव तथा अभिव्यजक वस्तु दोनो की विलक्षणता के आधार पर रस-सिद्धान्त के अभिव्यक्तिवाद को पाश्चात्य रोमाण्टिक अभिव्यजनावाद से भिन्न एव विशिष्ट माना है।

किन्तु इन दोनो तत्त्वो के अतिरिक्त स्वय 'अभिव्यक्ति' की प्रकृति में भी अन्तर है जिस पर एक अन्य विचारक कृष्ण रायन ने ध्यान दिया है। उन्होने स्पष्ट शब्दो मे यह प्रश्न उठाया है कि भाव और ऐन्द्रिय सह सबधो के बीच जो सबध-भाव होता है, उसकी निश्चित प्रकृति क्या है और फिर वह प्रक्रिया क्या है जिससे भाव का उदय होता है? इस प्रश्न का उत्तर अभिनवगुप्त के आधार पर देते हुए श्री रायन ने कहा है कि काव्य के अतगत 'ऐन्द्रिय सह-सबध' कहलानेवाली वस्तुएँ भाव को उसी प्रकार व्यजित करती हैं, जिस प्रकार ध्वनि अथवा व्यजना के सहारे शब्द अर्थ को व्यजित करते हैं। इस प्रकार काव्यगत भाव और विभाव के बीच वाच्य वाचक अथवा अनुमाप्य-अनुमापक सबध नही होता, बल्कि उस सबध को व्यग्य व्यजक सबध की सज्ञा दी जाती है। वस्तु और भाव का सबध न तो कोशगत है, न तर्कगत, बल्कि मनोवैज्ञानिक है। इसलिए श्री रायन ने आधुनिक भाषा म काव्यगत वस्तु को भाव का 'व्यजक सहधर्मी' (सजेस्टिव एसोसिएट) कहा है।[2]

---

१ The traditional Indian theory of poetry, as developed by Abhinava- ... an expressive theory Poetry is an expression of emotion ... expression of the ... kind of emotions are g ... they do not represe ... Light of Indian Poetics ... Congress on Aesthetics, Athens, 1960, published in 1961)

२ But what precisely is the nature of the relationship between sensuous correlates and the emotion—the nature of the process by which they give rise to the emotion The whole phenomenon of *rasa* realization swung into focus when Abhinavagupta explained that the objective correlatives give rise to the emotion exactly as the word or its sense gives rise to unspoken meaning—by Dhvani or Vyanjana, process of suggestion or evocation, of revealing or making manifest It at once becomes clear that the emotion is the *image's resonance*—and not reference, nor inference The object of an emotion thus is not a ... Nor is the rising of the emotion ... tion does not necessa- ... motion by a cause and- ... The object is only the ... revealed by the lamp ... of object and emotion

"Rasa and the Objective Correlative," *The British Journal of Aesthetics*, Vol V, No 3, July 1965, pp 250-51

श्री रायन ने अभिनवगुप्त के अभिव्यक्ति संबंधी विचारों को यहाँ जिस रूप में प्रस्तुत किया है, उसमें भाव की काव्यगत अभिव्यक्ति और सहृदयगत अभिव्यक्ति दोनो इस प्रकार मिल-जुल गए है कि उन्हे स्पष्टता के लिए पृथक् करना आवश्यक है। वस्तुतः अभिनवगुप्त के अभिव्यक्तिवाद को सामान्यतः सहृदयगत अभिव्यक्ति के रूप मे ही ग्रहण करने का प्रचलन है। किन्तु जैसा कि अन्य प्रसगो से भी विदित होता है, अभिनवगुप्त की सज्ञाएँ प्रायः रस की कविगत, काव्यगत एवं सहृदयगत तीनो स्थितियों से समान रूप से सवद्ध है, इसलिए 'अभिव्यक्ति' के विषय मे भी जब वे सहृदयगत रस के अभिव्यक्त होने का उल्लेख करते है तो उसे प्रकारान्तर से काव्यगत अभिव्यक्ति के रूप मे समझना संगत है। रस की वस्तुनिष्ठ व्याख्या करनेवाले विद्वानो ने अकाट्य युक्तियो के द्वारा यह सिद्ध कर दिखाया कि **'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः'** सूत्र मे जिस 'निष्पत्ति' का विधान किया गया है, वह नाट्य के अन्तर्गत स्थायी भावों के साथ विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी भावो के सयोग से घटित होती है। यदि यह तथ्य है तो अभिव्यक्ति के विधान को नाट्य के अन्तर्गत स्वीकार करना पडेगा क्योकि स्वय अभिनवगुप्त के अनुसार 'निष्पत्ति' का अर्थ अभिव्यक्ति है। 'काव्यप्रकाश' मे मम्मट ने अभिनवगुप्त का जो रस-विषयक मत प्रस्तुत किया है, उसमे 'निष्पत्ति' के पर्याय-रूप मे 'अभिव्यक्ति' का उल्लेख करने के साथ ही स्थायी भावो और विभावो के बीच व्यंग्य-व्यंजक सबंध की भी स्थापना की गई है।[1] इससे स्पष्ट है कि नाट्य या काव्य मे भावों की अभिव्यक्ति का अर्थ है—विभावो के द्वारा भावो का 'व्यजित' होना।

व्यजना के अर्थ मे 'अभिव्यजना' (एक्सप्रेशन) की अवधारणा पश्चिम के रोमाण्टिक अभिव्यंजनावाद मे भले ही न रही हो; किन्तु परवर्ती युग मे अभिव्यंजना की व्याख्या करने वाले आधुनिक विचारक निश्चित रूप से इस दिशा की ओर अग्रसर होते दिखाई पडते है। स्वयं रस-सिद्धान्त के इतिहास से भी ज्ञात होता है कि रस के व्यंजित होने की मान्यता आरभ से ही उसके साथ संबद्ध न थी। भरत-सूत्र के प्रथम व्याख्याता लोल्लट भाव और विभाव के बीच उत्पाद्य-उत्पादक सबध मानते थे, जिसे अभिनवगुप्त ने शब्द की अभिधा शक्ति पर आधारित वाच्य-वाचक सबध माना है। तत्पश्चात् भरत-सूत्र के दूसरे व्याख्याता शकुक भाव-विभाव के बीच अनुमाप्य-अनुमापक अथवा गम्य-गमक सबध मानते थे, जो अनुमिति पर आधारित था। भावो की अभिव्यजना सबधी इन दो स्थूल धारणाओं का प्रचलन निश्चित रूप से काफी समय तक रहा होगा। इनकी असंगति और अपर्याप्तता का बोध बहुत समय बाद हुआ, जब अभिनवगुप्त ने आनदवर्धन के ध्वनि-सिद्धान्त के आधार पर इनका निरसन करके नाट्य एवं काव्य मे रस और भाव की व्यग्य-रूपता की स्थापना की। स्पष्ट है कि भरत मे भी भावो की व्यंजकता की धारणा तक पहुँचने मे काव्य-चिन्तन को समय का दीर्घ मार्ग तय करना पडा। इसलिए भारतीय मत की जानकारी के अभाव मे यदि पाश्चात्य विचारको को भावो की अभिव्यंजना की व्याख्या करने मे व्यंजना तक पहुँचने मे समय लगा तो कोई आश्चर्य नही।

---

[1] **स्थायिनां विभावादिभिः समं व्यंग्य-व्यंजक-भाव-रूपात्संबंधाद्विभावादीनामेव वा परस्परं संयोगाद्रसस्य निष्पत्तिरिभव्यक्तिः।** काव्यप्रदीप, पृ० ६७

पाश्चात्य सौन्दर्यशास्त्र का इतिहास देखने से पता चलता है कि बीसवीं शताब्दी तक आते-आते पाश्चात्य विचारकों को यह अनुभव होने लगा कि भावों के नाम लेने से उनकी अभिव्यंजना नहीं हो सकती। जब कॉलिंगवुड कहते हैं कि "सच्चा कवि जिस भाव की अभिव्यक्ति करना चाहता है, उसके नाम का उल्लेख वह कभी नहीं करता।"[१] तो सहसा अभिनवगुप्त के इस कथन की प्रतिध्वनि-सी सुनाई पड़ती है कि "रस स्वप्न में भी स्वशब्द से वाच्य नहीं होता।"[२]

आज पश्चिम में काव्य के अन्तर्गत भाव और वस्तु के बीच वाच्य-वाचक संबंध का निषेध करनेवाले कॉलिंगवुड अकेले नहीं हैं। जब डुकास कहते हैं कि कलावस्तु और अनुभूति के बीच न तो 'वाचक' (साइन) का संबंध होता है, न कारण (कॉज) का, तो वे भी कॉलिंगवुड के साथ ही अभिनवगुप्त का समर्थन करते हैं। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, जेरोम स्तोलनित्ज ने भी यही स्वीकार किया है कि काव्य में किसी संवेग को अभिव्यक्त करनेवाली वस्तु 'वाचक' या 'साइन' नहीं होती। स्थिति यह है कि आज के पाश्चात्य सौन्दर्यशास्त्र में यह मत प्राय सर्वमान्य है कि 'वाचक' या 'साइन' का प्रयोग काव्येतर विषयों जैसे विज्ञान, शास्त्र आदि क्षेत्रों के लिए ही उपयुक्त है, काव्य में इसका प्रयोग नहीं होता।

इतना ही नहीं, सटायना ने 'अभिव्यंजना' की प्रकृति पर विचार करते हुए जिस 'अनुषंग' (एसोसिएशन) का उल्लेख किया है, वह बहुत कुछ 'व्यंजना' के ही निकट है। व्यंजना व्यापार में अनुषंग-पद्धति से ही कोई शब्द अभिप्रेत अर्थ को व्यंजित करता है। सटायना ने एक प्रसंग में काव्यकृति के अन्तर्गत 'व्यंजित वस्तु' (सजेस्टेड ऑब्जेक्ट) का स्पष्ट उल्लेख भी किया है,[३] और वह व्यंजित वस्तु और कुछ नहीं, 'भाव' ही है।

पाश्चात्य सौन्दर्यशास्त्र में संवेगों की अभिव्यंजना के लिए जिन 'बिम्ब' और 'प्रतीक' सिद्धान्तों का निरूपण किया गया है, वे अभिव्यक्ति के स्तर पर भावों की वाचकता तथा अनुमिति का खंडन करके व्यंजना की ही प्रतिष्ठा करते हैं। डुकास जब काव्यकृति को संवेग का 'प्रत्यक्ष प्रतीक' (इमिडिएट सिम्बल) कहते हैं, तो उनका तात्पर्य एक काव्य-प्रतीक से होता है जिससे तर्क पद्धति के द्वारा संवेग का निगमन नहीं किया जाता, बल्कि जिससे प्रत्यक्ष ऐन्द्रिय ग्रहण के द्वारा संवेग का अनुभव किया जाता है। काव्य प्रतीक की यह विशेषता है कि उसमें वस्तु की ऐन्द्रियग्राह्यता के साथ ही भाव-व्यंजना की क्षमता भी विद्यमान होती है। डुकास की उक्त धारणा आनन्दवर्धन के इस कथन की प्रतिध्वनि प्रतीत होती है कि "काव्य में वस्तु संस्पर्श का अभाव नहीं बन सकता और संसार की सभी वस्तुएँ अवश्य किसी रस या भाव का अंग बन जाती हैं, अन्ततः विभाव रूप से।"[४]

---

१ द प्रिंसिपल ऑफ आर्ट, पृ० ११२

२ रसस्तु स्वप्नेऽपि न स्वशब्दवाच्यो। ध्वन्यालोक-लोचन, पृ० ५०

३ In all expression we *may* thus distinguish two terms the first is the object actually presented, the word, the image, the expressive thing, the second is the object *suggested*, the further thought, emotion or image evoked, the thing expressed *The Sense of Beauty*, p 195

४ यस्मादवस्तुसंस्पर्शिता काव्यस्य नोपपद्यते। वस्तु च सर्वमेव जगद्गतमवश्यं कस्यचिद्रसस्य भावस्य वांगत्वं प्रतिपद्यते अन्ततो विभावत्वेन। ध्वन्यालोक, पृ० ५२६

रस-सिद्धान्त में भावों की अभिव्यंजना के लिए अभिव्यक्ति के अतिरि
शब्द का भी प्रयोग किया गया है और इस शब्द के साथ भारतीय काव्य-चिन्त
'घट-प्रदीप-न्याय' नामक प्रसिद्ध दृष्टान्त संबद्ध है। व्यंजना के स्वरूप को समझाने के लिए आनन्दवर्धन ने घट-प्रदीप-न्याय का सहारा लेकर कहा है कि : "काव्यगत विभाव और भाव अथवा शब्द और अर्थ में घट-प्रदीप-न्याय है, क्योंकि जैसे प्रदीप द्वारा घट की प्रतीति उत्पन्न होने पर प्रदीप का प्रकाश निवृत्त नही होता, उसी प्रकार व्यंग्य की प्रतीति में वाच्य का अवभास बना रहता है।"[1] तात्पर्य यह कि प्रदीप जिस प्रकार घट को प्रकाशित करते हुए स्वयं भी प्रकाशित होता है, उसी प्रकार भावव्यंजक वस्तु भाव को प्रकाशित करते हुए स्वयं भी प्रकाशमान रहती है। इसीलिए आनन्दवर्धन ने व्यंजना को 'प्रकाशन' की सज्ञा दी है जो अभिव्यक्ति का ही दूसरा नाम है। उन्होने कहा है कि : "प्रसिद्ध अभिधान से अतिरिक्त संबध के योग्य रूप से उस अर्थान्तर की प्रतीति का, जो स्वार्थ का अभिधान करनेवाले शब्दान्तर के द्वारा विपयीकरण है वहाँ 'प्रकाशन' यह कथन ही ठीक है।"[2]

इस प्रकार रस-सिद्धान्त मे भावो की अभिव्यंजना के लिए 'अभिव्यक्ति' एवं 'प्रकाशन' दो शब्द प्राप्त होते है जिनका आधार शब्द का व्यंजना-व्यापार है। पाश्चात्य सौन्दर्यशास्त्र मे इसके समकक्ष कोई सर्वथा सुनिश्चित एव स्पष्टतः परिभाषित सज्ञा सुलभ नही है; किन्तु अभिव्यंजना की आधुनिक व्याख्याओ से ज्ञात होता है कि वहाँ भी 'एक्सप्रेशन' शब्द मे भारतीय 'व्यंजना' की अर्थवत्ता भरने की दिशा में प्रयास हो रहा है।

काव्य में विभावादि : स्थिति और स्वरूप

रस-सिद्धान्त के शास्त्रीय विवेचन का प्रारंभ दृश्य काव्य के सदर्भ मे हुआ। इसलिए संस्कृत आचार्यो की परंपरा मे दृश्यात्मकता के साथ रस का संबध बद्धमूल हो गया और वे मूर्तिमत्ता के कारण दृश्य काव्य को अपेक्षाकृत श्रेष्ठ मानते रहे। उपर्युक्त दृष्टिकोण से प्रेरित रस-विवेचन मे इन आचार्यो की वस्तु-निरूपिणी दृष्टि का आग्रह स्पष्ट था। इसी कारण भरत ने अपने रस-सूत्र मे जहाँ 'विभाव' को प्रथम स्थान दिया, स्थायी भाव का उल्लेख करना भी अनिवार्य न समझा। अभिनवगुप्त पहले आचार्य है जिन्होने काव्यानुभूति का प्रत्यक्ष सबंध सहृदय से स्थापित करते हुए यह स्पष्ट किया कि काव्य का अभ्यासी सहृदय अपने सस्कार-बल पर परिमित भावादि के उन्मीलन द्वारा काव्य के विपय का साक्षात्कार कर लेता है और पूर्वापर सबध की औचित्य परिकल्पना कर कि अमुक स्थान पर अमुक के संबध मे अमुक बात कही गई या अमुक इसका वक्ता है, अथवा अमुक दृश्य उपस्थित किया गया, आदि प्रसंगों की कल्पना कर रसास्वाद कर सकता है।[3]

---

[1] तस्माद् घटप्रदीपन्यायस्तयोः, तर्थव हि प्रदीपद्वारेण घटप्रतीतावुत्पन्नायां न प्रदीपप्रकाशो निवर्तते तद्वद्व्यंग्यप्रतीतौ वाच्यावभासः। ध्वन्यालोक, पृ० ४६१

[2] प्रसिद्धाभिधानान्तरसम्बन्धयोग्यत्वेन च तस्यार्थान्तरस्य प्रतीतेः शब्दान्तरेण स्वार्थाभिधायिना यद्विषयीकरणं तत्र प्रकाशनोक्तिरेव युक्ता। वही, पृ० ४५६

[3] ···तथा च तत्र सहृदयाः पूर्वापरमुचितं परिकल्प्य ईदृगत्र वक्ताऽस्मिन्नवसरे इत्यादि बहुतरं पीठबन्धरूपं विदधते। तेन ये काव्याभ्यासप्राक्तनपुण्यादिहेतुबलादिति सहृदयास्तेषां परिमितविभावाद्युन्मीलनेऽपि परिस्फुट एव साक्षात्कारकल्पः काव्यार्थः स्फुरति। अत एव तेषां काव्यमेव प्रीतिव्युत्पत्तिकृदनपेक्षित नाट्यमपि। अभिनवभारती, भाग १, पृ० २८७

अभिनवगुप्त को श्रव्य काव्य की रसमयता सिद्ध करने की प्रेरणा अपने गुरु भट्टतोत से प्राप्त हुई, जिन्होंने यह स्वीकार किया था कि कुशल कवि अपने वर्णन-कौशल से सहृदय के सम्मुख दृश्य या नाट्य की-सी चित्रमयता उपस्थित कर देता है, और ऐसा होने पर, काव्य मात्र से रसास्वाद असंभव नहीं।[1]

कहना न होगा कि अभिनवगुप्त ने उक्त मत में संशोधन कर उसे और अधिक तर्क-सम्मत एवं व्यवहारसिद्ध रूप दिया। जहाँ भट्टतोत रसास्वाद के निमित्त वर्णन में चित्रवत्ता या दृश्य गुण अनिवार्य मानते हैं, वहाँ अभिनव अपनी सूक्ष्मदर्शी प्रतिभा के आधार पर चित्र के सर्वांग विवरण को कल्पनापेक्षी (सहृदयगत) कहकर छोड़ देते हैं, जो उचित ही है। वह समग्र चित्र जो कवि की कल्पना में निर्मित होता है विस्तृत विवरण के अभाव में कतिपय शब्द संकेतों के माध्यम से व्यंजित रहता है और सहृदय उस प्रच्छन्न सौन्दर्य का, व्यंजित अथवा ध्वनित चित्र-सृष्टि का अपनी कल्पना की सहायता से साक्षात्कार कर लेता है। नाटक की अभिहित वस्तु योजना, प्रस्तुति का विषय होती है। प्रबंध एवं अन्य बृहद् समाख्यात्मक विधाओं में यह विभाव पक्ष कहीं नाट्य शैली में प्रत्यक्ष और कहीं वर्णनात्मक शैली में परोक्ष रूप में वर्णित रहता है। मुक्तक में यह समग्र दृश्य या प्रसंग संकेतित या व्यंग्य रहता है। स्पष्ट है कि दृश्य की अपेक्षा श्रव्य, और श्रव्य में भी प्रबंध की अपेक्षा मुक्तक की रस सृष्टि एवं रसानुभूति कवि और सहृदय, दोनों पक्षों में अधिक कल्पनापेक्षी होती है।

इस संदर्भ में यह प्रश्न विस्तारपूर्वक इसलिए उठाया गया है कि विधा की दृष्टि से साहित्य के विकास की दिशा क्रमशः नाटक से प्रबंध और प्रबंध से मुक्तक की ओर रही है। अतः प्रश्न यह है कि आज प्रबंध और मुक्तकों के इस युग में, जब स्थायी-संचारी भावों की संख्या उनके विभाजन के आधार और स्वरूप एवं इयत्ता ही शंका के विषय हो गए हैं, तो क्या इनका वस्तुगत आधार ज्यों का-त्यों ग्राह्य हो सकता है ? जहाँ तक काव्य विधा का प्रश्न है इस दृष्टि से कोई बाधा उपस्थित नहीं होती। जो दृश्य में प्रस्तुत किया गया है वही श्रव्य के प्रबंध रूप में वर्णित रहकर, एवं मुक्तक में व्यंग्य तथा कल्पना निर्भर रहकर रसानुभूति का विषय हो सकता है। बाधा है तो इस सामग्री के परिवेश एवं स्वरूप के संबंध में। लक्षण ग्रंथ लक्ष्य-ग्रंथों का आश्रय लेकर सदैव अनुगमन विधि से लिखे जाते हैं। प्रत्येक युग का साहित्य एक विशेष जीवन-पद्धति, सामाजिक रीति, नैतिक मूल्यों एवं संस्कृति की उपज होता है। अतः साहित्यकार की दृष्टि, विषयों के लिए अपने चारों ओर के जीवन से परिबद्ध रहती है। वह जीवन से विषय ग्रहण कर जीवन दृष्टि से उनके अंकन की विधि बनाता है। काव्यशास्त्र उपलब्ध साहित्य की सामान्य विशेषताओं को आधार बनाकर विविध नियमों की सृष्टि करता है। अतः इनमें से वे सिद्धान्त, जिनका संबंध विशेष रूप से काव्य के वस्तु-पक्ष से होता है, समसामयिक ऐतिहासिक संदर्भों पर निर्भर रहने के कारण एतादृश रूप में सदा ग्राह्य नहीं हो सकते। शायद इसीलिए आधुनिक युग का प्रबुद्ध आचार्य रस सिद्धान्त के विवेचन में इस वस्तुगत प्रपंच के विस्तृत निरूपण, परीक्षण और पुनरावृत्ति की आवश्यकता नहीं समझता। जो हो, प्रत्यक्ष या परोक्ष, स्थूल या सूक्ष्म, वाच्य

[1] प्रयोगत्वमनापन्ने काव्ये नास्वादसम्भवः। अभिनवभारती, पृ० २९१

या व्यंग्य, प्रधान या गौण, जिस तरह भी काव्य में विभाव-पक्ष का अंकन किया जाए, वि की सापेक्ष महत्ता असंदिग्ध है—यहाँ तक कि आधुनिक युग में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल जै समालोचक ने काव्य मे विभावन-व्यापार को सर्वोपरि स्थान देते हुए विभाव की प्रधानता स्थापित की है।[1]

संस्कृत के आचार्यों ने विभाव को भावों का हेतु, निमित्त अथवा कारण कहा है। जिस साहित्य के प्रकाश में विभाव-पक्ष का निरूपण किया गया, उसके विषय जीवंत प्राणी एवं उनसे संबद्ध घटनाएँ रही। अत: विभाव के स्वरूप का स्पष्टीकरण भी यही कहकर किया गया कि वाचिक, आंगिक तथा सात्त्विक अभिनय के सहारे चित्तवृत्तियों का विशेष रूप से विभावन अर्थात ज्ञापन करानेवाले हेतु, कारण अथवा निमित्त को विभाव कहते है। और भी स्पष्टीकरण करते हुए कहा गया कि 'विभावना' का अर्थ केवल ज्ञापन कराना नही है, वल्कि वासना-रूप मे सूक्ष्म रूप से अवस्थित रति आदि स्थायी भावों को आस्वाद-योग्य जो बनाते है, वही विभाव है।[2]

इस प्रकार काव्य-विषय का समग्र वस्तु-पक्ष विभाव नाम से अभिहित किया गया। सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाए तो इन आचार्यों ने काव्य के भाव-पक्ष को विषय-पक्ष से सर्वथा पृथक् करके रस-सामग्री मे अन्तर्भूत कर लिया। कदाचित् इसीलिए भरत ने अपने प्रसिद्ध रस-सूत्र में स्थायी भाव का पृथक् उल्लेख न करके 'रस-निष्पत्ति.' ही कहा है, क्योकि स्थायी भाव ही रसत्व को प्राप्त होता है। अत. काव्य-विषय का कार्य स्वयं कारण कैसे हो सकता है? सहृदय के मन मे स्थित वासना-रूप स्थायी भाव, विभावादि काव्य-विषयो के ससर्ग से कार्य-रूप उदबुद्ध एवं उनसे संयुक्त होकर रसानुभूति का कारण वन जाते है। इस प्रकार इन आचार्यों के अनुसार काव्य का विषय वस्तुरूप घटनाएँ एव पात्र ही हो सकते है। इनके विभाव-विवेचन से यह सर्वथा स्पष्ट है। आज विभाव को यदि भावोद्वोध का कारण, हेतु या निमित्त, दूसरे शव्दो मे, काव्य-विषय माना जाए तो उसकी स्थिति कुछ भिन्न हो जाएगी। भाव के आलम्वन सर्वदा रक्त-मास के जीव, उद्दीपन—प्राकृतिक वातावरण आदि स्थूल, नयनगोचर विषय न होकर सर्वथा अमूर्त, सूक्ष्म भाव या विचार भी हो सकते हैं। आत्मपरक प्रगीतियो मे आलम्वन व्यंग्य हो सकता है और कवि की अपनी मनोभावना या आत्म-विश्लेपण व्यक्त हो सकता है। छायावाद की रोमानी प्रगीत-राशि इसका उदाहरण है। कही किसी भाव या विचार की ही सत्ता आलम्वनवत होकर कोई पात्र अथवा कवि, स्वय आश्रय हो सकता है। 'कामायनी' के 'लज्जा' एवं 'चिन्ता' के वर्णन प्रमाण हैं। इस प्रकार आज काव्य के आलम्वन वदल गए और परंपरागत आलम्वनो के रूप एव क्षेत्र वदल गए। जो उद्दीपन की सूची मे परिगणित किए गए विभाव थे, वे स्वयं आलम्वन वन बैठे।

विभाव के दो मुख्य भेद : १. आलम्वन एव २. उद्दीपन, तथा आलम्वन के भी दो भेद : १. आश्रय एव २. आलम्वन (स्थिति भेद से) किए गए। इनमे से आलम्वन,

---

१ रस-मीमांसा, पृ० १०९-११६

२ वासनारूपतयातिसूक्ष्मरूपेणावस्थितान् रत्यादीन् स्थायिनो विभावयन्ति रसास्वादाभंकुर योग्यतां नयन्ति इति विभावाः। काव्यप्रदीप, पृ० ६१

भावों के विषय आश्रय भावों के आश्रयभूत एवं उद्दीपन जाग्रत भावों के उद्दीपक कारण कहलाते हैं। इनमें से आश्रय वह पात्र होता है जिसके मन में विषय या आलंबन के प्रति भाव जाग्रत एवं उद्दीपनों से उद्दीप्त होता है। स्थिति-भेद से यह बदलता रहता है और आत्मपरक कविताओं में स्वयं कवि आश्रय होता है। अतः उसको विशेष महत्त्व नहीं दिया गया।

संस्कृत के आचार्यों में भरत और शारदातनय को छोड़कर शृंगारेतर रसों के आलम्बनों का निरूपण अन्य आचार्यों ने नहीं किया। हिन्दी के आचार्यों की स्थिति भी इस संबंध में प्रायः यही है। शृंगार रस में विशेष अभिरुचि होने के कारण नायक-नायिका भेद का पर्याप्त से अधिक विस्तार इन आचार्यों ने किया और सामयिक ऐतिहासिक संदर्भों एवं अभिरुचि के अनुसार इन सूचियों में परिवर्तन होते रहे। संस्कृत आचार्यों से 'हरिऔध' तक नायक-नायिका भेद का यह विवेचन अध्ययन की दृष्टि से रोचक हो सकता है, हमारी सामाजिक, सांस्कृतिक स्थिति और अभिरुचि का, रीति-नीति का परिचायक हो सकता है। साथ ही यह काव्य-परंपराओं को (समसामयिक) समझने में भी कदाचित् सहायक हो सके किन्तु यह लक्षण-निर्माण काव्य में व्यावहारिक उपयोग की दृष्टि से (विशेषकर आधुनिक साहित्य के संदर्भ में) विशेष उपादेय शायद नहीं है।

रस कोई भी हो, आलम्बनों के स्वरूप, वर्ग या इयत्ता निर्धारित नहीं की जा सकती। और प्रयोग-बहुलता के इस युग में तो यह भी कदापि आवश्यक नहीं कि आलम्बन आत्मेतर हो। जहाँ कवि आत्म-विश्लेषण या आत्माभिव्यंजना करता है वहाँ कभी आलम्बन व्यंग्य रहता है कभी सर्वथा प्रच्छन्न। कविता केवल रचनाकार की एक मनःस्थिति, एक अनुभव या एक विचार की परिचायक होती है। ऐसी स्थिति में इस प्रकार के वर्ग-निर्धारण या सूची-नियमन करने के सभी प्रयास व्यर्थ सिद्ध होंगे। काव्य का कोई भी विषय आलम्बन होगा।

जो बात ऊपर आलम्बन विभाव के विषय में हमने कही, ठीक वही उद्दीपन के विषय में भी चरितार्थ होती है। जिस प्रकार काव्यशास्त्र में केवल शृंगार रस के आलम्बनों का विवरण मिलता है उसी प्रकार उद्दीपनों का भी। शारदातनय ने अवश्य विभिन्न रसों के अनुकूल उद्दीपन विभावों के आठ भेदों का वर्णन किया है। यह विभाजन रस की मूल वृत्ति के अनुकूल उद्दीपन के प्रभाव के आधार पर किया गया है। ये भेद हैं : १ ललित, २ ललिताभास, ३ स्थिर, ४ चित्र, ५ रूक्ष, ६ खर, ७ निन्दित तथा ८ विकृत।[1] इन भेदों के विस्तृत विवेचन में जाने के लिए यहाँ अवकाश नहीं है क्योंकि उद्दीपनों की संख्या भी नियत नहीं की जा सकती।

उद्दीपन भी काव्य-विषय होते हैं। व्यावहारिक दृष्टि से यदि काव्य में उनकी स्थिति का स्पष्टीकरण किया जाए, तो कहना होगा कि आलम्बन विभाव भाव या अनुभूति का प्रधान विषय एवं उद्दीपन विभाव प्रासंगिक या सहायक विषय होते हैं। नाटक में जो स्थिति आधिकारिक वृत्त के साथ प्रासंगिक वृत्त की होती है वही काव्य में आलम्बन के साथ उद्दीपन की।

---

[1] भावप्रकाशन, ४।५

शास्त्रों में शृंगार रस के संदर्भ में जिन उद्दीपनों की चर्चा गई है, उ
एक वात का उल्लेख अप्रासंगिक न होगा। साहित्यदर्पणकार ने इनका वर्णन
है कि : "उद्दीपन के अन्तर्गत मुख्यतः आलम्बन की चेष्टाएँ तथा देश-काल
है।"[1] इस प्रकार उद्दीपन के चार भेद वताए गए : १. आलम्बन के गुण, २.
३. उसका अलंकरण, ४. तटस्थ। वात कुछ विचित्र है। प्रथम तीन को आलम्बन विभाव से पृथक् उद्दीपन के अन्तर्गत कैसे गिना जा सकता है? आलम्बन का आशय रूप, गुण, चेष्टाओं से संपन्न व्यक्ति अर्थात एक निश्चित व्यक्तित्व से युक्त व्यक्ति ही होगा। कथित विशेषताएँ व्यक्तित्व के धर्म है। इनसे विहीन जड़ आलम्बन किसी भाव का विषय हो ही कैसे सकता है? किसी भी भाव का आलम्बन केवल अस्थिचर्ममय व्यक्ति नहीं, विविध रूप, गुण, क्रिया से संपन्न व्यक्तित्व होता है। अतः ये उद्दीपन कैसे होंगे? रही बात तटस्थ उद्दीपनों की। उनके पीछे निश्चय ही तर्क का वल है। वातावरण एवं प्रकृति जहाँ अन्य विषय के प्रति भावना को उद्दीप्त करने में सहायक होगी, वहाँ वह उद्दीपन मानी जाएगी, और जहाँ स्वयं निरपेक्ष रूप में काव्य का विषय होगी, वहाँ आलम्बन मानी जाएगी। विरोध केवल इस वात का रहा है कि प्राचीनों ने प्रकृति की गणना मात्र उद्दीपनों में की।

निष्कर्ष रूप में, आलम्बन और उद्दीपन के भेद, महत्त्व, सापेक्ष-निरपेक्ष स्थिति का निर्णय, भावना के प्रत्यक्ष-परोक्ष विषय के आधार पर किया जा सकता है।

अनुभाव

रस-सामग्री का निरूपण नाटक के प्रसंग में होने से प्रत्येक विषय का वर्णन अभिनयात्मकता को दृष्टि में रखकर किया गया। इस प्रकार सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाए तो रस-सामग्री के दो पक्ष हो गए—अनुभूति-पक्ष और अभिव्यक्ति-पक्ष। स्थायी-संचारी आदि भावों का संबंध रस के अनुभूति-पक्ष से और अनुभाव, हाव, सात्त्विक आदि का इन अनुभूतियों की अभिव्यक्ति से रहा। शास्त्रों में किए गए अनुभाव-विवेचन से हमारा मतभेद हो सकता है, विभाजन और सूचियों से असहमति संभव है, किन्तु एक वात सर्वथा सिद्ध है—जिन्हें शास्त्र में अनुभाव अर्थात आलम्बन के प्रति आश्रय के हृदयस्थित भावों का अनुवर्त्तन या अभिव्यक्ति करानेवाली विशेष आंगिक, वाचिक चेष्टाएँ कहा गया, पाठक को उस भाव-विशेष से अवगत कराने का एकमात्र माध्यम वही हैं। अतएव रसानुभूति कराने में इनकी साधनरूपता सर्वथा सिद्ध है। प्राचीनों ने क्योंकि नाटक के संदर्भ में इनका विवेचन किया, अतः दो या अधिक पात्रों की परस्पर आलम्बन एवं आश्रय-रूप मे सापेक्ष स्थिति के आधार पर इनका संबंध आश्रय की भावानुगत वाह्य चेष्टाओं से स्थापित कर दिया। इनका अनुभाव-निरूपण स्थूल, दृश्यात्मक अभिनय से संवद्ध रहा। 'नाट्यशास्त्र', 'दशरूपक' आदि का अनुभाव-लक्षण इस बात का प्रमाण है कि अनुभावों को आश्रय की अभिनयरूप, वाचिक तथा आंगिक ऐसी चेष्टाओं का पर्याय माना गया, जो एक ओर उसके हृदयस्थित भावों के व्यक्त वाह्यरूप होती है, और दूसरी ओर सहृदय को उस भाव-विशेष का भावन कराती हैं। भावन करने के अभिप्राय को भी इन आचार्यों ने स्पष्ट करते हुए कहा है कि इसका अभिप्राय है—साक्षात्कार कराना अथवा अनुभवगोचर वनाना। इस प्रकार आश्रय की दृष्टि

[1] साहित्यदर्पण, पृ० ९३

से ये अनुभाव कार्य-रूप होते हैं और सहृदय की दृष्टि से कारण रूप। इसीलिए साहित्य दर्पणकार ने रस का अनुभावन कराने की दृष्टि से इन्हें उद्दीपन विभाव भी कहा है।

काव्य-सृजन और काव्यानुभूति दोनों के निमित्त अनुभाव-योजना की सार्थकता मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी सिद्ध होती है। अन्तर आज केवल इतना है कि आचार्यों ने इस प्रश्न के मनोवैज्ञानिक पक्ष पर बल न देकर अभिनयात्मक पक्ष पर अधिक बल दिया है परिणामतः इसका स्वरूप अत्यन्त स्थूल अभिनयपरक भासित होने लगा जबकि व्यापक रूप से काव्यगत पात्रों की अनुभूति की बाह्य अभिव्यक्ति के सभी उपक्रम अनुभावों के अन्तर्गत आएँगे।

भरत से श्री रूपगोस्वामी तक अनुभाव के भेदों में क्रमशः विस्तार होता रहा। भरत और भानुदत्त ने अभिनय को दृष्टि में रखते हुए अनुभावों के क्रमशः वाचिक आंगिक तथा सात्त्विक तथा कायिक मानसिक आहार्य तथा सात्त्विक आदि भेद किए। इस विभाजन को कुछ अनिश्चित नवीनता तथा विस्तार देने का श्रेय शारदातनय शिंगभूपाल तथा रूपगोस्वामी आदि विद्वानों को है। इस विभाजन और तदनन्तर विस्तार एवं परिवर्तन का विवरण विद्वानों ने प्रस्तुत किया है। उस सूची की पुनरावृत्ति या औचित्य-परीक्षण व्यर्थ का विस्तार एवं वाग्विलास होगा। क्योंकि रस सामग्री के अन्य तत्त्वों की भाँति अनुभावों के संबंध में भी निस्संकोच कहा जा सकता है कि उनकी संख्या अन्तिम रूप से नियत नहीं की जा सकती। सामान्य रूप से वे सभी वाचिक आंगिक मानसिक आहार्य अथवा सात्त्विक चेष्टाएँ जो पात्र के हृदयस्थित भाव की व्यंजक हों अनुभावों के अन्तर्गत आएँगी। अभिव्यक्ति की ये विधियाँ पात्र परिस्थिति मनःस्थिति देशकाल वातावरण सभी पर निर्भर रहती हैं अतः अनगिनत हो सकती हैं। इनके अंतर्गत हाव हेला सात्त्विक आदि परिगणित होने चाहिए या नहीं अथवा लिंग भेद से इनमें कोई अंतर आना चाहिए अथवा नहीं ये प्रश्न सर्वथा गौण हैं। वे सभी चेष्टाएँ जो मनःस्थित भाव की व्यंजक होंगी अनुभावों के अन्तर्गत आएँगी ही और पुरुष और नारी के भेद से तो क्या व्यक्ति-व्यक्ति में भेद से अनुभावों में अन्तर उपस्थित होगा। देशकाल वातावरण एवं सभ्यता के अन्तर से भी ये अनुभाव भिन्न हो जाएँगे इस बात में शंका नहीं हो सकती। अनुभावों की संख्या उनका विभाजन उनका स्वरूप सभी कुछ समग्र ऐतिहासिक संदर्भ पर निर्भर है। उनकी इयत्ता निश्चित नहीं की जा सकती। प्राचीनों द्वारा किया गया विभाजन सर्वथा अनर्गल और तर्कहीन नहीं था। उसके पीछे दो निश्चित कारण थे १ तत्कालीन सामाजिक स्थिति जिसका प्रतिफलन साहित्य में हुआ २ काव्य में नाटक की प्रमुखता अतएव अभिनयात्मक दृष्टि से इस सामग्री का निर्देश व विवेचन।

दूसरा प्रश्न अनुभावों की स्थिति से संबंधित है। इस संबंध में दो मत हैं। प्राचीनों ने हावों का अन्तर्भाव अनुभावों के अन्तर्गत कर लिया। इस प्रकार उनकी स्थिति आलम्बन और आश्रय दोनों में ही संभव हुई। यही परंपरा हिन्दी के लक्षण-ग्रंथों में पालित हुई जिसका विरोध आचार्य शुक्ल ने किया अनुभाव के अन्तर्गत केवल आश्रय की चेष्टाएँ ही आ सकती हैं। आश्रय की चेष्टाओं का उद्देश्य किसी भाव की व्यंजना करना होता है। पर हावों का सन्निवेश किसी भाव की व्यंजना कराने के लिए नहीं होता बल्कि नायिका का मोहक प्रभाव बढ़ाने के लिए, अर्थात् उसकी रमणीयता की वृद्धि के लिए होता है।

जिसकी रमणीयता या चित्ताकर्पकता का वर्णन या विधान किया जाता है, वह आलम्वन होता है। अतः 'हाव' नामक चेष्टाएँ आलम्वनगत ही मानी जाएँगी और आलम्वनगत होने के कारण उनका स्थान 'विभाव' के अन्तर्गत ही ठहरता है।"[1]

इस प्रकार आचार्य शुक्ल हावों का संबंध आलम्वन की चित्ताकर्पकता वढ़ाकर आश्रय के हृदयस्थित भाव को उद्दीप्त करने के कारण उद्दीपन विभाव से मानते हैं, अनुभावों से नही। पंडित रामदहिन मिश्र ने उनके इस मत का उचित विरोध किया है। उनका तर्क है: "अंगज अलंकारों में 'हाव' की गणना है, और ये अलंकार अनुभाव ही है।···रस उद्दीपक आलम्वन की चेष्टाएँ उद्दीपन कहलाती है। पर 'हाव' इस प्रकार का नही होता, क्योंकि वह कार्य-रूप है, कारण-रूप नही है। इससे विभाव के अन्तर्गत 'हाव' की गणना नही की जा सकती।"[2]

वस्तुतः उद्दीपन विभाव की स्थिति कारण-रूप हो, यह अनिवार्य नही है। अनुवंध केवल यह है कि वह आश्रय के भाव को उद्दीप्त करे। इसीलिए उद्दीपन आलम्वन से सर्वथा पृथक सत्ता वाले भी होते है, वातावरण की गणना इसका उदाहरण है। इससे भिन्न 'हाव' का संवंध पात्र के (आलम्वन हो या आश्रय) हृदयस्थित भाव से होता है। वे इस कारण-रूप भाव के कार्यरूप में अभिव्यक्त होते है। उद्दीपन और अनुभाव में भेद यही है कि अनुभाव के लिए उक्त संवंध अनिवार्य है, उद्दीपन के लिए नहीं। यदि आलम्वन के हृदयगत भाव को अभिव्यक्त करने वाले अनुभाव आश्रय के भाव को उद्दीप्त भी करे तो उनकी अनुभावरूपता में कोई अन्तर नहीं पड़ता। 'हाव' या 'अनुभाव' का चित्रण रसोद्दीपकता के उद्देश्य से नही किया जाता, पात्र की हृदयस्व-भावना की अभिव्यक्ति के लिए किया जाता है। इसीलिए 'हावों' की गणना अंगज अलंकारों में की गई है। निष्कर्प रूप में आश्रय अथवा आलम्वन की वे समग्र, चेष्टाएँ जो उसकी हृदयस्थ भावना का अनुवर्त्तन करती हैं, अनुभाव कहलाएँगी। यदि ये अनुभाव आलम्वनस्थ होकर आश्रय के प्रति उद्दीपन का कार्य करें तो भी उससे कोई विरोध नहीं। उद्दीपन से उनका भेद यही है कि उद्दीपन की कारण-रूपता (आश्रय की भावना उद्दीप्त करने के निमित्त) और अनुभाव की परिणामरूपता (पात्र के हृदयस्थ भाव के कार्य-रूप) अनिवार्य है। इसके अतिरिक्त यदि अनुभाव उद्दीपक भी हो जाएँ तो किसी प्रकार की आपत्ति या विरोध उत्पन्न नही होता।

डॉ० आनन्दप्रकाश दीक्षित ने इस समस्या का विचित्र समाधान प्रस्तुत किया है. "आलम्वन हो चाहे आश्रय, दोनो में ये चेष्टाएँ अनुभाव ही वनकर उपस्थित होती हैं, किन्तु आलम्वन के अनुभाव आश्रय मे स्थायी भाव को विशेप रूप से उद्दीप्त करने में सहायक होते है, अतएव उस समय ये अनुभाव भी विपय वन जाने से उद्दीपन की श्रेणी में पहुँच जाते हैं। पृथकता-वोध के लिए ही दो नामों का सहारा लिया गया है, अन्यथा हम इन्हें 'उद्दीप्त' तथा 'उद्दीपक अनुभाव' ही कहना उपयुक्त समझते हैं।"[3]

जैसा कि पहले स्पष्ट किया जा चुका है अनुभाव और उद्दीपन के व्यावर्त्तन के मूल में दृष्टि-भेद है, केवल पार्थक्य-वोध के लिए ही दो नामों का सहारा नहीं लिया गया।

---

[1] गोस्वामी तुलसीदास, पृ० ९१-९२
[2] काव्य-दर्पण, पृ० ८३
[3] रस-सिद्धान्त : स्वरूप-विश्लेषण, पृ० २९

इसके अतिरिक्त आलम्बनगत अनुभावों को उद्दीपक अनुभाव तो कहा जा सकता है, आश्रय की चेष्टाओं को उद्दीप्त अनुभाव कैसे कहा जाएगा ? उद्दीपन सदैव भाव का होता है, अनुभाव का नहीं।

आश्रय और आलम्बनगत अनुभावों की चर्चा तो संस्कृत के काव्यशास्त्र में की गई और अधिक महत्त्व आश्रय के ही अनुभावों को दिया गया। यह सब नाटक एवं महाकाव्यादि बृहद् काव्य-रूपों के प्रसंग की बात थी, जहाँ एकाधिक पात्रों की भीड़-भाड़ काव्य रचना में अनिवार्यता के रूप में स्वीकृत थी। अतः परिस्थितिविशेष में आश्रय-आलम्बनादि सहज रूप में वर्तमान रहते थे। यहाँ तक कि भक्तिप्रवण रस-भीनी प्रगीतियाँ भी एकाधिक पात्रों की कल्पना करके रची जाती रहीं। मुक्तकों में भी पृष्ठभूमि एक संपूर्ण प्रसंग, स्थिति तथा तत्संबंधित समग्र प्रपंच कल्पित रहता था, अतः इन विविध अंगों की खोज असंभव नहीं थी। अभिहित सामग्री के आधार पर व्यंग्य संदर्भ की कल्पना कर ली जाती थी।

इस प्रकार अनुभाव का लक्षण केवल यही हो सकता है कि काव्य-निबद्ध मूल अनुभूतियाँ भाव जिन बाह्य चेष्टाओं के माध्यम से सम्प्रेषित हों, वे अनुभाव हैं। भले ही मूल अनुभूति किसी और की एवं चेष्टाएँ किसी और की हों। इस संबंध में आश्रय-आलम्बनादि के बंधन नियत नहीं किए जा सकते।

काव्य-समीक्षा में मूर्तिमत्ता

संस्कृत काव्यशास्त्र में काव्य-निबद्ध जिस वस्तुगत सामग्री को विभाव कहकर समझाया गया, पश्चिम में उसकी व्याख्या के लिए प्रसिद्ध कवि आलोचक इलियट ने 'आब्जेक्टिव कोरिलेटिव' सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। कवि का अन्तर्गत भाव किस माध्यम से सहृदय तक पहुँचता है और इस माध्यम का रूप तथा काव्य एवं कलाओं में इसका महत्त्व क्या है ? यही इस सिद्धान्त के प्रतिपादन के मूल में मुख्य प्रश्न या समस्या है। संस्कृत काव्यशास्त्र में 'विभाव' जहाँ एक ओर सहृदयगत भावों के कारण-रूप स्वीकार किए गए हैं, वहीं वे दूसरी ओर कवि के भावों के वाहक या माध्यम भी होते हैं। कवि के भावों को सहृदय तक वहन करने के लिए वे मध्यस्थ-रूप होते हैं। वही कृति को वस्तुगत रूप प्रदान करते हैं।

'हैमलेट' के संदर्भ में इलियट ने अपने प्रसिद्ध उद्धरण में इसी वस्तुगत या मूर्त सामग्री की व्याख्या करते हुए कहा है :

"कला के रूप में संवेगों की अभिव्यक्ति का एकमात्र ढंग एक 'वस्तुनिष्ठ सहसंबंधी' (आब्जेक्टिव कोरिलेटिव) की खोज है, दूसरे शब्दों में वस्तुओं की एक राशि, एक स्थिति, घटनाओं की एक शृंखला जो उस संवेग-विशेष के लिए 'फार्मूला' बन जाए, ऐसा फॉर्मूला जिसमें ऐन्द्रिय अनुभव में परिणत होनेवाले बाह्य तथ्यों के प्रस्तुत होने पर वह संवेग तत्काल उद्बुद्ध हो जाता है।"[1]

---

1 [illegible] ... given, the emotion is immediately evoked

Selected Essays, pp 124 25

कवि अपने संवेगों या अनुभूतियों को किसी मध्यवर्ती माध्यम या सामग्री के बिना सीधे सहृदय तक संप्रेषित नही कर सकता, अतः वस्तुओं, स्थितियों या घटना-शृंखला के रूप में इस मूर्त सामग्री का होना अनिवार्य है। यह सामग्री इस प्रकार कवि की अमूर्त अनुभूतियों व संवेगों का सम्मूर्तन या मूर्त रूप है। इसी के द्वारा कवि और पाठक के बीच सबंध-सूत्र का निर्माण होता है। 'ऑब्जेक्टिव कोरिलेटिव' के द्वारा कवि अपने कथ्य या संप्रेष्य को मूर्त रूप प्रदान करता है।

इलियट के इस काव्य-सिद्धान्त का मूल स्रोत प्रो० मेरिओ प्राज ने एजरा पाउण्ड के इस कथन में माना है कि : "कविता एक प्रकार का प्रातिभ गणित है, जो हमें समीकरण प्रदान करता है—अमूर्त आकारों, त्रिकोणों, वृत्तों आदि के समीकरण नही, वल्कि मानव-संवेगो के समीकरण।"[१] प्रो० प्राज के अनुसार पाउण्ड की यह काव्य-विपयक धारणा इलियट के 'ऑब्जेक्टिव कोरिलेटिव' सिद्धान्त का आरंभ-विन्दु कहा जा सकता है।[२]

प्रो० आइवर विण्टर्स ने प्राज के मत का समर्थन करते हुए अपनी ओर से इतना और जोड़ा है कि यह सिद्धान्त-विशेप एजरा पाउण्ड से भी प्राचीन है और इसके बीज एडगर एलेन पो के निम्नलिखित उद्धरण मे मिलते है :

"कुशल कलाकार एक निश्चित, अद्वितीय अथवा एकान्वित प्रभाव उत्पन्न करने के लिए ऐसी घटनाओं की सृष्टि करता है और फिर उन घटनाओं को इस प्रकार सुनियोजित करता है कि अभीष्ट प्रभाव की सृष्टि में सर्वाधिक सहायक सिद्ध हो।"[3]

विमसाट ने इस काव्य-सिद्धान्त का मूल स्रोत फ्रांसीसी 'प्रतीकवादी' कवियों के सिद्धान्त और प्रयोग में माना है।[४] उनके अनुसार प्रतीकवादियों का तर्क यह है कि कविता संवेग को सीधे अभिव्यक्त नही कर सकती, संवेग केवल उद्बुद्ध किए जा सकते है। बोदलेयर की स्थापना थी कि प्रत्येक वर्ण, ध्वनि, गंध, भाववोध और प्रत्येक चाक्षुप विम्ब परस्पर विनिमेय है। मलार्मे ने यह घोपणा की कि कविता विचारों से नही, वल्कि शब्दों से लिखी जाती है और फिर उन्होने इस सूत्र के अनुसार मुद्रा या भाव-व्यंजना की विधियों के रूप में कल्पित शब्दों की संभावनाओं का अनुसंधान किया।

जिस भापा मे इलियट ने उपर्युक्त संदर्भ में भाव-व्यंजना की वस्तुनिष्ठता का निरूपण किया है, वह अभिव्यंजनावादी भावात्मकता का आभास देती है, साथ ही कुछ विचारकों के अनुसार वह इतनी तर्क-शिथिल है कि उससे वस्तुनिष्ठता की अभीष्ट प्रतिष्ठा नही हो पाती। संभवत: इसीलिए इलियट का 'ऑब्जेक्टिव कोरिलेटिव'-संवंधी उपर्युक्त कथन आइवर विण्टर्स[५] और एलीसिओ वाइवास[६] जैसे सूक्ष्म विचारकों की आलोचना का विपय वना है।

---

[१] द स्पिरिट ऑफ़ रोमान्स, पृ० ५

[२] सदर्न रिव्यू, जिल्द २, अंक ३, पृ० ५२५

[3] ऑन मॉडर्न पोएट्स, पृ० ४२

[४] लिटररी क्रिटिसिज्म : ए शॉर्ट हिस्ट्री, पृ० ६६७-६८

[५] ऑन मॉडर्न पोएट्स, पृ० ४३

[६] क्रिएशन एण्ड डिस्कवरी, पृ० १८४

विमासाट[1] ने पूर्वोक्त उद्धरण के स्थान पर इलियट के एक अन्य उद्धरण को 'ऑब्जेक्टिव कोरिलेटिव' का कम सदोष और अपेक्षाकृत अधिक सतोषप्रद रूप माना है। मेटाफिजिकल कवियों की विशेषताओं का निरूपण करते हुए इलियट ने कहा है कि "वे अपने सर्वोत्तम रूप में मन की स्थितियों और अनुभूति के लिए शाब्दिक पर्याय खोजने के प्रयास के कार्य में संलग्न थे।"[2] इस कथन में 'मानसिक स्थितियाँ और अनुभूति' पद पूर्ववर्ती कथन की शुद्ध संवेगात्मकता से कहीं अधिक व्यापक और संतुलित है। इसके अतिरिक्त शाब्दिक पर्याय (वर्बल इक्विवेलेण्ट) भी अधिक सार्थक एवं मुक्त प्रयोग हैं। इलियट के 'ऑब्जेक्टिव कोरिलेटिव' के सिद्धान्त की आलोचना प्राय उनके द्वारा 'इमोशन' और 'ऑब्जेक्ट' के बीच निरूपित संबंध और रचना-प्रक्रिया को लेकर हुई। किन्तु काव्य की, अपने सृष्ट रूप में, एक वस्तुरूप सत्ता होती है, जिसमें उसके वस्तुनिष्ठ उपादानों का विशेष महत्त्व है, यह इलियट के आलोचकों ने भी स्वीकार किया है। एलीसिओ वाइवास ने संवेग की अभिव्यंजना पर बल न देते हुए भी कहा कि "कविता उस सब की अभिव्यक्ति करती है, जिसे कवि उसमें वस्तुगत रूप में ग्रहण के लिए प्रस्तुत करता है।"[3] वाइवास केवल यह स्वीकार करने के पक्ष में न थे कि "कविता में प्रस्तुत सब कुछ मात्र संवेगों को उद्बुद्ध करने के लिए होता है। उनका विचार था कि कृति में निहित वे सभी तत्त्व अपने-आप में महत्त्वपूर्ण होते हैं, जिनका संबंध कृति की ऐन्द्रिय-ग्राह्य सतह, रूपविधान तथा भाव और विचार से होता है।"[4]

पश्चिम में कवि के संवेगों या भावों के व्यंजक उपकरणों को 'रूप' (फार्म) का अंश माना गया। जो संवेग-रूप है, वह इसी 'रूप' के माध्यम से कलाकृति के रूप में स्थापित होता है और वही पाठक की सौन्दर्यानुभूति का कारण बनता है, ऐसा पश्चिम के अधुनातन चिन्तकों ने स्वीकार किया है। कलावादियों ने इसीलिए कलाओं के संदर्भ में 'सार्थक रूप' का महत्त्व स्वीकार किया है और सूज़न लैंगर ने उसे 'प्रतीकात्मक रूप' (सिम्बोलिक फॉर्म) कहा है। वे 'सिम्बल' का प्रयोग लगभग उसी अर्थ में करती हैं जिसमें सी० डे लीविस ने 'इमेज' शब्द का प्रयोग किया है, उक्त 'प्रतीकात्मक रूप' या लीविस के शब्दों में 'काव्य-बिम्ब' (पोएटिक इमेज) का निर्माण अनेक तत्त्वों से होता है। लैंगर के शब्दों में "कवि शब्दों के माध्यम से घटनाओं, व्यक्तियों, संवेगात्मक प्रतिक्रियाओं, अनुभवों, स्थानों, जीवनदशाओं के 'आभास' (अपियरेंस) की सृष्टि करता है, ये सर्जित वस्तुएँ कविता के तत्त्व होते हैं, और इनसे, सेसिल डे लीविस के शब्दों में, 'काव्य-बिम्ब' का निर्माण होता है।[5]

---

१ लिटररी क्रिटिसिज्म ए शॉर्ट हिस्ट्री, पृ० ६६६

२ The metaphysical poets, were, at best, engaged in the task of trying to find the *verbal* equivalent for states of mind and feeling
Selected Essays, p 248

३ क्रिएशन एण्ड डिस्कवरी, पृ० १८८

४ वही, पृ० १८८

५ What the poet creates out of words is an appearance of events, persons, emotional reactions, experiences, places, conditions of life these created things are the elements of poetry, they constitute what Cecil Day Lewis has called "The poetic image" *Problems of Art*, p 148

इस प्रकार बाह्य मूर्तविधान को जो घटनाओं, चारित्र्य, जड़-चेतन प्रकृति जीवनादि के रूप में काव्य में व्यक्त होता है, सूजन लैंगर ने एक प्रकार का 'आभास' या और आगे बढ़कर 'प्रतिभास' (सेम्बलेन्स) कहा है। वे इसे 'प्रतिभास' कहने के पक्ष में क्यों हैं ? इसके लिए तर्क प्रस्तुत करते हुए उन्होंने कहा है कि : "इस सर्जित काव्यात्मक प्रतिभास का वास्तविक वस्तुओं, तथ्यों, व्यक्तियों और अनुभवों का सामानान्तर प्रतिभास होना आवश्यक नहीं है। यह सामान्यतः आभास मात्र होता है। यह मूलतः आदर्श या संभाव्य वस्तु (वर्चुअल ऑब्जेक्ट) है और ऐसी ही संभाव्य वस्तु कलाकृति होती है। यह नितान्त सर्जित होती है।"[1]

निष्कर्ष रूप में, लैंगर के मतानुसार काव्य-निबद्ध उक्त मूर्तविधान, कवि-सृष्टि होती है। ये कलाकृति के वे तत्त्व हैं, जिनसे उसका रूप-निर्माण होता है। वे वास्तविक वस्तुओं के अनिवार्यतः समानान्तर न होने पर भी उनका 'प्रतिभास' प्रस्तुत करते हैं। यह 'प्रतिभास' एक प्रकार की संभाव्य वस्तु होता है। इस प्रकार लैंगर ने भी काव्य में वस्तुगत तत्त्वों की निबंधना पर बल दिया, भले ही वह 'प्रतिभास' रूप हो।

अभिव्यक्ति के ये तत्त्व भावमूलक होते है, इसका स्पष्टीकरण करते हुए लैंगर ने कहा कि : "कलाकृति या अन्य वस्तु एक चिह्न का कार्य करती है जो किसी तथ्य की ओर संकेत करता है—किसी ने कैसा अनुभव किया, उसका क्या विश्वास है, वह कहाँ और कैसे रहता था अथवा उसके स्वप्नों को किसने दुःस्वप्न बनाया।"[2] इसी प्रकार संगीत के संदर्भ में उन्होंने कहा कि : "संगीत संवेगात्मक जीवन का ध्वन्यात्मक प्रतिरूप है।"[3] कलामात्र की जिस परिभाषा को घोषित रूप से उन्होंने अपने विवेचन का आधार बनाया, वह इस प्रकार थी : "कला ऐसे रूपों का सृजन है, जो मानव अनुभूतियों के प्रतीक होते हैं", दूसरे शब्दों में : "कला मानव अनुभूतियों की प्रतीकात्मक रूप-सृष्टि है।"[4]

कलाकृति की प्रतीकात्मकता पर उन्होंने बार-बार बल इसलिए दिया कि वे उसे अनुभूतियों की अनुकृति नहीं मानती। यहाँ तक कि कलाकृति के रूप मे अवतरित या मूर्त अनुभूतियाँ जीवन की वास्तविकता से पूर्णतः असबद्ध हो सकती है। यदि दर्शक ने कभी वास्तविक जीवन में उनका अनुभव न भी किया हो, तो भी वह इन कला-प्रतीकों के माध्यम से अवतरित इस 'अनुभूत जीवन' का अनुभव संभावना के रूप मे कर लेगा।

परन्तु यह सब होते हुए भी यद्यपि कलाकृति आत्मनिष्ठ विशेषताओं को उद्घाटित करती है, तथापि स्वय वस्तुरूप होती है; उसका उद्देश्य अनुभूतिमय जीवन को मूर्त करना होता है।

इस प्रकार काव्य-निबद्ध मूर्त तत्त्वों को, जो सहृदयगत भावों के कारण एवं कविगत

---

[1] The created poetic semblance need not be a semblance of corresponding actual things, facts, persons, or experiences. It is quite normally a pure appearance, a sheer figment; it is essentially a virtual object; and such a virtual object is a work of art. It is entirely created.

Problems of Art, p. 148.

[2] फ़ीलिंग एण्ड फ़ॉर्म, पृ० २६

[3] वही, पृ० २७

[4] वही, पृ० ४०

भावों के परिणाम होते हैं लैंगर ने कला का अनिवार्य तत्व माना है तथा उनकी भाव निर्भरता का बारबार प्रतिपादन करते हुए उनकी वस्तुरूपता की रक्षा की है। वे तो जीवनानुभूतियों के गत्यात्मक रूपाकारों को भी तदनुकूल रूपों में बाँधने की बात करती हैं और संवेगों के प्रतीकात्मक रूप अथवा कलाकार जिन वस्तुरूप चरित्रों का चयन करता है स्थिर न होकर गत्यात्मक रूप (डाइनमिक फार्म) धारण करते हैं। संभवत कहना अप्रासंगिक न होगा कि लैंगर ने अपना विवेचन मुख्यत संगीत और नृत्य कलाओं के संदर्भ में किया अत प्रकृत्या रूप में गत्यात्मकता के गुण की चर्चा करना उनके लिए अनिवार्य था।

काव्य में मूर्तता (कंक्रीटनेस) को प्रसिद्ध समालोचक एफ० आर० लीविस ने लगभग मूल्य के रूप में प्रतिष्ठित किया है। लीविस की कंक्रीट विषयक अवधारणा का संबंध यथार्थ (रियल) से है और वे उस साहित्य का मूल्य स्वीकार करते हैं। द ग्रेट ट्रेडिशन में लीविस ने बार बार इस शब्द का प्रयोग किया है तथा वे प्राय निश्चितता (स्पेसिफिसिटी) तथ्यपरता (एक्चुएलिटी) सिद्धि (रिअलाइज़ेशन) और स्पष्टता (विविडनेस) आदि शब्दों का प्रयोग भी स्थानापन्न के रूप में करते हैं परन्तु इन सब शब्दों का प्रयोग एक ही अर्थ-व्यंजना के लिए किया गया और वह यह है कि साहित्य में व्यक्तियों को इतने मूर्त या यथातथ्य रूप में उपस्थित किया जाए कि पाठक को उनकी वास्तविकता की अनुभूति होने लगे। वस्तुत सामान्य व्यवहार के इन शब्दों को लीविस ने विशेष अर्थवत्ता प्रदान करते हुए जिन अवधारणाओं के लिए प्रयुक्त किया है उनका स्पष्टीकरण इनके अक्षरश या शाब्दिक अनुवाद द्वारा संभव नहीं है। फिर भी इस वस्तु निष्ठता या मूर्तता को अभिव्यक्ति की पूर्णता या समग्रता का पर्याय माना जा सकता है। जान किन्हन ने संकेत किया है कि लीविस का यह सिद्धान्त चरित्रप्रधान और मनोविश्लेषणात्मक उपन्यासों पर शिल्प प्रधान उपन्यासों की अपेक्षा अधिक सुखद रूप से लागू किया जा सकता है।[1]

साहित्य या काव्य में वस्तुतत्त्व के माध्यम से लेखक अपने संवेग को अभिव्यक्त या सिद्ध करता है। उसके मन में वस्तुविषयक जो पूर्वनिर्धारित धारणाएँ होती हैं उन्हें वह विशिष्ट शब्द योजनाओं में बाँधकर प्रस्तुत करता है अत पाठक कृति को एक संश्लिष्ट इकाई के रूप में ग्रहण करता हुआ इन संकेतों के माध्यम से उस व्यक्त वस्तु की खोज करता है। लीविस ने इसी प्रक्रिया की विशेषता को इनैक्टमेण्ट और रिअलाइज़ेशन शब्दों में अभिहित किया है। रिअलाइज़ेशन का संबंध इस प्रकार यथार्थ की अभिव्यक्ति से जुड़ जाता है।

भावों के विभावन या सम्मूर्तन की प्रक्रिया के लिए रिअलाइज़ेशन शब्द के प्रयोग पर टिप्पणी करते हुए विसंट बक्ले ने कहा है कि इस शब्द में न केवल सृजन की व्यंजना निहित है किसी वस्तुमय या प्रस्तुति का भाव है बल्कि आत्मोपलब्धि की ओर भी संकेत है जिसे आत्माभिव्यक्ति न कहकर आत्मबोध कहा जाय तो बेहतर होगा।[2]

---

[1] ब्रिटिश जर्नल आफ एस्थेटिक्स जिल्द ५ नं० १, जनवरी १९६५ पृ० १५

[2] पोएट्री एण्ड मोरेलिटी, पृ० १६४

काव्य में सम्मूर्तन की यह प्रक्रिया आत्मोपलब्धि इस अर्थ में है कि उसके मूल में होने वाले अनुभव का कृति में विद्यमान होना अनिवार्य है। कृति में प्रस्तुत किसी वस्तुस्थिति से संबद्ध अनुभूतियों का उसमें निहित रहना आवश्यक है। यही इस 'रिअलाइजेशन' संज्ञा के प्रयोग में अवस्थित विरोधाभास है कि वह मूर्त के माध्यम से अमूर्त है, वस्तु के माध्यम से आत्म की ऐसी सिद्धि की ओर संकेत करती है, जिसमें आत्मा की सत्ता का भी विलोप न हो।

लीविस ने वस्तु और संवेग की इस परस्परापेक्ष एवं परस्परावलम्बित स्थिति को काव्यात्मक सत्य कहा है। उनके लिए 'काव्यात्मक सत्य' (पोएटिक रिएलिटी) और 'कलात्मक सचाई' (आर्टिस्टिक सिन्सिएरिटी) तत्त्वतः पर्याय हैं। और यह सच्चाई है— कविता में ऐसी वस्तुस्थिति का होना जो उसके मूलवर्ती सवेग के साथ न्याय कर सके।

लीविस की उपर्युक्त मान्यताओ से यह भ्रम न हो जाए कि वस्तुगत सामग्री संवेग-सिद्धि का माध्यम मात्र है, इसलिए लीविस ने एक निवंध में 'प्राउड मेजी' नामक रचना के पढ़ने से होनेवाले प्रभाव की व्याख्या करते हुए कहा कि : "उसे पढ़ते समय हमें संवेग मात्र के प्रस्तुत किए जाने की प्रतीति नहीं होती। जैसे-जैसे हम कविता मे प्रस्तुत नाट्य-तत्त्वों को ग्रहण करते जाते हैं, संवेग स्वयं विकसित होकर अपने को परिभाषित करता चलता है।"[1]

लीविस की धारणा थी कि : "कविता एक कथन है जो मूर्त होता है और एक बार जब हम किसी कविता को पूरा पढ़ लेते है, वह हमें एक ऐसी जटिल संघटना के रूप में प्रतीत होती है जो सूक्ष्म जीवन से जीवन्त हो।"[2] लीविस के मतानुसार संवेग और मूर्त उपादानो के वीच यह संतुलन केवल कविता की वस्तुरूपता के माध्यम से सिद्ध होता है। मूर्त वस्तुरूप उपकरणों में अनुस्यूत संवेग की सिद्धि में लीविस ने वौद्धिकता को प्रमुख एवं महत्त्वपूर्ण साधन माना है। किन्तु साथ ही बुद्धि-तत्त्व को भी वे तब तक स्वीकृति नही देते, जब तक वह वस्तु-तत्त्व मे और उसके माध्यम से व्यक्त न हो।

पश्चिम में काव्यगत मूर्त उपादानों को व्यापक अर्थ में 'बिम्ब' विपयक अवधारणा के अन्तर्गत समाविष्ट किया गया है, जो अपने-आप में स्वतंत्र अध्ययन का विपय है। उक्त विपय का विस्तृत विवेचन प्रस्तुत संदर्भ मे विशेप प्रासंगिक नहीं है।

निष्कर्ष-रूप मे पाश्चात्य सौन्दर्यशास्त्र और काव्यशास्त्र में काव्य एवं कलाओं में मूर्तता या वस्तुनिष्ठता पर पर्याप्त वल दिया गया है। विचार-पद्धति के भेद से विभिन्न विचारकों ने इस विशेपता की व्यंजना के लिए नाना रूप शब्दावली का प्रयोग किया है। इलियट ने यदि उसे 'ऑब्जेक्टिव कोरिलेटिव' कहा तो लैंगर ने 'सिम्वॉलिक फ़ॉर्म' और 'डाइनेमिक फ़ॉर्म' और लीविस ने उसे 'कक्रीटनेस' के सिद्धान्त द्वारा समझाया। व्यापक रूप से काव्यगत मूर्त उपकरणों को बिम्व-विधान का अंग भी स्वीकार किया गया। काव्य और कलाओं मे व्यक्त इस मूर्त सामग्री के लिए प्रयुक्त उपर्युक्त संज्ञाओं के संवंध में भी तीव्र मतभेद और विवाद रहा। सवसे अधिक मतान्तर इस प्रश्न को लेकर व्यक्त किया गया कि संवेग और इस मूर्त सामग्री के वीच क्या संबंध है? अमूर्त संवेग किस प्रक्रिया के

---

१ स्क्रटिनी, जिल्द १३, नं० १, स्प्रिंग १९४५, पृ० ५३

२ वही, पृ० ५४

द्वारा यह मूर्त रूप धारणा करते हैं और सिद्ध कलाकृति या काव्यकृति में संवेगों तथा इन मूर्त उपादानों की परस्परापेक्ष स्थिति का स्वरूप क्या है? अस्तु इस संबंध में सभी विचारकों में पूर्ण मतैक्य है कि काव्य-निबद्ध संवेगों का एकमात्र साधन यही मूर्त सामग्री है, अतः कृति में उसका महत्त्व संवेगों से अधिक नहीं तो उनके समतुल्य अवश्य है।

विभावन-व्यापार और सम्मूर्तन

भारतीय काव्यशास्त्र में 'विभाव' के रूप में, और पश्चिमी विचार-प्रणाली में 'ऑब्जेक्टिव कोरिलेटिव' एवं 'कंक्रीटनेस' तथा 'बिम्ब विधान' आदि शब्दों के द्वारा जिस अवधारणा की चर्चा की गई है उसका संबंध काव्य में अमूर्त तत्त्व के ग्राहक मूर्त उपादानों से है। दोनों परंपराओं के आचार्यों ने समान रूप से वस्तु-विधान के महत्त्व का प्रतिपादन करते हुए उसका विवेचन किया है। जिन विचारकों की दृष्टि अपेक्षाकृत आत्मवादी है, उन्होंने इस चित्र विधान या वस्तु सृष्टि को माध्यम मात्र मानते हुए उसके द्वारा व्यंजित 'संवेग' को सर्वाधिक महत्त्व दिया। इसके विपरीत वस्तुवादी वहिर्निष्ठ दृष्टि के विचारकों ने काव्य में विभाव तत्त्व या मूर्त दृश्य विधान को अधिक महत्त्वपूर्ण माना। वस्तुतः यह प्रसंग भारत में उतने विवाद का विषय नहीं रहा, जितना पश्चिम में। रस सिद्धान्त में जहाँ एक ओर अनुभूति के महत्त्व को सहृदय एवं कवि पक्ष में प्रतिष्ठित किया गया, वहाँ काव्य-पक्ष में रस के वस्तुनिष्ठ रूप की दृष्टि से संपूर्ण विभाव पक्ष का विधान किया गया। यही विभाव पक्ष कवि से पाठक तक भाव के वहन का मुख्य साधन है। एक ओर सहृदय पक्ष में उसकी रस या भावानुभूति पूर्णतः विभाव निर्भर रहती है, दूसरी ओर कवि पक्ष में भाव के संप्रेषण की सफलता का रहस्य भी विभाव निर्माण की क्षमता में निहित रहता है।

आचार्य शुक्ल ने काव्य के दो पक्षों—भाव और विभाव की चर्चा करते हुए कहा है कि "काव्य में विभाव ही मुख्य है।"[1] विभाव-पक्ष के निर्माण को शुक्लजी व्यापक रूप से बिम्ब-निर्माण मानते थे और इसीलिए उन्होंने कविता का कार्य अर्थ-ग्रहण कराना न मानकर बिम्ब ग्रहण कराना माना है। कवि की इस वस्तु चित्रमय सृष्टि को महत्त्व देकर जब आचार्य शुक्ल उसे रचयिता की सहृदयता पर निर्भर मानते हैं तो इलियट की 'ऑब्जेक्टिव कोरिलेटिव' संबंधी धारणा से उनका अद्भुत साम्य दृष्टिगत होता है। इलियट ने 'ऑब्जेक्टिव कोरिलेटिव' को मूलवर्ती भावों विचारों से संबद्ध, यहाँ तक कि उनके लिए फॉर्मूला रूप माना है। इलियट द्वारा प्रयुक्त 'कोरिलेटिव' शब्द ही उनकी भाव-संबद्धता का द्योतक है। इसी प्रकार शुक्लजी भी एक ओर तो उसे कवि की कल्पना के प्रधान क्षेत्र कहते हैं और दूसरी ओर कल्पना को अनुभूति की अनुगामिनी मानकर परोक्षतः विभाव का संबंध भाव या अनुभूति से जोड़ देते हैं:

"'बिम्ब-ग्रहण' कराने के लिए चित्रण काव्य का प्रथम विधान है, जो 'विभाव' में दिखाई पड़ता है। काव्य में 'विभाव' मुख्य समझना चाहिए। भावों के प्रकृत आधार या विषय का कल्पना द्वारा पूर्ण और यथातथ्य प्रत्यक्षीकरण कवि का पहला और सबसे आवश्यक काम है। यों तो जिस प्रकार विभाव, अनुभाव आदि में हम कल्पना का प्रयोग पाते हैं, उसी प्रकार उपमा, उत्प्रेक्षा आदि अलंकारों में भी, पर जबकि रस ही काव्य में

---

1 रस-मीमांसा, पृ० १०६

प्रधान वस्तु है, तब उसके संयोजकों में कल्पना का जो प्रयोग होता है वही आवश्यक और प्रधान ठहरता है। रस का आधार खड़ा करनेवाला जो विभावन-व्यापार है, वही कल्पना का सबसे बड़ा प्रधान कार्य-क्षेत्र है। किन्तु वहाँ उसे यों ही उड़ान भरना नहीं होता; उसे अनुभूति या रागात्मिका वृत्ति के आदेश पर चलना पड़ता है। उसे ऐसे स्वरूप खड़े करने पड़ते हैं जिनके द्वारा रति, हास, शोक, क्रोध इत्यादि का स्वयं अनुभव करने के कारण कवि जानता है कि श्रोता या पाठक भी उनका वैसा ही अनुभव करेंगे।"[1]

शुक्लजी के उपर्युक्त उद्धरण से तीन बातें स्पष्ट हैं : १. काव्य में बिम्ब-ग्रहण कराने के लिए चित्रण तथा कल्पना द्वारा पूर्ण और यथातथ्य प्रत्यक्षीकरण कवि का सबसे पहला और आवश्यक काम है, २. विभावन-व्यापार काव्य में सर्वाधिक प्रधान कार्य है, ३. यह विभावन-व्यापार रागात्मिका वृत्ति का अनुगामी होता है।

इलियट ने भी इस काव्यगत वस्तु-विधान को इतना अधिक महत्त्व दिया है कि वे उसे 'काव्य मे सवेगो की अभिव्यक्ति का एकमात्र साधन मानते है।' इस विभाव-सृष्टि को जिसे शुक्लजी ने 'वस्तु-चित्रमय' कहा है, दोनों ही ने शैली के अन्य वाह्य उपकरणों, अलंकार, भाषा आदि से भिन्न मानते हुए अलगाया है और उसकी पृथक सत्ता निरूपित की है। शुक्लजी इस वस्तु-चित्रमयता के विधान को—काव्य के प्रकृत स्वरूप को संघटित करने का प्रयास मानते है और अलंकार आदि को वाह्य आडम्बर फैलाने का अभ्यास स्वीकार करते हैं।[2] और इलियट अपने विवेचन में स्पष्ट उल्लेख करते है कि 'ऑब्जेक्टिव कोरिलेटिव' 'वस्तुओं की एक राशि, एक स्थिति, घटनाओं की एक शृंखला' है, जो संवेगों के लिए 'फार्मूला रूप' हो जाती है। शुक्लजी ने जिस बात को काव्योचित भाषा में कहा, प्राचीन आचार्यों ने जिसे संस्कृत में शास्त्रीय भाषा में कहा, उसी को इलियट और एजरा पाउण्ड आदि पश्चिम के चिन्तकों ने गणित और विज्ञान की भाषा में कहने की चेष्टा की है। इलियट के अनुसार जिस प्रकार उक्त फ़ार्मूला के उपस्थित होने पर पाठक के मन में संवेग तत्काल उद्बुद्ध हो जाते है, उसी प्रकार संस्कृत की सर्वमान्य परिभाषा के अनुसार विभाव, भावों के कारण होते है।

भारतीय और पाश्चात्य विचारको मे उक्त विचार-साम्य नाटक और समाख्यानात्मक प्रबंध विषयों के संदर्भ में तो अत्यंत स्पष्ट रूप से स्वीकार किया जा सकता है; परन्तु मुक्तकों मे एवं लघु गीतियो में यह विभाव-योजना कैसे सिद्ध होती है, इसका उत्तर पूर्व के ध्वनिवादी और पश्चिम के प्रतीकवादी विचारकों ने प्रस्तुत किया। भट्टतोत ने जहाँ रसास्वाद के निमित्त वर्णन में चित्रमयता या दृश्य-गुण को अनिवार्य माना था, वहाँ अभिनवगुप्त ने चित्र के सर्वांग विचरण को कल्पनापेक्षी कहकर छोड़ दिया, जो उचित ही था। फ्रांस के प्रतीकवादी विचारकों ने यह तर्क कविता में संवेगों की व्यंजना की व्याख्या के लिए प्रस्तुत किया है। उनका कथन है कि संवेगों की अभिव्यक्ति नही, उद्बोधन ही किया जा सकता है। शब्दों के माध्यम से, जो स्वयं प्रतीक-रूप हैं, विचार व्यंजित रहते है। यही बात वस्तु-चित्र-विधान के संबंध में सत्य है। प्रतीक किसी भी अन्य वस्तु-चित्र या स्थिति का भी वाचक हो सकता है। इस संबंध में अभिनवगुप्त का कथन है कि कवि-

[1] चिन्तामणि, भाग २, पृ० २
[2] रस-मीमांसा, पृ० १०६

कल्पना म निर्मित चित्र पूर्ण विवरण के अभाव मे कतिपय शब्द सकेतो के माध्यम से ध्वनित रहता है। परन्तु वाच्य या व्यग्य किसी भी रूप म वस्तु चित्रो की सत्ता काव्य म सभी ने स्वीकार की है। शुक्लजी ने इस प्रश्न की व्याख्या अत्यन्त युक्तियुक्त रूप म प्रस्तुत करते हुए कविता क दो रूप माने हैं भावप्रधान और विभावप्रधान। उनक शब्दो म भाव प्रधान कविता म—ऐसी कविता म जिसम सवेदना की विवृत्ति ही रहती है—आलम्बन का आक्षेप पाठक क ऊपर छोड दिया जाता है। विभाव प्रधान कविता म—ऐसी कविता मे जिसम आलम्बन का ही विस्तृत रमणीय चित्रण रहता है—सवेदना पाठक के ऊपर छोड दी जाती है। [१]

शुक्लजी का मत दूसरे प्रकार की कविता के पक्ष म है अपनी अनुभूति या सवेदना का लबा चौडा ब्योरा पश करने की अपेक्षा उन तथ्यो या वस्तुओ को पाठक की कल्पना म ठीक ठीक पहुँचा देना जिन्होने वह अनुभूति या सवेदना जगाई है कवि के लिए हम अधिक आवश्यक समझते हैं।' [२]

कविता की यह वस्तुनिष्ठता अथवा उसमे मूर्त वस्तुचित्रात्मकता का जो आग्रह पश्चिम म रोमाण्टिक काव्य दृष्टि के विरोध म आधुनिक युग मे बढ चला उस पर प्राचीन सस्कृत काव्यशास्त्र म पर्याप्त बल दिया जा चुका था। सभी रसो की सयोजक सामग्री का विधान करत हुए विभाव-पक्ष का विस्तारपूर्वक निर्देश किया गया है। परन्तु साथ ही विभिन्न रसो के सदर्भ म जिन विभावो का उल्लेख किया गया है, उनका आशय विभावो की इयत्ता प्रतिपादित करना नही। वस्तुत किसी भी भाव का आलम्बन काव्य का विभाव होने मे समर्थ है।

संस्कृत काव्यशास्त्र का आरभ नाटक के सदर्भ में हुआ था, अत भरत ने अपने सपूर्ण विवेचन म उन तत्वो पर बल दिया जिनम मूर्तिमत्ता तथा अभिनयात्मकता की प्रधानता थी। भरत ने अपने रस सूत्र मे विभाव अनुभाव एव सचारी का ही उल्लख किया क्योंकि उन्ही के माध्यम से भाव सृष्टि मूर्त रूप धारण करती हुई वस्तुनिष्ठ नाट्य के रूप म निष्पादित होती है। भाव तो उनके मूल म निहित रहते है और इस वस्तुरूप प्रपच के अतिरिक्त भाव की अनुभूति ही हो सकती है अभिव्यक्ति व सप्रेषण नही। इसीलिए भरत ने इसी वस्तुचित्रमय नाट्य सृष्टि का ही विस्तारपूर्वक साङ्गोपाङ्ग विवेचन किया। जहाँ 'नाट्य शास्त्र' का सर्वाग इस वस्तुरूप नाट्य प्रपच के लिए समर्पित है वहाँ भाव विवेचन केवल एक अध्याय म किया गया है। विभावो की उक्त मूर्तिमत्ता का जितना सुन्दर निर्वाह 'नाटक' मे सभव है उतना अन्य विधाओ म नही। इसीलिए आधुनिक आलोचक एफ० आर० लीविस जब साहित्य म मूर्तिमत्ता पर बल देते हैं तो उपन्यास क सदर्भ म भी वे नाटक के क्षेत्र से शब्दावली को ग्रहण करते हुए वस्तु रूपायन की इस प्रक्रिया को इनैक्टमेण्ट तथा कन्क्रीटनेस आदि शब्दो म समझाते हैं। य सभी शब्द एक ही दिशा की ओर इगित करते हैं—काव्यकृति की वस्तुरूपता या मूर्तिमत्ता जो भावो की वाहिनी है और जिसके अभाव म भावो का न कोई अर्थ है न महत्त्व और न अभिव्यक्ति का आधार ही। इन्ही वस्तुगत आधारो का उल्लेख करते हुए भरत ने उनका विस्तृत विवेचन किया था।

[१] [२] चिन्तामणि भाग २, पृ० १०२

भारतीय विभाव संबंधी अवधारणा की समानता जितनी अधुनातन विचारकों की तत्संबंधी विचारधारा से है, उतनी रोमानी वर्ग के कवि-चिन्तकों से नहीं। काव्य-निबद्ध वस्तुगत उपादानों की जिस एक या अधिक विशेषताओं की ओर पश्चिम के विद्वानों ने संकेत किया है वे समवेत रूप में विभाव की अवधारणा में मिल जाती है। इलियट, प्रतीकवादी मलार्मे और एफ़० आर० लीविस की चर्चा की जा चुकी है। यह भी संयोग है कि जिस कवि-सृष्टि को सूजन लैंगर ने 'प्रतिभास', 'प्रतीकात्मक रूप', 'गत्यात्मक रूप' या 'जीवन्त रूप' कहा है, वह भी विभाव संबंधी अवधारणा के अन्य पक्षों से साम्य रखती है। एक ओर वे कवि-सृष्ट मूर्त कृति को तथ्य से अलगाते हुए उसे एक प्रकार का 'प्रतिभास' कहती हैं, दूसरी ओर संस्कृत के आचार्य भी कवि-सृष्टि को अलौकिक कहते हुए उसे लोक-जीवन और सामग्री से भिन्न करके देखते हैं। 'विभाव' काव्यगत पारिभाषिक शब्द है जो लौकिक भावों के विषय या आलम्बनों के लिए प्रयुक्त नहीं हो सकता। संस्कृत काव्यशास्त्र में ऐसा अनेक स्थलों पर शब्द-भेद से कहा गया है। काव्य के संदर्भ में 'विभाव' का अर्थ है—भावों के काव्यबद्ध कारण, निमित्त या हेतु; और जो मूर्त होते हुए भी यथार्थ न हो वह 'प्रतिभास' के अतिरिक्त क्या हो सकता है ?

इसी प्रकार लैंगर ने कला को जब 'गत्यात्मक रूप', 'प्रतीकात्मक रूप', या 'जीवन्त रूप' कहा तो उनका अभिप्राय संवेगगर्भित रूप से था। 'गत्यात्मक रूप' का अर्थ है—वह रूप जो भाव-संपृक्त हो, और भावों की गति से ही जिसे गति प्राप्त हो। 'प्रतीकात्मक रूप' का अभिप्राय हुआ—वह मूर्त या वस्तुरूप कलाकृति, जो किसी अनुभूति का प्रतीक हो और यह अनुभूति उसका अभिव्यंग्य हो। इसी रूप को जब वे 'जीवन्त रूप' (लिविंग फ़ॉर्म) भी कहती है तो अनुभूति ही वह तत्त्व है जो रूप को जीवन्तता, अर्थगरिमा तथा गति प्रदान करता है। ठीक इसी प्रकार विभाव कवि की तत्संबंधी अनुभूति के प्रतीक होते है। ये प्रतीक निश्चित रूप से गत्यात्मक होते है, क्योंकि विभाव के अन्तर्गत जड़ मूर्ति-चित्र नहीं, समस्त कार्य-व्यापार, घटना-शृंखला आदि आ जाती है, और किसी भी काव्य-रचना में गति शिल्प और अनुभूति दोनों पक्षों में रहती है। किसी अनुभूति-क्षण का मूर्त रूप या उपादानों में बँधना ही गत्यात्मक प्रक्रिया है और यह अनुभूति रचना के 'समग्र' में उत्तरोत्तर विकसित होती है। वे सहृदय के भाव के कारण, अतः कवि की अनुभूति के संवाहक होते है। 'भाव' शब्द के व्युत्पत्यर्थ में यह आशय निहित है, अतः वे जीवन्त तो स्वयं होंगे। निष्कर्ष-रूप में लैंगर के मत के सभी पक्षों का विभाव की भारतीय अवधारणा से पूर्ण साम्य है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि रस-सिद्धान्त की विभाव संबंधी अवधारणा जितनी अधिक प्राचीन है, उतनी ही आधुनिक पाश्चात्य चिन्तन के निकट है। रस के आरम्भिक विवेचन में वस्तुनिष्ठता और मूर्तिमत्ता पर जितना अधिक बल दिया गया, उतना काव्य और विशेषकर मुक्तक के संदर्भ में रस-चर्चा आरम्भ होने पर नहीं। ध्वनि-सिद्धान्त की प्रतिष्ठा ने इस समस्या के लिए जो समाधान सहज सुलभ कर दिया, उससे इस भ्रम को प्रचार मिला कि रस-सिद्धान्त मूलतः भावनिष्ठ और आत्मनिष्ठ दृष्टि है, जबकि वास्तविक स्थिति यह है कि रस-सिद्धान्त अपनी आरम्भिक स्थिति में उतना ही वस्तुप्रिय और मूर्ति-मत्ता का पोषक सिद्धान्त है, जितना कोई भी आधुनिक पाश्चात्य काव्य-सिद्धान्त।

●

१०

काव्य का माध्यम

भाषा की व्यंजना शक्ति

भाषा की जिस शक्ति से रसात्मक काव्य की सृष्टि होती है उसे संस्कृत काव्यशास्त्र में व्यंजना अथवा ध्वनि की संज्ञा दी गई है। सभी व्यंजक शब्द अनिवार्यतः रसात्मक नहीं होते किन्तु रसात्मक होने के लिए शब्द का व्यंजक होना अनिवार्य है। संस्कृत काव्यशास्त्र में काव्य भाषा की व्यंजकता का सांगोपांग विचार ध्वनि सिद्धान्त के अन्तर्गत किया गया है जो वस्तुतः रस सिद्धान्त का पूरक है—यहाँ तक कि अपने परिनिष्ठित रूप में यह सिद्धान्त के रसध्वनि सिद्धान्त के रूप में प्रतिष्ठित है।

रस की प्रतिष्ठा मूलतः नाट्य के संदर्भ में हुई थी। यद्यपि भरत मुनि ने इसको 'काव्यार्थ' नाम से भी स्मरण किया किन्तु उनकी दृष्टि निरन्तर नाट्य पर ही केन्द्रित थी। नाट्य में तो विभावादि के संयोग से रस निष्पत्ति की व्याख्या कर दी गई थी किन्तु काव्य में रस निष्पत्ति की व्याख्या के लिए बहुत दिनों तक कोई उपयुक्त सिद्धान्त सुलभ न था। भामह, दण्डी, वामन, रुद्रट आदि आरम्भिक आलंकारिकों को भी रस विषयक ज्ञान था और वे भी काव्य में रस की विशेष प्रकार की सत्ता का अनुभव करते थे, किन्तु रस की उस विशेषता को स्पष्ट करने के लिए उनके पास कोई समर्थ साधन न था। आनन्दवर्धन पहले आचार्य हैं जिन्होंने इस 'विशेष' को स्पष्ट करने का प्रयास किया और कहना न होगा कि इस कार्य में उन्हें सफलता भी मिली। ध्वनि सिद्धान्त इसी प्रयास का परिणाम है।

आनन्दवर्धन ने स्पष्ट शब्दों में कहा कि "जिस प्रकार स्त्रियों में उनके प्रसिद्ध अवयवों से अतिरिक्त एक विशेष प्रकार का लावण्य भासित होता है उसी प्रकार महाकवियों की वाणी में वाच्यार्थ से विलक्षण एक प्रतीयमान वस्तु रसिक जनों को प्रतीत होती है।[1] यह प्रतीयमान अर्थ स्वादु है, उससे रस निष्यन्द होता है, यह अलौकिक सामान्य अथवा अलौकिक है तथा उसमें महाकवियों की प्रतिभा विशेष परिस्फुरित होती है।[2] इस प्रकार महाकवियों के काव्य में रसिकों को जो विशेष प्रकार का अर्थ प्रतीयमान होता है वह प्रतिभा विशेष की अभिव्यक्ति है। इसलिए इसकी प्रतीति भी सबको नहीं होती है। ध्वनि

---

[1] प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम्।
यत्तत्प्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभाति लावण्यमिवाङ्गनासु॥ ध्वन्यालोक १।४

[2] सरस्वती स्वादु तदर्थवस्तु निष्यन्दमाना महतां कवीनाम्।
अलोकसामान्यमभिव्यनक्ति परिस्फुरन्तं प्रतिभाविशेषम्॥ ध्वन्यालोक १।६

कार के अनुसार : "वह प्रतीयमान अर्थ केवल शब्दार्थ के नियमो के ज्ञानमात्र से नहीं जाना जाता, वल्कि वह तो काव्यार्थ के तत्त्वज्ञ लोगो द्वारा ही जाना जाता है।"[1]

प्रश्न यह है कि वह अर्थ क्या है ? ध्वनिकार ने इसका उत्तर देते हुए कहा है कि : "उस अर्थ की अभिव्यक्ति की सामर्थ्य रखनेवाला कोई शब्द है। वे शब्द और अर्थ महाकवि के यत्नपूर्वक प्रत्यभिज्ञेय है।"[2]

वह अर्थ व्यंग्य है और उसकी अभिव्यक्ति में समर्थ शब्द 'व्यंजक' कहलाता है। वह शब्दमात्र नही है, वल्कि शब्द-विशेष है। इसकी परिभाषा करते हुए ध्वनिकार कहते है कि : "जहाँ अर्थ अपने-आपको अथवा शब्द अपने अर्थ को गुणीभूत करके प्रतीयमान अर्थ को व्यक्त करते है, वह 'काव्य-विशेष' विद्वानों द्वारा ध्वनि कहा जाता है।"[3]

व्यंग्यार्थ जिस शब्द-व्यापार से सिद्ध होता है, उसे काव्यशास्त्र में व्यंजना-व्यापार की संज्ञा दी गई है। वैसे, शब्द-व्यापार के तीन भेद माने गए है : अभिधा, लक्षणा और व्यंजना। शब्द के उच्चारण के साथ ही जिस अर्थ का बोध होता है, वह उस शब्द का मुख्य अथवा वाच्य अर्थ है। मुख्य अर्थ और उसके बोधक अर्थ में वाच्य-वाचक संबंध होता है। अर्थ वाच्य है, शब्द वाचक है, और जिस वृत्ति के द्वारा इन दोनों में वाच्य-वाचक संबंध उत्पन्न होता है, वह है अभिधा-व्यापार। जब मुख्य अर्थ से काम नही चलता और उससे भिन्न किन्तु संबंधित अर्थ से काम लिया जाता है, तो ऐसे अर्थ को लाक्षणिक अर्थ या लक्ष्यार्थ कहते है। मुख्यार्थबोध, मुख्यार्थयोग तथा रूढ़ि अथवा प्रयोजन इन तीन निमित्तो से लक्ष्यार्थ होता है। लक्ष्यार्थ का बोध जिस शब्द के द्वारा होता है, और यह संबंध जिस वृत्ति के कारण ज्ञात होता है, उसे लक्षणा कहते है। इनके अतिरिक्त काव्य में एक तीसरा अर्थ भी होता है, जिसे व्यंग्यार्थ कहते है। व्यंग्य अर्थ का बोध जिस शब्द से होता है, वह उस अर्थ का व्यंजक होता है और उस अर्थ तथा उस शब्द मे व्यंग्य-व्यंजक संबंध होता है और जिस शब्द-व्यापार से इस संबंध का ज्ञान होता है, वह है व्यंजना-व्यापार। वृत्ति-भेद से शब्द के जो वाचक, लाक्षणिक और व्यंजक, तीन भेद होते है, उसका यह अर्थ नही कि कुछ शब्द केवल वाचक, कुछ केवल लाक्षणिक और कुछ केवल व्यंजक ही होते है। इस कथन का अर्थ यह है कि वृत्ति-भेद से एक ही शब्द वाचक, लाक्षणिक अथवा व्यंजक हो सकता है।

व्यंजना-व्यापार की विशेषता यह है कि वह केवल काव्य में होता है। मम्मट ने "स्याद् वाचको लाक्षणिकः शब्दोऽत्र व्यंजकस्त्रिधा" पर वृत्ति में टिप्पणी करते हुए लिखा है कि "अत्रेति काव्य"। इसके साथ ही उन्होने यह भी लिखा है कि : "शास्त्रे व्यंजकः शब्दो न

---

[1] शब्दार्थशासनज्ञानमात्रेणैव न वेद्यते।
वेद्यते स तु काव्यार्थतत्त्वज्ञैरेव केवलम्॥ ध्वन्यालोक, १।७

[2] सोऽर्थस्तद्व्यक्तिसामर्थ्ययोगी शब्दश्च कश्चन।
यत्नतः प्रत्यभिज्ञेयौ तौ शब्दार्थौ महाकवेः॥ ध्वन्यालोक, १।८

[3] यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ।
व्यङ्क्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः॥ वही, १।१३

प्रसिद्ध इत्यत उक्तमथेति।"[१] अर्थात शास्त्र में व्यंजक शब्द प्रसिद्ध नहीं है। इस धारणा की पुष्टि भट्टनायक के भी इस कथन से होती है कि "शब्द के प्राधान्य का आश्रयण करके शास्त्र को अलग मानते हैं, अर्थतत्त्व से युक्त को आख्यान कहते हैं और इन दोनों के गुणीभूत होने की स्थिति में व्यापार का प्राधान्य होने पर काव्य की धी होती है।"[२] स्पष्ट ही यहाँ 'व्यापार' का अर्थ व्यंजना-व्यापार है। इससे यह ज्ञात होता है कि काव्य से इतर क्षेत्रों में तो अभिधा और लक्षणा ही होती है, किन्तु काव्य की यह विशेषता है कि उसमें उन दोनों व्यापारों के अतिरिक्त व्यंजना-व्यापार भी होता है और यह व्यंजना-व्यापार अन्यत्र कहीं नहीं होता बल्कि केवल काव्य में ही होता है। इस प्रकार व्यंग्यार्थ एकान्तिक रूप से केवल काव्यात्मक भाषा का गुण है। अनेक आचार्यों ने व्यंजना के अस्तित्व का विरोध किया है, इसलिए व्यंजना की यह क्षेत्रगत विशिष्टता अथवा सीमा ध्यान देने योग्य है।

व्यंजना को परिभाषित करते हुए मम्मट ने कहा है कि "अनेकार्थ शब्द का वाचकत्व जब संयोग आदि से नियन्त्रित हो जाता है, और इस प्रसंग में जब ऐसे अर्थ की प्रतीति होती है, जो कि वाच्य नहीं है, तब वह प्रतीति देनेवाला व्यापार व्यंजना-व्यापार ही होता है।"[३] वस्तुतः शब्द का केवल व्यंजक होना असंभव है। व्यंजना अभिधा और लक्षणा दोनों पर अवलंबित रहती है। व्यंजना तब तक प्रवृत्त नहीं होती, जब तक अपना-अपना काम करके अभिधा और लक्षणा निवृत्त नहीं हो जातीं। इस प्रसंग में विश्वनाथ-कृत 'व्यंजना व्यापार' का यह लक्षण ध्यान देने योग्य है कि "अभिधा, तात्पर्य तथा लक्षणा की शक्तियाँ अपना-अपना कार्य करके जब उपक्षीण हो जाती हैं, तब जिसके द्वारा अधिक अर्थ प्रतीत होता है, वह वृत्ति व्यंजना है।"[४]

व्यंजना केवल शब्द की ही वृत्ति नहीं है, वह अर्थवृत्ति भी है। जहाँ अर्थगत व्यंजना होती है, उसे आर्थी व्यंजना कहते हैं। आर्थी व्यंजना में शब्द-परिवृत्ति हो सकती है। मूल शब्द को हटाकर पर्याय शब्दों का प्रयोग करने पर भी वहाँ व्यंजना नष्ट नहीं होती है। इसलिए कहा गया है कि 'शब्दार्थयुगलरूपस्य काव्यस्य ध्वनित्वं स्यादित्यत आह।' अर्थात काव्य का ध्वनित्व शब्दार्थयुगल-रूप होता है, जिस प्रकार 'व्यंजक शब्द' होता है, उसी प्रकार 'अर्थोऽपि व्यंजकस्तत्र।'[५]

अर्थ की व्यंजकता अनेक प्रकारों से प्रतीत होती है। मम्मट के अनुसार "वक्ता या

---

१ काव्यप्रकाश, २।१

२ शब्दप्राधान्यमाश्रित्य तत्र शास्त्रं पृथग्विदुः।
अर्थतत्त्वेन युक्तं तु वदन्त्याख्यानमेतयोः॥
द्वयोर्गुणत्वे व्यापारप्राधान्ये काव्यधीर्भवेत्। ध्वन्यालोक, पृ० ८६ पर उद्धृत

३ अनेकार्थस्य शब्दस्य वाचकत्वे नियन्त्रिते।
संयोगाद्यैरवाच्यार्थधीकृद् व्यापृतिरंजनम्॥ काव्यप्रकाश, २।१६

४ विरतास्वभिधाद्यासु ययाऽर्थो बोध्यते परः।
सा वृत्तिर्व्यंजना नाम शब्दस्यार्थादिकस्य च॥ साहित्यदर्पण, २।१२

५ काव्यप्रकाश, २।१५

श्रोता का वैशिष्ट्य, विशिष्ट स्वर में किया गया वाक्य का उच्चारण, प्रकरण, देश-काल आदि का वैशिष्ट्य आदि अनेक कारणों से वाच्यार्थ से भिन्न अर्थ प्रतिभायुक्त रसिक को प्रतीत होता है। ऐसे प्रसंग में एक अर्थ से होनेवाली दूसरे अर्थ की प्रतीति व्यंजना-व्यापार के द्वारा होती है।"[१]

व्यंजना-व्यापार से संपन्न होनेवाले ध्वनि-काव्य के अनेक प्रकार से विभाग किए जाते हैं। वाच्यमुख से, व्यंजना-व्यापारमुख से, व्यंजकमुख से तथा व्यंग्यमुख से। वाच्यमुख से 'अविवक्षितवाच्य ध्वनि' तथा 'विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि' दो भेद होते हैं। व्यंजना-व्यापारमुख से 'संलक्ष्यक्रम ध्वनि' तथा 'असंलक्ष्यक्रम ध्वनि' दो भेद होते हैं। व्यंजकमुख से 'शब्दशक्तिमूल ध्वनि', 'अर्थशक्तिमूल ध्वनि' तथा 'उभयशक्तिमूल ध्वनि' तीन भेद होते हैं। व्यंग्यमुख से 'वस्तु ध्वनि', 'अलंकार ध्वनि' तथा 'रस ध्वनि' तीन भेद होते हैं। यद्यपि ध्वनि का यह संपूर्ण प्रपंच अधिक-से-अधिक काव्यों को अपनी विचार-प्रणाली में समेटने के लिए किया गया है, तथापि ध्वनि का मूल उद्देश्य रस की ही व्याख्या करना है और ध्वनिकार के विवेचन से यह स्पष्ट है कि ध्वनि से उनका तात्पर्य मुख्यतः रस-ध्वनि ही था। आनन्दवर्धन ने 'ध्वन्यालोक' में स्पष्ट कहा है कि : "हमने इस यत्न का आरंभ रसादि रूप व्यंग्य के तात्पर्य की युक्तता के लिए किया है, न कि ध्वनि के प्रतिपादन मात्र के अभिनिवेश से।"[२] भरत मुनि जिसे 'काव्यार्थ' कहते हैं और आनन्दवर्धन जिस सहृदय-श्लाघ्य 'प्रतीयमान अर्थ' को 'काव्यस्यात्मा' कहते हैं, वह वस्तुतः 'रस' ही है। इसीलिए जब अभिनवगुप्त 'लोचन' मे यह कहते हैं कि : "इसलिए रस ही वस्तुतः आत्मा है, वस्तु ध्वनि और अलंकार ध्वनि सर्वथा रस के प्रति पर्यवसित होते है",[3] तो वे ध्वनिकार के मन्तव्य को उचित रूप में ही प्रस्तुत करते हैं। एक अन्य प्रसंग में आनन्दवर्धन ने भी ऐसा ही कहा है कि : "व्यंग्य-व्यजक भाव अनेक प्रकार के हो सकते हैं, किन्तु फिर भी कवि को चाहिए कि वह निरंतर रसादि रूप व्यंग्य-व्यजक भाव पर ही अवधान रखे।"[४]

रस के संदर्भ में 'ध्वनि' का महत्त्व इसलिए है कि काव्य में रस-निष्पत्ति की व्याख्या ध्वनि के अतिरिक्त किसी अन्य व्यापार से संभव नहीं है। भट्टनायक ने 'भावकत्व' और 'भोजकत्व' दो व्यापारों के द्वारा रसास्वाद की व्याख्या करने का प्रयास किया, किन्तु अभिनवगुप्त ने भट्टनायक के दोनों व्यापारों को व्यंजना के अन्तर्गत समाविष्ट करते हुए युक्तियुक्त ढंग से सिद्ध कर दिया कि एक व्यंजना-व्यापार ही 'भावना' और 'भोग' दोनों व्यापारों को निष्पन्न करने मे समर्थ है। इस प्रसंग मे अभिनवगुप्त ने भट्टनायक के मत की

---

[१] वक्तृबोद्धव्यकाकूनां वाक्यवाच्यान्यसन्निधेः।
प्रस्तावदेशकालादेर्वैशिष्ट्यात्प्रतिभाजुषाम्।
योऽर्थस्यान्यार्थधीर्हेतुर्व्यापारो व्यक्तिरेव सा॥ काव्यप्रकाश, ३।१-२

[२] रसादिरूपव्यंग्यतात्पर्यमेवैषां युक्तमिति यत्नोऽस्माभिरारब्धो न ध्वनिप्रतिपादनमात्राभिनिवेशेन। ध्वन्यालोक, पृ० ३९९

[३] तेन रस एव वस्तुत आत्मा, वस्त्वलंकारध्वनि तु सर्वथा रसं प्रति पर्यवस्येते।
ध्वन्यालोक-लोचन, पृ० ८६

[४] व्यंग्यव्यंजक-भावेऽस्मिन् विविधे संभवत्यपि।
रसादिमय एकस्मिन् कविः स्यादवधानवान्॥ ध्वन्यालोक, ४।५

आलोचना करते हुए उनके विचारों को संशोधित रूप में जिस प्रकार प्रस्तुत किया है, वह अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। संक्षेप में यह प्रसंग निम्नलिखित है

वासना के आनन्त्य के कारण रस की प्रतीति सिद्ध है। वह रसना रूप उत्पन्न होती है। उसमें वाच्य और वाचक का अभिधा से व्यतिरिक्त व्यंजना रूप ध्वनन-व्यापार है। भोगीकरण व्यापार काव्य का रस विषयक व्यापार होने के कारण ध्वनन रूप ही है दूसरा कुछ नहीं। समुचित गुणों और अलंकारों का परिग्रह रूप भावकत्व-व्यापार को भी हम विस्तार करके कहेंगे। फिर यह अपूर्व क्या है? यदि आप कहते हैं कि रसों के प्रति काव्य भावक होता है वहाँ आप ही ने भावन करने में उत्पत्तिपक्ष को पुनरुज्जीवित कर दिया है। केवल काव्य के शब्दों का भावकत्व नहीं बन सकता क्योंकि अर्थ के परिज्ञान न होने से उनका भावकत्व नहीं बनेगा। केवल अर्थों का भी भावकत्व संभव नहीं है शब्दान्तर से भी उन अर्थों के उपस्थित होने पर उनमें भावकत्व का योग नहीं। दोनों का भावकत्व तो हमने ही कहा है जहाँ अर्थ अथवा शब्द अर्थ को व्यंजित करते हैं। इस कारिका में। इसलिए व्यंजकत्व नामक व्यापार में गुण और अलंकार के औचित्य आदि रूप इतिकर्तव्यता के द्वारा भावक काव्य रसों को भावित करता है। इस प्रकार साध्य साधन इतिकर्तव्यता इन तीन अंशों वाली भावना में करण अथवा साधन अंश में ध्वनन ही आता है। क्या भोग भी काव्य शब्द से नहीं किया जाता है? अपितु वह भोग जो घन मोहान्धकार की सकटता के भग्न होने के कारण आस्वाद नामधारी द्रव द्रुत विस्तार और विकास रूप है जब किया जाता है तो लोकोत्तर ध्वनन व्यापार ही मूर्धाभिषिक्त होता है। इसलिए यह भोगीकृत्व अर्थात् भोजकत्व व्यापार रस की ध्वननीयता के सिद्ध हो जाने पर दैवसिद्ध है।[1]

इस प्रकार अभिनवगुप्त ने भट्टनायक की मान्यता का खंडन करके यह प्रतिष्ठित किया कि रस व्यंग्य है और रस की अभिव्यक्ति होती है।[2] भट्टनायक ने बड़ी दृढ़ता से कहा था कि रस न तो उत्पन्न होता है न प्रतीत होता है और न अभिव्यक्त होता है। इसके विपरीत अभिनवगुप्त ने अनेक युक्तियों से रस की प्रतीतिरूपता और अभिव्यक्तिरूपता की स्थापना की। वस्तुतः रस व्यंग्य ही होता है। एक अन्य संदर्भ में लौकिक

---

[1] सा च रसनारूपा प्रतीतिरुत्पद्यते। वाच्यवाचकयोस्तत्राभिधादिविविक्तो व्यञ्जनात्मा ध्वननव्यापार एव। भोगीकरणव्यापारश्च काव्यस्य रसविषयो ध्वननात्मैव, नान्यत् किंचित्। भावकत्वमपि समुचितगुणालंकारपरिग्रहात्मकमस्माभिरेव वितत्य वक्ष्यते। किमेतदपूर्वम्? काव्यं च रसान् प्रति भावकमिति यदुच्यते तत्र भवतैव भावनादुत्पत्तिपक्ष एव प्रत्युज्जीवितः। न च काव्यशब्दानां केवलानां भावकत्वम् अर्थापरिज्ञाने तदभावात्। न च केवलानामर्थानाम् शब्दान्तरेणार्प्यमाणत्वे तदयोगात्। द्वयोस्तु भावकत्वमस्माभिरेवोक्तम्।

यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थं व्यङ्क्तः इत्यत्र। तस्माद्व्यञ्जकत्वाख्येन व्यापारेण गुणालंकारौचित्यादिकयेतिकर्तव्यतया काव्यं भावकं रसान् भावयति इति त्र्यंशायामपि भावनायां करणांशे ध्वननमेव निपतति। भोगोऽपि न काव्यशब्देन क्रियते अपि तु घनमोहान्ध्यसंकटतानिवृत्तिद्वारेणास्वादापरनाम्नि अलौकिके द्रुतिविस्तरविकासात्मनि भोगे कर्तव्ये लोकोत्तरे ध्वननव्यापार एव मूर्धाभिषिक्तः। तच्चेदं भोगकृत्त्वं रसस्य ध्वननीयत्वे सिद्धे दैवसिद्धम्। ध्वन्यालोक लोचन पृ० १९९–२००

[2] प्रतिपत्तुश्च रसावेशो रसाभिव्यक्तिरेव रसाश्च व्यंग्य एव। वही पृ० ६८

ध्वनि' से 'अलौकिक ध्वनि' की विशिष्टता का निरूपण करते हुए अभिनवगुप्त ने इसी मान्यता को इस प्रकार स्पष्ट किया है : "प्रतीयमान का वह भेद जो कि काव्यव्यापारगोचर बताया गया है, वह स्वप्न में भी स्वशब्दवाच्य नहीं होता। वह वाच्यार्थ की अवस्था मे आ ही नही सकता। उसका स्वरूप लौकिक मर्यादा के भीतर आ ही नही सकता। प्रत्युत, काव्यगत गुणालंकार-संस्कृत शब्दों द्वारा रसिक मे हृदयसंवाद उत्पन्न होता है, उसमें रसिक को विभाव, अनुभाव आदि का सौन्दर्य प्रतीत होता है, उस प्रत्यय के साथ ही उन विभावानुभावों के लिए उचित तथा रसिक के मन मे पूर्वनिविष्ट रति आदि वासनाओ का जो धीरे-धीरे उद्‌बोध होता है, उस उद्‌बोध का सौन्दर्य भी उसे प्रतीत होता है; एवं रसिक का संवित् सुकुमार अर्थात चर्वणायोग्य होकर रसिक के आनन्दमय चर्वणाव्यापार ही के कारण वह अर्थ आस्वादनीय अर्थात रसनीय होता है। इस प्रकार यह काव्यार्थ काव्यव्यापार-मात्र ही से अर्थात व्यजना-व्यापार ही से गोचर होता हैं; शब्दो से वह गोचर नहीं होता। इस प्रकार का, काव्यव्यापार ही से गोचर होनेवाला यह अर्थ ही रसध्वनि है। यह अर्थ ध्वनित ही होता है, वाच्य नही होता। अतएव यह व्यजना-व्यापार ही का—जो कि केवल काव्य ही मे पाया जाता है—विषय होता हे। अन्य किसी भी व्यापार का यह विषय नहीं होता। अतएव रसध्वनि ही मुख्यतया काव्यात्मा है।"[1]

बोध की प्रकृति की दृष्टि से विचार करते हुए रसध्वनि को 'असलक्ष्यक्रम ध्वनि' की सज्ञा दी गई है। रसध्वनि को असंलक्ष्यक्रम इसलिए कहा गया है कि जिन विभाव अनुभाव आदि के द्वारा रसादि की प्रतीति होती है, उन विभाव अनुभाव आदि का क्रम रसिक के ध्यान में नही आता। वैसे रसादि ध्वनि मे भी विभाव आदि का क्रम तो होता ही है; किन्तु रसिक को वह क्रम प्रतीत नही होता। ध्वनिकार ने इस बात को पदार्थ-प्रतीति तथा वाक्यार्थ-प्रतीति के दृष्टान्त मे समझाया है। जिस प्रकार पदार्थ द्वारा ही वाक्यार्थ-प्रतीति होती है, उसी प्रकार व्यग्यार्थ-प्रतीति भी वाच्यार्थपूर्विका ही होती है; किन्तु जिसका शब्द-ज्ञान समृद्ध होता है, उसे जब वाक्यार्थ-प्रतीति होती है तो उन पदार्थो की स्वतंत्र प्रतीति एव वाक्यार्थ-निष्पत्ति का क्रम उस व्यक्ति के ध्यान मे नही आता। अल्पशब्दज्ञानी एवं कुशल शब्दज्ञानी—दोनों की प्रतीति में क्रम तो एक ही रहता है; अर्थात पहले शब्द, फिर शब्दार्थ, तत्पश्चात उनमे परस्पर-संबंध और अन्त मे वाक्यार्थ, किन्तु अल्पज्ञ वाक्यार्थ तक क्रमशः पहुँचता है, और विज्ञ को शब्द सुनते ही वाक्यार्थ की प्रतीति हो जाती है। काव्य के सहृदय रसिक का भी ऐसा ही अनुभव होता है। उसको भी रस-प्रतीति विभावानुभावों के द्वारा ही होती है; किन्तु यह विभाव है, ये अनुभाव है, ये संचारी है और यह रस है, इस प्रकार के क्रम का उसे भान नही होता।[2] यही 'झटिति प्रत्यय' है। अतएव इसकी

---

[1] यस्तु स्वप्नेऽपि न स्वशब्द वाच्यो न लौकिकव्यवहारपतितः किंतु शब्दसमर्प्यमाण हृदयसंवादसुन्दरविभावानुभावसमुचितप्राग्विनिविष्टरत्यादिवासनानुरागसुकुमारस्वसंविदानन्दचर्वणाव्यापाररसनीयरूपो रसः, स काव्यव्यापारैकगोचरो रसध्वनिरिति, स च ध्वनिरेवेति, स एव मुख्यतयात्मेति। ध्वन्यालोक-लोचन, पृ० ५०

[2] यथा अत्यन्तशब्दवृत्तज्ञो यो न भवति तस्य पदार्थवाक्यार्थक्रमः। काष्ठाप्राप्तसहृदयभावस्य तु वाक्यवृत्तकुशलस्येव सन्नपि क्रमः अभ्यस्तानुमानाविनाभावस्मृत्यादिवत् असंवेद्य इति। ध्वन्यालोक-लोचन, पृ० १००

असंलक्ष्यक्रमता का विवेचन करते हुए आनन्दवर्धन कहते हैं कि "रसादिरर्थो हि सहैव वाच्येन अवभासते।"[1] अर्थात् रस आदि का प्रत्यय विभावादि वाच्यों के मानो समकाल ही अवभासित होता है। यहाँ इव अर्थात् 'मानो' का तात्पर्य यह है कि रसादि प्रतीति में क्रम यद्यपि विद्यमान है तथापि ध्यान में नहीं होता।[2]

रसादिध्वनि की असंलक्ष्यक्रमता पर रसध्वनिवादियों में भी थोड़ा-सा मतभेद है। मम्मट[3] विश्वनाथ[4] आदि की मान्यता है कि रसादिरूप व्यंग्य असंलक्ष्यक्रम ही होता है। किन्तु पंडितराज जगन्नाथ[5] ने रसादि का संलक्ष्यक्रमत्व भी स्वीकार किया है। जहाँ प्रकरण आदि का पर्यालोचन करना पड़ता है और विभावादि को भी अपनी बुद्धि से उन्नीत करना पड़ता है वहाँ रस सामग्री की अभिव्यक्ति विलम्ब से होती है, इसलिए रसादि प्रतीति का चमत्कार भी मंथरता से होता है। अतएव इस दशा में रसादिध्वनि भी 'संलक्ष्यक्रम' होती है। आनन्दवर्धन ने इस प्रकार की ध्वनि को 'अर्थशक्त्युद्भव ध्वनि' का प्रकार बतलाया है। इसकी व्याख्या करते हुए अभिनवगुप्त ने कहा है कि यद्यपि रसभाव आदि अर्थ व्यंग्यमान ही होता है कभी भी वाच्य नहीं होता, तथापि सब असंलक्ष्यक्रम का विषय नहीं होता
इसके बाद कुछ आगे जाकर एक काव्योद्धरण का विश्लेषण करते हुए वे स्वीकार करते हैं कि इस प्रकार झटिति हृदय को विश्राम नहीं मिलता, अपितु हृदय पहले से संपन्न हुए तपश्चर्या आदि वृत्तान्त के अनुस्मरण से उस लज्जा में प्रतिपत्ति करता है इस प्रकार क्रमव्यंग्यता ही है।[6]

सारांश यह कि रसध्वनि मुख्यतः असंलक्ष्यक्रम और क्वचित् कदाचित् संलक्ष्यक्रम भी होती है।

संक्षेप में ध्वनि सिद्धान्त के द्वारा काव्य में रस की अभिव्यक्ति और व्यंग्यरूपता की प्रतिष्ठा हुई। ध्वनि की स्थापना प्रतिभा के आधार पर की गई, इसलिए एक ही सिद्धान्त द्वारा युगपत् भाव में कविकृत रस सृष्टि के साथ ही सहृदयगत रसास्वाद की भी व्याख्या हो गई।

---

1. ध्वन्यालोक, पृ० १९८
2. इव शब्देन असंलक्ष्यता विद्यमानत्वेऽपि क्रमस्य व्याख्याता। ध्वन्यालोक लोचन, पृ० १८८
3. न खलु विभावानुभावव्यभिचारिण एव रस, अपितु रसस्तैरित्यास्ति क्रम। स तु लाघव न लक्ष्यते। काव्यप्रकाश ४।६१
4. भावादिरसंलक्ष्यक्रमव्यंग्य। अत्र व्यंग्यप्रतीतेर्विभावादिप्रतीतिकारणकत्वात्क्रमोऽवश्यमस्ति, किंतूत्पलपत्रशतव्यतिभेदवल्लाघवान्न संलक्ष्यते। साहित्यदर्पण, पृ० १३२
5. सोऽयं निगदित सर्वोऽपि रत्यादिलक्षणो व्यंग्यप्रपञ्च स्फुटे प्रकरणे झगिति प्रतीतेषु विभावानुभावव्यभिचारिषु सहृदयतमेन प्रमात्रा सूक्ष्मेणैव समयेन प्रतीयत इति हेतुहेतुमतो पौर्वापर्यक्रमस्यालक्षणादलक्ष्यक्रमो व्यपदिश्यते। यत्र तु विचारवेद्यं प्रकरणम्, उन्नेया वा विभावादयस्तत्र सामग्रीविलम्बाधीन चमत्कृतेर्मान्थर्यमिति संलक्ष्यक्रमोऽप्येष भवति।
रसगंगाधर पृ० ३६१
6. यद्यपि रसभावादिरर्थो व्यंग्यमान एव भवति न वाच्य कदाचिदपि, तथापि न सर्वोऽलक्ष्यक्रमस्य विषय। इति झटिति न लज्जायां विश्रमयति हृदयं, अपितु प्राग्वृत्ततपश्चर्यादिवृत्तान्तानुस्मरणेन तत्र प्रतिपत्तिं करोतीति क्रमव्यंग्यतैव।
ध्वन्यालोक-लोचन, पृ० २६८–७०

संवेगात्मक भाषा

आधुनिक पाश्चात्य काव्यशास्त्र में काव्यभाषा संबंधी सर्वाधिक प्रचलित मत आइ० ए० रिचर्ड्स द्वारा प्रतिपादित 'संवेगात्मक भाषा' का है, जिसके अनुसार काव्य में भाषा का 'संवेगात्मक प्रयोग' होता है। रिचर्ड्स के 'संवेगात्मक भाषा' संबंधी विचार बीज-रूप में ऑग्डेन के सहयोग से लिखित 'अर्थ का अर्थ' नामक पुस्तक में मिलते हैं, जिनका विस्तृत विवेचन 'अर्थ का अर्थ' के द्वितीय संस्करण की भूमिका के अनुसार 'साहित्य समीक्षा के सिद्धान्त' नामक पुस्तक में किया गया है।[१] उक्त दोनों प्रसंगों के आधार पर, संक्षेप में, रिचर्ड्स का मत यह है कि : "व्यवहार में शब्द दो प्रकार से प्रयुक्त होते है : प्रतीकात्मक और संवेगात्मक। शब्द के प्रतीकात्मक प्रयोग में कोई कथन होता है अथवा किसी तथ्य का अंकन या फिर किसी सूचना का संप्रेषण। इसके विपरीत शब्द के 'संवेगात्मक प्रयोग' में वक्ता या तो किसी सवेग, अनुभूति, वृत्ति, अभिप्राय आदि की अभिव्यक्ति करता है या फिर वह किसी श्रोता में इस प्रकार के किसी संवेग, अनुभूति, वृत्ति या अभिप्राय को उद्‌बुद्ध करना चाहता है। प्रतीकात्मक प्रयोग विज्ञान या शास्त्र में होता है, जबकि सवेगात्मक प्रयोग प्रधानतः काव्य में होता है।"[२] प्रतीकात्मक भाषा की सत्यता-असत्यता ठोस तथ्यों के आधार पर परखी जा सकती है; किन्तु काव्य की संवेगात्मक भाषा को न सत्य कहा जा सकता है, न असत्य।

इसलिए भाषा के संवेगात्मक प्रयोग को रिचर्ड्स 'अर्ध-प्रकथन' (सूडो-स्टेटमेण्ट) कहते है; क्योंकि वैज्ञानिक 'प्रकथनों' के समान काव्य के 'अर्ध-प्रकथनो' का 'सत्यापन' (वेरिफ़िकेशन) संभव नहीं है। तात्पर्य यह कि 'संवेगात्मक भाषा' तथ्यों के स्थान पर तथ्यों के संबंध मे हमारी संवेगात्मक प्रतिक्रिया-मात्र व्यक्त करती है और इसलिए काव्य से केवल भावात्मक प्रतिक्रियाओं का बोध होता है।

आइ० ए० रिचर्ड्स ने आगे चलकर अपनी 'व्यावहारिक समीक्षा' नामक पुस्तक मे एक अन्य कोण से 'संवेगात्मक भाषा' के अर्थगत तत्त्वों पर विचार किया है।

---

१ Principles of Literary Criticism (I.A.R.) endeavours to provide for the emotive function of language the same critical foundation as is here attempted for the symbolic. Preface to the Second Edition, *The Meaning of Meaning*, p. XII.

२ (a) But here a twofold division is more convenient, the division between symbolic use of words and the *emotive* use. The symbolic use of words is statement, the recording, the support, the organization and the communication of references. The emotive use of words is a more simple matter, it is the use of words to express or excite feelings and attitudes..... under the emotive function are included both the expression of emotions, attitudes, moods, intentions, etc., in the speaker, and their communication, *i.e.*, their evocation in the listener.

The Meaning of Meaning, pp. 149-50.

(b) A statement may be used for the sake of the reference true or false, which it causes. This is the scientific use of language. But it may also be used for the sake of the effects in emotion and attitude........This is the emotive use of language. *The Principles of Literary Criticism*, p. 267.

आइ० ए० रिचर्ड्स के अनुसार समस्त भाषागत प्रयोगों पर चार दृष्टियों से विचार किया जा सकता है[1] १ वाच्यार्थ (सेन्स), २ अनुभूति (फीलिंग), ३ स्वर भंगिमा (टोन) ४ अभिप्राय (इंटेंशन)।

१ वाच्यार्थ हम कुछ कहने के लिए बोलते हैं और सुनते समय कुछ कहे जाने की आशा रखते हैं। हम शब्दों का उपयोग श्रोता का ध्यान किसी वस्तुस्थिति की ओर आकर्षित करने के लिए करते हैं, हम विचारार्थ कुछ विषय प्रस्तुत करना चाहते हैं और तत्संबंधी विचारों को उत्पन्न करना चाहते हैं। रिचर्ड्स के अनुसार किसी कथन में निहित यही वाच्यार्थ उसका मर्म है। आचार्य शुक्ल ने इसका अनुवाद 'प्रस्तुत अर्थ या व्यंग्य वस्तु'[2] किया है।

२ अनुभूति नियमतः इन विषयों के संबंध में और वस्तुस्थितियों के संबंध में हमारी कुछ अनुभूतियाँ होती हैं। उनके संबंध में हमारा एक दृष्टिकोण होता है, विशेष दिशा होती है पक्षपात या रुचि होती है, व्यक्तिगत रंग और भाव रंजन होता है, और हम भाषा का उपयोग इन अनुभूतियों को अभिव्यक्त करने के लिए करते हैं। साथ ही जब हम सुनते हैं तो इस व्यंग्य भाव को हम सही या गलत रूप में ग्रहण करते हैं और जो हम ग्रहण करते हैं यह अनुभूति उसका अपरिहार्य अंश होती है। आचार्य शुक्ल ने इसका अनुवाद 'व्यंग्य भाव' किया है।[3]

३ स्वर भंगिमा इसके अतिरिक्त सामान्यतः वक्ता का बोधव्य के प्रति एक दृष्टिकोण होता है। अपने श्रोताओं के अनुकूल वक्ता अपने शब्दों का चुनाव और व्यवस्था भिन्न ढंग से करता है। यह विविधता उनके प्रति अपने संबंधों के अभिज्ञान से स्वचालित या सायास रूप में उत्पन्न होती है। उसकी स्वर भंगिमा इस संबंध के प्रति उसकी सजगता को प्रतिबिम्बित करती है। आचार्य शुक्ल इस 'बोधव्य की विशेषता' कहते हुए आर्थी व्यंजना के कारणों के अन्तर्गत रखते हैं।[4]

४ अभिप्राय भाषागत प्रयोग का चौथा अर्थ रिचर्ड्स ने कवि का अभिप्राय माना है। उनके अनुसार काव्य में वाच्यार्थ अन्तर्निहित भावात्मक दृष्टिकोण, बोधव्य के प्रति स्वर भंगिमा के अतिरिक्त एक अभिप्राय एक लक्ष्य सायास अथवा अनायास रूप में छिपा रहता है। वह एक प्रभाव डालने का प्रयास करता है। सामान्यतः वह एक उद्देश्य से बोलता है और उसका उद्देश्य उसके भाषण को सुधारता है। वक्ता के इस अभिप्राय को समझ उसके अर्थ को ग्रहण करने की संपूर्ण प्रक्रिया का एक अंग है।

रिचर्ड्स भाषा के उपर्युक्त चारों प्रकार के प्रयोगों में से अन्तिम को सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण और आत्मनिर्भर मानते थे।[5] वैसे उनका विचार था कि इनमें से सभी एक की

---

[1] प्रैक्टिकल क्रिटिसिज्म पृ० १८१

[2][3] चिंतामणि, भाग २, पृ० १६४

[4] वही, पृ० १६४-६५

[5] प्रैक्टिकल क्रिटिसिज्म, पृ० १८३

और कभी दूसरे की प्रधानता रहती है और ये चारों एक-दूसरे को प्रभावित भी करते हैं। अर्थ-व्यंजना की इस प्रक्रिया को समझाते हुए रिचर्ड्स ने रचनाकार के दायित्व का उल्लेख किया है।[1] उनका विचार है कि : ग्राहक की सामान्य समझ को ध्यान में रखते हुए सबसे पहले कुछ दूर तक वाच्यार्थ के संक्षिप्त और पर्याप्त कथन-मात्र का मोह रचनाकार को छोड़ना पड़ेगा। यदि पाठक को समझाना है तो सरलीकरण और अन्यथाकरण भी अनिवार्य हो सकता है। दूसरे, रचनाकार की ओर से अपने विषय के प्रति अधिक जीवंत अनुभूति की अभिव्यक्ति उचित और वांछित है। पाठक की रुचि इसी प्रकार उद्‌बुद्ध और उद्दीप्त हो सकती है। तीसरे, कथन-भंगिमा में वैविध्य रचनाकार के लिए अपेक्षित है। इस कथन-भंगिमा के विषयिपक्ष का समुचित निर्वाह अर्थात वक्ता और बोधव्य के बीच मानवीय संबंध की सृष्टि भी उतनी ही अनिवार्य है। अन्तिम अर्थात अभिप्राय की व्यंजना को वे इन चारों अर्थ-व्यापारों में सर्वोपरि और महत्वपूर्ण मानते हैं और शेष तीनों को उसका साधन।[2] रिचर्ड्स के अनुसार कवि का अभिप्राय भाषा के तीन अन्य व्यापारों के पारस्परिक संबंधों का नियमन करता है।

कलात्मक दृष्टि से भी रिचर्ड्स ने भाषा के उपर्युक्त चारों व्यापारों में तारतम्य स्थिर किया है।[3] उनका विचार है कि इनमें से दूसरा और तीसरा, अर्थात भाव-व्यंजना और स्वर-भंगिमा नामक व्यापार अधिक आदिम (प्रिमिटिव) है। उनकी अपेक्षा वाच्यार्थ या वस्तु-व्यंजना और अभिप्राय-व्यंजना अधिक प्रयाससिद्ध और स्पष्ट व्यापार हैं। भाषा मूलतः लगभग निपट संवेगात्मक रही होगी; अर्थात भाषा का प्रयोग विशेष स्थितियों के संबंध में भावों की अभिव्यक्ति के लिए होता रहा होगा। वस्तुस्थिति के प्रतिदर्शन के लगभग तटस्थ साधन या वक्तव्य के रूप में भाषा का प्रयोग संभवतः परवर्ती विकास है। परन्तु भाषा का यह उत्तरकालीन प्रयोग उसके पूर्ववर्ती रूपों की अपेक्षा हमारे लिए अधिक सुपरिचित हो गया है, फलतः आज जब हम भाषा पर विचार करते हैं तो हमारी प्रवृत्ति उक्त प्रयोग को भाषा के मूल प्रयोग के रूप में ग्रहण करने की होती है।

रिचर्ड्स के विचार से अधिकतर कविता की भाषा की प्रवृत्ति आदिम स्थिति की ओर प्रत्यावर्तन की होती है, अर्थात काव्यगत भाषा हमारे मन में अनुभूति जगाती है।[4]

काव्य में वाच्यार्थ और भाव-व्यंजना को रिचर्ड्स ने परस्पर-निर्भर माना है। उनका विचार है कि नियमतः वे परस्पर घनिष्ठ रूप से संबद्ध रहते हैं, और एक से दूसरे को अलग कर पाना असंभव होता है।[5] वाच्यार्थ और अनुभूति के बीच यह संबंध रिचर्ड्स ने तीन प्रकार का माना है :[6]

१. पहले प्रकार का संबंध सबसे अधिक स्पष्ट होता है, जहाँ अनुभूति की उत्पत्ति

---

[1] प्रैक्टिकल क्रिटिसिज्म, पृ० १८४

[2] वही, पृ० १८५

[3,4] वही, परिशिष्ट ए, पृ० ३५३

[5] वही, पृ० २०६

[6] वही, पृ० २०६-२१०

और नियमन वाच्यार्थ के द्वारा होता है। इस दशा में उद्बुद्ध अनुभूति गृहीत वाच्यार्थ का सहज परिणाम होती है।

२ दूसरे प्रकार का संबंध वहाँ होता है, जहाँ शब्द पहले किसी अनुभूति को अभिव्यक्त करते हैं और वाच्यार्थ का ग्रहण तदुपरान्त अनुभूति के माध्यम से होता है।

३ तीसरे प्रकार के संबंध में वाच्यार्थ और भाव-व्यंजना परस्पर घनिष्ठ रूप से संबद्ध नहीं रहते, उनकी संधि संदर्भ द्वारा संपन्न होती है।

रिचर्ड्स ने अर्थ-व्यंजना को भाषा का आवश्यक और महत्त्वपूर्ण व्यापार माना है। वे काव्य में अनिश्चित अर्थवत्ता का विरोध करते हुए कहते हैं कि "भाषा एक ओर सामाजिक तथ्य है और दूसरी ओर व्यक्तिगत अनुभव भी है। इसलिए काव्यगत भाषा का प्रयोग भी एकान्तत अनिश्चित नहीं होना चाहिए। उसके प्रयोग के संबंध में सामान्य सहमति आदान-प्रदान का आवश्यक अनुबंध है।"[1]

साथ ही वे यह भी स्वीकार करते थे कि अभिव्यंजना के अन्य उपादानों—लय आदि का प्रभाव अर्थ से भिन्न नहीं होता। उनका मत था कि यद्यपि सामान्यत हम सोचते हैं कि लय का प्रत्यक्ष प्रभाव हमारे संवेगों पर पड़ता है, परन्तु यदि किसी कविता की लय पर हमें विचार करना हो तो हम अर्थ से अलग करके वैसा कर ही नहीं सकते। रिचर्ड्स का तो यहाँ तक कहना है कि "हम जिस लय का अनुभव और आशंसा करते हैं और सोचते हैं कि यह लय वर्ण ध्वनियों में निहित रहती है, वस्तुत उसे हम वर्ण-ध्वनियों पर बाद में प्रक्षेपित कर देते हैं।"[2]

इसी प्रकार 'रूपक' (मेटाफर) के प्रत्येक प्रयोग को रिचर्ड्स किसी पूर्वकथित अर्थ का संशोधित रूप नहीं मानते, बल्कि उनका विचार है कि इस प्रकार के प्रयोग में नवीन अर्थ-विवृति होती है, जिसमें हमारी कल्पनाशक्ति एक नई भूमि ग्रहण करती है।

वस्तुत रिचर्ड्स की अर्थ-मीमांसा काव्य में उस प्रवृत्ति को प्रोत्साहित करती है जो आधुनिक काव्य-प्रयोग एवं काव्य-सिद्धान्त में एक मूल्य के रूप में प्रतिष्ठित है। उनके अनुसार महान कविताएँ एक सावयव संघटना से युक्त होती हैं, जिनके विविध अंग एक-दूसरे से संश्लिष्ट रूप में गुँथे रहते हैं। इस प्रकार की कविता अर्थ-व्यंजना की समग्रता में अत्यंत समृद्ध होती है और उसकी व्याख्या अनेक स्तरों पर संभव होती है।

व्यंजना और संवेगात्मक भाषा

आइ० ए० रिचर्ड्स का 'संवेगात्मक भाषा' सिद्धान्त संस्कृत 'रसध्वनि' के तुल्य प्रतीत होता है। इन दोनों के सादृश्य को परिलक्षित करते हुए आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है "आजकल के प्रसिद्ध अंग्रेजी समालोचक रिचर्ड्स हमारे यहाँ के शब्द-शक्ति-निरूपण के ढर्रे पर अर्थ मीमांसा को लेकर चले हैं।"[3] इसके बाद रिचर्ड्स द्वारा निरूपित

---

[1] फिलॉसफी ऑफ रेटरिक, पृ० ४०
[2] प्रैक्टिकल क्रिटिसिज्म, पृ० २२९
[3] चिन्तामणि, भाग २, पृ० १६४

चार प्रकार के अर्थों का उल्लेख करते हुए आचार्य शुक्ल ने आगे कहा है कि : "जिन्होंने अपने यहाँ के शब्द-शक्ति-निरूपण का अच्छी तरह मनन किया है, वे देख सकते हैं कि इन चारों में वास्तव में दो ही मुख्य है। तीसरे का समावेश हमारे यहाँ आर्थी व्यंजना के कारणों के अन्तर्गत हो जाता है; चौथे का समावेश अभिधामूलक ध्वन्यार्थ के अन्तर्गत हो जाता है।......हमारे यहाँ शब्द-शक्तियों के भेद-निरूपण का जैसा स्वच्छ मार्ग है, वैसा यदि रिचर्ड्स को मिलता तो उन्हें उक्त पिछले दो प्रकार के अलग अर्थ न रखने पड़ते। उक्त चार प्रकार के अर्थों का उल्लेख करके रिचर्ड्स ने कहा है कि उक्ति में कभी किसी अर्थ की प्रधानता रहती है, कभी किसी अर्थ की। काव्य में अधिकतर व्यंग्य भाव की प्रधानता रहती है। पर वे कहते है कि इसका यह अभिप्राय नही कि काव्य में प्रस्तुत अर्थ या तथ्य ध्यान देने की वस्तु नहीं। कभी-कभी सीधी-सादी प्रस्तुत वस्तु या अर्थ ही से भाव की व्यंजना हो जाती है। क्या यह कहने की आवश्यकता है कि काव्य-मीमांसा की यह वही पद्धति है, जो हमारे यहाँ स्वीकृत है।"[1]

आचार्य शुक्ल ने संस्कृत शब्द-शक्ति-निरूपण के आलोक में रिचर्ड्स की अर्थ-मीमांसा की जो सूक्ष्म समीक्षा की है, उससे स्वयं रिचर्ड्स द्वारा अन्यत्र प्रतिपादित भाषा संबंधी द्विविध प्रयोगों की ही पुष्टि होती है। स्वयं शुक्लजी ने एक अन्य प्रसंग में यह स्वीकार किया है कि : "रिचर्ड्स भाषा के दो प्रकार के प्रयोग मानते थे : सांकेतिक (सिम्बोलिक) या तथ्यबोधक तथा भावप्रवर्त्तक (इमोटिव)।"[2]

इसलिए रिचर्ड्स द्वारा निर्दिष्ट चारों अर्थों मे से 'सेंस' का संबंध तो भाषा के 'तथ्यबोधक' प्रयोग से है और शेष तीन 'फ़ीलिंग', 'टोन' और 'इंटेंशन' भाषा के 'भाव-प्रवर्त्तक' प्रयोग के अन्तर्गत आते है। ये दोनों भाषा-प्रयोग क्रमशः अभिधा और व्यंजना के पर्याय माने जा सकते है। आचार्य शुक्ल के इस तुलनात्मक विवेचन से यह बात भलीभाँति स्पष्ट हो जाती है कि भाषा की व्यंजना-शक्ति का आधार भाव-प्रवर्त्तन की क्षमता है। काव्य में इसीलिए व्यंजक शब्द का महत्त्व स्वीकार किया जाता है, क्योंकि काव्य में मुख्य प्रयोजन तथ्य-बोध नहीं, बल्कि भाव-प्रकाशन होता है। इस प्रकार भावप्रवर्त्तक भाषा स्वभावतः 'व्यंजक' होती है।

आचार्य शुक्ल रिचर्ड्स के भाषा-विषयक मत को जैसे भारतीय संस्कार प्रदान करते हुए अपनी भाषा में लिखते है कि : "भाषा का असल काम यह है कि प्रयुक्त शब्दों के अर्थयोग द्वारा ही—या तात्पर्यवृत्ति द्वारा ही—पूर्वोक्त चार प्रकार के (प्रत्यक्ष, अनुमित, आप्तोपलब्ध और कल्पित) अर्थों में से किसी एक का बोध कराए। जहाँ इस रूप में कार्य न करके वह ऐसे अर्थों का बोध कराती है, जो बाधित, असंभव, असंयत या असबद्ध होते हैं, जहाँ वह केवल भाव या चमत्कार का साधन-मात्र होती है, उसका वस्तु-ज्ञापन कार्य एक प्रकार से कुछ नही होता। ऐसे अर्थों का मूल्य इस दृष्टि से नहीं आँका जाता कि वे कहाँ तक वास्तविक, संभव या अव्याहत है, बल्कि इस दृष्टि से आँका जाता है कि वे किसी

---

[1] चिन्तामणि, भाग २, पृ० १६४-१६५
[2] वही, पृ० १६३

भावना को कितने तीव्र और बड़े चढ़े रूप में व्यंजित करते हैं अथवा उक्ति में कितना वैचित्र्य या चमत्कार लाकर अनुरंजन करते हैं। ऐसे अर्थविधान की संभावना काव्य में सबसे अधिक होती है।[1] तात्पर्य यह कि काव्यभाषा की सार्थकता किसी भावना को तीव्र या बढ़े चढ़े रूप में व्यंजित करने में है और यह भाव व्यंजकता ही भाषा की व्यंजना अथवा ध्वनि शक्ति से सवलित करती है। रिचर्ड्स इसी को संवेगात्मक भाषा अथवा भाषा का संवेगात्मक प्रयोग कहते हैं और आनन्दवर्धन तथा अभिनवगुप्त रस ध्वनि कहते हैं।

व्यंजना और 'एम्बिगिवटी'

रिचर्ड्स की 'संवेगात्मक भाषा' के अतिरिक्त विलियम एम्पसन द्वारा प्रतिपादित एम्बिगिवटी का सिद्धान्त भी संस्कृत रसध्वनि के पर्याप्त निकट प्रतीत होता है। एम्पसन ने स्वयं स्वीकार किया है कि भाषा की जिस अनेकार्थता तथा अर्थ-जटिलता की ओर वे संकेत करना चाहते थे उसके लिए 'एम्बिगिवटी' शब्द बहुत सुखद नहीं है क्योंकि प्राचीन काव्य में एम्बिगिवटी अथवा अस्पष्टता को दोष के रूप में माना जाता था। 'एम्बिगिवटी' शब्द पर आपत्ति करनेवालों को इस शब्द के साथ ही 'सेविन टाइप्स ऑफ एम्बिगिवटी' में उसके सात प्रकारों पर आपत्ति है। इसके उत्तर में एम्पसन ने पहले ही स्पष्ट कर दिया है कि जिस प्रकार किसी अन्य उपयुक्त शब्द के अभाव में हम अनेकार्थता के लिए 'एम्बिगिवटी' शब्द का ग्रहण करने के लिए बाध्य हैं उसी प्रकार उसके 'प्रकार' भी सात से अधिक या कम हो सकते हैं। एम्पसन के इस सिद्धान्त की सबसे बड़ी विशेषता है—उसका लचीलापन। फिलिप ह्वीलराइट ने संभवतः इसी लचीलेपन से प्रेरणा ग्रहण करके इस सिद्धान्त के लिए अनेकार्थता (प्लूरीसिग्निफिकेशन) संज्ञा को स्वीकार करने का प्रस्ताव किया है जो काव्य में अर्थ वैभव की ओर संकेत करता है।[2] किन्तु जैसा कि विमसाट-ब्रुक्स ने लक्षित किया है 'एम्पसन की 'एम्बिगिवटी' केवल अनेकार्थता नहीं है बल्कि उसके मूल में मनोवैज्ञानिक संस्कार भी अन्तर्निहित है।[3] यदि एम्पसन का सारा बल अनेकार्थता पर होता तो उनकी एम्बिगिवटी की तुलना 'वस्तुध्वनि' एवं 'अलंकारध्वनि' से भी की जा सकती थी किन्तु उन्होंने मानसिक वृत्तियों की प्रधानता पर बल देकर 'रसध्वनि' के साथ तुलना के लिए आधार प्रस्तुत कर दिया।

'सेविन टाइप्स ऑफ एम्बिगिवटी' पुस्तक के द्वितीय संस्करण की भूमिका में एम्पसन ने काव्य की व्यापक अनेकार्थता की पृष्ठभूमि में सक्रिय मानव-अनुभूति को रेखांकित करते हुए कहा है कि 'जहाँ तक मैं समझता हूँ, महान् काव्य में एक निश्चित रूप में प्रस्तुत स्थिति से सामान्यीकरण की अनुभूति प्राप्त होती है उसमें सदैव मानव अनुभव की पृष्ठभूमि की ओर संकेत होता है जिसको नाम देना चाहे जितना कठिन हो किन्तु जो सतत विद्यमान रहती है। मेरी धारणा कुछ ऐसी ही है कि जब कोई काव्य-ग्राहक किसी सरल प्रतीत होनेवाली पंक्ति से भी गहराई से आन्दोलित होता है तो उसमें आन्दोलित होनेवाले

---

[1] चिन्तामणि, भाग २ पृ० १६०

[2] द बर्निंग फाउण्टेन, पृ० ६१

[3] लिटररी क्रिटिसिज्म : ए शॉर्ट हिस्ट्री, पृ० ६६८

तत्त्व अधिकांशतः उसके व्यतीत अनुभवो तथा व्यतीत निर्णयों के अवशेष होते है।"[१] कहना न होगा कि अर्थ की व्यापकता के लिए एम्पसन व्यतीत अनुभवो के जिस अवशेष को इतना महत्त्व दे रहे है, वह रस-ध्वनिवाद द्वारा प्रतिपादित वासना या संस्कार-रूप व्यंजना का ही एक रूप है।

किन्तु एम्पसन की 'एम्बिग्विटी' अपनी मनोवैज्ञानिकता के बावजूद रिचर्ड्स की 'सवेगात्मक भापा' से थोड़ी भिन्न है। एम्पसन भाषा के ज्ञानपरक पक्ष को भावपरक पक्ष का विरोधी नही मानते; बल्कि उनके विचार से ज्ञानपरक पक्ष भावपरक पक्ष के सम्यक् प्रसार के लिए सहायक सिद्ध होता है। इस दृष्टि से उनकी 'एम्बिग्विटी' भाषा के ज्ञान-भावपरक रूपो की समन्वित सृष्टि है,[२] जो रिचर्ड्स की अपेक्षा संस्कृत काव्यशास्त्र की मूल आत्मा के अधिक निकट है, क्योकि संकृत काव्यशास्त्र में भाव और ज्ञान परस्पर विरोधी नही, बल्कि परस्पर पोपक है। इसलिए रिचर्ड्स की सवेगात्मक भाषा मे जहाँ भावोच्छ्वास की आशंका है, वहाँ एम्पसन की 'एम्बिग्विटी अधिक संतुलित है।

व्यंजना और प्रतीकवाद

फ्रांसीसी प्रतीकवादी काव्य-सिद्धान्त भी कुछ बातो मे संस्कृत के रसध्वनि-सिद्धान्त के सदृश प्रतीत होता है। स्तीफ़ान मलार्मे ने 'पार्नेसिएन्स' के विरुद्ध अपनी काव्य-विषयक मान्यता को स्पष्ट करते हुए कहा है कि: "वे (पार्नेसिएन्स) वस्तुओ को सीधे प्रस्तुत करते है, जबकि मेरे विचार से उन्हें सकेतगर्भी (एल्यूसिव) रूप में प्रस्तुत करना चाहिए। किसी वस्तु का नाम लेने से काव्यात्मक आस्वाद बहुत-कुछ नष्ट हो जाता है। वस्तु की ओर सकेत करना ही आदर्श है। इस रहस्य के पूर्ण उपभोग से ही प्रतीक निर्मित होता है। आत्मा की दशा का दर्शन कराने के लिए वस्तु को क्रमश. उद्‌बुद्ध करना चाहिए; अथवा किसी वस्तु का चयन करके फिर उससे आत्मावस्था को क्रमशः निष्पीड़न-प्रक्रिया के द्वारा उपलब्ध करना चाहिए।"[3] मलार्मे के कथन से इतना तो स्पष्ट है कि वे काव्य मे अभिधा

---

[१] As I understand it, there is always in great poetry a feeling of generalization from a case which has been presented definitely; there is always an appeal to a background of human experience which is all the more present when it cannot be named.......What I would response is that, whenever a receiver of poetry is seriously moved by an apparently simple line, what are moving in him are the traces of a great part of his past experience and of the structure of his past judgments.

Seven Types of Ambiguity, Preface to the second edition, p. XVII.

[२] .... it is the cognitive one which is likely to have important effects on sentiment or character.

The Structure of Complex Words, p. 10.

[3] They (the Paranassians) present things directly, whereas I think that they should be presented allusively. To name an object is largely to destroy poetic enjoyment which comes from gradual divination. The idea is to suggest the object. It is the perfect use of this mystery which constitutes symbol. An object must be gradually evoked in order to show a state of soul, or else, choose an object and from it elicit a state of soul by means of a series of decodings.

Evolution of Literature : Mallarme's Selected Poems and Letters (Tr. Bradford Cook), p. 21

वे सर्वथा विरुद्ध थे और सांकेतिकता को काव्य का सर्वोच्च आदर्श मानते थे। उनकी सांकेतिकता का मूल उद्देश्य आत्मा की दशा का द्योतन करना था। इससे यही प्रतीत होता है कि वे वस्तु-व्यंजना अथवा अलंकार-व्यंजना की अपेक्षा रस-व्यंजना को ही प्रधानता देते थे। इसके अतिरिक्त मलार्मे की सांकेतिकता में धार्मिक रहस्य का भी पुट था। ध्वनि सिद्धान्त में जिसे व्यंजक शब्द कहा गया है मलार्मे उसी को प्रतीक (सिम्बल) कहते थे। सम्भवतः इन्हीं समानताओं को देखकर एक विद्वान ने मलार्मे को उन्नीसवीं शताब्दी का आनन्दवर्धन कहा है।[1]

मलार्मे के काव्य सिद्धान्तों का मूल स्रोत एडगर एलन पो में बतलाया जाता है और यह सर्वविदित है कि मलार्मे पर पो का गहरा प्रभाव था। पो की यह धारणा थी कि काव्य में सबसे महत्त्वपूर्ण तत्त्व अर्थ नहीं बल्कि अर्थगत रहस्य है जिसे वे 'अर्थ की सांकेतिक अनिश्चितता (सजेस्टिव इनडेफिनिटनेस ऑफ मीनिंग)[2] कहते थे। यदि पो की इस रहस्यात्मकता को किसी प्रकार के रहस्यवाद से मुक्त करके शुद्ध अर्थगत गहनता तक ही सीमित रखें तो कहना न होगा कि ध्वनि सिद्धान्त के साथ इसकी काफी समानता है। ध्वनन व्यापार से अर्थ-तरंगों का असीम प्रसार एक प्रकार की अनिश्चितता को ही जन्म देता है। पो जिस अर्थगत अनिश्चितता के उपासक थे वह ध्वनि सिद्धान्त द्वारा पहले ही से स्वीकृत थी।

---

[1] कृष्णचैतन्य : संस्कृत पोएटिक्स पृ० १४७

[2] वही पृ० १५१

खण्ड ३

काव्य-सृजन

- सृजन की अवधारणा
- सृजन संबंधी मुख्य सिद्धान्त
- सृजन-शक्ति
- सृजन-प्रक्रिया और कवि-कर्तृत्व

११

सृजन की अवधारणा

संस्कृत काव्यशास्त्र में सृजन संबंधी चिन्तन

"भारतीय चिन्तन," प्रोफेसर रेनिरो नोली के अनुसार, "प्रेक्षक से संबंधित रसानुभूति पर अधिक ध्यान देते हुए भी उस सृजन-क्षण के परीक्षण से उदासीन नहीं था, जिसमें कवि अपने कृतित्व मे प्राण फूंकता है। काव्यकृति के सृजन की प्रक्रिया पर विचार करनेवाले मुख्य चिन्तक आनन्दवर्धन तथा भट्टतोत एवं आगे चलकर उनके तत्काल शिष्य अभिनवगुप्त हुए।"[१] अपने कथन की पुष्टि के लिए नोली ने इन आचार्यों के कवि-प्रतिभा संबंधी विचारों को प्रस्तुत किया है। इन तथ्यों के होते हुए भी अनेक विद्वानों की कुछ ऐसी धारणा है कि संस्कृत काव्यशास्त्र में काव्य के सृजन-पक्ष की सर्वथा उपेक्षा की गई है। उदाहरण के लिए, संस्कृत काव्यशास्त्र के सम्मान्य विद्वान प्रोफ़ेसर एस० के० डे ने अभी हाल ही में अमरीका के शिकागो विश्वविद्यालय में 'रवीन्द्रनाथ टैगोर मेमोरियल लेक्चरशिप' के अन्तर्गत भारतीय काव्यशास्त्र पर व्याख्यान देते हुए बलपूर्वक एकाधिक बार यह कहा कि : "संस्कृत काव्यशास्त्र काव्यकृति को सिद्ध-संपूर्ण रूप में ग्रहण करके उसके विश्लेषण-विवेचन की ओर अग्रसर हुआ; वह काव्य की सृजन-प्रक्रिया पर विचार करने के लिए नहीं रुका।"[२] संस्कृत काव्यशास्त्र की सामान्य चर्चा के अतिरिक्त प्रोफ़ेसर डे ने रस-सिद्धान्त के प्रसंग में भी विशेष रूप से यह कहा कि : "इस सिद्धान्त में काव्यकृति और सामाजिक के संबंध की चर्चा तो है, किन्तु सृजनात्मक कल्पना पर विचार करते हुए कवि-मानस के साथ काव्यकृति के संबंध पर यह एकदम मौन है।"[3] इसी सूत्र को आगे बढ़ाते हुए उन्होंने अन्त में फिर शिकायत की है कि : "संस्कृत के आचार्यों ने इस समस्या को पाठक की दृष्टि से देखने के कारण इस पर

---

१ While the aesthetic experience, which concerns the spectator above all, was receiving so much attention; Indian thought did not neglect to examine the creative moment, in which the poet gives life and breath to his work. The chief thinkers to study the nature of the birth of a work of poetry were Anandvardhan and Bhatt Tota and later Abhinavagupta, his immediate disciple.
The Aesthetic Experience According to Abhinavagupta, Introduction, p. XXVIII.

२ It took the poetic product as a created and finished fact and forthwith went to analyse it as such, without pausing to consider its relation to the process of poetic creation. *Sanskrit Poetics as a Study of Aesthetics*, p. 2,

3 The theory speaks of the Samajika's relation to the poetic creation...but it does not speak of the relation of the poet's mind to his creation by starting from the consideration of the creative imagination. *Ibid.*, p. 16.

अपूर्ण और परोक्ष रूप में विचार किया है, उन्होंने कवि-मुख से पूर्ण और प्रत्यक्ष रूप में विचार नहीं किया। जैसा कि पहले भी कहा जा चुका है, उनका ध्यान मुख्यतः पाठक-कृत पुनःसृजन पर था, कवि-कृत सृजन पर नहीं।"[1]

प्रोफेसर डे के उपर्युक्त वक्तव्यों से अनेक प्रश्न उत्पन्न होते हैं, जिनमें से कुछ का संबंध प्रत्यक्ष परीक्ष्य तथ्यों से है तो कुछ काव्यशास्त्रीय धारणाओं से संबद्ध हैं। उदाहरणार्थ, जब वे कहते हैं कि संस्कृत काव्यशास्त्र में काव्यकृति को केवल सामाजिक की दृष्टि से देखा गया है कवि की दृष्टि से नहीं, तो उनके इस कथन की जाँच ठोस तथ्यों के आधार पर की जा सकती है। इस विषय में हमारे सम्मुख दो विरोधी मत प्रस्तुत हैं एक ओर इटली के संस्कृतज्ञ विद्वान नोली हैं, जो यह मानते हैं कि आस्वाद-पक्ष पर विशेष ध्यान देते हुए भी संस्कृत काव्यशास्त्र में सृजन-पक्ष की उपेक्षा नहीं की गई, दूसरी ओर भारत के संस्कृत विद्वान डे हैं, जिनके मत में संस्कृत काव्यशास्त्र ने सृजन-पक्ष की उपेक्षा की है। प्रोफेसर डे संस्कृत काव्यशास्त्र में निरूपित कवि प्रतिभा संबंधी विचारों से पूरी तरह अवगत नहीं हैं—यह कहना अनुचित होगा, इसलिए अधिक से अधिक यही अनुमान लगाया जा सकता है कि प्रोफेसर डे प्रतिभा विषयक संपूर्ण विवेचन को अपर्याप्त एवं अपूर्ण समझते हैं। तथ्य यही है कि संस्कृत आचार्यों ने प्रतिभा के 'कारयित्री' और 'भावयित्री' दोनों रूपों पर विचार किया है। भावयित्री प्रतिभा पर स्वभावतः अधिक विचार किया गया है, किन्तु 'कारयित्री' प्रतिभा की सर्वथा उपेक्षा नहीं हुई है। 'काव्य-हेतु' प्रकरण के अन्तर्गत आचार्यों ने काव्य की सृजन शक्ति पर यथासंभव गहराई से विचार किया है। यह अवश्य है कि उन्होंने प्रत्येक कवि के सृजन संबंधी निजी अनुभवों का विस्तृत विवरण देते हुए सृजन प्रक्रिया के लौकिक एवं काव्येतर प्रसंगों की चर्चा नहीं की है। यदि सृजन पक्ष से प्रोफेसर डे का तात्पर्य सृजन प्रक्रिया संबंधी वैयक्तिक विवरण से है तो यह तथ्य है कि संस्कृत काव्यशास्त्र में काव्य सृजन की उपेक्षा की गई है। किन्तु इसके साथ ही जब प्रोफेसर डे इस पक्ष को काव्य की समस्या पर विचार करने की प्रत्यक्ष एवं पूर्ण विधि घोषित करते हैं तो यह तथ्य के स्थान पर धारणा का विषय हो जाता है। सामाजिक मुख से काव्यकृति पर विचार करना परोक्ष ढंग है और कवि मुख से विचार करना प्रत्यक्ष ढंग—इस कथन में मतभेद के लिए पूरा अवकाश है। कवि मुख से काव्यकृति पर विचार करने की जिस विधि को प्रोफेसर डे 'प्रत्यक्ष' कहते हैं, वह वस्तुतः अठारहवीं उन्नीसवीं शती की रोमांटिक धारणा है, जब काव्यशास्त्रीय चिन्तन के केन्द्र में कवि अथवा रचनाकार की प्रतिष्ठा थी, यह वह समय था, जब प्रत्येक कवि अपने को अद्वितीय सर्जक समझता था और पाठकों की ग्रहणशीलता के प्रति अनाश्वस्त होने के कारण अपनी सृजन प्रक्रिया को विस्तार के साथ समझाने का प्रयास करता था। रोमांटिक कवियों के वक्तव्यों और भूमिकाओं के कारण कुछ समय के लिए यह धारणा प्रचलित हो गई कि काव्य के ग्रहण के लिए सृजन संबंधी

---

[1] But they consider the problem indirectly and imperfectly from the standpoint of the reader ... of ... he ... 4

चर्चा ही 'प्रत्यक्ष' और 'पूर्ण' विधि है; किन्तु शीघ्र ही काव्यशास्त्रीय चिन्तन में इस सृजन-चर्चा का प्रभामंडल विलीन हो गया और नव्य-समीक्षा ने ग्राहक-पक्ष से विचार करने की प्रक्रिया को पुन: प्रतिष्ठित किया। विमसाट-बियर्ड्स्ले द्वारा प्रतिपादित 'अभिप्रायपरक हेत्वाभास' (इंटेंशनल फैलेसी) इस दृष्टि से पाश्चात्य सौन्दर्यशास्त्र की चिन्तन परंपरा में ऐतिहासिक महत्त्व का सिद्धान्त है, जिसने काव्यकृति की समीक्षा में सृजन संबंधी विवरणों की प्रासंगिकता के सामने गंभीर 'प्रश्नचिह्न' लगा दिया। सौन्दर्यशास्त्र के क्षेत्र में संप्रति यह सामान्य धारणा है कि सृजन-प्रक्रिया कलाकृति को समझने में एक सीमा तक सहायक तो हो सकती है, किन्तु 'कलाकृति स्वयं क्या है', इस प्रश्न का उत्तर वह नही है।

जेरोम स्तोलनित्ज ने इस प्रसंग में 'उत्पत्तिपरक हेत्वाभास' (जेनेटिक फ़ैलेसी) की चर्चा की है, जिसमें कला की प्रकृति को कला की उत्पत्ति के साथ उलझा दिया जाता है। स्तोलनित्ज का 'उत्पत्तिपरक हेत्वाभास' शब्द-भेद से विमसाट-बियर्ड्स्ले का 'अभिप्रायपरक हेत्वाभास' ही है। कला-समीक्षा में इस हेत्वाभास की प्रवृत्ति की आलोचना करते हुए स्तोलनित्ज ने लिखा है कि : "सौन्दर्यशास्त्र में 'उत्पत्तिपरक हेत्वाभास' की भूल करने का खतरा कुछ नवीन प्रवृत्तियों के कारण इधर अधिक बढ़ गया है। पूर्ववर्ती युगों की अपेक्षा आधुनिक युग में हम कलाकार व्यक्ति के व्यक्तित्व और जीवनी में अधिक रुचि लेने लग गए। इस प्रकार उन्नीसवीं शती के रोमांटिसिज़्म ने कलाकार की अद्वितीयता—प्रायः सनकीपन—को अतिरिक्त महत्त्व दे दिया। प्रत्येक युग के प्रभावशाली विचारों की तरह यह विचार भी कुछ समय बाद ऊपर से नीचे छनकर सामान्य व्यवहार में प्रचारित हो गया, जिसके अनुसार कलाकृति कलाकार का पर्याय हो गई और कला-समीक्षा के नाम पर कलाकार की जीवनी में दिलचस्पी ली जाने लगी। इस प्रवृत्ति ने तत्काल ही 'उत्पत्तिपरक हेत्वाभास' को जन्म दिया। इस प्रकार हम कलाकार के जीवन के बारे मे जो कुछ जानते है, उसे कलाकृति पर आरोपित करके कलाकृति की भ्रान्त व्याख्या करने की भूल कर सकते है।"[१] कहना न होगा कि यह केवल एक विचारक का मत नहीं है, बल्कि स्तोलनित्ज ने पूर्वाग्रह-रहित होकर समकालीन पाश्चात्य सौन्दर्यशास्त्र में प्रचलित परिनिष्ठित धारणा का उल्लेख किया है।

यदि यह तथ्य है तो संस्कृत काव्यशास्त्र के विषय में प्रोफ़ेसर डे की शिकायत अपने-आप भ्रान्त प्रमाणित हो जाती है। उन्नीसवी शती की जिस रोमांटिक प्रवृत्ति के आधार पर उन्होंने संस्कृत काव्यशास्त्र में सृजन सबंधी चिन्तन के अभाव की शिकायत की, वह पाश्चात्य चिन्तन मे आज स्वयं ही भ्रामक अथच त्याज्य मानकर छोड़ दिया गया। उसके स्थान पर पाश्चात्य विचारकों ने भलीभाँति समझ लिया है कि कला-समीक्षक अधिक-से-अधिक एक ग्राहक के रूप में ही कलाकृति पर विचार कर सकता है और यह उसकी अनिवार्य सीमा है; किन्तु यदि वह इस सीमा का अतिक्रमण करके रचनाकार की दृष्टि से कलाकृति को

---

१ When people try to explain some specific work of art, they will describe what went on 'in the mind of' the artist while he was creating the work......But I want to show that they are not identical with an explanation of the nature of the work of art. If we confuse the two, we are guilty of what is called 'the genetic fallacy' or the 'fallacy of origins'.
Aesthetics and Philosophy of Art Criticism, pp.

देखने का असफल प्रयास करेगा तो भूल निश्चित है। इसलिए आवश्यकता अपनी सीमा को ही अधिकाधिक सामर्थ्य में रूपान्तरित करने की है और यह तभी संभव है जब ग्राहक पक्ष से कला के आस्वाद पर यथासंभव वस्तुनिष्ठ रूप में विचार किया जाए। इस धारणा के कारण पाश्चात्य कला चिन्तन संप्रति मुख्य रूप से ग्राहक-पक्ष से कलाकृति पर विचार करने का पक्षपाती है जिसमें सृजनपक्षीय चर्चा आनुषंगिक रूप में सहायक है। इस दृष्टि से पश्चिम की नवीन चिन्तन प्रवृत्ति संस्कृत काव्यशास्त्र के पर्याप्त निकट है।

सारांश यह कि पाश्चात्य रोमांटिक काव्य सिद्धान्त की तुलना में संस्कृत काव्यशास्त्र में सृजन पक्ष पर कम विचार किया गया है किन्तु काव्य-सृजन की सर्वथा उपेक्षा नहीं की गई है। स्वयं पश्चिम में भी चिन्तन के एक निश्चित ऐतिहासिक दौर में काव्य-सृजन को प्रमुखता प्राप्त हुई जिसे पाश्चात्य चिन्तन की सनातन प्रवृत्ति समझना भूल है। पश्चिमी चिन्तन में विशेष ध्यान काव्य की सृजन प्रक्रिया पर दिया गया है जबकि संस्कृत काव्यशास्त्र में सृजन शक्ति की विशेषताओं के निरूपण पर बल है। इस विषय में दोनों परंपराओं की पारिभाषिक शब्दावली इतनी भिन्नदेशीय है कि तुलना करने में अत्यंत सावधानी एवं सतर्कता की अपेक्षा है।

सावधानी के लिए एक उदाहरण पर्याप्त होगा। प्रोफेसर डे ने संस्कृत की कारयित्री प्रतिभा के लिए पाश्चात्य चिन्तन से गृहीत 'पोएटिक इंट्यूशन' शब्द का प्रयोग किया है जिस पर टिप्पणी करते हुए एडविन गेरो ने कहा है कि "उन्होंने जो 'पोएटिक इंट्यूशन' जैसे शब्दों का प्रयोग किया है उससे यह नहीं समझना चाहिए कि भारतीय परंपरा में ऐसी अवधारणा का महत्त्व था अथवा काव्यात्मक अनुसंधान के लिए आवश्यक समझी जाती थी।"[1] पाश्चात्य परंपरा में 'पोएटिक इंट्यूशन' से ठीक-ठीक क्या तात्पर्य है यह स्पष्ट किए बिना पाश्चात्य पाठकों की सुविधा को ध्यान में रखकर प्रतिभा के लिए इस शब्द का प्रयोग करने से भ्रम उत्पन्न होना अवश्यंभावी है। इसलिए पश्चिमी पाठकों के लिए संस्कृत काव्यशास्त्र की मान्यताओं को बोधगम्य बनाने के उत्साह में कहीं ऐसा न हो कि भ्रम की सृष्टि हो अर्थात् पश्चिमी पाठक संस्कृत काव्यशास्त्र में जिस अवधारणा को अपनी सुपरिचित 'पोएटिक इंट्यूशन' के रूप में ग्रहण करें वह वस्तुतः कुछ और ही हो। इसके अतिरिक्त सृजन संबंधी तुलना में पाश्चात्य और प्राच्य दोनों चिन्तन परंपराओं में सृजन की अवधारणा के ऐतिहासिक क्रम विकास की भिन्नता को भी ध्यान में रखना आवश्यक है।

पश्चिम में सृजन की अवधारणा का विकास

पाश्चात्य सौंदर्यशास्त्र में अब कला को प्रायः सृजन कहा जाता है और कलाकार को स्रष्टा। कला का वाचक शब्द 'आर्ट' जिस लैटिन शब्द Ars से बना है उसकी मूल धातु Ar है जिसका अर्थ है जोड़ना और इस प्रकार कला मूलतः एक निर्मिति है और कलाकार निर्माता। इसी प्रकार कवि का अर्थ भी निर्माता या निर्माण करनेवाला होता है। पाश्चात्य चिन्तन-परंपरा में इस आधारभूत अवधारणा को निरंतर विचार विवेचन के द्वारा विकसित करके सृजन संबंधी व्यवस्थित सिद्धान्त का रूप दे दिया गया है।

---

[1] संस्कृत पोएटिक्स एज ए स्टडी ऑफ एस्थेटिक्स नोट्स पृ० ८४

यों तो सृजन संबंधी धारणा बीज-रूप में प्लेटो और अरस्तू में ही विद्यमान है; किन्तु जिस आधुनिक अर्थ में 'सृजन' का प्रयोग होता है, उसका जन्म यूरोपीय पुनर्जागरण के साथ हुआ। पुनर्जागरण में प्राचीन से नवीन की दिशा में जो संक्रमण का वातावरण था, उससे कला संबंधी चार मान्यताएँ उत्पन्न हुईं। एक मान्यता यह थी कि कला गुह्य वास्तविकता का अनुकरण है, जिसके अनुसार कला रहस्यबोध का एक रूप मानी गई। यह सिद्धान्त ईसाई विचारकों के लिए विशेष उपयोगी था। दूसरी मान्यता यह थी कि कला 'सौन्दर्यतत्त्व' का निरंतर अनुकरण एवं समूर्तन है। इस पर ईसाई चिन्तन का प्रभाव था किन्तु बहुत कम। तीसरी मान्यता अरस्तू के काव्य-सिद्धान्त के कुछ पक्षों को विकसित करके इस रूप में सामने आई थी कि कला 'प्रकृति का आदर्शीकरण' है, जिसका तात्पर्य यह था कि कला में वस्तुओं का संभावित या आदर्श रूप ग्रहण किया जाता है। चौथी मान्यता, जिससे सृजनात्मक बल वाले सिद्धान्त का जन्म हुआ, यह थी कि कला शक्ति का वह रूप है, जो ईश्वर की सृष्टि—प्रकृति से स्पर्धा करती है। इस सिद्धान्त को तासो ने वाणी दी। तासो के स्पष्ट शब्दों में : "सृष्टा दो है—ईश्वर और कवि।"

ये चारो मान्यताएँ पुनर्जागरणकालीन किसी भी कलाकृति में परिलक्षित की जा सकती हैं और वह भी वैकल्पिक रूप में नही, मिश्रप्राय रूप मे। निश्चय ही महत्त्वपूर्ण लेखकों में अधिक झुकाव स्पष्टतः मानवतावादी कला-सिद्धान्त की ओर था। कुछ शताब्दियों तक तो ईश्वर की प्रतिस्पर्धा में कलाकार को स्रष्टा और कला को सृजन मानना कुफ़ समझा गया होगा, किन्तु कुछ तो गलत या सही यह विचार प्लेटो और अरस्तू पर आधारित माना गया और कुछ इसके साथ एक भिन्न प्रकार की ईसाई परंपरा का अनुपंग था, इसलिए पुनर्जागरणकालीन नए विचारों के अंग के रूप में यह सृजनात्मक मान्यता क्रमशः स्वीकृत हो गई। यद्यपि देनिस दि रूजमों जैसे कैथलिक चिन्तक आज भी विद्यमान हैं जो कला के संदर्भ मे 'सृजन' शब्द के प्रयोग को कुफ़ मानते है। उनके अनुसार : "दैवी कार्य के साथ एक मानवीय क्रिया की तुलना करने अथवा उसे बराबर रखने की प्रवृत्ति ऐतिहासिक दृष्टि से ऐसे युग की उपज है, जिसमें ईश्वर जैसे कर्त्ता में लोगों की आस्था समाप्त हो गई हो। सही अर्थ में सृजन की क्षमता मनुष्य में है, इस बात का उन्हें निश्चय नहीं है; क्योंकि सृजन का अर्थ है—विश्व में किसी सर्वथा नवीनता या निरपेक्ष परिवर्तन की सृष्टि करना और यह कार्य निश्चित रूप से मनुष्य के वश का नही है। जिसे आजकल प्रायः 'सृजन' कहा जाता है, वस्तुतः वह ज्ञात अथवा ज्ञातव्य नियमो के अनुसार पूर्व परिचित तत्त्वों का थोड़ा भिन्न क्रम-स्थापन है। इसलिए उसे 'रचना' या 'कम्पोजीशन' कहना चाहिए। रोमांटिक आन्दोलन से पूर्व हम प्रायः यही कहकर संतुष्ट हो जाते थे कि संगीतकार ने 'ऑपेरा' की 'रचना' की है या चित्रकार ने चित्र की 'रचना' की है। लेकिन आज हम यह कहते है कि उसने 'सिम्फ़नी' की 'सृष्टि' की है और रूपों का 'सृजन' किया है।"[1]

सृजन-सिद्धान्त के मूल में वस्तुतः पुनर्जागरण का व्यापक और क्रांतिकारी मानववादी दर्शन है, जिसके द्वारा मनुष्य ने अपने अधिकार का उपयोग करके प्रकृति के नियम-बोध से

---

[1] 'रिलिजन एण्ड द मिशन ऑफ द आर्टिस्ट' (स्पिरिचुअल प्रॉबलम्स इन कण्टेम्पोरेरी लिटरेचर, सं० स्टेनले रोमें हॉपर)

अपने-आपको मुक्त किया और शेष प्रकृति को अपनी सृजनात्मक इच्छाशक्ति के अधीन अनुभव किया। अनुकरण का सिद्धान्त जहाँ सर्वशक्तिमान ईश्वर और प्रकृति के अधीन मानव की इच्छाशक्ति की परवशता के बोध से उत्पन्न हुआ था, वहाँ सृजन-सिद्धान्त मानव मुक्ति तथा व्यक्ति की चरम स्वतन्त्रता का सूचक है। पुनर्जागरण के नए दर्शन ने मानव मन की रुद्ध शक्तियों को मुक्त करके सृजन की समस्त सम्भावनाओं के लिए द्वार खोल दिए। वास्तविकता को खोजकर उसका अनुकरण करने के स्थान पर मनुष्य ने जब सृजन के द्वारा नई वास्तविकता के निर्माण का सकल्प किया तो कला और चिन्तन के क्षेत्र में एक नए युग का सूत्रपात हुआ।

अठारहवीं शताब्दी में इग्लैंड के 'मेटाफिजिकल' कवियों के स्फुट विचारों से ज्ञात होता है कि वे मानववादी दर्शन पर आधारित सृजन सिद्धान्त में विश्वास करते थे। मार्वेल की 'उपवन' शीर्षक कविता में स्पष्ट रूप से मानव मस्तिष्क की सृजन क्रिया का उल्लेख है। डन ने कविता को 'जाली सृजन' (काउण्टरफीट क्रिएशन) कहा है। इनके अतिरिक्त मॅल ने काव्य सृजन शक्ति और कल्पना को सहचर माना है।[1] १८वीं शती के अन्त तक आते-आते कल्पना सृजन शक्ति की सहचरी हो गई और 'कल्पना' पर विशेष बल दिया जाने लगा। यहाँ से सृजनात्मक कल्पना पर बल इतना बढ़ गया कि वह सामान्य रूप से मानव मात्र और विशेष रूप से कवि की सृजन शक्ति का सूचक हो गई। फिलिप सिडनी ने अपनी 'एपॉलोजी' में अनेक परम्परागत विचारों के बावजूद पर्यवेक्षण और कल्पना के सबध में बहुत सी नई बातें कही हैं। उन्होंने कवि की उपमा वीणा से देते हुए कवि की विशेषता इन शब्दों में निरूपित की है कि "वीणा जहाँ बाह्य प्रभाव के अनुरोध से ध्वनि मात्र उत्पन्न करती है वहाँ कवि ध्वनि और लय को आन्तरिक माप देकर 'राग' की सृष्टि करने में समर्थ होता है। ऐसा प्रतीत होता है जैसे स्वय वह वीणा एक निश्चित अनुपात और मात्रा में गति के अनुसार ध्वनियों को व्यवस्थित करके एक निश्चित प्रभाव उत्पन्न कर देती है।"[2] सिडनी के इस कथन में प्राचीन अनुकरण सिद्धान्त के अवशेष स्पष्ट हैं, फिर भी उन्होंने मस्तिष्क की जिस 'सगठनात्मक' शक्ति की ओर सकेत किया है वह एक नया विचार-सूत्र है जिसे हम आगे चलकर शेली की 'कल्पना' के 'सश्लेषण' तत्त्व में स्पष्टत व्यक्त पाते हैं। वस्तुत सृजन सिद्धान्त का पूर्ण विकास रोमांटिक कवियों और विचारकों के द्वारा हुआ जिसे उन्होंने कल्पना के व्यापक आधार पर एक व्यवस्थित काव्य-दर्शन के रूप में स्थापित किया।

रोमांटिक कवियों की यह धारणा थी कि अनुकरण के द्वारा कोई अधिक से अधिक वास्तविकता के सामान्य एव सर्वसुलभ रूप का ही दिग्दर्शन करता है किन्तु वास्तविकता का एक उच्चतर रूप भी है, जिसका पर्यवेक्षण एव ग्रहण कल्पना के माध्यम से ही सभव है। अनुकरणवादी प्लेटो की दृष्टि में जो कलागत वास्तविकता मिथ्या थी, उसी को रोमांटिक कवियों ने उच्चतर वास्तविकता का गौरवपूर्ण पद प्रदान किया। इस प्रकार सृजनात्मक कल्पना के साथ उच्चतर वास्तविकता की धारणा भी सलग्न हो गई।

---

[1] रेमड विलियम्स द लाग रिवोल्यूशन, पृ० ६

[2] वही

रोमांटिक युग में 'सृजन' विषयक धारणा के प्रसार का एक उदाहरण यही है कि उस समय के विचारक काव्य के संदर्भ में प्रायः मशीन के स्थान पर वनस्पतिक्षेत्रीय शब्दों का प्रयोग करना पसंद करते थे। एडवर्ड यंग नामक एक तत्कालीन विचारक ने 'मौलिक सृष्टि' की व्याख्या करते हुए लिखा हैं कि : "मौलिक सृष्टि **वनस्पतिधर्मी** कही जा सकती है; वह प्रतिभा के जीवंत मूल से स्वतः उत्पन्न होती है; वह **निर्मित** नहीं होती बल्कि **विकसित** होती है; अनुकृतियाँ प्रायः उत्पादन के ढंग की होती है जिनका निर्माण आत्मेतर पूर्वस्थित उपकरणों से मिस्त्रियो, शिल्प एवं श्रम के द्वारा होता है।"[1] स्पष्टतः यंग ने इस संदर्भ मे 'मेड' और 'ग्रोज' दो क्रियाओं में अन्तर किया है जो 'यांत्रिक' और 'आवयविक' के भेद की ओर संकेत करती है।

सर हर्बर्ट रीड ने 'आवयविक रूप' (ऑर्गेनिक फ़ॉर्म) का मूल स्रोत रोमाण्टिक चिन्तन में ढूंढते हुए जर्मन विचारक शेलिंग का यह कथन उद्धृत किया है कि : "वह वर्तमान पदार्थो का अनुकरण मात्र नही है—वह ससार की पवित्र, सनातन सृजनशील मूल शक्ति है, जो अपने भीतर से समस्त वस्तुओं को उत्पन्न करती है और उन्हें उत्पादनशील रूप में प्रस्तुत करती है।"[2] तत्पश्चात 'सृजनशील' (क्रिएटिव) शब्द की यादृच्छिकता का निषेध करते हुए उन्होंने लिखा है कि : "इसके लिए शेलिंग ने जर्मन भाषा में 'Bidenden' शब्द का प्रयोग किया है; इसके मूल में 'Bilden' क्रिया है, जिसका अर्थ है—रूप देना, आकार देना, गढ़ना।"[3]

इस प्रकार रोमाण्टिक युग मे सृजन के 'आवयविक' अथवा वनस्पतिशास्त्रीय और निर्माणपरक दो अर्थ संयुक्त रूप में प्रचलित हुए।

आधुनिक युग ने रोमाण्टिक आत्मनिष्ठता एवं भावोच्छ्वसित काल्पनिकता के अतिरेक का परित्याग करते हुए भी 'सृजन' संबंधी अवधारणा को मूल्यवान रिक्थ के रूप में स्वीकार किया। फलतः वर्तमान पाश्चात्य चिन्तन में कलाकृति 'अन्वेषण' एवं 'सृजन' दो गुणों से युक्त मानी जाती है। प्रोफ़ेसर एलिसिओ वाइवास ने साभिप्राय अपनी पुस्तक का नाम 'सृजन और अन्वेषण' (क्रिएशन एण्ड डिस्कवरी) रखते हुए उसके आमुख में अपनी मान्यताओं का यह साराश दिया है कि : "सृजन की क्रिया द्वारा कलाकार जो उपलब्ध करता है, वह समाज द्वारा पहले से ही संस्थाबद्ध अर्थो एवं मूल्यो को नए प्रतीत होनेवाले रूपाकार में पुनस्सज्जित करना नही है; जिस सीमा तक कोई सच्चा कलाकार होता है, उसी सीमा तक वह नए अर्थों और मूल्यों का अन्वेषण करता है और उनसे अपनी

---

१ An original may be said to be a *vegetable* nature; it rises spontaneously from the vital root of genius; it *grows*, it is not *made*. Imitations are often a sort of *manufacture*, wrought up by those *mechanics*, *art* and *labour*, out of pre-existent materials not their own.

Conjectures on Original Composition, p. 12.

२ Art is not a mere imitation of existing phenomena—it is 'the' holy, eternally creative elemental power of the world, which generates all things out of itself and brings them forth productive.

True Voice of Feeling, p. 16.

3 *Ibid.*

कलाकृति को सम्पृक्त करता है। कलाकृति कुछ नया उद्घाटित करती है। किन्तु प्रत्येक कृति में नवीनता मात्रागत ही होती है, वे कुछ ऐसा उद्घाटित करती हैं जिसका मूल स्थान न तो कलाकार के जीवन चरित में ढूँढा जा सकता है, न उसकी परंपरा से प्राप्त सामग्रियों में और न उस संसार के उपकरणों में, जहाँ वह रहता है।"[1] कहना न होगा कि ये मान्यताएँ केवल एक विचारक की नहीं, बल्कि आज के कला-चिन्तन की सामान्य स्वीकृत धारणाएँ हैं।

निष्कर्ष

संस्कृत काव्यशास्त्र में काव्य को आरंभ ही से सृजन-रूप स्वीकार किया गया है। कवि को प्रजापति कहने का अर्थ ही था कि कवि की कृति भी इस संसार के समान एक 'सृष्टि' है और कवि स्रष्टा है। आचार्यों ने जब काव्य को 'निर्मिति'[2] कहा तो उनका तात्पर्य काव्य के सृजन रूप से ही था। 'यह निर्मिति' यान्त्रिक नहीं, बल्कि आवयविक थी, इसका प्रमाण यह है कि जिस प्रकार अंग्रेजी के रोमाण्टिक कवियों ने काव्य की उत्पत्ति एवं विकास की व्याख्या करने के लिए वनस्पतिशास्त्रीय उपमाओं का आश्रय लिया, उसी प्रकार संस्कृत के आचार्यों ने भी। एक ओर अंग्रेजी के रोमाण्टिक कवि कीट्स ने कहा कि "वृक्ष में कोपलों के समान सहज भाव से कविता उत्पन्न हो तो ठीक है अन्यथा उत्पन्न ही न हो।"[3] तो दूसरी ओर आनन्दवर्धन ने भी कहा कि "पहले देखे हुए भी अर्थ काव्य में रस के परिग्रह से उसी प्रकार नवीन लगते हैं, जैसे मधुमास में द्रुम।"[4] आनन्दवर्धन के इस कथन का स्पष्ट अर्थ है कि रस के काव्य में उसी प्रकार नवीन अर्थों की उद्भावना हो जाती है, जैसे मधुमास के आगमन पर वृक्षों में नई कोपलें फूट पड़ती हैं। स्पष्टतः इस वनस्पतिधर्मी उपमा से काव्य-सृजन की आवयविक एवं जीवंत प्रक्रिया पर प्रकाश पड़ता है।

इसके अतिरिक्त, पाश्चात्य चिन्तन में 'अन्वेषण' एवं 'सृजन' को जिस प्रकार काव्य की युग्म विशेषताओं के रूप में स्वीकार किया जाता है, वे संस्कृत काव्यशास्त्र में भी मान्य प्रतीत होती हैं। पंडितराज ने काव्य विषयक भावना-विशेष को 'पुनः-पुनः-अनु-

---

१ What the artist [illegible]

work of art Works of art reveal something new, although in each case their newness is always a matter of degree, they reveal something which cannot be traced either to the biography of the artist or to the resources with which his tradition furnishes him, or the furniture of the world in which he lives *Creation and Discovery*, Preface, p X

२ (क) निर्मितिर्नूतनोल्लेख-लोकातिक्रान्तगोचरा। हिन्दी वक्रोक्तिजीवित, ३।२
(ख) नवरसरुचिरां निर्मितिमादधती भारती कवेर्जयति। काव्यप्रकाश, १।१

3 If poetry comes not as naturally as the leaves to a tree it had better not come at all *Letters of John Keats*, ed by M B Forman, p 117

४ दृष्टपूर्वा अपि ह्यर्थाः काव्ये रसपरिग्रहात्।
सर्वे नवा इवाभान्ति मधुमास इव द्रुमाः॥ ध्वन्यालोक, ४।४

सधानात्मा'[1] कहा है, जिससे अन्वेषण-प्रवृत्ति की ही अर्थ-व्यंजना होती है। जहाँ तक नूतन सृजन का प्रश्न हे, आनन्दवर्धन ने स्पष्ट शब्दो में कहा है कि : "भगवती सरस्वती स्वयं ही अभिमत अर्थ का आविर्भाव करती है।"[2] यहाँ 'आविर्भाव' का अर्थ स्पष्ट करते हुए अभिनवगुप्त ने लिखा है कि 'आविर्भावयति' क्रिया का अर्थ है—नूतन सृजन करती है।[3] वस्तुतः सृजन का अर्थ ही है—नूतन सृजन। संस्कृत काव्यशास्त्र में मुख्यतः रसवादी आचार्यो ने इस तथ्य पर बार-बार बल दिया है कि कवि की प्रतिभा काव्य के रूप में अपूर्व वस्तु का निर्माण करती है; जिसमे काव्यवस्तु की अपूर्वता यदि नूतन सृजन नही है तो फिर क्या है ? साराश यह कि आधुनिक पाश्चात्य चिन्तन के समान ही संस्कृत के रस-सिद्धान्त मे भी काव्य अन्वेपण एवं सृजन के समन्वित रूप मे स्वीकृत है।

●

---

१ रसगंगाधर, पृ० ११

२ सरस्वती स्वयमभिमतमर्थमाविर्भावयति। ध्वन्यालोक, पृ० ६००

३ आविर्भावयतीति। नूतनमेव सृजतीत्यर्थः। ध्वन्यालोक-लोचन, पृ० ६००

१२

सृजन सबधी मुख्य सिद्धान्त

कला-सृजन की व्याख्या करनेवाले सौन्दर्यशास्त्रीय सिद्धान्त सामान्यत दो मुख्य वर्गों म रख जा सकते हैं वस्तुनिष्ठ और आत्मनिष्ठ। वस्तुनिष्ठ सिद्धान्त व हैं जो कला का विवेचन बाह्य वास्तविकता के सदभ म करत हुए विश्व या प्रकृति से कला क सभव सबध पर प्रकाश डालत हैं। यह सबध निरूपण बहुत-कुछ प्रत्येक चिन्तक की वास्तविकता सबधी धारणा पर निर्भर है। इस वग के अन्तगत प्लेटो और अरस्तू क अनुकरण सिद्धान्त से लेकर उन्नीसवी शती के विविध प्रकृतवादी और यथार्थवादी कला सिद्धान्त आते हैं यहाँ तक कि युग की सामूहिक चेतना का सिद्धान्त सृजन लहर का प्रतिभास सिद्धान्त और नव्य आलोचना द्वारा प्रवर्तित विविध वस्तुवादी काव्य सिद्धान्त भी इसीक अन्तगत मान जा सकते है। कला को अनुकरण माना जाए अथवा प्रतिभास सामूहिक चेतना को व्यक्त करने का माध्यम कहा जाए या भाषागत तत्त्वो के निरपेक्ष सघटन की प्रक्रिया—य सभी मान्यताए प्रकारान्तर से कला सृजन की वस्तुनिष्ठ प्रक्रिया की ओर सकेत करती हैं। इसक विपरीत आत्मनिष्ठ वग के अन्तगत सम्मिलित किए जानेवाले व सिद्धान्त हैं जो कला-सृजन की व्याख्या कलाकार के सदभ म करते हुए कला और कलाकार के सबध पर प्रकाश डालते है। इस वग के विचारको का ध्यान मुख्य रूप से कलाकार के मानस म घटित होनेवाली उस आन्तरिक प्रक्रिया पर होता है जिसक द्वारा कला अतरग स बहिरग रूप ग्रहण करती है। इस वग के अन्तगत रोमाण्टिक कवियो और विचारको की आत्माभि व्यजना अथवा आत्माभिव्यक्ति से लेकर क्रोचे के अभिव्यजनावाद तक के सिद्धान्त आते हैं और एक तरह स देख तो फ्रायड द्वारा प्रवर्तित वासना पूर्ति का सिद्धान्त भी इसी वग म रखा जा सकता है। कलाकृति को कलाकार क भाव की अभिव्यक्ति माना जाए अथवा प्रातिभज्ञान की अभिव्यजना या फिर इच्छापूर्ति क लिए निर्मित दिवास्वप्न—य सभी मान्यताए प्रकारान्तर स कला-सृजन की आत्मनिष्ठ प्रक्रिया की ओर सकेत करती हैं। इस वग के सिद्धान्तो का प्रभाव आधुनिक युग म भी इतना प्रबल है कि कला की सृजन प्रक्रिया का प्रश्न उठने पर प्राय इन आत्मनिष्ठ सिद्धान्तो म से ही किसी एक अथवा अधिक या सभी सिद्धान्तो का उल्लेख किया जाता है। जो हो इतना निश्चित है कि रोमाण्टिक कवियो और विचारको ने आत्माभिव्यक्ति पर विशेष बल देकर कलाकार और कला के सबध की ओर सभी का ध्यान आकृष्ट किया जो सौन्दर्यशास्त्र एव साहित्यशास्त्र के इतिहास म अभूतपूर्व घटना है। वसे तो वस्तुवादी सिद्धान्तो म भी कलाकार और कला के सबध पर कुछ-न कुछ विचार किया ही जाता है किन्तु इस प्रश्न पर जितना बल आत्म निष्ठ सिद्धान्तों ने दिया है उसका ऐतिहासिक महत्त्व है। वस्तुत इस सिद्धान्त क द्वारा ही सच्चे अर्थों म सृजन प्रक्रिया पर गहराई से विचार करने की परपरा का सूत्रपात हुआ।

संक्षेप में, यहाँ क्रमशः दोनों वर्गों के कला-सिद्धान्तों की मुख्य स्थापनाओं का विवरण प्रस्तुत किया जा रहा है।

अनुकरण-सिद्धान्त

पाश्चात्य काव्यशास्त्र में 'अनुकरण'

कला-सृजन का मूल संबंध ऐतिहासिक दृष्टि से मानव की अनुकरण करने की सहज वृत्ति से और अनुकृतियों से आनन्दित होने की सहज प्रवृत्ति से जोड़ा जा सकता है। अतः अनुकरण-सिद्धान्त सौन्दर्यशास्त्र का कला-सृजन सबधी संभवतः आदिम सिद्धान्त है, जिसमें 'अनुकरण' संबंधवाचक शब्द है, जो दो भिन्न वस्तुओं और उनके बीच वर्तमान संबंध-भावना को सूचित करता है। प्लेटो ने सौन्दर्यशास्त्र में कला-सृजन के सिद्धान्त के रूप में अनुकरण की प्रतिष्ठा सर्वप्रथम करते हुए इसका प्रयोग दो अर्थों में किया। एक ओर कवि को उस नामरूपात्मक सृष्टि का अनुकर्ता माना गया, जो स्वय मूल विचार-रूप अमूर्त सत्य का अनुकरण है, अतः कला-सृष्टि सत्य से दुगुनी दूर हो गई। इस शब्द का दूसरा प्रयोग उस रचना संबंधी अनुशासन के अर्थ मे किया गया जिसके अनुसार कवि पहले से वर्तमान साहित्यिक आदर्शों का अनुकरण करता है।

कला-प्रकृति पर विचार मुख्यतः त्रासदी और कामदी—अर्थात नाट्य रूपों की दृष्टि से किया गया था। अतः जब प्लेटो ने कला को सत्य के अनुकरण का अनुकरण कहा, तो विषय-रूप में प्रकारान्तर से काव्य में घटनाओं की महत्त्व-स्वीकृति की। अर्थात यह सिद्धान्त नाट्य-विधाओं की सृजन-प्रक्रिया को ध्यान में रखते हुए निरूपित किया गया। अरस्तू ने प्लेटो के इस आक्षेप का, कि कलाकृति सत्य से दुगुनी दूर होती है और मानव-चेतना पर उसका प्रभाव घातक होता है, मार्जन तो किया; परन्तु त्रासदी एवं तदुपरान्त समाख्यानात्मक रूपों को महत्ता देने के कारण अनुकरण-सिद्धान्त को 'कला-सृजन' के संदर्भ में पुनर्व्याख्या के साथ ग्रहण कर लिया।

प्लेटो के संवादों में प्रस्तुत काव्य-सृजन की यह व्याख्या वस्तुतः सौन्दर्यशास्त्रीय चिन्तन न होकर दार्शनिक धरातल पर स्थित है। उनका यह एकमात्र मानक कलाओं के साथ सभी जीवन-व्यापारों पर लागू होता है और वे कला की ही भाँति किसी भी अन्य जीवनगत व्यापार का मूल्यांकन एक ही प्रतिमान के आधार पर करने के पक्ष में है और यह मानक है—मूल सत्य से कृति का संबंध। इस प्रकार किसी कलाकार, कर्मकार तथा अन्य किसी भी व्यक्ति में कोई अन्तर नही रहता और हम काव्य को एक ऐसी विशिष्ट रचना के रूप में ग्रहण नहीं कर पाते जिसकी अपनी व्यावर्त्तक विशेषताएँ निजी सिद्धान्त हों, और जिसके अस्तित्व का विशेष कारण हो।

अरस्तू ने 'अनुकरण' शब्द का अर्थ-विस्तार कर उसे पुनस्सृजन या कम-से-कम प्रतिदर्शन का पर्याय माना। उन्होने स्पष्ट किया कि कला में प्रकृति का या घटनाओं का अनुकरण, केवल वे जैसी होती है उसी रूप में न होकर, आदर्श या संभाव्य रूप में भी होता है; और हो सकता है। अरस्तू इसी आधार पर इतिहास और काव्य के सत्य में भेद मानते थे। उनके अनुसार, कवि-कर्तव्य घटनाओ का उनके यथातथ्य रूप में वर्णन करना नहीं होता। वह घटनाओं का उनके यथार्थ रूप में ब्यौरा प्रस्तुत नहीं करता।

काव्य का महत्त्व मात्र विवरण या इवाना उपस्थित करने की अपेक्षा कहीं अधिक है। वह इतिहास की अपेक्षा उच्चतर और अधिक दार्शनिक वस्तु है क्योंकि कविता की प्रवृत्ति सार्वभौम (यूनिवर्सल) की अभिव्यक्ति की ओर होती है और इतिहास की प्रवृत्ति विशिष्ट की अभिव्यक्ति की ओर होती है। इसके अतिरिक्त उन्होंने इस शब्द का प्रयोग कलाओं के क्षेत्र तक परिसीमित कर उन्हें अन्य जीवन-व्यापारों से पृथक स्थान दिया। कलाओं के अंतरंग क्षेत्र में भी अनुकरण के विषय माध्यम और विधि के भेद से उन्होंने उसके उपभेद किए। विषय माध्यम और शैली के अन्तर के आधार पर एक ओर उन्होंने काव्य और अन्य कलाओं में भेद किया और दूसरी ओर काव्य के अन्तर्गत नाटक महाकाव्य आदि का भेद निरूपित किया। इस प्रकार पहली बार एक कलाकृति के रूप में काव्य की पृथक और निश्चित स्वतंत्र सत्ता स्वीकार की गई। परन्तु यह वे भी मानते थे कि कला-सृजन प्रकृत्या अनुकरण-व्यापार है।

इस शब्द का दूसरा प्रयोग पूर्वस्थित कलाकृतियों आदर्शों के अनुकरण के अर्थ में होता रहा। रोमन युग तक पद्य और गद्य रचना प्रशिक्षण की नियमित पद्धति के रूप में चली आई। सिसरो होरेस लाजाइनस सभी ने किसी-न किसी रूप में उसको साहित्यिक चोरी से अलग करते हुए पूर्वस्थित आदर्शों के अनुकरण पर बल दिया। मध्ययुगीन अलंकारशास्त्रियों और पुनर्जागरण काल में होते हुए इस विचार का विकास अठारहवीं शताब्दी के विचारकों तक हुआ कि प्राचीनों का अनुकरण एक प्रतिमानवादी साहित्यिक परंपरा में अपरिहार्य अनुशासन होता है। सिसरो और वर्जिल की शैली अनुकरण के निमित्त अत्यधिक लोकप्रिय रही।

अरस्तू के बहुत बाद सम्पूर्ण अठारहवीं शताब्दी के मध्य तक आलोचना की शब्दावली में अनुकरण शब्द बहुत महत्त्वपूर्ण रहा। किन्तु विभिन्न विचारकों द्वारा इस शब्द को दिए गए सापेक्ष महत्त्व में अंतर था और विभिन्न समालोचकों की अनुकरण के विषय संबंधी अवधारणाएं पृथक रहीं। कहीं यह विषय यथार्थ माना गया और कहीं आदर्श। परन्तु यह बात ध्यान देने की है कि सोलहवीं शताब्दी की इटली में अरस्तू के काव्यशास्त्र के विशद अध्ययन के बाद जब भी किसी समालोचक ने कला के मूल तत्त्व या परिभाषा निर्धारित करने का उपक्रम किया तो विषय रूप में अनुकरण अथवा ऐसे समानार्थक शब्दों को ग्रहण कर लिया जो परस्पर भिन्न होते हुए भी उसी दिशा की ओर उन्मुख थे। उदाहरण के लिए reflection representation counterfeiting feigning copy या image। पूरी अठारहवीं शताब्दी में कविता का अनुकरणात्मक और अन्य कलाओं में श्रेष्ठ स्वीकार करने का सिद्धान्त कुछ इस रूप में सर्वस्वीकृत और मान्य रहा कि उसके लिए किसी अतिरिक्त प्रमाण की अपेक्षा न थी। शती के उत्तरार्द्ध में कला-सृजन में मौलिक प्रतिभा का महत्त्व निरूपित करनेवाले विचारकों ने भी किसी प्रतिभाजन्य कृति की मौलिकता के रहते भी अनुकरणात्मक माना और समालोचक-वर्ग सृष्टि के किसी-न किसी रूप की ओर काव्य के अनिवार्य स्रोत और विषय के रूप में देखता रहा।

जॉनसन ड्राइडन आदि विद्वानों तक आते आते यह धारणा निर्भ्रान्त हो चली थी कि साहित्यिक कृति मूलत आत्माभिव्यक्ति न होकर सीधे या किसी आदर्श के माध्यम से

प्रकृति की वस्तुगत अनुकृति होती है; और इस प्रक्रिया में कृतिकार के द्वारा आदर्श को आत्मसात करके उसमें संशोधन करने की संभावना भी निहित रहती है। परन्तु अठारहवीं शताब्दी के आलोचकों ने अत्यंत निर्भ्रान्त शब्दावली में यह सर्वथा स्पष्ट कर दिया कि 'यथार्थ जीवन' कलाकार के लिए केवल आरंभिक बिन्दु होता है, वह कला का सर्वांग नहीं होता। अनुकरण-सिद्धान्त का विकास इस युग तक आते-आते 'तत्त्वगत अनुकरण' (इमिटेशन ऑफ़ एसेन्सेज) के अर्थ में हो गया। डॉ० जॉनसन ने इस सिद्धान्त को नया आयाम देते हुए कहा कि कलाकार जीवन के यथार्थ में से एक ओर कुछ विशिष्ट अनुकरणीय प्रसंगों और घटनाओं का चयन करता है और दूसरी ओर वह उनमें निहित 'सामान्य' तत्त्वों और विशेषताओं का अंकन करता है। इस प्रकार वह प्रकृति का अनुकरण तो करता है; किन्तु यह अनुकरण 'सामान्य प्रकृति' का होता है, विशिष्ट का नहीं। सामान्य की यह धारणा अरस्तू के 'सार्वभौम' का नया संस्करण था।

इस शताब्दी के दोनों प्रसिद्ध समीक्षकों—डॉ० जॉनसन और रेनल्ड ने 'सामान्य' के अनुकरण की चर्चा करते हुए भी व्यक्तिगत विशेषताओं की रक्षा पर पर्याप्त बल दिया है। रेनल्ड का कथन था कि जो विशिष्टताओं को अभिव्यक्त नही करता—उस कलाकर की अभिव्यक्ति व्यर्थ है और डॉ० जॉनसन शेक्सपियर की प्रशसा के अनेक कारणों में से एक यह भी मानते थे कि उसके चरित्र एक-दूसरे से पूर्णतः भिन्न और विशिष्ट है।

किसी-न-किसी रूप में कला-सृजन की प्रक्रिया को मात्र नकल या प्लेटो के शब्दों में 'प्रकृति के सामने दर्पण रख देने' की क्रिया से भिन्न मानकर अधिक सृजनात्मक और मौलिक क्रिया सिद्ध करने की दिशा में अनुकरण-सिद्धान्त के समर्थक विद्वान भी प्रयत्न करते रहे। उन्होंने कला-सृजन को अनुकरण तो माना, किन्तु शब्द के सामान्य अर्थ में मात्र नकल नहीं, बल्कि उसकी अपेक्षा कही अधिक सृजनात्मक प्रयास।

इधर अनुकरण-सिद्धान्त की जो नवीन व्याख्याएँ की जा रही है, उनमें मुख्यतः कलाकृतिगत अन्तस्संगति पर विशेष बल दिया जा रहा है। एक नए विचारक के अनुसार, अनुकरण-सिद्धान्त की मुख्य विशेषता यह है कि उसमें कला को प्रकृति न मानकर कला को कला के रूप में प्रतिष्ठित किया गया है। इस सिद्धान्त की मुख्य स्थापना यह नही है कि कला प्रकृति का अनुकरण करती है, बल्कि कला प्रकृति के उस नियम का अनुकरण करती है, जिसके अनुसार प्रकृति उत्पादन एवं सृष्टि करती है। दूसरे शब्दों में, प्रकृति के समान ही कला भी अपने आन्तरिक नियमों के अनुसार सृजन करती है और अपनी सृष्टि को एक प्रकार की संघटना एवं सुसंगति प्रदान करती है। इस प्रकार किसी कलाकृति के विभिन्न तत्त्व पृथक-पृथक रूप में प्रकृतिगत वस्तुओं की अनुकृति हो सकते है; किन्तु अपने संघटित रूप में वे समस्त तत्त्व प्रकृति से भिन्न एक सर्वथा नई सृष्टि होते हैं।[१] स्विफ़्ट ने प्राचीनों और आधुनिकों की सृजन-प्रक्रिया के अन्तर का स्पष्टीकरण मकड़ी और मधुमक्खी के दृष्टान्त से किया। स्पष्ट ही आदर्शों के अनुकरण का अर्थ यहाँ तक आते-आते मधुमक्खी के समान श्रेष्ठतम पुष्प-रस का चयन ही नही, मधु में परिवर्तन हो गया था। नव्य-शास्त्र-

---

१ हार्वे डी० गोल्डस्टीन : 'मिमेसिस एण्ड केथारसिस री-एक्जामिण्ड' (जर्नल ऑफ़ एस्थेटिक्स एण्ड आर्ट क्रिटिसिज्म, ग्रीष्म, १९६६)

सर्वथा अनावश्यक कार्य घोषित करते हुए कला को केवल आस्वाद की वस्तु के रूप में ही स्वीकार किया है। जो विचारक सौन्दर्यानुभूति को कला की चरम उपलब्धि मानते हैं, उनकी भी धारणा यही है कि कलाकृति को यथावत् स्वीकार करके उसका आस्वादन करना पर्याप्त है और वहाँ किसी प्रश्न के लिए अवकाश नहीं है। सौन्दर्यशास्त्र के विषय में पश्चिम में यह धारणा इतनी बद्धमूल है कि कला-समीक्षा की आवश्यकता अनुभव करने वाले विचारकों ने कला के मूल्यपरक पक्षों पर विचार करने की सुविधा के लिए सौन्दर्यशास्त्र के पूरक रूप में कला-समीक्षा का एक पृथक् शास्त्र के रूप में निर्माण करके सौन्दर्यशास्त्र के साथ संबद्ध कर दिया। स्वयं 'जर्नल ऑफ एस्थेटिक्स एण्ड आर्ट क्रिटिसिज्म' नामक पत्रिका की संज्ञा ही इस प्रवृत्ति की सूचक है और संभवतः इसी विचारधारा की पुष्टि के लिए जेरोम स्टोलनित्ज ने अपनी कला विषयक पुस्तक का नाम 'एस्थेटिक्स एण्ड फिलॉसफी ऑफ आर्ट क्रिटिसिज्म' रखा। इन दोनों उदाहरणों से स्पष्ट है कि सौन्दर्यशास्त्र की परिसीमा में भी कला-समीक्षा समाविष्ट नहीं है और इस प्रकार सौन्दर्यशास्त्र मूल्यांकनरहित कलास्वाद तक ही अपने को सीमित रखता है।

किन्तु इस स्थिति में अन्तर्निहित असंगति बहुत दिनों तक विचारकों से अलक्षित न रह सकी और व्यापक रूप में यह अनुभव किया गया कि *व्यवहार में मूल्यांकनरहित आस्वाद की स्थिति असंभव है* और यदि सौन्दर्यशास्त्रीय सिद्धान्तों से कलाकृति को समझने अथवा आस्वाद लेने में सहायता नहीं मिलती तो वे सिद्धान्त बुद्धि विलास मात्र हैं। असंगति के इस बोध ने आस्वाद और मूल्यांकन की अन्योन्याश्रयता की ओर ध्यान आकृष्ट किया, और आस्वाद प्रक्रिया के बीच में उत्पन्न होनेवाले मूल्य बोध एवं आलोचनात्मक विवेक के अन्वेषण का प्रयास किया गया। पाश्चात्य सौन्दर्यशास्त्र का तत्संबंधी प्रयास संभवतः रस-सिद्धान्त के शास्त्रीय रूप में निहित मूल्यांकन विधि को आलोकित करने में उपयोगी हो सकता है, इसलिए आरंभ में सौन्दर्यशास्त्रीय मान्यताओं का संक्षिप्त आकलन अप्रासंगिक न होगा।

सौन्दर्यशास्त्र में सौन्दर्यानुभूति अथवा कलानुभूति का जो विवरण दिया जाता है उसमें प्रायः आलोचनात्मक वृत्ति तथा मूल्यांकन का उल्लेख नहीं होता, क्योंकि अक्सर इन दोनों वृत्तियों को भिन्न समझा जाता है। कलानुभूति चित्त की ऐसी वृत्ति है जिसमें हम कलाकृति को अपने-आप में पर्याप्त और पूर्ण मानकर स्वीकार करते हैं और यथाशक्ति उसका आस्वादन करते हैं। आस्वाद की अवधि में ग्राहक से किसी प्रश्न की अपेक्षा नहीं की जाती। कलानुभूति मुख्यतः सहानुभूतिपरक व्यापार है जिसकी तुलना प्रेम से की गई है। इसमें ग्राहक कलाकृति को उसकी अपनी शर्तों पर स्वीकार करने के लिए बाध्य है, क्योंकि कलाकृति मूलतः आस्वाद का विषय है। जैसा कि ड्यूई ने कहा है "ग्राहक की रुचि केवल 'अनुभव प्राप्त करने में' होती है।"[१] क्योंकि कला एक अनुभव है, इसलिए कुछ कलाकार और कलाशास्त्री कला समीक्षा और मूल्यांकन को सर्वथा अनावश्यक ही नहीं, बल्कि कलानुभूति के मार्ग में बाधक मानते हैं।

निस्संदेह कलाकृति के रूप में जो कुछ तत्काल प्रस्तुत है उसे ग्रहण करना कलानु

१ आर्ट एज एक्सपीरिएंस, पृ० ६६

भूति के लिए पर्याप्त है, किन्तु जब तक कला-समीक्षा के द्वारा ग्राहक की ग्रहण-शक्ति भली-भाँति आलोकित और शिक्षित न हो तब तक जो कुछ उसके सामने प्रस्तुत है, उसका सम्यक् ज्ञान कैसे होगा ? इसके अतिरिक्त, यह भी तथ्य है कि आस्वाद-व्यापार में हम दूसरों को भी अपने अनुभव का समभागी बनाना चाहते है। आस्वाद बहुत-कुछ एक सामाजिक अथवा सामूहिक व्यापार है। किसी वस्तु का स्वयं आस्वाद लेने के बाद हम प्रायः दूसरों को भी उसके आस्वाद के लिए निमंत्रित करते हैं और जैसा कि डेविट पार्कर का कहना है : "किसी चित्र को मैं जो मूल्य प्रदान करता हूँ, वह दूसरो की सहमति से किसी प्रकार दृढ होता है ......तथा असहमति से कुछ-न-कुछ क्षीण होता है।"[१] इस प्रकार दूसरों के साथ अपने आस्वाद को समभागी बनाते ही हम कला-समीक्षा तथा मूल्यांकन के क्षेत्र में प्रवेश कर जाते हैं।

किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि कलानुभूति और कला-समीक्षा एक या अभिन्न व्यापार हैं। वस्तुतः परस्पर संबद्ध तथा परस्पर पूरक होते हुए भी ये दोनों क्रियाएँ मूलतः भिन्न हैं। जेरोम स्तोलनित्ज ने कलानुभूति और कला-समीक्षा मे तीन भेदक तत्त्वो का उल्लेख किया है :[२]

१. कलानुभूति मे ग्राहक कलाकृति के प्रति पूर्णतः 'सर्मपित' होता है, जबकि समीक्षा मे समीक्षक का समर्पण आंशिक होता है; इस प्रकार कला-समीक्षक अन्त तक अपनी सत्ता स्वतंत्र एवं भिन्न रखता है।

२. कलानुभूति में ग्राहक की दृष्टि संश्लिष्ट होती है, वह कलाकृति को अखड एवं अविभाज्य रूप मे ग्रहण करता है; जबकि कला-समीक्षक की दृष्टि विश्लेपणात्मक होती है और विश्लेपण से ही कला-समीक्षा का आरंभ होता है।

३. कलानुभूति और कला-समीक्षा के प्रयोजनों में भी आधारभूत अन्तर है। कला-समीक्षा का प्रयोजन कलानुभूति प्राप्त करना नही है; वह मूल्याकन के लिए यथासंभव कलाकृति-विपयक अधिक-से-अधिक ज्ञान उपलब्ध करना चाहता है; इसलिए उसकी रुचि कलाकृति से इतर तथ्यों एवं कार्यो में भी होती है। इसके विपरीत कलानुभूति अन्ततः कलाकृति तक ही सीमित रहती है।

इस प्रकार जैसा कि सी० आई० लीविस ने कहा है : "कलात्मक परितोप की सर्वोच्च अवस्था वह होती है, जब ग्राहक का चित्त किसी भी प्रकार आत्म-सजग नहीं होता और वस्तुनिष्ठ मूल्यांकन तथा विश्लेपण के वोधपरक प्रयोजन से सर्वथा रहित होकर कला-कृति में डूब जाता है।"[3]

कलानुभूति और कला-समीक्षा का अन्तर स्पष्ट करते हुए भी जेरोम स्तोलनित्ज ने दोनों कार्यो के अन्तरावलम्बन पर वल दिया है; क्योकि सफल कला-समीक्षा प्रायः कलानुभूति को समृद्ध करने में सहायक होती है। स्वयं स्तोलनित्ज के शब्दों में : "आलोचना तो

---

[१] वैल्यू : ए कोऑपरेटिव इन्क्वायरी, पृ० ४२७

[२] एस्थेटिक्स एण्ड फ़िलॉसफ़ी ऑफ़ आर्ट क्रिटिसिज्म, पृ० ३७७-७८

[3] एन एनालिसिस ऑफ़ नॉलिज एण्ड वैल्युएशन, पृ० ४४२

भाव-वर्णन मे प्रकृतिगत औचित्य का ध्यान रखा जाता है तो विभाव-वर्णन मे परंपरा-प्रसिद्ध अथवा लोक सिद्ध औचित्य का। विभावों के औचित्य पर विचार करते हुए आनद-वर्धन ने सातवाहन के नागलोक-गमन आदि कार्यों के काव्यगत वर्णन के सबध में कहा है कि 'राजाओ के अलोक-सामान्य अतिशय प्रभाव के वर्णन को हम अनुचित नही कहते, किन्तु केवल मानुष के आश्रय से जो उत्पाद्य कथावस्तु रची जाती है, उसमे दिव्य औचित्य की योजना नही करनी चाहिए।"[1] इसी सदर्भ में आगे चलकर भावो के औचित्य पर विचार करते हुए आनदवर्धन ने सयोग-शृगार के अभिनय मे 'असभ्यता' का दृढ़ता से निवारण किया है और स्पष्ट शब्दो म कहा है कि "उत्तम प्रकृति राजा आदि का उत्तम प्रकृति नायिकाओ के साथ जो ग्राम्य सभोग है, वह माता-पिता के सभोगवर्णन की भाँति सुतरां असभ्य है।"[2]

आनदवर्धन के इस कथन को और भी स्पष्ट करते हुए अभिनवगुप्त ने कहा है कि 'स्थैर्य से उत्तम, मध्यम, अधम तथा नीचा के सम्भ्रम से इत्यादि कहते हुए मुनि ने भी स्थान-स्थान पर विभाव अनुभाव आदि म प्रकृत्यौचित्य को ही बहुप्रकार से प्रमाणित किया है।'[3]

विभावादि के औचित्य का निरूपण करते हुए अभिनवगुप्त ने जिस प्रकार भरत मुनि को प्रमाण के रूप मे उद्धृत किया है, उससे औचित्य के आधार का सकेत मिलता है। स्वय भरत मुनि ने कविता के लिए लोक, वेद, और अध्यात्म तीन प्रमाणो का निर्देश करते हुए नाट्य मे लोक एव अध्यात्म केवल दो को प्रमाण माना है।[4] अभिनवगुप्त ने स्वय भरत मुनि को प्रमाण के रूप मे प्रस्तुत करते हुए एक प्रकार से परपरा को भी औचित्य-निर्माण के लिए प्रमाण-रूप म स्वीकार कर लिया है। इस प्रकार रस सिद्धान्त मे औचित्य के महत्त्व पर बल देते हुए आचार्यों ने औचित्य-निर्णय के प्रमाणस्वरूप लोक एव परपरा का निर्देश करके रस सिद्धान्त को ठोस सैद्धान्तिक आधार प्रदान किया है। औचित्य से सवलित होकर रस-सिद्धान्त शुद्ध काव्य सिद्धान्त न रहकर सौन्दर्यशास्त्र के एक व्यापक सास्कृतिक प्रतिमान के रूप म प्रतिष्ठित हो जाता है।

●

---

[1] न वय ब्रूमो यत्प्रभावातिशयवर्णनमनुचित राज्ञाम्, कि तु केवलमानुषाश्रयेण योत्पाद्य-वस्तुकथा क्रियते तस्या दिव्यमौचित्य न योजनीयम्। ध्वन्यालोक, पृ० ३६२

[2] काव्ये यदुत्तमप्रकृते राजादेरुत्तमप्रकृतिभिर्नायिकाभि सह ग्राम्यसम्भोग-वर्णन तत्पित्रो सम्भोगवर्णनमिव सुतरामसभ्यम। वही, पृ० ३६५

[3] मुनिनापि स्थाने स्थाने प्रकृत्यौचित्यमेव विभावानुभावादिषु बहुतर प्रमाणीकृत स्थैर्येणो त्तममध्यमाधमाना नीचाना सम्भ्रमेण इत्यादि वदता। ध्वन्यालोक-लोचन पृ० ३६४-६५

[4] लोक वेदस्तथाध्यात्म प्रमाण त्रिविध स्मृतम।
लोकाध्यात्मपदार्थेषु प्रायो नाट्य व्यवस्थितम्॥ नाट्यशास्त्र, २५।१२२

प्रमुख सहायक ग्रन्थ एवं पत्रिकाएँ

संस्कृत

अभिनवगुप्त : **ध्वन्यालोक-लोचन**, अनु० जगन्नाथ पाठक, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, १९६५

: **अभिनवभारती**, भाग १, गायकवाड़ ओरिएण्टल सीरीज, द्वितीय संस्करण, १९५६

: **हिन्दी अभिनवभारती**, अनु० आ० विश्वेश्वर, हिन्दी अनुसंधान परिषद, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली, १९६०

: **तंत्रालोक**, काश्मीर संस्कृत सीरीज

ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृत्तिविमर्शिनी, काश्मीर संस्कृत सीरीज, १९३८

आनंदवर्धन : **ध्वन्यालोक**, अनु० जगन्नाथ पाठक, चौखम्बा, विद्याभवन, वाराणसी, १९६५

: **ध्वन्यालोक**, वालप्रिया सहित, काशी संस्कृत सीरीज, १९४०

उद्भट : **काव्यालंकारसारसंग्रह**, भंडारकर रिसर्च इंस्टिट्यूट, १९५२

कुन्तक : **वक्रोक्तिजीवित**, हिन्दी, अनु० आ० विश्वेश्वर, आत्माराम एण्ड संस, दिल्ली, १९५५

क्षेमेन्द्र : **औचित्य-विचार-चर्चा**, चौखम्बा, संस्कृत सीरीज, १९३३

गोविन्द ठक्कुर : **काव्यप्रदीप**, निर्णय सागर प्रेस, वम्बई, १९३३

जगन्नाथ, पंडितराज : **रसगंगाधर**, अनु० वदरीनाथ झा और मनमोहन झा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, १९५५

दण्डी : **काव्यादर्श**, भडारकर ओरिएंटल रिसर्च इंस्टिट्यूट, पूना, १९३८

धनंजय : **दशरूपक**, गुजराती प्रिंटिंग प्रेस, वम्वई, १९२७

नागेश : **गुरु-मर्म-प्रकाश**, टीका रसगंगाधर, सं० गिरिराज प्रसाद शर्मा, १९२९

भरत : **नाट्यशास्त्र**, भाग १, गायकवाड़ ओरिएंटल सीरीज, द्वितीय संस्करण, १९५६

: **भरत का नाट्यशास्त्र**, भाग १, अनु० डॉ० रघुवंश, मोतीलाल वनारसीदास, दिल्ली, १९६४

भामह : **काव्यालंकार**, अनु० देवेन्द्रनाथ शर्मा, विहार राष्ट्रभाषा परिषद, पटना, १९६३

भोज : **सरस्वतीकण्ठाभरण**, काव्यमाला, १९१५

मम्मट : **काव्यप्रकाश**, अनु० आ० विश्वेश्वर, ज्ञानमंडल लिमिटेड, वाराणसी, १९६०

महिमभट्ट — व्यक्तिविवेक, अनु० रेवाप्रसाद द्विवेदी, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, १९६४
राजशेखर — काव्य-मीमांसा हिन्दी अनु० केदारनाथ शर्मा सारस्वत, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद, पटना, १९५४
रुद्रट — काव्यालंकार, काव्यमाला, १९०६
वामन — काव्यालंकारसूत्रवृत्ति, हिन्दी अनु० आचार्य विश्वेश्वर, आत्मा राम एण्ड सन्स, दिल्ली, १९५४
विश्वनाथ — साहित्यदर्पण, विमला टीका, शालग्राम शास्त्री, मोतीलाल बनारसीदास, चतुर्थ संस्करण, १९६१
शारदातनय — भावप्रकाशन, गायकवाड ओरियन्टल सीरीज़, १९३०
हेमचन्द्र — काव्यानुशासन, काव्यमाला, १९०१

हिन्दी-मराठी

काले, मनोहर — आधुनिक हिन्दी-मराठी में काव्यशास्त्रीय अध्ययन, हिन्दी ग्रंथ रत्नाकर, बम्बई, १९६३
गुप्त, प्रेमस्वरूप — रसगंगाधर का शास्त्रीय अध्ययन, भारत प्रकाशन मन्दिर, अलीगढ़, १९६२
गुलाबराय — सिद्धान्त और अध्ययन, आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली, छठा संस्करण, १९६५
जैन, निर्मला — प्लेटो के काव्य सिद्धान्त, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, १९६५
त्रिपाठी, राममूर्ति — रस विमर्श, विद्या मंदिर, वाराणसी, १९६५
औचित्य विमर्श, भारती भंडार, इलाहाबाद, १९६५
दास, श्यामसुन्दर — साहित्यालोचन, इंडियन प्रेस, इलाहाबाद, संस्करण, १९५०
दीक्षित, आनन्दप्रकाश — रस सिद्धान्त स्वरूप विश्लेषण, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, १९६०
देशपांडे, ग० त्र्य० — भारतीय साहित्यशास्त्र, पाप्युलर बुक डिपो, बम्बई, १९६०
भारतीय साहित्यशास्त्रातील सौन्दर्य कल्पना (मराठी), पब्लिकेशन डिविज़न, दिल्ली १९६७
नगेन्द्र — रीतिकाव्य की भूमिका, गौतम बुक डिपो, दिल्ली, द्वितीय संस्करण, १९५३
भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका, भाग २, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, द्वितीय संस्करण १९६३
रस-सिद्धान्त, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, १९६४
नगेन्द्र और नेमीचन्द्र जैन — अनु० काव्य में उदात्त तत्व, राजपाल एण्ड सन्स, द्वितीय संस्करण, १९६१
नगेन्द्र और महेन्द्र चतुर्वेदी — अनु० अरस्तू का काव्यशास्त्र, भारती-भंडार, इलाहाबाद, १९५७

प्रसाद, जयशंकर : काव्य और कला तथा अन्य निबंध, भारती-भंडार, इलाहबाद, पंचम संस्करण, १९५८

बार्लिंगे, सुरेन्द्र : सौन्दर्य तत्त्व और काव्य-सिद्धान्त, अनु० मनोहर काले, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, १९६४

मिश्र, विश्वनाथप्रसाद : वाङ्मय विमर्श, हिन्दी साहित्य कुटीर, वाराणसी, तृतीय संस्करण, १९५७

शुक्ल, रामचन्द्र : चिन्तामणि, भाग १, इंडियन प्रेस, लिमिटेड, प्रयाग, संस्करण, १९५३

: चिन्तामणि, भाग २, सरस्वती मंदिर वाराणसी, पंचम आवृत्ति, १९६२

: रस-मीमांसा, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, द्वितीय संस्करण, १९५४

Western Aesthetics and Criticism

ABRAMS, M.H. : *The Mirror and The Lamp*, Norton Library, New York, 1958.

AIKEN, HENRY DAVID : 'Some Notes Concerning the Aesthetic and the Cognitive', *The Journal of Aesthetics and Art Criticism*, Vol. XIII, No. 3, 1955.

ALDRICH, VIRGIL C. : *Philosophy of Art*, Prentice-Hall, New York, 1963.

: 'Back to Aesthetic Experience', *The Journal of Aesthetics and Art Criticism*, Spring, 1960.

ALEXANDER, S. : *Beauty and other Forms of Value*, Clarendon Press, Oxford, 1933.

ARENDT, HANNA : *Between Past and Future*, Faber and Faber, London, 1961.

ARNHEIM, RUDOLF : *Art and Visual Perception*, University of California Press, Berkeley, 1954.

BEARDSLEY, MONROE C. : *Aesthetics*, Harcourt, Brace, New York, 1958.

BELL, CLIVE : *Art*, Chatto and Windus, London, 1914.

BERENSON, BERNARD: *Aesthetics and History*, Constable, London, 1950.

BERGSON, HENRI : *Laughter*, Doubleday Anchor Books, New York, 1956.

BIRKHOFF, GEORGE D. : *Aesthetic Measure*, Harvard University Press, Mass. Cambridge, 1933.

BLACKMUR, R.P. : *The Lion and the Honeycomb*, Methuen, London, 1956.

BOSANQUET, BERNARD : *A History of Aesthetic*, Second edition, George Allen & Unwin, London, 1914.

BRADLEY, A.C. : *Oxford Lectures on Poetry*, Macmillan, London, 1909.

BRAIN, RUSSELL — *The Nature of Experience*, Oxford University Press London, 1959

BUCKLEY, VINCENT — *Poetry and Morality*, Chatto and Windus, London, 1959

BULLOUGH EDWARD — 'Psychical Distance as a Factor in Art and as an Aesthetic Principle', *British Journal of Psychology*, Vol V 1912

CARRITT, E F — *Introduction to Aesthetics*, Hutchinson, London, 1949

CAUDWELL CHRISTOPHER — *Illusion and Reality*, Indian edition, P P H , Bombay, 1947

COLERIDGE, S T — *Biographia Literaria*, Ed by J Shawcross, Clarendon Press, Oxford, 1907

COLLINWOOD R G — *The Principles of Art* Clarendon Press, Oxford, 1938

CRANE R S — ed *Critics and Criticism*, Phoenix Books, The University of Chicago Press 1957

CROCE, BENEDETTO — *Aesthetic*, Second English edition, Macmillan, London, 1922

DAICHES, DAVID — *Critical Approaches to Literature*, Longmans, London, 1956

DAY LEWIS, C — *The Poetic Image* Jonathan Cape, London, 1947

The Poet s Way of Knowledge, Cambridge University Press, 1957

DEWEY JOHN — *Art as Experience*, Minton Balch, New York, 1934

DICKIE GEORGE — 'Is Psychology Relevant to Aesthetics', *The Philosophical Review*, July, 1962

DUCASSE C J — *The Philosophy of Art*, Dial Press, New York, 1929

ELIOT, T S — *The Sacred Wood*, Second Edition, Faber and Faber, London, 1928

The Use of Poetry and the Use of Criticism, Faber and Faber, London, 1933

Notes Towards the Definition of Culture, Faber and Faber, London 1948

Selected Essays, Third Enlarged edition, Faber and Faber, London, 1951

On Poetry and Poets, Faber and Faber, London, 1957

ELTON, WILLIAM, — ed *Aesthetics and Language*, Blackwell, Oxford, 1954

EMPSON WILLIAM — *Seven Types of Ambiguity*, Second revised edition, Meridian Books, New York, 1947

The Structure of Complex Words, New York, 1951

FISCHER ERNST — *The Necessity of Art*, Penguin Books, London, 1963

FRY, ROGER — *Vision and Design*, Chatto and Windus, London, 1920

Transformations, Doubleday Anchor Books, New York, 1956

GHESELIN, BREWSTER : ed. *The Creative Process*, Mentor Books, New York, 1955.

GILBERT & KUHN : *A History of Aesthetics*, Macmillan, New York, 1939.

GOLDSTEIN, HARVEY D. : 'Mimesis and Catharsis Re-examined' *The Journal of Aesthetics and Art Criticism*, Summer, 1966.

GOMBRICH, E.H. : *Art and Illusion*, Pantheon Books, New York, 1960.

GREENE, T.M. : *The Arts and the Art of Criticism*, Princeton University Press, 1940.

HANSLICK, EDUARD : *The Beautiful in Music*, Liberal Art Press, New York, 1957.

HEGEL, G.W.F. : *The Philosophy of Fine Art*, Tr. by F.P.B. Osmaston, Four Volumes, Bell, London, 1920.

HOLLOWAY, JOHN : *The Charted Mirror*, Routledge and Kegan Paul, London, 1960.

: *The Story of the Night*, Routledge and Kegan Paul, London, 1961.

HOPPER, STANLEY R. : ed. *Spiritual Problem in Contemporary Literature*, Harper, New York, 1957.

HOUGH, GRAHAM : *An Essay on Criticism*, Duckworth, London, 1966.

HOWE, IRVING : *Modern literary Criticism*, Beacon Press, Boston, 1958.

HUNGERLAND, ISABEL : *Poetic Discourse*, University of California Press, Burkeley, 1958.

JARRET, JAMES L. : *The Quest for Beauty*, Prentice Hall, New York, 1957.

JUNG, C. G. : *Modern Man in Search of a Soul*, Tr. by W. S. Del and Cary F. Baznes, Routledge and Kegan Paul, London, 1962.

KANT, IMMANUEL : *Critique of Judgement*, Tr. by J. C. Meredith, Clarendon Press, 1911.

KRUTCH, JOSEPH WOOD : *Experience and Art*, Smith and Haas, New York, 1932.

LANGER, SUSANNE K. : *Feeling and Form*, Routledge and Kegan Paul, London, 1953.

: *Problems of Art*, Scribners, New York, 1957.

: ed. *Reflections on Art*, John Hopkins Press, Baltimore, 1958.

LANGFELD, HERBERT S. : *The Aesthetic Attitude*, Harcourt, Brace, New York, 1920.

LEAVIS, F.R. : *The Common Pursuit*, Chatto and Windus, London, 1952.

: 'Imagery and Movement', *Scrutiny*, Vol. XIII, No. 2, Sept., 1945.

: 'Thought and Emotional Quality', *Scrutiny*, Vol. XIII, No. 1, Spring, 1945.

LECHNER, ROBERT : *The Aesthetic Experience*, Chicago, 1953.

LEE, VERNON — *Beauty and Ugliness*, Lane, London 1911

LEPLEY, RAY — ed *Value A Comparative Inquiry*, Columbia University Press, 1949

LERNER, LAURENCE — *The Truest Poetry*, Hamish Hamilton, London, 1960

LESSING, G E — *Laokoon*, trans William A Steel, Everyman's Library, London, 1930

LIPPS, THEODOR — *Aesthetik*, Voss, Hamburg, 1903

LUKACS, GEORG — *Studies in European Realism*, Hillway, London, 1950

MACCALLUM, H R — *Imitation and Design*, University of Toronto Press, Toronto, 1953

MACLEISH, ARCHIBALD — *Poetry and Experience*, The Bodley Head, London, 1961

MALLARMIE, STEPHAN — *Selected Prose, Poems, Essays and Letters*, trans Bradford Cook, John Hopkins Press, Baltimore, 1956

MARITAIN, JACQUES — *Creative Intuition in Art and Poetry*, Meridian Books, New York, 1955

OGDEN, C K, RICHARDS, I A AND WOOD JAMES — *The Foundation of Aesthetics*, International Publishers, New York 1925

OGDEN, C K AND RICHARDS, I A — *The Meaning of Meaning*, Routledge and Kegan Paul, Tenth edition, 1953

OSBORNE, HAROLD — *Aesthetics and Criticism*, Routledge and Kegan Paul, London, 1955

PARKER, DEWITT H — *The Principles of Aesthetics*, Silver, Burdett, Boston, 1920

PATER, WALTER — *The Renaissance*, Macmillan, London, Fifth edition, 1894

PEYRE, HENRI — *Literature and Sincerity*, Yale University Press, 1963

PHILIPSON, MORRIS — *Aesthetics Today*, Meridian Books, New York, 1961

PREISTLEY, J B — 'The Nature of Drama', *Listener*, LVIII, 1957

RADER, MELVIN — ed *A Modern Book of Aesthetics*, Holt, Rinehart, Third enlarged edition New York, 1960

RANSOM, JOHN CROWE — *The New Criticism*, New Directions, New York, 1941

READ, HERBERT — *The True Voice of Feeling*, Faber and Faber, London, 1953

The Forms of Things Unknown, Faber and Faber, London, 1960

RICHARDS, I A — *The Principles of Literary Criticism*, Routledge and Kegan Paul, London, 1924

Practical Criticism, Routledge and Kegan Paul, London, 1929

Philosophy of Rhetoric, Oxford University Press 1936

RIVIERE, JACQUES : *The Ideal Reader*, trans. Blanch A. Price, Harvill Press, London, 1960.

SANTAYANA, GEORGE : *The Sense of Beauty*, Dover Publications, New York, 1955.

SARTRE, JEAN-PAUL : *What is Literature*, Methuen, London, 1950.

: *The Emotion—Outline of a Theory*, Philosophical Library, New York, 1948.

SPARSHOTT, F.E. : *The Structure of Aesthetics*, Routledge and Kegan Paul, London 1963.

STOLNITZ, JEROME K. *Aesthetics and Philosophy of Art Criticism*, Houghton Mifflin, Boston, 1960.

TOLSTOY, LEO : *What is Art*, Ed. and Trans. A. Maude, Oxford University Press, London, 1924.

VIVAS, ELISEO : *Creation and Discovery*, Noonday Press, New York, 1955.

VIVAS, E. & KRIEGER, M. : eds. *The Problems of Aesthetics*, Rinehart, New York, 1958.

WEITZ, MORRIS : *The Philosophy of the Arts*, Cambridge, Mass : Harvard University Press, 1955.

: *Problems in Aesthetics*, New York, 1959.

WELLEK, RENE & WARREN, AUSTIN : *Theory of Literature*, Harcourt, Brace (Harvest Books), New York, 1956.

WHALLEY, GEORGE : *Poetic Process*, Routledge and Kegan Paul, London 1953.

WHEELWRIGHT, PHILIP : *The Burning Fountain*, Bloomington, 1954.

WILLIAMS, RAYMOND : *Culture and Society (1780–1950)*, Chatto and Windus, London, 1958.

: *The Long Revolution*, Chatto and Windus, London, 1961.

WIMSATT, W.K., JR. : *The Verbal Icon*, Noonday Press, New York, 1958.

WIMSATT, W.K. & BROOKS, C. : *Literary Criticism : A Short History*, Alfred A. Knopf, New York, 1957.

WINTERS, YVOR : *Modern Poets*, Meridian Books, New York, 1959.

: *In Defence of Reason*, Routledge and Kegan Paul, London, 1962.

WOOLF, VIRGINIA : *Roger Fry*, Harcourt, Brace, New York, 1940.

: *The Moment and Other Essays*, Hogarth Press, London, Third ed., 1952.

WORRIGER, WILHELM : *Abstraction and Empathy*, Routledge and Kegan Paul, London, 1953.

WRIGHT, GEORGE T. : *The Poet in the Poem*, University of California Press, Berkeley, 1962.

Oriental and Comparative Aesthetics

AMES VAN METER — Aesthetic Values in the East and West *The Journal of Aesthetics and Art Criticism*, Fall 1960

BAHM ARCHIE J — Comparative Aesthetics *The Journal of Aesthetics and Art Criticism* Fall 1965
Munro s Oriental Aesthetics *The Journal of Aesthetics and Art Criticism* Summer 1966

BAKE A — Aesthetics of Indian Music *British Journal of Aesthetics* Jan 1964

BHATTACHARYA SIVAPRASAD — *Studies in Indian Poetics* Indian Studies Calcutta 1964

CHAITANYA KRISHNA — *Sanskrit Poetics* Asia Publishing House, Bombay 1965

CHAUDURY PRAVAS JIVAN — *Studies in Comparative Aesthetics* Visvabharati Santiniketan 1953
The Aesthetic Attitude in Indian Aesthetics Supplement to the Oriental issue of *The Journal of Aesthetics and Art Criticism* Fall 1965

COOMARSWAMY ANAND K — *The Transformation of Nature in Art* Dover Books New York 1956

DE S K — *Sanskrit Poetics as a Study of Aesthetics* Oxford University Press Bombay 1963

GNOLI RANIERO — *The Aesthetic Experience According to Abhinavagupta* Is M E O Roma 1956

GUPTA RAKESH — *Psychological Study of Rasa* Banaras Hindu University Press Banaras 1950

KANE P V — *History of Sanskrit Poetics* Third revised edition Motilal Banarsidas Varanasi 1961

LANCASTER CLAY — Keys to the Understanding of Indian and Chinese Painting *Journal of Aesthetics and Art Criticism* Dec 1952

MUNRO THOMAS — *Oriental Aesthetics* The Press of Western Reserve University Cleveland Ohio 1965

PANDEY K C — *Indian Aesthetics* Second revised edition Chowkhamba Sanskrit Series Office Varanasi 1959
Western Aesthetics Chowkhamba Varanasi 1955
Abhinavagupta An Historical and Philosophical Study Second revised edition Chowkhamba Varanasi 1963
A Birds Eye view of Indian Aesthetics *The Journal of Aesthetics and Art Criticism* Fall 1965

RAGHAVAN V — *Bhoja s Sringara Prakash* Punarvasu Madras 1963
The Number of Rasas Adyar Madras 1940

RAFFE W G — Ragas and Raginis A Key to Indian Aesthetics *The Journal of Aesthetics and Art Criticism* Dec 1952

RAWSON, PHILIP : 'The Methods of Indian Sculpture', *Asian Review*, New Series, Dec., 1964.

RAYAN, KRISHNA : 'Rasa and the Objective Correlative', *The British Journal of Aesthetics*, July, 1965.

SEN, RAMENDRA KUMAR : 'Imagination in Coleridge and Abhinavagupta'. *The Journal of Aesthetics and Art Criticism*, Fall, 1965.

Journals

Asian Review : The New Series 1, 3, Dec., 1964.

The Journal of Aesthetics and Art Criticism :
Vol. IX, No. 2, January, 1952
Vol. XI, No. 2, Dec., 1952.
Vol. XIII, No. 3, Dec., 1955.
Vol. IXX, No. 1, Dec., 1960.
Oriental Aesthetics, Special Issue · Fall, 1965
Dec., 1965
Vol. XXIV, No. 3, Dec., 1966,

British Journal of Aesthetics : Vol. IV, No. 1, Jan , 1964
Vol. V, Jan., 1965.

British Journal of Psychology : Vol. II, 1908
Vol. III, 1910
Vol. V, 1912

Diogenes : No. 1, 1953.

Essays in Criticism : Vol. V, 1955.

The Journal of the History of Ideas : Vol. XII, 1951.

Listener, LVIII, 1957.

New Republic : Nov., 1922.

Philosophy and Phenomenological Research :
Vol. VIII, No. 1, 1947.
Vol. XIII, 1953.

The Journal of Philosophy :
Vol. 35, 1938.
Vol. 41, 1944.

The Philosophical Review :
Vol. 54, 1945.
No. 3, 1949.
July, 1962.

Scrutiny : Vol. XIII, No. 1, Spring, 1945.
Vol. XIII, No. 2, Sept., 1945.

The Sewanee Review : Vol. LIV, Summer, 1946.
LXVIII, No. 1, 1959.

Southern Review : Vol. II, No. 3, 1942

लेखक-नामानुक्रम

अ

इ

उ

ए

ओ

क

ग

घ

ज

ट

फ

ब

भ

ल

व

श

स

ह

ग्रन्थ-नामानुक्रम

अ

इ

ई

ए

ओ

औ

क

ग

घ

च

छ

ट

फ

ब

भ

म

य

र

ल

को प्रकृति के अन्य प्राणियों से अलग करती है। इसलिए विज्ञान से यह पूछना अपरिहार्य है कि वह इस विषय में हमें क्या प्रकाश दे सकता है? लान्सलाट लॉ व्हाइट ने साहस के साथ इस प्रश्न का सामना करते हुए कहा है कि 'विज्ञान जब तक सृजन प्रक्रिया पर कुछ न कुछ प्रकाश नहीं डालता, तब तक ब्रह्माण्ड में मनुष्य के स्थान के बारे में हमारी जानकारी बहुत कम रहती है।'[1] वैज्ञानिक पद्धति से सृजन का अध्ययन करने के बारे में सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि सृजन का अर्थ ही है कुछ नवीन का प्रादुर्भाव, जबकि वैज्ञानिक पद्धति प्रत्येक प्रक्रिया में नैरंतर्य की धारणा स्वीकार करके अग्रसर होती है। स्पष्ट ही नैरंतर्य का अध्ययन करनेवाली पद्धति आकस्मिक नवीन उद्भावनाओं की व्याख्या करने में सफल नहीं हो सकती। वैज्ञानिक व्हाइट ने भी यह स्वीकार किया है कि सृजन प्रक्रिया की कुछ अवस्थाएँ अवचेतनगत होती हैं और सृजनात्मक कल्पना भविष्यदृष्टि और पूर्वकल्पना की अद्भुत क्षमता प्रदर्शित करती है। सृजनशील व्यक्ति प्रायः किसी ऐसे सार्वभौम प्रभाव की प्रक्रिया का यंत्र प्रतीत होता है जो उसके अपने अनुभव और व्यक्तित्व का सर्वथा अतिक्रमण करता है। सृजन प्रक्रिया एक अतिरिक्त जीवनी शक्ति को अभिव्यक्त करती है जो अज्ञात की खोज करती है और अंतर्निहित संभावनाओं को उपलब्ध करती है। इस रहस्यमयता को स्वीकार करते हुए भी वैज्ञानिक अनुसंधानों के आधार पर व्हाइट ने यह दिखलाने का प्रयास किया है कि कला-सृजन मनुष्य की व्यापक सृजन क्रिया से बहुत दूर तक सादृश्य रखता है। इसलिए उन्होंने व्यावहारिक और बुद्धिग्राह्य रूप देने के लिए 'सृजनात्मक' के स्थान पर 'निर्माणात्मक' (फॉर्मेटिव) शब्द का प्रयोग अधिक उपयोगी बतलाया है जिसके अन्तर्गत 'रूप' संघटन और अन्विति का समावेश होता है। निर्माण में भी सरलीकरण, संघनन और रूपायन की प्रवृत्ति होती है। यदि एक प्रकार की संश्लेषणात्मक प्रक्रिया है जो बोध के स्तर पर रचनात्मक अन्वेषण का रूप ग्रहण करती है तो निर्माण के स्तर पर भी सृजनात्मक संश्लेषण के रूप में व्यक्त होती है। इस प्रकार रोमांटिक कवियों ने अपने अनुभव के आधार पर सृजनात्मक कल्पना की जिन विशेषताओं का निरूपण किया था, उनकी पुष्टि वैज्ञानिक पद्धति से भी होती है।

वैज्ञानिकों के सृजन निरूपण की विशेषता यह है कि वे सृजन संबंधी संपूर्ण रहस्यात्मक प्रभामंडल को हटाकर उसे साधारण मानवीय सृजन शक्ति के रूप में समझाने का प्रयास करते हैं। प्राणिशास्त्र के प्रोफेसर जे० ज़ेड० यंग ने मानव इन्द्रियों और मस्तिष्क की अंतर्निहित सृजनशीलता का उद्घाटन करते हुए लिखा है कि 'एक अर्थ में जिसे हम संसार कहते हैं उसकी हम अक्षरशः सृष्टि करते हैं। ग्रहण करने योग्य बात यह है कि हम यह सीधे ढंग से नहीं कह सकते कि हमारे चारों ओर एक संसार है जिसके बारे में हमारी इन्द्रियाँ सच्ची सूचनाएँ देती हैं। संसार कैसा है यह बताने के प्रयास में हम सदैव यह स्मरण रखना चाहिए कि जो हम देखते हैं और जो हम कहते हैं वह इस बात पर निर्भर है कि हम क्या सीखते हैं। वस्तुतः हम स्वयं भी इस प्रक्रिया का अंग बन जाते हैं।'[2] अपनी

---

१ A Scientific View of the Creative Energy of Man (Eranos Jahrbuch Rhein—Verlag Zurich 1953)

२ डाउट एण्ड सर्टेन्टी इन साइंस : ए बायलोजिस्ट्स रिफ्लेक्शंस ऑन द ब्रेन (रेमंड विलियम्स द्वारा 'द लांग रिवल्यूशन' पृ० १७ पर उद्धृत)

संपूर्ण खोज का सारांश एक वाक्य मे रखते हुए यंग कहते है कि : "हममें से प्रे मस्तिष्क अपने संसार की स्वय ही अक्षरशः सृष्टि करता है।"

सामान्य सृजन के आधारभूत सिद्धान्त की स्थापना करने के बाद यंग ने सृजन कलाकार के कार्य का विवरण देते हुए कहा है कि : "सृजनशील कलाकार एक पर्यवेक्षक है, जिसका मस्तिष्क नए ढग से कार्य करता है। जो विषय पहले सप्रेषणीय नही थे, उनके बारे मे दूसरों को सूचना दे सकना, उसके लिए संभव होता है। संप्रेषण के साधनो के अन्वेषण के द्वारा ही हम अपनी पर्यवेक्षण शक्ति को तीक्ष्ण करते है। इस विषय मे वैज्ञानिक और कलाकार के अन्वेपण समान है।"

यग की इस स्थापना से आधुनिक युग के अनेक कवि और आलोचक प्रभावित दिखाई पडते है। कवि-आलोचक सी० डे लीविस ने यग की उपर्युक्त मान्यता का उद्धरण देते हुए यह निष्कर्ष निकाला है कि "अन्वेषण के विपय मे विज्ञान के समान होते हुए भी कवि-कर्म की विशिष्टता इस बात मे है कि कवि सप्रेषण के माध्यम से भाषा को परिमार्जित और समृद्ध करता है।"[१] दूसरी ओर रेमड विलियम्स, यंग के आधार पर यह स्थापित करते है कि : "कला-सृजन को विशिष्ट शक्ति मानने तथा कलाकार को विलक्षण प्रतिभा से युक्त समझ कर सपूर्ण सृजन-व्यापार को अद्वितीयता के रहस्यमय लोक मे ले जाने से हम विचार की दिशा मे कही भी पहुँचने मे असमर्थ रहेगे। इसलिए कला-सृजन को साधारण मानवीय सृजन-क्रिया के अंग-रूप मे ग्रहण करना ही श्रेयस्कर है।"[२]

सहजानुभूति और प्रतिभा

ज्ञातृत्व पक्ष से प्रतिभा की तुलना पाश्चात्य चिन्तन मे निरूपित 'सहजानुभूति' से की जा सकती है, जिसे हिन्दी मे कभी-कभी 'प्रातिभज्ञान' अथवा 'स्वप्रकाश ज्ञान' भी कहते है। सहजानुभूति को सृजनात्मक शक्ति माननेवालो मे **बर्गसॉं, क्रोचे** और **ज्याक मारितें** प्रमुख है। बुद्धि के विरोध मे सहजानुभूति के स्वरूप का निरूपण करते हुए बर्गसॉं ने कला को सहजानुभूति की अभिव्यक्ति माना है। उनके अनुसार, वास्तविकता को 'अद्वितीयता' और 'नवीनता' जैसे गुणो के साथ जानने की एकमात्र विधि यही है कि व्याव-हारिक प्रयास के तनाव को शिथिल कर दिया जाए; क्योकि व्यावहारिक प्रयास वास्त-विकता के अतिपरिचित स्तर को ही प्रस्तुत कर पाता है। उन्होने सहजानुभूति की प्रकृति को 'सहानुभूतिपरक' बतलाते हुए आगे यह भी कहा है कि सहानुभूति ही वह शक्ति है, जिसके द्वारा हम वास्तविकता मे प्रवेश करते है और इस प्रकार वास्तविकता की विविधता तथा विलक्षणता का अन्वेपण सभव हो पाता है। सहानुभूति एक प्रकार की 'प्रत्यक्ष अन्तर्दृष्टि' (डायरेक्ट विजन) है, जो सहजानुभूति का ही पर्याय है। बर्गसॉं के मत से यह 'प्रत्यक्ष अन्तर्दृष्टि' सामान्य व्यक्तियों की अपेक्षा कलाकार और साहित्यकार मे कही अधिक विकसित होती है।[3]

क्रोचे के सौन्दर्यशास्त्र मे कला सहजानुभूति का पर्याय है। क्रोचे की भाषा मे कहे

---

१ द पोएट्स वे ऑफ नॉलिज, पृ० ३

२ 'द क्रिएटिव माइण्ड' : द लांग रिवल्यूशन, पृ० ३७

3 हेनरी बर्गसॉं : 'लाफ्टर' (ए मॉडर्न बुक ऑफ़ एस्थेटिक्स में संकलित), पृ० ७७-७८

तो कला सहजानुभूति की अभिव्यंजना नहीं, बल्कि कला सहजानुभूति है और सहजानुभूति अभिव्यंजना है। एक सौन्दर्यशास्त्रीय समीकरण है, जिसमें कला, सहजानुभूति और अभिव्यंजना, तीनों पर्याय हैं। सहजानुभूति के स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए क्रोचे ने कहा है कि 'सहजानुभूति', अन्तर्दृष्टि', 'कल्पना', 'अनुचिन्तन', 'प्रतिरूपण' आदि सभी शब्द पर्याय हैं और ये मस्तिष्क के एक ही अवधारणात्मक क्षेत्र की ओर संकेत करते हैं। किन्तु बर्गसाँ की तरह क्रोचे की सहजानुभूति भी तार्किक ज्ञान अथवा बौद्धिक ज्ञान से सर्वथा भिन्न है। सहजानुभूति नितान्त तर्कातीत है। वह ऐन्द्रिय बोध तथा मानवीय क्रिया की अन्य अवस्थाओं से भी विलक्षण है। ऐन्द्रिय बोध से तो वह इसलिए भिन्न है कि ऐन्द्रिय बोध जहाँ निष्क्रिय होता है वहाँ सहजानुभूति सक्रिय होती है। कल्पना का स्थान ऐन्द्रिय बोध और सहजानुभूति के बीच में होता है। कल्पना अपूर्ण कला-रचना है, क्योंकि उसमें सच्ची सहजानुभूति की अन्विति का अभाव होता है। इस कल्पनाप्रवण अन्तर्दृष्टि को जो वस्तु अन्विति प्रदान करती है वह है—प्रगीतात्मक तत्त्व, जो 'अनुभूति' की व्यापृतमयी अभिव्यंजना है। अनुभूति संवेगमात्र नहीं है, वह अपेक्षाकृत ऐसी मनोदशा है जिसमें इच्छात्मक वृत्तियों का भी समावेश रहता है।

क्रोचे के अनुसार अद्वितीय को कल्पनाप्रवण रूप में ग्रहण करने के कारण कला सत्य असत्य, वास्तविक-अवास्तविक, उपयोगी अनुपयोगी शुभ अशुभ, सुखद-दुःखद आदि के विचार से परे होती है। सृजनात्मक अन्तर्दृष्टि की सिद्धि के अतिरिक्त कला में और किसी वस्तु की गणना नहीं होती। वह 'व्यंजकता' के अपने ही प्रतिमान से मापी जाती है जिसे दूसरे शब्दों में, सौन्दर्य भी कहते हैं। इस अर्थ में सहजानुभूति अभिव्यंजना का पर्याय है।[1]

विख्यात कैथोलिक सौन्दर्यशास्त्री ज्याक मारितें ने 'सृजनात्मक कल्पना' के स्थान पर सृजनात्मक सहजानुभूति' शब्द का ही प्रयोग किया है। यद्यपि मारितें की 'सृजनात्मक सहजानुभूति' भी अधिकांशतः 'सृजनात्मक कल्पना' की ही विशेषताओं से युक्त है, फिर भी एक विशेष धार्मिक विश्वास के आग्रह से उनकी सहजानुभूति कतिपय अन्य विशेषताओं पर भी बल देती है। उनके अनुसार "सृजनात्मक प्रतिभा न तो ज्ञानपरक है, न प्रतिरूपणपरक, वह केवल उत्पादक है। उसकी जटिल अन्विति में वस्तु संभवतः पहली बार, अपना वास्तविक अस्तित्व प्राप्त करती है।"[2]

काव्य प्रतिभा के मूल स्रोत पर प्रकाश डालते हुए उन्होंने आगे कहा है कि 'अपने सृजनात्मक रूप में वह संवेग से उत्पन्न होती है। उसका उत्स बुद्धि के चेतनापूर्ण जीवन के आदिम स्रोतों में है।"[3] ज्याक मारितें काव्य प्रतिभा को बौद्धिक व्यापार से इतना पृथक मानते हैं कि उनके विचार से "उसे न तो सीखा जा सकता है और न ही किसी अभ्यास या अनुशासन के द्वारा बेहतर ही किया जा सकता है, क्योंकि वह आत्मा की नैसर्गिक स्वतन्त्रता और कल्पनाप्रवण शक्तियों पर निर्भर है। कवि बाह्य बाधाओं को दूर करके ही

---

[1] 'द ब्रिवीअरी ऑफ एस्थेटिक्स' (ए मॉडर्न बुक ऑफ एस्थेटिक्स में मेल्विन रेडर द्वारा संकलित), पृ० ८८–९७

[2] क्रिएटिव इंट्यूशन इन आर्ट एण्ड पोएट्री, पृ० १००

[3] वही, पृ० १०१

उसके लिए अपने-आपको प्रस्तुत या सुलभ कर सकता है।"[1] जिस प्रकार धर्म के क्षेत्र में ईश्वर को प्राप्त करने के लिए मनुष्य को अपनी ओर से किसी प्रकार की सक्रियता दिखलाना व्यर्थ है; वल्कि पूर्णतः समर्पित होकर ही वह प्रभु के प्रसाद का अधिकारी होता है; उसी प्रकार कवि भी उस प्रक्रिया को 'जागरूक ग्रहणशीलता' (एलर्ट रिसेप्टिविटी) तथा 'अवधानयुक्त निष्क्रियता' (अटेण्टिव पेसिविटी) के द्वारा ही प्राप्त करता है।[2] ईसाइयत के पीड़ा-वोध के सिद्धान्त को काव्य-सृजन के क्षेत्र में लागू करते हुए ज्याक मारितें ने आगे यह भी कहा है कि : "कवि को इस संसार की वस्तुओं को पीड़ा के साथ झेलना पड़ता है और उन्हें वह इस सीमा तक झेलता है कि उन्हें तथा उनके साथ ही अपने-आपको भी वाणी देने में समर्थ हो जाता है।"[3] इस विचार-सूत्र की स्वाभाविक परिणति स्पष्ट ही अहं के विसर्जन मे होती है। ज्याक मारिते के अनुसार, सृजनात्मक सहजानुभूति अहं से भिन्न ही नहीं, वल्कि सर्वथा विरोधी है। इसलिए उन्होंने काव्य-सृजन को अहं-शून्य अनासक्त व्यापार माना है।[4]

कला-सृजन में सहजानुभूति के क्रिया-व्यापार पर किंचित् भिन्न ढंग से आयरिश उपन्यासकार और कला-चिन्तक ज्वाइस कैरी ने भी विचार किया है। उन्होने 'कला और वास्तविकता' नामक पुस्तक मे अपने तथा अन्य कलाकारों एवं कथाकारों के सृजन संवधी कुछ व्यावहारिक अनुभवों के आधार पर सहजानुभूति और अभिव्यंजना के बीच की व्यवधानगत प्रक्रिया की रूपरेखा स्पष्ट की है। संक्षेप में ज्वाइस कैरी के विचार इस प्रकार है :

कलाकार सदैव एक ऐसे अनुभव से सृजन आरंभ करता है, जो एक प्रकार का अन्वेषण होता है। इस अनुभव पर वह अन्वेपण के वोध के साथ आता है; वल्कि यह कहना अधिक संगत होगा कि वह अनुभव कलाकार के सम्मुख अन्वेषण के रूप में प्रकट होता है। कलाकार को वह चकित करता है। इसी को प्रायः सहजानुभूति या प्रेरणा कहा जाता है। इसके साथ सदैव प्रत्यक्षता की अनुभूति संलग्न रहती है। उदाहरण के लिए, आप मैदान में निकलें और आपको एक दृश्य का वोध हो और आपको वह असाधारण लगे और यह कि उसे ऐसा ही होना चाहिए। युवक मोने के साथ यही घटित हुआ था। उसने सहसा खेतो की ओर देखा और लगा कि ये घास से आच्छादित सपाट वस्तुएँ नही है और न उपयोगी पौदों और पेड़ों की राशि ही; मोने को इनके स्थान पर आश्चर्यजनक विविधता और सूक्ष्म भेदों से युक्त केवल रंग दिखाई पड़े। यह अत्यधिक उत्तेजक खोज थी, विशेपतः यह एक सत्य की खोज थी। यह कुछ ऐसा था जो स्वयं मोने से भी स्वतन्त्र था। उसने तथ्यात्मक संसार के वारे में एक सत्य की खोज की थी। यह खोज नितान्त नैसर्गिक और आदिम क्षमता है। वच्चों में यह क्षमता प्रायः दिखाई पड़ती है। कलाकार इस शिशु-सुलभ अन्वेपण-वृत्ति को अन्त तक जीवित रखता है। पिकासो ने जब कहा था

---

१ क्रिएटिव इण्ट्यूशन इन आर्ट एण्ड पोयट्री, पृ० १०२
२ वही, पृ० १०३
३ वही
४ वही, पृ० १०७

कि मुझे एक बच्चे का मस्तिष्क दो तो उनका संकेत उसी शिशु सुलभ सहजानुभूति की ओर था जिसकी आवश्यकता प्रत्येक कलाकार को जीवनपर्यन्त बनी रहती है। पिकासो ने बराबर जिस उर्वर मौलिकता नवनवोन्मेष और टटकेपन का परिचय दिया है, उससे पता चलता है कि उनके अन्दर वह आधारभूत शिशु-सुलभ अन्वेषण भावना बद्धमूल थी।

सहजानुभूति प्रत्यक्ष ज्ञान है संसार जैसा है और वस्तुएँ आपातत जैसी दिखाई पडती हैं उनका प्रत्यक्ष अभिज्ञान ही सहजानुभूति है। इसका आगमन सदैव रहस्योद्घाटन या आलोक के अवतरण के रूप मे होता है। यह सहजानुभूति का विशिष्ट लक्षण है कि वह बाहर से आती या उतरती हुई प्रतीत होती है। किन्तु इसके साथ कठिनाई यह है कि यह क्षणभगुर होती है। यदि इसे किसी सृजनात्मक रूप मे तुरन्त बद्ध न कर लिया गया तो थोडी ही देर म लुप्त भी हो जाती है। इसलिए क्रोचे की तरह सहजानुभूति को ही कला मानना सगत नही है। कला सृजन कृतित्व है और वह भी कष्टसाध्य कृतित्व। एक व्यवस्थित सौन्दर्यशास्त्रीय प्रणाली के निर्माण के लिए सहजानुभूति और अभिव्यजना को पर्याय मानना सुविधाजनक हो सकता है, किन्तु सृजनशील कलाकार अपने व्यावहारिक प्रयास म भली भाँति जानते हैं कि सहजानुभूति से अभिव्यजना तक के सक्रमण का मार्ग कितना श्रमसाध्य है। क्रोचे ने अपनी प्रणाली को सुसगत और सुथरा बनाने के लिए सहजानुभूति और अभिव्यजना के उस व्यवधान की उपेक्षा की जो प्रत्येक कलाकार के अनुभव की प्रत्यक्ष वस्तु है। वस्तुत सहजानुभूति ही नही वरन् स्वय अभिव्यजना भी निरन्तर अन्वेषण की वस्तु है और इस अन्वेषण की प्रक्रिया भी पर्याप्त दीर्घ और जटिल होती है। सहजानुभूति से अभिव्यजना तक का सक्रमण एक प्रकार का अनुवाद है। यह अनुवाद एक भाषा से दूसरी भाषा म नही बल्कि अस्तित्व की एक अवस्था से दूसरी अवस्था म ग्रहण से सृजन मे नितान्त ऐन्द्रिय प्रभाव म शुद्ध प्रतिफलन म अनुवाद है। प्रश्न सहजानुभूति को केवल शब्द देने का नही बल्कि उस सपूर्ण कलाकृति के रूप म उभारने का है जिसके अन्तर्गत रूपगत विन्यासगत सघटनगत तथा शिल्पगत सभी विशेषताए आ जाती हैं।

इस प्रक्रिया म पहली बाधा तो यही है कि कलाकार सहजानुभूति को जिन प्रतीको म रूपायित करता है वे अवधारणाओ के समान ही सहजानुभूति के शत्रु हैं। कलाकार ज्यो ही सहजानुभूति की अभिव्यजना किसी रूपात्मक भाषा म करता है वह अभिव्यजना स्वय कलाकार के लिए सहजानुभूति की सपूर्ण शक्ति को नष्ट कर देती है।

किन्तु इसके साथ ही यह सभव नही है कि सहजानुभूति के लिए पहले से ही शब्द और रूपगत विधान निश्चित कर लिए जाएँ। वस्तुत सृजन की प्रक्रिया मे शब्दो और रूपगत विधानो का भी निर्माण होता रहता है। महान कलाकार अपनी विषय वस्तु की सपूर्ण सभावनाओ की खोज करने से पहले उसकी अभिव्यजना के रूपो से सर्वथा अनभिज्ञ रहता है। अधिकाश ब्यौरे कृति की सृजन प्रक्रिया के दौरान निर्मित होते हैं। वस्तुत प्रत्येक कृति के सृजनात्मक विकास के अपने नियम होते हैं और वे कलाकार के अभिप्राय से स्वतन्त्र निरपेक्ष भाव से अपना कार्य करते हैं। सृजनात्मक सहजानुभूति का एक रूप यह भी है कि कलाकार इन वस्तुगत एव निरपेक्ष नियमो की गतिविधि को भाँप कर अपने

अभिप्रायों को सर्वथा उन नियमों की गति के हवाले कर देता है। मार्सेल प्रूस जब कहते कि 'स्वान' मेरे अभिप्राय के बावजूद ईर्ष्यादग्ध होकर उपहासास्पद हो उठता है तो उसका अर्थ यही है कि उपन्यास के विकास के आन्तरिक नियमों ने लेखक को अपने वश में कर लिया और बलात उससे वह लिखवा लिया, जो उसकी इच्छा के अनुकूल न था। स्पष्ट है कि मार्सेल प्रूस ने अपने सहज ज्ञान से अपनी कृति के निरपेक्ष नियम को पहचान लिया और यह उनकी सहजानुभूति का ही दूसरा आयाम है।[१]

भारतीय परंपरा के अनुसार कविगत प्रतिभा नैसर्गिक शक्ति है, जो प्राक्तन संस्कार के कारण सहजात होती है। कश्मीरी शैवागम ने तो यहाँ तक स्वीकार किया है कि : "यह सभी लोगों में सहज भाव से विद्यमान होती है।"[२] यदि यह सभी जीवों में दृष्टिगोचर नहीं होती तो इसलिए कि उनकी प्रतिभा पर अज्ञान का आवरण पड़ा रहता है। रत्न जिस प्रकार धूल से ढँका रहता है और धूल हटते ही अपने प्रकाश को तत्काल प्रकट कर देता है, उसी प्रकार प्रतिभा भी ऊपरी आवरण के हटते ही अपनी वास्तविक शक्ति को उद्भासित कर देती है।[3] अन्य जनों से कवि की यही विशेषता है कि वह अपनी प्रतिभा पर पड़े आवरण को हटाने में समर्थ हो जाता है।

अभिनवगुप्त से प्रेरित होकर हेमचन्द्र ने भी 'प्रतिभा' की इस विशेषता को एक अन्य उपमा से स्पष्ट करते हुए कहा है कि : जिस प्रकार प्रकाश-स्वभाव सूर्य के ऊपर आवरण रूप में मेघ आदि छा जाते हैं, उसी प्रकार प्रकाश-स्वभाव आत्मा के ऊपर अज्ञान के विभिन्न आवरण पड़ जाते हैं। उन आवरणों के क्षय अथवा उपशमन के पश्चात जो चैतन्य का प्रकाश उद्भासित हो उठता है, वही प्रतिभा है। आत्मा के प्रकाश का यह आविर्भाव स्वतः सहज भी हो सकता है एवं मंत्रादि के द्वारा भी। इस प्रकार सहजा और औपाधिकी दो प्रकार की प्रतिभाएँ होती हैं, जिनमें से हेमचन्द्र ने सहजा प्रतिभा को ही काव्योचित माना है।[४]

किन्तु सहजात होते हुए भी प्रतिभा साधारण शक्ति नही है। भारतीय परपरा मे प्रतिभा की असाधारणता पर बल देने के लिए उसे स्वय भगवान शंकर के तृतीय नेत्र से उपमित किया गया है। महिमभट्ट ने लिखा है कि : "वह (प्रतिभा) भगवान के तृतीय नेत्र के रूप में गाई गई है, जिससे वे तीनों कालों के पदार्थों का साक्षात् दर्शन करते है।"[५]

---

१ ज्वायस केरी : 'आर्ट एण्ड रिएलिटी' (ए मॉडर्न बुक ऑफ़ एस्थेटिक्स में मेल्विन रेडर द्वारा संकलित), पृ० १०४–११५

२ यन्मूलं शासनं तेन न रिक्तः कोऽपि जन्तुकः। न च तेन प्रतिभात्मना वस्तुना तिर्यक्प्रायोऽपि कश्चिज्जन्तुः स्वोचितव्यापारनैपुण्यान्यथानुपपत्त्या रिक्तः। तंत्रालोक, १३।८९

3 अभिनवगुप्त : एन हिस्टॉरिकल एण्ड फ़िलॉसफ़िकल स्टडी, पृ० ६९२

४ सावरणक्षयोपशममात्रात् सहजा। सवितुरिव प्रकाशस्वभावस्यात्मानोऽभ्रपटलमिव ज्ञानावरणीयाद्यावरणम्, तस्येदि तस्य क्षयेऽनुदितस्योपशमे च यः प्रकाशाविर्भावः, सा सहजा प्रतिभा। काव्यविवेक, पृ० ६

५ सा हि चक्षुर्भगवतस्तृतीयमिति गीयते।
येन साक्षात्करोत्येष भावांस्त्रैकाल्यवर्तिनः॥ व्यक्तिविवेक २।११८

तात्पर्य यह कि सामान्य जन जहाँ केवल दो नेत्रों से युक्त होते हैं, वहाँ कवि के इन दोनों के अतिरिक्त तृतीय नेत्र भी होता है, जिससे वह प्रत्यक्ष के अतिरिक्त परोक्ष पदार्थों का भी साक्षात्कार कर लेता है।

स्पष्ट है कि यह तृतीय नेत्र अभ्यास या व्युत्पत्ति से प्राप्य नहीं है। इसीलिए अभिनवगुप्त ने अपनी पूर्ववर्ती परंपरा का अनुसरण करते हुए ही बार-बार इस बात पर बल दिया है कि प्रातिभज्ञान 'शास्त्राचार्यानपेक्षी' तथा 'अनौपदेशिक' है।[1] इसीलिए अभिनवगुप्त ने इसे 'महाज्ञान' की संज्ञा दी है।[2]

प्रतिभा के अर्थ को स्पष्ट करते हुए अभिनवगुप्त की 'ईश्वर-प्रत्यभिज्ञा-विमर्शिनी' की टीका 'भास्करी' में भास्करकण्ठ ने लिखा है कि "प्रकाशित करने के कारण ही 'प्रतिभा' को प्रतिभा कहा जाता है। जब 'प्रतिभाति घट' कहा जाता है तो इसका अर्थ यह नहीं है कि घट का स्वकीय वपु प्रकाशित होता है, बल्कि प्रमाता का तद्विषयक संवेदन प्रकाशित होता है।" इस प्रकार भास्करकण्ठ ने प्रतिभा के विषय-निरपेक्ष विषयिपक्ष पर बल दिया है, जिसका तात्पर्य यह है कि प्रतिभा प्रमाता के संवित् का प्रकाश है—ऐसा प्रकाश जो अपने-आपको प्रकाशित करते हुए बाह्य पदार्थों को भी प्रकाशित करता है।[3]

प्रमातृधर्मा होने के कारण ही प्रतिभा का प्रकाश अक्रम होता है। सामान्य ज्ञान से प्रातिभज्ञान इसी अर्थ में विशिष्ट है कि ज्ञान की अन्य पद्धतियों में ज्ञान-प्रक्रिया के समस्त सोपान क्रमशः अवभासित होते हैं, जब कि प्रातिभज्ञान में क्रम परिलक्षित नहीं होता।[4] इसीलिए अभिनवगुप्त ने प्रातिभज्ञान को झटिति-प्रत्यय कहा है।[5] इस दृष्टि से प्रतिभा साक्षात अथवा प्रत्यक्ष ज्ञान है। जिस प्रकार पाश्चात्य चिन्तन में इन्ट्यूशन को 'डाइरेक्ट एंड इमिडिएट एप्रिहेंशन' अर्थात् 'साक्षात् एवं तात्कालिक अवबोध' कहा जाता है,[6] उसी प्रकार प्रतिभा भी विद्युत् प्रकाश के समान साक्षात् ज्ञान है।

प्रतिभा के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए आचार्यों ने प्रतिभा को प्रज्ञा कहा है। राजशेखर के अनुसार, बुद्धि तीन प्रकार की होती है—स्मृति, मति और प्रज्ञा। अतीत में अनुभूत विषयों को स्मरण रखनेवाली बुद्धि स्मृति है, वर्तमान विषयों का मनन करनेवाली बुद्धि का नाम मति है, और अनागत या भविष्यदर्शिनी बुद्धि का नाम प्रज्ञा है।[7] इस

---

[1] तन्त्रालोक, १३।८७

[2] वही

[3] 'प्रतिभाति घट' इति यद्यपि विषयोपश्लिष्टमेव प्रतिभानं भाति तथापि न तद्विषयस्य स्वकं वपुः, अपितु संवेदनमेव तत् तथा चकास्ति 'मां प्रतिभाति' इति प्रमातृलग्नत्वात्। तथा च वेद। भास्करी, जिल्द १, पृ० ३४८

[4] सा चैषा प्रतिभा तत्तत्पदार्थक्रमरूषिता।
अक्रमानन्त-चिद्रूपः प्रमाता स महेश्वरः। वही

[5] काव्यात्मकविषयावलोकने झटित्येव प्रतिभाति। अभिनवभारती, भाग २, पृ० २९८

[6] द डिक्शनरी ऑफ फिलॉसफी, स० डी० डी० रयूनस, पृ० १४६

[7] त्रिधा च सा, स्मृतिर्मतिः प्रज्ञेति। अतिक्रान्तस्यार्थस्य स्मर्त्री स्मृतिः। वर्तमानस्य मन्त्री मतिः। अनागतस्य प्रज्ञात्री प्रज्ञेति। काव्यमीमांसा, पृ० २४

प्रकार जो प्रज्ञा प्रतिभा के पर्याय रूप में प्रतिष्ठित है, वह एक प्रकार की दृष्टि—पर्यवेक्षण-शक्ति है। अनागत को देखने का अर्थ है, परोक्ष को भी देख सकने की क्षमता। राजशेखर के शब्दों में : "प्रतिभा शब्द-समूहों को, अर्थ के समुदाय को, अलंकारों एवं सुन्दर उक्तियों को तथा अन्यान्य काव्य-सामग्री को हृदय के भीतर प्रतिभासित करती है। जिसमें प्रतिभा नहीं है, उसके लिए प्रत्यक्ष दीखते हुए भी अनेक पदार्थ परोक्ष से मालूम होते हैं और प्रतिभा-संपन्न व्यक्ति के लिए अनेक अप्रत्यक्ष पदार्थ भी प्रत्यक्ष से प्रतीत होते हैं।"[१] इससे स्पष्ट है कि प्रतिभा प्रत्यक्षकल्प दृष्टि है। कवि को 'ऋषि' की संज्ञा से स्मरण करने का तात्पर्य संभवतः यही है कि ऋषि की भाँति कवि भी अप्रत्यक्ष, अनागत आदि जो सामान्यतः न दिखाई देनेवाले विषय हैं, उन्हें भी देख लेता है। देख ही नहीं लेता, बल्कि प्रत्यक्षवत् देखकर उन प्रत्यक्षवत् विषयों को अपनी वर्णन-शक्ति के द्वारा दूसरों को भी तद्रूप साक्षात्कार करा सकने में समर्थ होता है।

पर्यवेक्षण के अतिरिक्त प्रज्ञा का एक धर्म ज्ञान भी है। आचार्यों के अनुसार विकल्पात्मक एवं संकल्पात्मक—दो ज्ञान प्रकारों मे से संकल्पात्मक ज्ञान ही प्रतिभा का धर्म है। विकल्पात्मक ज्ञान बुद्धिगत होता है, जबकि संकल्पात्मक ज्ञान के अन्तर्गत विषयों का वह सूक्ष्म बोध आता है, जिसे कभी-कभी बुद्धि भी ग्रहण नहीं कर पाती। इसी को 'निर्विकल्प' ज्ञान भी कहा गया है। एक तरह से यह प्रातिभज्ञान अथवा 'इंट्यूटिव नॉलिज' है, जिसे कुछ विद्वान 'नॉन-डिसकरसिव नॉलिज' भी कहते है। विकल्पात्मक ज्ञान से निर्विकल्प प्रज्ञा का भेद स्पष्ट करते हुए हेमचन्द्र ने तीन आनुवंश्य छंद उद्धृत किए है,[२] जिन्हें कुछ विद्वान भट्टतोत-कृत मानते हैं :

उच्यते वस्तुनस्तावद् द्वैरूप्यमिह विद्यते।
तत्रैकमन्यसामान्यं यद विकल्पैकगोचरः॥
स एव सर्वशब्दानां विषयः परिकीर्तितः।
अतएवाभिधीयन्ते ध्यामलं बोधयन्त्यलम्॥
विशिष्टमस्य यद्रूपं तत्प्रत्यक्षस्य गोचरः।
स एव सत्कविगिरां गोचरः प्रतिभाभुवाम्॥

विकल्प-ज्ञान जहाँ 'सामान्य' का ज्ञान है, वहाँ 'निर्विकल्प' ज्ञान 'विशेष' वस्तु का, साथ ही वह शाब्द बोध का भी अतिक्रान्ता होता है।

कदाचित् इसी प्रज्ञा का कश्मीरी शैवाचार्यों ने 'प्रत्यभिज्ञा' नाम से भी वर्णन किया है। जब आनन्दवर्धन 'उस' अर्थ और उसकी 'व्यक्ति' के सामर्थ्य-योगी 'किसी' शब्द को महाकवियों के लिए यत्नपूर्वक 'प्रत्यभिज्ञेय' बतलाते है,[३] तो प्रत्यभिज्ञेय से उनका संकेत संभवतः उसी प्रत्यभिज्ञा की ओर है, जो अपनी क्षमता में कवि-प्रतिभा अथवा प्रज्ञा की

---

१ या शब्दग्राममर्थसार्थमलंकारतन्त्रमुक्तिमार्गमन्यदपि तथाविधमधिहृदयं प्रतिभासयति सा प्रतिभा। अप्रतिभस्य पदार्थसार्थः परोक्ष इव, प्रतिभावतः पुनरपश्यतोऽपि प्रत्यक्ष इव।
काव्यमीमांसा, पृ० २७

२ काव्यविवेक, पृ० ३८०

३ ध्वन्यालोक, १।८

समानता करती है। इस प्रत्यभिज्ञान की व्याख्या करते हुए अभिनवगुप्त ने प्रमाण-स्वरूप अपने गुरु उत्पलपाद का एक छन्द उद्धृत करने के बाद यह कहा है कि ज्ञात का भी विशेष रूप से अनुसंधानात्मक निरूपण यह प्रत्यभिज्ञान है न कि वही यह है केवल इतना ही।[१]

नव सृष्टि का कारण यह है कि स्पन्दपरक संवित होने के कारण प्रतिभा में सतत नया स्फुरण हुआ करता है। इसीलिए भट्टतोत ने प्रतिभा को 'नवनवोन्मेषशालिनी प्रज्ञा' कहा है।

किन्तु कवि प्रतिभा द्वारा निर्मित सृष्टि की अपूर्वता इस बात में भी है कि वह अलौकिक होती है। कवि सृष्टि का प्रतिरूप लौकिक जगत में यथावत कहीं सुलभ नहीं होता इसीलिए वह अपूर्व कहलाती है। किन्तु अलौकिक सृष्टि करनेवाली प्रतिभा सामान्य प्रतिभा से भिन्न विशेष प्रतिभा है। आनन्दवर्धन के शब्दों में

सरस्वती स्वादु तदर्थवस्तु निष्यन्दमाना महतां कवीनाम्।
अलोकसामान्यमभिव्यनक्ति परिस्फुरन्तं प्रतिभाविशेषम्।[२]

उस स्वादु अर्थ वस्तु को प्रवाहित करती हुई महाकवियों की सरस्वती अलौकिक परिस्फुरित होते हुए प्रतिभा विशेष को अभिव्यक्त करती है। इसलिए काव्य सृष्टि के संदर्भ में केवल प्रतिभा नहीं अपितु प्रतिभा विशेष का महत्त्व है।

प्रश्न यह है कि यह 'विशेष' क्या है? अभिनवगुप्त ने विशेष की व्याख्या करते हुए कहा है कि रसावेश के कारण उत्पन्न वैशद्ययुक्त सौन्दर्य रूप काव्य निर्माण की क्षमता ही प्रतिभा का विशेष है।[३] इस प्रकार महाकवियों की प्रतिभा का विशेष यह है कि उसमें रसावेश के लिए आवश्यक प्रज्ञा की निर्मलता होती है। सौन्दर्य की इसी प्रतीति का आविर्भाव महाकवि के काव्य में होता है। प्रज्ञा-नैर्मल्य के द्वारा प्रतीत होनेवाला यही सौन्दर्य काव्य का स्वरूप है।

प्रज्ञा के नैर्मल्य की व्याख्या करते हुए अभिनवगुप्त ने अन्यत्र कहा है कि देश-काल आदि के भेदों से मुक्त होकर लौकिक विषयों को साधारणीकृत रूप में ग्रहण करना ही प्रज्ञा का नैर्मल्य है।[४] प्रज्ञा के निर्मल होने पर कवि लौकिक विषयों का साधारणीकरण करने में समर्थ होता है। इस प्रकार प्रतिभा के योग से लौकिक वस्तुएँ कवि के अन्तर्जगत में विभाव बन जाती हैं और लौकिक अनुभव से उत्पन्न चित्तवृत्तियाँ भाव का रूप ग्रहण करती हैं। प्रतिभा द्वारा रूपान्तरित ये विभाव एवं भाव आदि काव्य-सृष्टि में समर्थ होते हैं। इस प्रकार यदि यह प्रश्न किया जाए कि लौकिक विषय काव्य के क्षेत्र में आते ही अलौकिक किस प्रकार हो जाते हैं तो इसका एकमात्र उत्तर है—प्रतिभा के कारण। प्रतिभा ही भाव को रस का रूप प्रदान करती है।

---

१ ज्ञातस्यापि विशेषतो निरूपणमनुसंधानात्मकमत्र प्रत्यभिज्ञानं न तु तदेवेदमित्येतावन्मात्रम्। ध्वन्यालोक पृ० ९७

२ ध्वन्यालोक, १।६ पृ० ९२

३ ध्वन्यालोक-लोचन पृ० ९४

४ अभिनवभारती भाग १ पृ० ३४५-४६

इस दृष्टि से शब्द-शक्ति के स्तर पर कवि की प्रतिभा का ही दूसरा नाम व्यंजना अथवा ध्वनि है। उल्लेखनीय है कि काव्य में ध्वनि को प्रतिष्ठित करनेवाले आचार्य आनन्दवर्धन ने प्रतिभा पर सबसे अधिक बल दिया है। इसके विपरीत ध्वनि-विरोधियों ने प्राय: काव्य में प्रतिभा के अतिरिक्त व्युत्पत्ति, अनुमान आदि अन्य बुद्धि-व्यापारों को अधिक महत्त्व दिया है। स्पष्ट ही, प्रतिभा की अवधारणा के बिना व्यंजना के अस्तित्व की प्रतिष्ठा असंभव है। अर्थ-ग्रहण की प्रक्रिया में लक्षणा तक का व्यापार तो सामान्यत: सर्वथा बुद्धि-ग्राह्य है और कभी उन व्यापारों को लेकर कोई विवाद भी नही हुआ। किन्तु ध्वनि तो लावण्य की भांति है, जिसका ग्रहण ही नहीं, बल्कि सृजन भी प्रतिभा के ही माध्यम से संभव हो सकता है। कवि की नियति-कृत नियमरहित एवं अनन्य परतंत्र इच्छा-शक्ति ही प्रतिभा के रूप में ऐसे काव्य की सृष्टि करती है, जिससे रस ध्वनित होता है।

इसीलिए कश्मीरी शैवाचार्यों की परंपरा में रस, ध्वनि, प्रतिभा प्राय: परस्पर संबद्ध एवं अन्योन्याश्रित 'समीकरण' के रूप में प्रयुक्त हुए है। जिस प्रकार क्रोचे का सौन्दर्यशास्त्र **आर्ट=इंट्यूशन=एक्सप्रेशन=ब्यूटी** के महान समीकरण की अविभाज्य नींव पर स्थित है, उसी प्रकार संस्कृत रस-सिद्धान्त **काव्य=प्रतिभा=ध्वनि=रस** के महान समीकरण पर प्रतिष्ठित है।

निष्कर्ष

सहजानुभूति संबंधी उपर्युक्त विवेचन के प्रकाश मे प्रतिभा के ज्ञातृत्व पक्ष पर विचार किया जाए तो दोनों मे कतिपय अदभुत समानताएँ दृष्टिगोचर होती है। जिस प्रकार सहजानुभूति इन्द्रिय सवेदन एव बुद्धि से परे है, उसी प्रकार प्रतिभा भी 'अतीन्द्रिय', 'निरीन्द्रिय' एवं 'बुद्धि-भिन्न' कही गई है। यदि सहजानुभूति 'प्रत्यक्ष अन्तर्दृष्टि' (डाइरेक्ट विजन) अथवा 'साक्षात ज्ञान' है तो प्रतिभा भी 'साक्षारात्मक मानस' के रूप में निरूपित की गई है। सहजानुभूति के समान ही प्रतिभा भी शास्त्र एवं आचार्य की सहायता से उपलब्ध की जानेवाली शक्ति नहीं है। प्रातिभज्ञान के बारे में यह स्पष्ट कहा गया है कि उसके लिए किसी प्रमाण की अपेक्षा नहीं है। अभिनवगुप्त ने प्रतिभा के विषय में कहा है कि उससे काव्यात्मक विषय सहसा त्वरित रूप में प्रकाशित हो जाते है, यहाँ तक कि उसमें किसी क्रम का आभास भी नही होता। यह बात पश्चिमी विचारको ने सहजानुभूति के विषय में कही है। प्रतिभा को अभिनवगुप्त ने 'स्वप्रकाशरूपा' कहा है। क्रोचे ने भी 'इंट्यूशन' का जो विवरण दिया है, उसके आधार पर उसके लिए कहीं-कहीं हिन्दी प्रति-शब्द 'स्वयंप्रकाश ज्ञान' अथवा 'स्वप्रकाश ज्ञान' प्रयुक्त हुआ है। इस प्रकार ज्ञान की दृष्टि से प्रतिभा और सहजानुभूति में पर्याप्त साम्य है।

प्रतिभा और कल्पना

भारतीय काव्यशास्त्र के अनुसार, प्रतिभा की सबसे बड़ी विशेषता है—नूतन सृजन की क्षमता। अभिनवगुप्त ने अपने गुरु भट्टतोत को उद्धृत करते हुए प्रतिभा को नवनवो-न्मेषशालिनी प्रज्ञा कहा है। इस धारणा के प्रति अभिनवगुप्त का आग्रह इतना प्रबल था कि इसे उन्होने थोड़े से शाब्दिक हेरफेर के साथ अनेक प्रसंगों में दुहराया है। एक स्थान

पर उन्होंने कहा है कि "प्रतिभा अपूर्व वस्तु निर्माणक्षमा प्रज्ञा है।"[1] पुनः अन्यत्र उन्होंने प्रतिभान को वर्णनीय वस्तुविषय का नूतन उल्लेख शालित्व कहा है।[2]

यह 'अपूर्वता' अथवा नूतनता क्या है, इसकी स्पष्ट व्याख्या शैव परम्परा के ही आचार्य कुन्तक ने अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में 'वक्रोक्तिजीवित' की वृत्ति में की है। उन्होंने 'नूतनोल्लेख लोकातिक्रान्तगोचर निर्मिति' की व्याख्या करते हुए कहा है कि नूतन का अर्थ है प्रथम अर्थात् जिसका वर्णन पहली बार किया जा रहा है। यह अपूर्व विशेषता है। इसमें कवि लोक को अतिक्रान्त करता है। वह ऐसे पदार्थ का निर्माण करता है, जो प्रसिद्ध व्यवहार को तिरस्कृत कर देता है। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि कवि कोई ऐसा पदार्थ उत्पन्न करता है, जो सर्वथा अविद्यमान हो। कथन का तात्पर्य इतना ही है कि वर्ण्यमान सत्ता तो पहले से ही होती है, किन्तु सत्ता मात्र से प्रतीत होनेवाले पदार्थ में भी कवि कुछ ऐसी विशेषता उत्पन्न कर देता है कि वे लौकिक पदार्थ भी अलौकिक प्रतीत होने लगते हैं और उनमें सहृदयों के हृदय को हरण करने योग्य अपूर्व रमणीयता उत्पन्न हो जाती है। इस प्रकार सत्ता मात्र से प्रतीत होनेवाले पदार्थ में कुछ अलौकिक शोभातिशय उत्पन्न करनेवाले सौन्दर्य-विशेष का कथन या आधान कर दिया जाता है, जिससे पदार्थ का लौकिक या 'वास्तविक' स्वरूप आच्छादित हो जाता है और उस स्वरूप के दब जाने से वर्णनीय पदार्थ का 'स्वाभाविक' सौन्दर्य प्रस्फुटित होने लगता है। इस प्रकार पदार्थों के लौकिक स्वरूप के दबने और अलौकिक स्वरूप के उद्भासित होने से हृदय को हरण करने में समर्थ नवीन सौन्दर्य प्रकट होता है। इस विशेष शक्ति के कारण कवि प्रजापति कहलाता है।[3]

वक्रोक्तिवादी कुन्तक ने भी 'अपूर्वता' और 'नवीनता' की व्याख्या करते हुए आगे चलकर उसी आनुवंश्य श्लोक[4] को उद्धृत किया है, जिसका उद्धरण आनन्दवर्धन ने 'ध्वन्यालोक' में दिया है। इससे स्पष्ट है कि भारतीय काव्यशास्त्र में यह धारणा व्यापक रूप से मान्य थी और इसके पीछे चिन्तन की दीर्घ आनुवंशिक परंपरा थी। कवि के सृजन की

---

१ प्रतिभा अपूर्ववस्तुनिर्माणक्षमा प्रज्ञा। ध्वन्यालोक लोचन, पृ० ९३

२ प्रतिभान वर्णनीयवस्तुविषयनूतनोल्लेखशालित्वम्। वही, पृ० ३४६

३ नूतनस्तत्प्रथमो योऽसावुल्लिख्यते इत्युल्लेखः, तत्कालसमुल्लिख्यमानोऽतिशयः तेन लोकातिक्रान्तः प्रसिद्धव्यापारातीतः कोऽपि सर्वातिशायी गोचरो विषयो यस्याः सा तथोक्तेति विग्रहः। तस्मान्निर्मितिस्तेन रूपेण विहितिरित्यर्थः। तदिदमत्र तात्पर्यम्। यत्र वर्ण्यमानस्वरूपाः पदार्थाः कविभिरभूताः सन्तः क्रियन्ते। केवलं सत्तामात्रेण परिस्फुरतां चैषां तथाविधः कोऽप्यतिशयः पुनराधीयते, येन कामपि सहृदयहृदयहारिणीं रमणीयतामधिरोप्यन्ते। तदेव सत्तामात्रेणैव परिस्फुरतः पदार्थस्य कोऽप्यलौकिकः शोभातिशयविधायी विच्छित्तिविशेषोऽभिधीयते येन नूतनच्छायामनोहारिणा वास्तवस्थितितिरोधानप्रवणेन निजावभासोद्भासिततत्स्वरूपेण तत्कालोल्लिखित इव वर्णनीयपदार्थपरिस्पन्दमहिमा प्रतिभासते, येन विधातृव्यपदेशपात्रतां प्रतिपद्यन्ते कवयः।

हिन्दी वक्रोक्तिजीवित, पृ० २०५-२०६

४ अपारे काव्यसंसारे कविरेव प्रजापतिः।
यथास्मै रोचते विश्वं तथेदं परिवर्तते॥

अग्निपुराण, अध्याय ३३८, ध्वन्यालोक, पृ० ५३०, वक्रोक्तिजीवित, पृ० ३०७

अपूर्वता पर विचार करते हुए जब संस्कृत आचार्य यह कहते हैं कि सत्ता के रूप में कवि किसी अभूतपूर्व अथवा सर्वथा नवीन पदार्थ की सृष्टि नहीं करता, तो इस कथन के मूल में एक स्पष्ट जीवन-दर्शन है, जिसके अनुसार सत्ता की दृष्टि से सभी पदार्थ अनादि और अनन्त हैं। इसलिए मनुष्य किसी नए पदार्थ को उत्पन्न कर सकने में समर्थ नहीं है। कुछ पदार्थ अज्ञात हो सकते हैं और कुछ अप्रकट अथवा अव्यक्त भी, किन्तु केवल इन्हीं कारणों से उन्हें अविद्यमान नहीं कहा जा सकता। इस प्रकार कोई भी ऐसी वस्तु उत्पन्न नहीं की जा सकती, जिसका अस्तित्व पहले से न हो। इस जीवन-दर्शन से भारतीय काव्यशास्त्र भी अप्रभावित न था। कवि की नूतन सृष्टि के विषय में संस्कृत काव्यशास्त्र के सभी संप्रदाय इस आधारभूत सिद्धान्त को मानकर चलते थे।

किन्तु इतना होते हुए भी विद्यमान पदार्थ में नवोन्मेष-आधान के संबंध में संभवतः सभी काव्यशास्त्री एकमत न थे। उदाहरणार्थ, कुन्तक ने ही उक्त प्रसंग में एक आनुवंश्य छन्द[1] का उल्लेख किया है, जिसमें दो प्रकार की नवीन काव्य-सृष्टियों का वर्णन है : एक तो वह कवि होता है, जो वस्तुओं के भीतर निहित सूक्ष्म और सुभग तत्त्व को अपनी वाणी द्वारा बाहर निकालता है; और दूसरा कवि वह होता है, जो वाणी मात्र से इस मनोहर जगत का बाहर निर्माण करता है। कहना न होगा कि दोनों प्रकार की नवीन काव्य-सृष्टियों मे पर्याप्त अन्तर है। नवीनता का एक रूप है—वस्तुओं में निहित सूक्ष्म और सुभग तत्त्व को बाहर निकालना तो दूसरा रूप है—वाणी के द्वारा एक मनोहर जगत का निर्माण करना। इस प्रकार से प्रथम प्रवृत्ति को कुन्तक की वक्रोक्ति के निकट कह सकते हैं तो दूसरी प्रवृत्ति अलंकारवादियों के समीप प्रतीत होती है।

सभवतः रस-सिद्धान्त की 'नवीनता' अथवा 'अपूर्वता'-विषयक धारणा इन दोनों से किंचित भिन्न थी। विद्यमान पदार्थ में कवि जो विशेषण उत्पन्न करता है, वह कुन्तक द्वारा निरूपित केवल 'रमणीयता' नही, अपितु उससे कुछ अधिक भी है, जिसे अभिनवगुप्त 'रसावेशवैशद्य'[2] कहते है। अभिनवगुप्त ने इस रसावेश और वैशद्य की व्याख्या शैवागम के स्पन्दशास्त्र के आधार पर करते हुए अपूर्वता एवं नूतनता की अपेक्षाकृत अधिक सन्तोष-प्रद व्याख्या प्रस्तुत की है।

पाश्चात्य काव्य-चिन्तन में काव्य की सृजन-शक्ति के रूप मे कल्पना की प्रतिष्ठा है, जिसका प्रमुख श्रेय रोमाण्टिक कवियों और विचारकों को है। कल्पना संबंधी समस्त चिन्तन-परंपरा का समाहार करते हुए आइ० ए० रिचर्ड्स ने कल्पना की निम्नलिखित छः विशेषताओं का उल्लेख किया है :[3]

१. स्पष्ट बिम्ब-सृजन;

२. आलंकारिक भाषा—मुख्यतः 'रूपक' का प्रयोग;

---

[1] लीनं वस्तुनि येन सूक्ष्मसुभगं तत्त्वं गिरा कृष्यते।
निर्मातुं प्रभवेन्मनोरममिदं वाचैव यो वा बहिः। हिन्दी वक्रोक्तिजीवित, पृ० ३०६

[2] तस्य 'विशेषो' रसावेशवैशद्यसौन्दर्यं काव्यनिर्माणक्षमत्वम्। ध्वन्यालोक-लोचन, पृ० ९४

[3] प्रिंसिपल्ज ऑफ़ लिटररी क्रिटिसिज्म, पृ० २३९–४२

३ नवोन्मेष अथवा नूतन आविष्कार

४ दूसरों की मानसिक स्थितियों का सहानुभूतिपूर्ण पुनस्सृजन,

५ असंबद्ध समझी जाने वाली वस्तुओं का सतर्गत संयोजन,

६ परस्पर विरोधी गुणों का समंजन या सन्तुलन।

उपर्युक्त विशेषताओं में अन्तिम को रिचर्ड्स ने सबसे महत्त्वपूर्ण माना है। इस अन्तिम विशेषता का विस्तृत विवेचन पहली बार कोलरिज ने किया था इसलिए रिचर्ड्स इस विषय में एक प्रकार से कोलरिज के ही भाष्यकार हैं किन्तु एक मौलिक भाष्यकार के नाते उन्होंने कोलरिज के कल्पना संबंधी व्यापक विवेचन में से अपनी रुचि एवं प्रयोजन के अनुरूप केवल विरोधों के समंजन एवं संतुलन को ही विशेष विचार के लिए चुना। स्थिति यह है कि कोलरिज ने विरोधों के समंजन एवं सन्तुलन के अतिरिक्त भी कल्पना की विशेषताओं का निरूपण किया है और उनकी दृष्टि में वे अन्य विशेषताएँ कम महत्त्वपूर्ण अथवा उपेक्षणीय नहीं हैं। कोलरिज ने कल्पना के दो भेद माने हैं प्रथम कल्पना और द्वितीय कल्पना। इन दोनों कल्पनाओं में से प्रत्येक के स्वरूप तथा उनके पारस्परिक संबंध पर विचार करते हुए उन्होंने लिखा है प्रथम कल्पना मेरी दृष्टि में, सम्पूर्ण मानवीय पर्यवेक्षण की जीवंत शक्ति और प्रमुख कर्तृत्व शक्ति है वह ससीम मस्तिष्क में असीम 'मैं हूँ' के रूप में सृजन की चिरन्तन क्रिया की पुनरावृत्ति है। द्वितीय कल्पना मेरे विचार में प्रथम की प्रतिध्वनि है वह चेतन इच्छा शक्ति के साथ सह स्थित होते हुए भी कर्तृत्व के विषय में प्रथम की सजातीय तथा समानधर्मा है और प्रथम से यदि वह भिन्न है तो केवल मात्रा में या फिर क्रियाशीलता की विधि में। पुनः सृष्टि करने के लिए वह विलीन होती है विकीर्ण होती है और क्षीण होती है। जहाँ यह प्रक्रिया असंभव हो जाती है वहाँ वह संयोजन और आदर्शीकरण के लिए संघर्ष करती है। यदि सभी वस्तुएँ स्थिर और जड़ हों तो भी वह कल्पना तत्त्वतः जीवन्त होती है।[१]

उपर्युक्त उद्धरण से स्पष्ट है कि कल्पना के दोनों रूपों में कोलरिज द्वितीय कल्पना को अधिक महत्त्वपूर्ण मानते थे। द्वितीय कल्पना के विषय में आगे विचार करते हुए उन्होंने लिखा है कि "इस समन्वय और जादुई शक्ति के लिए ही मैंने कल्पना शब्द का प्रयोग किया है। इसका धर्म है विरोधी या असंबद्ध गुणों का एक-दूसरे के साथ सन्तुलन अथवा समन्वय करना अर्थात् एकरूपता का अनेकरूपता के साथ साधारण का विशेष के साथ भाव का चित्र के साथ व्यष्टि का समष्टि के साथ नवीन का प्राचीन के साथ

---

[१] The primary Imagination I hold to be the living power and prime Agent of all human Perception and as a repetition in the finite mind of the eternal act of creation in the infinite I AM. The Secondary Imagination I consider as an echo of the former co-existing with the Conscious Will yet still as identical with the primary in Kind of its agency ...

It dis...

...rocess is

... and to

... essenti...

असाधारण भावावेश का असीम संयम अथवा अनुक्रम के साथ अथवा चिरजाग्रत विवेक एवं स्वस्थ आत्मसंयम का दुर्दम तथा गम्भीर भावुकता के साथ।······इसी के बल पर कवि अनेकता में एकता ढूंढ निकालता है और विभिन्न विचारों एवं भावों को एक विशेष विचार अथवा भाव में अन्वित कर देता है।"[१]

इस प्रकार कोलरिज की 'द्वितीय कल्पना' ही वस्तुतः 'कल्पना' है, जो वस्तु-सृष्टि-विधायिनी शक्ति है जो संयोजन, संघटन और समन्वय के द्वारा नवीन सृष्टि का विधान करती है। वह जिन विरोधी तत्त्वों में सन्तुलन तथा जिन विसंवादी गुणों में सामजस्य स्थापित करती है, वे संक्षेप में इस प्रकार है: सामान्य और विशेष; जाति और व्यक्ति; भाव और बिम्ब; परिचित और अपरिचित; प्राचीन और नवीन; संवेग और संयम; आवेग और विवेक; नैसर्गिक और कृत्रिम।

विमसाट ने कोलरिज के कल्पना-विषयक विचारों का समाहार करते हुए कहा है कि: "उन्होने कल्पना के सदर्भ मे 'अन्विति', 'अमूर्तन', 'संशोधन', 'एकत्रीकरण', 'उद्बोधन', 'संयोजन' जैसे शब्दों से सम्बद्ध क्रियाओ का प्रयोग किया है। इन क्रियाओं से पता चलता है कि काव्य-सृजन के व्यापार में कल्पना नितान्त भिन्न, परस्पर असम्बद्ध, यहाँ तक कि विरोधी वस्तुओ एवं तत्त्वो को भी एक बिम्ब या रूपक में संयोजित करने की भूमिका करती है। इन कवियों के कल्पना संबंधी विचारों का समाहार करते हुए कहा जा सकता है कि कल्पना प्राथमिक सृजन-व्यापार है; वह चेतना की संकल्पबद्ध क्रिया है; वह आत्म-सजगता है; वह आत्मोपलब्धिकारी प्रातिभज्ञान है; वह प्रकारान्तर से हमारी चेतना के असंपृक्त अंशों, बाह्य अचेतना और अन्तश्चेतना, विषय और विषयी को संपृक्त और संयुक्त करती है।[२]

निष्कर्ष

तुलनात्मक सौन्दर्यशास्त्र के क्षेत्र मे कार्य करनेवाले आधुनिक विचारकों ने कोलरिज के कल्पना संबंधी विचारो को अभिनवगुप्त की प्रतिभा-विषयक मान्यता से तुलनीय माना है। इस प्रसंग मे श्री रमेन्द्रकुमार सेन ने लिखा है कि: "कोलरिज की द्वितीय कल्पना के विश्लेपण मे जो कलात्मक सृजनशीलता संबंधी स्वतन्त्रता निहित है, उस पर अभिनवगुप्त की प्रतिभा सबधी मान्यता में भी बल दिया गया है। अभिनवगुप्त ने 'कल्पना' मे जिस ईश्वर

---

[१] That sympathetic and magical power, to which we have exclusively appropriated the name of Imagination......reveals itself in the balance or reconciliation of opposite or disordant qualities of sameness, with difference; of the general, with the concrete; the idea, with the image; the individual, with the representative; the sense of novelty and of freshness, with the old and familiar objects, a more than usual state of emotion, with more than usual order; judgment ever awake and steady self possession, with enthusiasm and feeling profound or vehement; and while it blends and harmonizes the natural and the artificial......" *Biographia Literaria*, Chap. XIV, II, 12.

[२] लिटररी क्रिटिसिज्म: ए शॉर्ट हिस्ट्री, पृ० ३६२

सदृश सृजनशीलता का गुण निक्षिप्त किया है और इसके मूल में जो भिन्न दार्शनिक दृष्टिकोण है, उसकी ओर अवश्य ध्यान दिया गया होगा।"[१]

श्री सेन ने कल्पना संबंधी पाश्चात्य और भारतीय दृष्टि में अन्तर का कारण दार्शनिक माना है। उनके मतानुसार "कॉलरिज ईसाई आस्था से प्रेरित होकर ही द्वितीय कल्पना को प्रथम कल्पना की प्रतिध्वनि कहते हैं। द्वितीय कल्पना का अवतरण प्रथम से होता है और वह प्रतिध्वनिरूपा है। प्रथम कल्पना द्वितीय कल्पना की भूमि पर जो क्रिया सम्पन्न करती है उसके लिए अंग्रेजी का पारिभाषिक शब्द 'ऑपरेशन' है। क्योंकि पतनशील प्रकृति की मुक्ति 'ऑपरेशन' से ही सम्भव है, अतः कॉलरिज विस्तार से उनकी चर्चा करते हैं। भारतीय दर्शन और शैवमत मनुष्य के पतन में विश्वास नहीं करते, इसलिए प्रत्यभिज्ञा तथा भारतीय दर्शन के अन्य सम्प्रदायों में पूर्णतम सिद्धि के स्तर तक सीमित आत्मा के उत्थान का निषेध नहीं है।"[२]

श्री सेन ने कॉलरिज और अभिनवगुप्त के जिस दार्शनिक अन्तर को रेखांकित किया है उससे कल्पना विषयक पाश्चात्य एवं प्राच्य सन्दर्भ की भिन्नता पर तो प्रकाश पड़ता है किन्तु उससे काव्यात्मक भेद स्पष्ट नहीं होता। इस भिन्नता पर आचार्य शुक्ल ने सम्भवतः अधिक संतोषप्रद विचार व्यक्त किया है। उन्होंने लिखा है कि "'कल्पना और व्यक्तित्व की पाश्चात्य समीक्षा-क्षेत्र में इतनी मुनादी हुई कि काव्य के और सब पक्षों से दृष्टि हट कर इन्हीं दो पर जा जमी। 'कल्पना' काव्य का बोध-पक्ष है। 'कल्पना' में आई हुई रूप-व्यापार-योजना का कवि या श्रोता को अन्तःसाक्षात्कार या बोध होता है। पर इस बोध-पक्ष के अतिरिक्त काव्य का भावपक्ष भी है। कल्पना को रूप योजना के लिए प्रेरित करने वाले और कल्पना में आई हुई वस्तुओं में श्रोता या पाठक को रमाने वाले रति, करुणा, क्रोध, उत्साह, आश्चर्य इत्यादि भाव या मनोविकार होते हैं। इसी से भारतीय दृष्टि ने भाव-पक्ष को प्रधानता दी और रस के सिद्धान्त की प्रतिष्ठा की। पर पश्चिम में 'कल्पना'-'कल्पना' की पुकार के सामने धीरे-धीरे समीक्षकों का ध्यान भाव-पक्ष से हट गया और बोध-पक्ष ही पर भिड़ गया।"[३]

---

१ The freedom of artistic Creativity implied in Coleridge's analysis of Secondary Imagination has been emphasized in Abhinavagupta's view of Pratibha It must have been noticed how Abhinavagupta attributes to Imagination a Godlike Creativity, and all because of a very different philosophical attitude to the problem

'Imagination in Coleridge and Abhinavagupta' *The Journal of Aesthetics and Art Criticism*, *Vol XXIV*, *No* 1, *Part* 1, Fall 1965

२ The difference between the Western and the Indian attitudes towards Imagination must be emphasized at this stage Coleridge is thoroughly Christian in holding Secondary Imagination to be "an echo of the former" Just because it is an echo and of a derivative character, Coleridge discusses at length its "operations" fallen nature can only be saved by operations Indian Philosophy and Kashmir Saivism do not believe in the fallen nature of man, and as such, the passage from the limited Self to its fullest realization is not ruled out by the Pratyabhijna and other systems of Indian Philosophy *Ibid*, p 105

३ 'साधारणीकरण और व्यक्ति-वैचित्र्यवाद', चिंतामणि, पहला भाग, पृ० २३६

तात्पर्य यह है कि रस-सिद्धान्त में निरूपित प्रतिभा ऐसी कल्पना है, जिसमें भाव-पक्ष की प्रधानता है; जबकि पाश्चात्य चिन्तन की 'कल्पना' में बोधपक्ष प्रधान माना गया है।

इसके अतिरिक्त पश्चिम मे कल्पना जिस नूतन-सृष्टि-विधायिनी शक्ति के रूप में निरूपित की गई है, वह भारतीय प्रतिभा की अपूर्व सृष्टि की तुलना में नवीनता के प्रति अधिक आग्रहशील है। 'कल्पना' और प्रतिभा का यह अन्तर वस्तुतः आधुनिक रोमाण्टिक और प्राचीन क्लासिकी दृष्टि का है। एक नवोन्मेष संबंधी सीमा के अतिरिक्त संस्कृत काव्यशास्त्रगत 'प्रतिभा' पाश्चात्य 'कल्पना' से अधिक व्यापक अवधारणा है, क्योंकि उसमें कल्पना के साथ ही सहजानुभूति का भी समावेश हो जाता है; यही नहीं बल्कि एक ओर वह बोधपक्ष के साथ भावपक्ष का समाहार करती है तो दूसरी ओर बिम्ब-निर्माण, भाषा का आलंकारिक प्रयोग, आत्मेतर व्यक्तियों की मनःस्थितियो का सहानुभूतिपूर्ण चित्रण, असंबद्ध समझी जानेवाली वस्तुओं का संयोजन, परस्पर विरोधी तत्त्वों का समंजन आदि कार्यों को भी सम्पन्न करने में समर्थ है।

१४

सृजन-प्रक्रिया और कवि-कर्तृत्व

काव्य एक विशेष प्रकार की सृजन प्रक्रिया का परिणाम है, जिस पर पाश्चात्य काव्यशास्त्र में विस्तार से विचार किया गया है। सृजन प्रक्रिया की प्रमुख समस्याएँ दो हैं एक तो यह कि काव्य-सृजन सजग चित्त की अचेत क्रिया है अथवा सचेत ? दूसरी यह कि काव्य-सृजन में कवि के कर्तृत्व की सीमा क्या है ? जहाँ तक काव्य-सृजन के सचेत या अचेत होने का प्रश्न है उसके विषय में संस्कृत काव्यशास्त्र में स्पष्ट रूप से कुछ नहीं कहा गया है। आदिकवि वाल्मीकि के प्रथम उद्गार 'मा निषाद प्रतिष्ठा त्वमगम' संबंधी जो कथा वाल्मीकि रामायण में दी गई है उससे यह अवश्य ज्ञात होता है कि काव्य-सृजन प्राय कवि के अनजाने ही आकस्मिक रूप में हो जाता है, क्योंकि उस छन्द के स्फोट के विषय में वाल्मीकि ने पहले से कुछ नहीं सोचा था। यहाँ तक कि अपनी वाणी से उस छन्द के प्रवृत्त होने पर आदिकवि अत्यन्त विस्मित हुए थे। यदि 'वाल्मीकि रामायण' के इस कथन को प्रमाण माना जाय तो भारतीय परंपरा में भी काव्य सृजन अचेत क्रिया के रूप में ग्राह्य था। भारतीय काव्यशास्त्र में इस प्रश्न पर इससे अधिक सूचना प्राप्त नहीं होती।

सृजन प्रक्रिया

सृजन प्रक्रिया के विषय में पश्चिम के प्राय सभी आधुनिक कलाकारों ने अपने अपने अनुभवों का उल्लेख किया है और उनके आधार पर कला समीक्षकों ने बहुत-सी अद्भुत धारणाएँ प्रचलित कर रखी हैं, किन्तु सतर्कता के लिए यहाँ यह संकेत करना आवश्यक है कि कलाकारों के प्रमाण सदैव विश्वसनीय नहीं होते। सामान्य पाठक वैसे भी कला-सृजन को अत्यन्त रहस्यमय व्यापार समझता है और पाठक की इस अबोधता से लाभ उठाते हुए अनेक कलाकार उस और भी रहस्यमय रूप देकर उनके विस्मय और कुतूहल को प्रगाढ़ करते हैं। इसके अतिरिक्त, अनेक कलाकार अपने वास्तविक अनुभव के तथ्यों का उल्लेख न करके प्राय प्रचलित एवं प्रभावशाली कलाशास्त्रीय मान्यताओं के अनुसार सृजन प्रक्रिया का विवरण दे डालते हैं। जो कलाकार अपनी समकालीन मान्यताओं से आतंकित नहीं होते, वे भी प्राय सृजन प्रक्रिया संबंधी ऐसे तथ्यों का उल्लेख करते हैं, जो या तो नितान्त अस्पष्ट एवं उलझनपूर्ण होते हैं या फिर कला की दृष्टि से निरर्थक और नगण्य। इस सतर्कता के साथ यदि स्वयं कलाकारों द्वारा प्रस्तुत सृजन प्रक्रिया संबंधी तथ्यों का उपयोग किया जाए तो तत्संबंधी विवेचन कम भ्रामक और सदोष हो सकता है।

सृजन की अचेतनता

कला-सृजन के संबंध में सबसे अधिक विवादास्पद प्रश्न यह है कि सृजन-व्यापार सचेत होता है अथवा अचेत ? अधिकांश कलाकारों के विवरण अचेतनता पर बल देते हैं।

नीत्शे के अनुसार : "कलाकार किसी उच्चतर शक्ति का माध्यम या प्रवक्ता-मात्र है'''वह सुनता भर है, स्वयं शोध नही करता; वह केवल ग्रहण करता है, यह नही पूछता कि कौन देता है; विचार विद्युत के समान कौंध जाता है और एक आवश्यकता की भाँति प्रतीत होता है''''''चुनाव की स्वतंत्रता मेरे लिए कभी रही ही नही।"[1] इसी प्रकार गेटे की यह आत्मस्वीकृति कि : "गीतो ने मुझे बनाया है, इन्हे मैंने नही; गीतों ने मुझे अपने वश में रखा है।"[2] थैकरे के शब्दों में : "ऐसा प्रतीत होता है कि कोई रहस्यमयी शक्ति मेरी लेखनी चला रही है।"[3] थॉमस वुल्फ का कहना है कि : "मैं सचमुच यह नही कह सकता कि पुस्तक लिखी गई। वह कुछ ऐसा था, जिसने मुझे अपने वश मे कर लिया और जो चाहा मुझसे करवा लिया।"[4] एमी लावेल का अपना अनुभव यह है कि : "कोई शक्ति उनके अवचेतन में विषय को ऐसे डाल जाती है, जैसे पत्र-पेटी में कोई चुपके से पत्र डाल जाएँ।"[5] उन्ही का यह भी कहना है कि एक बार तो वह विषय लगभग छः महीने के बाद पुनः प्रकट हुआ।

एमी लावेल के अनुभव से अचेतनता के अतिरिक्त एक और तथ्य सामने आता है कि कलाकार के चित्त में 'अनुभव कोप' होता है, जहाँ धीरे-धीरे अनुभव-राशि संचित होती रहती है और उसमे कभी एक और कभी दूसरा अनुभव सहसा पुनरुज्जीवत हो जाता है। कोलरिज की सृजन-प्रक्रिया पर, विशाल शोधपूर्ण ग्रंथ 'द रोड टू जनाडू' मे जॉन लिविंगस्टन लावेस ने 'कूप-संचय' (स्टोरिंग ऑफ द वेल) का उल्लेख किया है। एक अन्य विचारक ने 'संग्रह-घट' (जार ऑफ प्रिजर्व) नाम से उस तथ्य की पुष्टि की है। यह 'अनुभव-कोप' सामान्य मानव मन के 'आलय-विज्ञान' से कोई भिन्न वस्तु है अथवा उसी का कोई विशिष्ट रूप है, इसके विषय में अभी विशेष अनुसंधान नहीं हुआ है।

किन्तु जहाँ तक कला-सृजन की अचेतनता का प्रश्न है, उसके विषय में क्रमशः यह स्पष्ट होता जा रहा है कि सृजन-व्यापार जितना अचेतन कहा जाता है, वस्तुतः उतना अचेतन है नहीं। जैसा कि जेरोम स्तोलनित्ज ने कला की परिभाषा करते हुए कहा है कि : "कला एक निश्चित प्रयोजन की उपलब्धि के लिए माध्यम का सचेत एवं कुशल अनुरूपण है।"[6] इसलिए कलाकृति वस्तुतः एक सचेत प्रयास है; यदि कलाकृति प्रकृति-मात्र नही, बल्कि मानव-कृति है तो उसमे मनुष्य-कृत कौशल का योग स्वतः सिद्ध है और कौशल पर्याप्त सिद्धि के बाद सहज एवं अनायास भले ही प्रतीत हो, किन्तु उसके मूल में परंपरा-प्राप्त आयास एवं श्रम के महत्त्व को अस्वीकार करना असंभव है। ऐसी स्थिति मे जब कोई वाक्-सिद्ध कवि अथवा शिल्प-सिद्ध कलाकार सृजन के क्षण में अपने आयाम से अधिक किसी अन्य अतिमानवीय सत्ता के ऐन्द्रजालिक प्रभाव का अनुभव करे तो उससे आयास और शिल्प का

---

१ कैन्डलर : ब्यूटी एण्ड ह्यूमन नेचर, पृ० ३२९ पर उद्धृत।

२ रोजामण्ड ई० एम० हार्डिज : ऐन एनॉटमी ऑफ़ इन्सपिरेशन, पृ० १४ पर उद्धृत

३ वही, पृ० १५

४ ब्रूस्टर गिज़ेलिन : द क्रिएटिव प्रॉसेस, पृ० १९४

५ मार्गरेट विल्किन्सन : द वे ऑफ़ मेकर्स, पृ० २६३ पर उद्धृत

६ एस्थेटिक्स एण्ड फ़िलॉसफ़ी ऑफ़ आर्ट क्रिटिसिज्म, पृ० ९२

महत्त्व कम नहीं हो जाता। जैसा कि प्रोफेसर गोटशाक ने कहा है सृजन को शुद्ध स्वतःस्फूर्त कहना रोमाण्टिक अतिशयोक्ति है।[1] निस्सन्देह कला-सृजन के दौरान कला कृति के अन्तर्गत कुछ अप्रत्याशित का भी उदय हो जाता है और कभी-कभी कलाकृति के अपने सृजन नियम सृजन प्रक्रिया की पूर्वनिर्धारित योजना के चौखटे को एकदम तोड़कर नए रूपों की सृष्टि कर देते हैं किन्तु इस अप्रत्याशित सृजन में किसी अतिमानवीय प्रभाव की पुष्टि नहीं होती और न तो कला-सृजन की अचेतनता ही प्रमाणित होती है। फलतः कला सृजन में इसलिए कुछ-न-कुछ आशुनिर्माण (इम्प्रोवाइजेशन) को भी स्वीकार किया जाता है।

कला-सृजन को अचेत व्यापार मानने का एक कारण सम्भवतः उसका यह अप्रत्याशित पक्ष ही है और जो अप्रत्याशित है उसके साथ नवीनता का तत्त्व भी जुड़ा हुआ है। जो कलाकृति सच्चे अर्थों में सृजन होती है वह कला के इतिहास में एक नई कृति होती है—नई अर्थात् अभूतपूर्व। ऐसी स्थिति में विस्मय विमुग्ध प्रेक्षक यदि उसकी सृजन प्रक्रिया को रहस्यमय मान बैठता है तो कोई आश्चर्य नहीं। इसी प्रकार स्वयं कलाकार भी उस नवीन सृजन के प्रति कुछ-कुछ अस्पष्ट होता है। पूर्वस्थापित रूपों एवं मूल्यों के दायरे से बाहर निकाल कर एक नए प्रयोग के क्षेत्र में प्रवेश करते समय जो अनिश्चय, अस्पष्टता और बेचैनी होती है उसके कारण कलाकार भी सृजन व्यापार को कुछ-न-कुछ रहस्यपूर्ण समझने लगता है। उदाहरण के लिए विन्सेंट वान गाग के पत्रों में इस बेचैनी और अस्पष्टता का स्थान स्थान पर उल्लेख मिलता है। एक ओर परिपाटीविहित एवं प्रचलित कला शैलियों से मुक्त होने की तड़प और दूसरी ओर अनुपलब्ध सम्भावनाओं की चिन्ता—इन दोनों के बीच कलाकार की सृजनात्मक मनःस्थिति का आभास मिलता है। स्टीफन स्पेंडर ने उस अनिश्चयशालीन अस्पष्ट सृजनात्मक मनःस्थिति को एक अत्यन्त सजीव बिम्ब के द्वारा स्पष्ट करते हुए कहा है कि धुंधले बादल के समान उस विचार को शब्दों की फुहारों में बरसते देखने का मन होता है।[2]

वस्तुतः काव्य सृजन की बुद्धिसंगत व्याख्या की दिशा में निरंतर किए जानेवाले प्रयासों के दौरान प्रायः यह अनुभव होता रहा है कि सृजन-व्यापार में कुछ ऐसा है जो बुद्धि की पकड़ में नहीं आता। आधुनिक मनोविज्ञान के विकास के पूर्व उसे प्रातिभज्ञान का परिणाम मानकर संतोष कर लिया जाता था। यद्यपि प्रातिभज्ञान भी एक प्रकार का रहस्य ही है किन्तु परंपरा में क्रमशः उसके साथ कुछ ऐसे अनुषंग रूढ़ हो गए हैं कि सारी रहस्यमयता के रहते भी प्रातिभज्ञान से सामान्यतः कुछ-न-कुछ बोध हो ही जाता है। सृजन प्रक्रिया पर जिन कोलरिज ने इतना लिखा स्वयं उनकी कविता कुबला खाँ की सृजन प्रक्रिया की व्याख्या का दायित्व आधुनिक आलोचकों को उठाना पड़ा और स्वप्न में निर्मित उस कविता का विश्लेषण करके लिविंगस्टन लावेस जैसे विद्वान ने बतलाया कि कोलरिज जैसे अर्धचेत कवि के अनजाने ही किस प्रकार अनेक अवचेतनगत तत्त्व कविता में व्यक्त हो गए। इसी प्रकार आधुनिक युग के विख्यात जर्मन कवि रेनर मारिया रिल्के

---

[1] आर्ट एण्ड द सोशल आर्डर, पृ० ६६

[2] द क्रिएटिव प्रॉसेस इण्ट्रोडक्शन पृ० १४

के 'दूनो शोकगीत' की सृजन-प्रक्रिया के संबंध में भी रहस्यपूर्ण किंवदंतियाँ प्रचलित हैं। स्वयं रिल्के के अपने वक्तव्यों से भी पता चलता है कि वे काव्य-सृजन को बहुत कुछ अचेतन-क्रिया मानते थे। 'एक युवक कवि के नाम पत्र' नामक पुस्तक में उन्होंने लिखा है कि : "प्रत्येक वस्तु गर्भाधान है और फिर प्रसव। प्रत्येक प्रभाव और अनुभूति के बीज को अंधकार में, अनिर्वचनीय में, अवचेतन मे, अपनी समझ की पहुँच के परे अपने-आप पूर्णता प्राप्त करने दो और गहरी विनम्रता तथा धैर्य से एक नवीन विशदता के जन्म-क्षण की प्रतीक्षा करो। जो ऐसा करता है, केवल वही कलाकार का जीवन जीता है, कृति में भी और समझ में भी।"[१]

वस्तुतः जैसा कि रेमंड विलियम्स का कहना है : "जो वास्तविकता कला-सृजन में पहले मानव-मस्तिष्क की पहुँच से परे कही अन्यत्र स्थित मानी जाती थी, वही नए मनोविज्ञान की खोज के परिणामस्वरूप स्वयं मनुष्य के भीतर निक्षिप्त कर दी गई और इस प्रकार की अतीन्द्रिय वास्तविकता का नया नाम 'अवचेतन' रख दिया गया।"[२] निश्चय ही सृजन संबंधी अवधारणा के विकास का यह एक सर्वथा नवीन सोपान है। इसका संपूर्ण श्रेय फ्रायड और युंग की मनोवैज्ञानिक खोजो को है। युंग ने कला-सृजन के दो प्रकार माने है : एक, मनोवैज्ञानिक सृजन है, जिसमें चेतना की सामग्रियो को तीव्रता के स्तर तक उठा दिया जाता है। दूसरा अन्तर्दृष्टिपरक (विजनरी) सृजन है, जो 'कालातीत गहराइयों''''''और मानव-मस्तिष्क के गहन प्रान्तर' से सामग्री ग्रहण करता है। युंग के अनुसार : "यदि पहले प्रकार का सृजन कलाकार मे वैयक्तिक स्तर पर घटित होता है तो दूसरे प्रकार के सृजन की प्रक्रिया नितांत 'निर्वैयक्तिक' होती है। किन्तु वैयक्तिक एवं निर्वैयक्तिक दोनों ही स्तरों पर अन्ततः सृजन-व्यापार अवचेतन में ही रहता है।"[3]

कला-सृजन में अवचेतन शक्ति का महत्त्व इतना अधिक है कि जार्ज लूकाच जैसे विख्यात मार्क्सवादी सौन्दर्यशास्त्री भी अपने दार्शनिक आग्रहों की रूढ सीमा को तोड़कर अवचेतन की भूमिका स्वीकार करते दिखाई पडते है। उन्होंने स्पष्ट लिखा है कि : "सर्जक के द्वारा सामाजिक संबंध सचेत रूप से नही बल्कि अनायास रूप से गृहीत होते है।"[४] 'अनायास' से लूकाच का अभिप्राय वही है जिसे 'गेस्टाल्ट' मनोवैज्ञानिक 'प्रत्युत्पन्न' या 'स्वतःस्फूर्त' कहते है; अर्थात पर्यवेक्षण का वह अचेतन संघटन, जो चेतनस्तर पर पहुँच कर उस क्षण की आवश्यकता पूरी करता है। लूकाच के अनुसार, सृजनात्मकता को शुद्ध बुद्धिसंमत क्रिया तक सीमित रखना असंभव है। वे तो इस सीमा तक जाने को तैयार है कि : "जो अपने विम्बों के विकास को नियंत्रित करने की स्थिति में होता है, वह सच्चा यथार्थवादी या महत्त्वपूर्ण कलाकार नही हो सकता।"[५] वे तो यह भी मानते है कि 'विम्बों

---

१ लेटर्स टु ए यंग पोएट, पृ० २७-२८

२ द लाँग रिवोल्यूशन, पृ० १५

3 (साइकॉलोजी एण्ड लिटरेचर (मेल्विन रेडर द्वारा संपादित 'ए माडर्न बुक ऑफ़ एस्थेटिक्स', पृ० १४०–१५४)

४ Zur Konkretisirung der Besonderheitals Kategone der Asthetic. (*Deutsche Zeitschrift fur Philosophie, Vol. IV, 1965*, p. 421)

५ 'Balzac und französische Realismus', *Aufhan, Berlin, 1952*, p. 14. (Quoted in Survey No. 46, January 196

का आंतरिक विकास' सचेत लक्ष्य या उद्देश्य की प्रतिक्रिया से सर्वथा स्वतन्त्र होता है, यहाँ तक कि 'बिम्बों का आन्तरिक विकास' चेतना शक्ति के अंकुश के विरुद्ध अपने-आपको स्थापित करता दृष्टिगोचर होता है।

कवि-कर्तृत्व

काव्य-रचना में कवि-व्यक्तित्व की भूमिका के संबंध में पाश्चात्य चिन्तन में सामान्यतः दो परस्पर विरोधी मान्यताएँ प्रचलित हैं: रोमाण्टिक और क्लासिकी अथवा नव्य क्लासिकी। रोमाण्टिक मान्यता के अनुसार, सृजन कवि की आत्माभिव्यक्ति है, जिसमें कवि का व्यक्तित्व स्वभावतः सक्रिय भूमिका का निर्वाह करता है। दूसरी मान्यता, इसके विपरीत, सृजन को निर्वैयक्तिक क्रिया मानती है, जिसमें कवि का व्यक्तित्व माध्यम मात्र होता है।

कवि कर्तृत्व की वैयक्तिकता

रोमाण्टिक आन्दोलन के पूर्व कवि अन्य सामान्य कारीगरों के समान ही शब्दों का कुशल कारीगर अथवा शिल्पी समझा जाता था। परंपरा से काव्य निर्माण संबंधी कुछ नियम प्रत्येक कवि प्राप्त करता था और उन नियमों के अनुसार सफलतापूर्वक काव्यकृति का निर्माण कर दिया करता था। विशिष्ट कवि अपनी बुद्धि से उन नियमों में यथास्थान थोड़ा संशोधन-परिवर्धन करके काव्य-रचना में कुछ विशिष्टता भी उत्पन्न कर लेते थे। इस प्रकार कुल मिलाकर काव्य निर्माण में कवि का कर्तृत्व एक कुशल शिल्पी से अधिक न था। किन्तु अठारहवीं शताब्दी के अन्तिम चरण में जब रोमाण्टिक आन्दोलन खड़ा हुआ तो उसके साथ ही काव्य के क्षेत्र में भी अभूतपूर्व व्यक्तिवाद का उदय हुआ, और कवि-व्यक्तित्व अक्षय सृजन शक्ति के स्रोत के रूप में अपने को स्थापित करने का प्रयास करने लगा। रोमाण्टिक कवि पूर्ववर्ती कवि के समान केवल कुशल शिल्पी या कारीगर नहीं, बल्कि 'स्रष्टा' के रूप में सामने आया। इस आन्दोलन के साथ 'कला' और 'कलाकार' शब्द के अर्थ परिवर्तित हो गए। कला 'शिल्प' से 'सृजन' हो गई और कलाकार 'शिल्पी' से 'स्रष्टा' अथवा 'सर्जक' हो गया। परिणामस्वरूप इस अवधारणा के साथ ही काव्य-चिन्तन में 'क्रिएटिव', 'जीनियस', 'इंस्पिरेशन', 'इस्पायर्ड' आदि अनेक नए अर्थ-गर्भित शब्द प्रचलित हो गए, जो दृष्टि एवं शक्ति के स्तर पर कवि-व्यक्तित्व में असाधारणता का आरोप करते थे। स्पष्टतः इस अर्थान्तरण की प्रक्रिया में बल 'कौशल' से हटकर 'भावबोध' पर आ गया और उस भावबोध से संपन्न कवि-व्यक्तित्व काव्य-रचना का मूल स्रोत हो गया।[1] इस प्रकार काव्य का कर्तृत्व कुछ परंपरा-प्राप्त नियमों के अधीन न रहकर सीधे कवि-व्यक्तित्व को प्राप्त हो गया।

---

[1] The word 'Art' which had commonly meant 'skill', became specialized during the course of the eighteenth century, first to 'painting' and then to the [illegible] 'Artist', similarly, from the general [illegible] specialized in the same direction, [illegible] *tisan* and of course from *craftsman* [illegible] The emphasis on skill, in the word, was gradually replaced by an

यह सर्वविदित है कि संपूर्ण यूरोप में रोमाण्टिक कवियों ने प्राचीन रूढ़ियों के विरुद्ध विद्रोह करते हुए सर्वप्रथम अपने व्यक्तित्व एवं अपनी सत्ता की स्थापना का आग्रह किया। इससे प्रेरित होकर उन्होंने केवल उसी को अभिव्यक्त करने का प्रयास किया, जो स्वयं उनके व्यक्तित्व में विशिष्ट, असाधारण अथवा अद्वितीय था। रोमाण्टिक कवियों ने अभिव्यक्ति के विषय से आग्रहपूर्वक उन बातों को दूर रखा, जिनके बारे में उनकी धारणा थी कि वे पूर्वजों और शेष समाज में भी विद्यमान हैं। इस प्रकार समस्त रोमाण्टिक कवियों के लिए आत्मतत्त्व ही चरम सत्य हो गया, जिससे शेष सभी विशेषताएँ स्फुरित होती हैं।

रोमाण्टिक काव्य-सृजन के सिद्धान्त एवं व्यवहार पर प्रकाश डालते हुए, जैसा कि फ्रांसीसी आलोचक हेनरी पेये ने लिखा है : "रूसो की शिक्षा के अनुसार मानव-व्यक्ति और लेखक दोनों एकाकार हो गए। लेखक अब एक घड़ीसाज के समान कारीगर न रहा या कम-से-कम समाज में उस जैसा दिखाई पडने से बचने लगा। लिखने से पहले उसने यथाशक्ति गहन अनुभवपूर्ण जीवन जीने का प्रयास किया, फिर उन उपलब्ध अनुभवों से अपनी रचनाओं को समृद्ध किया।......पूर्ववर्ती युगों के पाठकों को भी इस बात की परवाह नहीं थी कि लियोनार्दो, रासीन, डन, बाख आदि ने अपनी कृतियों में जो कुछ व्यक्त किया है, उसे स्वयं भी अनुभव किया अथवा नहीं। किन्तु रोमाण्टिक आन्दोलन के पश्चात स्थिति यही न रही। जीवन-चरित को पुराणगाथा का-सा मूल्य प्राप्त हो गया।"[१]

स्पष्ट है कि जब काव्यकृति अभूतपूर्व एव अद्वितीय अनुभव की अभिव्यक्ति के रूप में प्रतिष्ठित हो गई तो उस अनुभव से गुजरनेवाला विशिष्ट व्यक्ति ही उसका स्रष्टा भी हो सकता है। रोमाण्टिक आन्दोलन के प्रभाव से काव्यकृति कवि के जीवन-चरित से इस प्रकार अन्योन्याश्रित रूप से संवद्ध हो गई कि काव्य को कवि-व्यक्तित्व से विच्छिन्न करके देखने की कल्पना भी असंभव हो गई। रोमाण्टिक सिद्धान्त के अनुसार काव्यकृति कवि-व्यक्ति पर इस सीमा तक निर्भर हो गई कि उसके कर्तृत्व का श्रेय कवि-विशेष के अतिरिक्त किसी अन्य शक्ति को देने का प्रश्न ही नही उठता। सारांश यह कि रोमाण्टिक कवि अपनी कृति का एकमात्र स्रष्टा ही नहीं, बल्कि अपनी सृष्टि से नितान्त अविच्छिन्न

---

emphasis on sensibility; and this replacement was supported by the parallel changes in such words as *creative* (a word which could not have been applied to art until the idea of the 'superior reality' was forming), original (with its important implications of spontaneity and vitalism) and *genius* (which, because of its root association with the idea of *inspiration*, had changed from 'characteristic disposition' to exalted special ability.

Raymond Williams : *Culture and Society*, 1780-1950, pp. 43-44.

१ The man and the author, as Rousseau had taught, were to be merged into one. An author ceased to be, or wish to appear......like a clock-maker. He lived, first, as intensely as he could, and enriched his writings by the experience thus gained......Readers of earlier eras had cared little whether Leonardo, Racine, Donne or Bach had experienced the moods they rendered in their art. Not so after the romantic upheaval, Biography assumed a mythical value.

Henri Peyre : *Literature and Sincerity*, p. 121.

भी है। सभवत इसीलिए कोलरिज न कहा है कि जैसा वह है वैसा ही लिखता है। [१]

कवि कर्तृत्व की निर्वैयक्तिकता

यद्यपि रोमाण्टिक काव्यशास्त्र सृजन म कवि-कर्तृत्व की प्रधानता दन के लिए विख्यात है तथापि उस प्रवत्ति के अन्तगत कुछ एस भी कवि हुए जो सृजन प्रक्रिया म व्यक्तिवाद क स्थान पर निर्वैयक्तिकता क सिद्धान्त को महत्त्व देते हैं। ऊपर जिस फ्रासामी आलोचक हनरी पेय के प्रमाण पर रोमाण्टिक काव्य-सृजन म आत्म-तत्त्व की केन्द्रमूलकता की बात कही गई है उन्होने ही आगे चलकर यह भी कहा है कि अपन अह म गहरी रुचि लन क कारण ही अधिकाश रोमाण्टिक कवि बाह्य विश्व स आन्तरिक सबधो का अन्वेषण करन के लिए प्रवृत्त हुए। जिन कवियो न अपनी आत्मा की गहराई म उतरने का प्रयास किया उन्हो ने अपनी निजी व्यक्ति सीमा के बाहर निकलकर अन्य व्यक्तियो के चित्रण अथवा अन्य शिखरो पर आरोहण का साहस दिखाया। [२] इसी सदभ म हनरी पेय न सुप्रसिद्ध फ्रासीसी कवि नोवालिस क दो कथन उद्धृत किए हैं अपने अन्दर की गहराई का प्रत्यक अवगाहन वस्तुत बाह्य ऊँचाई की दिशा म आरोहण भी है। [३] और जब तक कोई व्यक्ति अपन ही तक सीमित रहता है और किसी अन्य क सदभ म अपन को रखन का प्रयास नहीं करता तब तक वह अपन-आपको नही जानता। [४] नोवालिस क य दोनो उद्धरण इस बात के प्रमाण हैं कि रोमाण्टिक कवि नितान्त आत्मकेन्द्रित नही थ, यही नही बल्कि उनका आत्मानुराग एक प्रकार स उन्ह आत्मेतर होन के लिए प्रवृत्त करता था और वे सम्यक आत्मबोध क लिए जगद्बोध को आवश्यक मानते थ। यह धारणा अनिवायत काव्य सृजन म कवि को एक सीमा के बाद निर्वैयक्तिक होने की दिशा म ले जाती है।

अग्रेजी की रोमाण्टिक कविता म इस निर्वैयक्तिक प्रवृत्ति के सर्वोत्कृष्ट उदाहरण कीटस हैं जो आत्मनिषेध की इस सीमा तक चल गए थे कि कवि को गिरगिट के समान मानते थ जिसका अपना कोई निजी व्यक्तित्व नहीं होता और जो अपने वर्ण्य विषय क अनुरूप ही अपने व्यक्तित्व को भी ढाल लेता है। एक पत्र म उन्होने इस विशेषता को आत्मनिषेध की क्षमता अथवा 'निगेटिव कैपेबिलिटी' की सज्ञा दी है। [५] कीटस न प्रतिभा सपन्न मनुष्यो की तुलना ऐसे ईथरीय रसायनो स की है जो उदासीन या तटस्थ

---

१ So he is So he writes
(Quoted by Herbert Read in *The True Voice of Feeling*, p 15)

२ With most romantic poets that interest in their own ego led them to discover microcosmic correspondence with the outer world The same poets who descended deeper into their own souls than their predecessors also ventured outside their own monads and portrayed other individuals or ascended higher summits *Literature and Sincerity* p 130

३ Any descent into oneself is at the same time an ascent *Ibid*

४ No one knows himself as long as he is only himself and not at the same time he and another *Ibid*

५ लेटस आफ जान कीटस, स०, एम० बी० फोरमन पृ० ७१

बुद्धि पर क्रियाशील होते है, किन्तु उनका न तो अपना कोई व्यक्तित्व होता है और न कोई निश्चित चरित्र ही।[१] कीट्स के इन वक्तव्यों के आधार पर परवर्ती आलोचकों ने यह निष्कर्ष निकाला है कि कीट्स अपने समकालीन अन्य रोमाण्टिक कवियों के विपरीत काव्य-सृजन में कवि-व्यक्तित्व की तटस्थता अथवा निष्क्रियता पर बल देते हुए निर्वैयक्तिकतावादी सिद्धान्त का समर्थन करते थे। इस संबंध में संभवत: प्रो० रेमंड विलियम्स का यह कथन अधिक संगत है कि कीट्स काव्यात्मक व्यक्तित्व से अधिक बल काव्यात्मक प्रक्रिया पर देते थे,[२] इसीलिए उन्होंने सृजन में कवि-व्यक्तित्व का निषेध किया है।

आधुनिक युग में काव्य-सृजन की प्रक्रिया में कवि की निर्वैयक्तिकता संबंधी मान्यता को प्रतिष्ठा दिलाने का श्रेय कवि-आलोचक टी० एस० इलियट को है। कवि-निरपेक्ष काव्य-सृजन की प्रथम स्पष्ट घोषणा टी० एस० इलियट ने १९२८ ई० में 'सेक्रेड वुड' की भूमिका में इस प्रकार की :

"हम केवल यह कह सकते है कि कुछ अर्थ मे कविता का अपना जीवन होता है; कि इसके अवयव साफ़-सुथरे व्यवस्थित जीवनीपरक तथ्यों के पुंज से नितान्त भिन्न कोई रूप ग्रहण करते हैं; कि कविता की परिणति जिस अनुभूति या संवेग अथवा अन्तर्दृष्टि मे होती है, वह कवि की मनोगत अनुभूति या सवेग अथवा अन्तर्दृष्टि से कुछ भिन्न होती है।"[3]

काव्य-सृजन की निर्वैयक्तिकता के बारे में इलियट की धारणा इतनी पक्की थी कि उन्होंने अनेक संदर्भों में थोड़े-से शब्द-भेद के साथ इसकी पुनरावृत्ति की है। उदाहरण के लिए, एक अन्य संदर्भ में कथित निम्नलिखित उद्धरण है :

"यह आवश्यक है कि कलाकृति को स्व-संगत होना चाहिए; कि कलाकार को जाने-अनजाने एक वृत्त खींच लेना चाहिए, जिसका अतिक्रमण उसे नही करना है। एक ओर वास्तविक जीवन सदैव विषय-सामग्री है और दूसरी ओर वास्तविक जीवन से अपसरण (एब्सट्रेक्शन) कलाकृति के सृजन के लिए आवश्यक शर्त है।"[४]

किन्तु कवि के वैयक्तिक जीवन तथा सवेगों से कविता को पृथक करते हुए भी इलियट काव्य की रचना में सृजन-प्रक्रिया के 'चाप' को स्वीकार करते थे। एजरा पाउण्ड की संकलित कविताओ की भूमिका में उन्होने लिखा है कि : "संवेगो की महानता या सघनता महत्त्वपूर्ण नही है, बल्कि कलात्मक प्रक्रिया की वह तीव्रता या दबाव महत्त्वपूर्ण है जिससे कलागत संयोजन घटित होता है।"[५]

इस प्रक्रिया की व्याख्या इलियट ने 'ऑब्जेक्टिव कोरिलेटिव' अथवा 'विभावन-

---

१. Men of Genius are great as certain ethereal chemicals operating on the Mass of neutral intellect—by (*for* but) they have not any individuality, any determined character. *Letters of John Keats, ed. M. B. Forman.*, p. 66.

२. Keat's emphasis is on the poetic *process* rather than on the poetic *personality*. *Culture and Society*, 1780-1950, p. 46.

3 द सेक्रेड वुड, भूमिका, पृ० १०

४ सेलेक्टेड एसेज़, पृ० १११

५ सेलेक्टेड पोयम्स ऑफ़ एज़रा पाउण्ड, भूमिका, पृ० १६

व्यापार के द्वारा की है जिसके अनुसार कवि अपने आत्मनिष्ठ सवेग अनुभूतियो और विचारो को बिम्बो प्रतीको स्थितियो एव चरित्रो के माध्यम से वस्तुनिष्ठ रूप प्रदान करता है। उनके विचार से इन काव्यगत मूर्त रूपो का अध्ययन ही पाठक का लक्ष्य होना चाहिए। आलोचना के सीमान्त शीर्षक निबध म उन्होने स्पष्ट चेतावनी दी है कि 'लेखक ज्ञान या अन्तर्ज्ञान किसी कृति म जो कुछ करना चाहता है उसके विवरण को उस कृति की व्याख्या मान लेना खतरनाक है।'[1]

अपनी मान्यता को वैज्ञानिक रग देते हुए इलियट ने सृजन-कार्य म सलग्न कवि की उपमा एक उत्प्रेरक से दी है जो सपूर्ण रासायनिक प्रक्रिया का विधायक होते हुए भी निमित्त मात्र होता है। उदाहरण के लिए यदि प्लेटिनम के एक टुकडे की उपस्थिति म दो गैसो का मिश्रण किया जाए तो गधकीय तेजाब तैयार होता है, किन्तु उस नव निर्मित तेजाब मे प्लेटिनम का कोई अश नहीं होता और वह प्लेटिनम भी उस तेजाब स सवथा अप्रभावित रहता है। इलियट के अनुसार, काव्य-सृजन म भी कवि-व्यक्तित्व के माध्यम से अनेक अनुभव परस्पर मिल जुलकर एक नई सृष्टि के रूप म प्रकट होते हैं किन्तु उस सृष्टि म न तो कवि-व्यक्तित्व का कोई अश होता है और न स्वय कवि व्यक्तित्व ही उन अनुभवो स प्रभावित होता है। इस प्रकार कवि का व्यक्तित्व एक आश्रय अथवा उत्प्रेरक मात्र है जिसके इद गिद असख्य अनुभूतियाँ बिम्ब शब्द इत्यादि एकत्र होते रहते हैं। ये सभी छोटे छोटे कण चुपचाप एक नए सयोजन का रूप ग्रहण करते रहते हैं, निमित्त मात्र या साक्षी भर होने के अतिरिक्त कवि-व्यक्तित्व की कोई सक्रिय भूमिका नही होती। इस आधार पर इलियट ने यह प्रतिपादित किया है कि कलाकार जितना ही प्रौढ होगा उतना ही पूर्ण उसके अन्दर भोगनेवाले मनुष्य और सृजन करनेवाले मस्तिष्क म पार्थक्य होगा।[2] कवि के सृजनशील मस्तिष्क म किस प्रकार विविध प्रभाव घुलते मिलते रहते है इसको स्पष्ट करते हुए कवि मन के सदभ म उन्होंने कहा है कि जब कवि का मन रचना के लिए पूणत सन्नद्ध होता है तो वह विविध अनुभवो को निरतर मिश्रित करता जाता है। साधारण व्यक्ति का अनुभव अव्यवस्थित अनियमित और खडित होता है। किन्तु कवि चाहे प्रेम करे या स्पिनोजा को पढे और इन दोनो अनुभवो म कोई सबध न हो अथवा टाइपराइटर का शोर हो चाहे भोजन पकाने की गध—ये सभी अनुभव कवि के मन म सदैव एक सपुज की रचना करते रहते हैं।[3]

इलियट के इस मत की काफी आलोचना हुई है। कुछ आलोचकों ने इसे एक धार्मिक मान्यता से प्रभावित भी बतलाया है। जो हो यह तथ्य है कि कुछ कविताएँ इस निर्वैयक्तिक ढग स भी लिखी गई हैं और इस निर्वैयक्तिक सृजन प्रक्रिया की परपरा पर्याप्त प्राचीन है जिसमे होमर, शेक्सपियर कीट्स जैसे महान कवियो का नाम लिया जा सकता है।

काव्य सृजन सबधी इस निर्वैयक्तिक और वस्तुनिष्ठ सिद्धान्त का विकास अमरीका

---

[1] 'द फ्रण्टियर्स ऑफ क्रिटिसिज्म', आन पोएट्री एड पोएटस, पृ० १११

[2] द सेकड वुड, पृ० ५४ ५५

[3] सेलेक्टेड एसेज, पृ० २८७

में जॉन क्राउ रेन्जम और एलेन टेट आदि नव्य-आलोचना के प्रवर्त्तक आलोचकों ने व्यवस्थित शास्त्र के रूप में किया। रेन्जम को इलियट की यह वस्तुनिष्ठता भी बहुत-कुछ आत्मनिष्ठता प्रतीत हुई और उन्होंने इलियट को 'मनोवैज्ञानिकता' से ग्रस्त मानते हुए और अधिक वस्तुनिष्ठ काव्य-सिद्धान्त के निर्माण की आवश्यकता बतलाई।[१] क्रमश: अमरीका में इस वस्तुनिष्ठ काव्य-सिद्धान्त का इतना प्रचलन हुआ कि शिकागो के एक समालोचक वर्ग ने 'नव्य-अरस्तूवाद' नाम से एक नितान्त वस्तुनिष्ठ काव्य-सिद्धान्त का रूप खड़ा कर दिया, जिसका मूल आधार उनके अनुसार, अरस्तू के खंडित काव्यशास्त्र का मध्यवर्ती भाग है। इस वर्ग का नेतृत्व प्रोफ़ेसर आर० एस० क्रेन करते हैं तथा अन्य सहयोगी ओल्सन, मैककिओन, कीस्ट आदि हैं। इनकी मुख्य स्थापनाएँ प्रो० आर० एस० क्रेन द्वारा सम्पादित 'क्रिटिक्स एण्ड क्रिटिसिज्म : एंशिएंट एण्ड मॉडर्न' (शिकागो यूनिवर्सिटी प्रेस, शिकागो, १९५२) में सुलभ है।

परन्तु इस वस्तुनिष्ठ सिद्धान्त का वास्तविक प्रभावशाली विस्फोट १९४६ में प्रो० डब्ल्यू० के० विमसाट और मुनरो बियर्ड्स्ले द्वारा संयुक्त रूप से लिखित निबंध 'अभिप्रायपरक हेत्वाभास' (द इन्टेन्शनल फ़ैलेसी)[२] से हुआ। वस्तुत: इस आक्रमण का लक्ष्य आलोचना की वह पद्धति थी, जिसमें किसी कृति की समीक्षा करने के लिए रचनाकार के अभिप्राय की शोध आवश्यक मानी जाती है; किन्तु प्रकारान्तर से इसका उद्देश्य उस तथाकथित रोमाण्टिक काव्य-सिद्धान्त की जड़ पर कुठाराघात करना था, जिसके अनुसार प्रत्येक काव्यकृति रचनाकार की आत्माभिव्यक्ति है। आलोचक-द्वय विमसाट-बियर्ड्स्ले ने इस निबंध में स्पष्ट घोषणा की कि : "किसी कृति की सफलता के निर्णय के लिए लेखक का 'अभिप्राय' न तो प्राप्य है, न स्पृहणीय। शास्त्रीय 'अनुकरण' सिद्धान्त के सर्वथा विपरीत यह रोमाण्टिक 'आत्माभिव्यक्ति' सिद्धान्त से संबद्ध है। इससे प्रेरणा, प्रामाणिकता, सच्चाई आदि संबंधी तथ्यों पर चाहे जितना प्रकाश पड़ता हो; किन्तु यह ठेठ साहित्य-समीक्षा के अन्तर्गत नही आता।[3] अन्त में आलोचक-द्वय ने इसे 'हेत्वाभास' घोषित करते हुए त्याज्य ठहराया।

युंग और व्यक्ति-निरपेक्ष सृजन

जिस प्रकार इलियट ने काव्य के क्षेत्र में रोमाण्टिक प्रवृत्ति की प्रतिक्रिया में निर्वैयक्तिकता की स्थापना की, उसी प्रकार मनोविज्ञान के क्षेत्र में युंग ने फ्रायड के व्यक्तिपरक 'न्यूरोसिस' की प्रतिक्रिया में 'सामूहिक अवचेतन' (कलेक्टिव अनकॉन्शस) सिद्धान्त को प्रस्तुत किया और उसके आधार पर कला-सृजन की गहराइयों को थाहने का प्रयास किया।

अपने विख्यात ग्रंथ 'आत्मा की खोज में आधुनिक मानव' के 'मनोविज्ञान और

---

१ द न्यू क्रिटिसिज्म, पृ० १५२

२ द इन्टेन्शल फ़ैलेसी (सिवानी रिव्यू, ग्रीष्म, १९४६); विमसाट द्वारा 'वर्बल आइकन', १९५४ में पुनः प्रकाशित

3 वही, पृ० ३

व्यापार के द्वारा की है जिसके अनुसार कवि अपने आत्मनिष्ठ सवेगो अनुभूतियो और विचारो को बिम्बो प्रतीको स्थितियो एव चरित्रो के माध्यम से वस्तुनिष्ठ रूप प्रदान करता है। उनके विचार से इन काव्यगत मूर्त रूपो का अध्ययन ही पाठक का लक्ष्य होना चाहिए। आलोचना के सीमात शीर्षक निबध म उन्होने स्पष्ट चेतावनी दी है कि लेखक जान या अनजान किसी कृति म जो कुछ करना चाहता है उसके विवरण को उस कृति की व्याख्या मान लेना खतरनाक है।[1]

अपनी मान्यता को वैज्ञानिक रग देते हुए इलियट ने सजन-काय म सलग्न कवि की उपमा एक उत्प्रेरक से दी है जो सपूण रासायनिक प्रक्रिया का विधायक होते हुए भी निमित्त मात्र होता है। उदाहरण के लिए यदि प्लेटिनम के एक टुकडे की उपस्थिति म दो गैसो का मिश्रण किया जाए तो गधकाय तेजाब तयार होता है किन्तु उस नव निर्मित तेजाब मे प्लेटिनम का कोई अश नहीं होता और वह प्लेटिनम भी उस तेजाब से सवथा अप्रभावित रहता है। इलियट के अनुसार काव्य सृजन म भी कवि व्यक्तित्व के माध्यम से अनेक अनुभव परस्पर मिल जुलकर एक नई सृष्टि के रूप म प्रकट होते हैं किन्तु उस सृष्टि म न तो कवि-व्यक्तित्व का कोई अश होता है और न स्वय कवि व्यक्तित्व ही उन अनुभवो से प्रभावित होता है। इस प्रकार कवि का व्यक्तित्व एक आश्रय अथवा उत्प्रेरक मात्र है जिसके इद गिद असख्य अनुभूतियाँ बिम्ब शब्द इत्यादि एकत्र होते रहते हैं। ये सभी छोटे छोटे कण चुपचाप एक नए सयोजन का रूप ग्रहण करते रहते हैं निमित्त मात्र या साक्षी भर होने के अतिरिक्त कवि-व्यक्तित्व की कोई सक्रिय भूमिका नहीं होती। इस आधार पर इलियट ने यह प्रतिपादित किया है कि कलाकार जितना ही प्रौढ होगा उतना ही पूर्ण उसके अदर भोगनेवाले मनुष्य और सजन करनेवाले मस्तिष्क म पाथक्य होगा।[2] कवि के सजनशील मस्तिष्क म किस प्रकार विविध प्रभाव पुनत मिलते रहते हैं इसको स्पष्ट करते हुए कवि इन के सदभ म उन्होने कहा है कि जब कवि का मन रचना के लिए पूर्णत सन्नद्ध होता है तो वह विविध अनुभवो का निरतर मिश्रित करता जाता है। साधारण व्यक्ति का अनुभव अव्यवस्थित अनियमित और खडित होता है। किन्तु कवि चाहे प्रेम करे या स्पिनोजा को पढे और इन दोनो अनुभवो म कोई सबध न हो अथवा टाइपराइटर का शोर हो चाहे भोजन पकाने की गध—ये सभी अनुभव कवि के मन मे सदैव एक सपुज की रचना करते रहते हैं।[3]

इलियट के इस मत की काफी आलोचना हुई है। कुछ आलोचको ने इस एक धार्मिक मान्यता से प्रभावित भी बतलाया है। जो हो यह तथ्य है कि कुछ कविताए इस निर्वैयक्तिक ढग स भी लिखी गई हैं और इस निर्वैयक्तिक सजन प्रक्रिया की परपरा पर्याप्त प्राचीन है जिसमे होमर शेक्सपियर कीट्स जसे महान कवियो का नाम लिया जा सकता है।

काव्य सृजन सबधी इस निर्वैयक्तिक और वस्तुनिष्ठ सिद्धान्त का विकास अमरीका

---

[1] द फ्रण्टियर्स आफ क्रिटिसिज्म' आन पोएट्री एड पोएट्स पृ० १११

[2] द सेक्रेड वुड पृ० ५४ ५५

[3] सेलेक्टेड एसेज पृ० २४७

मे जॉन क्राउ रेन्जम और एलेन टेट आदि नव्य-आलोचना के प्रवर्त्तक आलोचकों ने व्यवस्थित शास्त्र के रूप मे किया। रेन्जम को इलियट की यह वस्तुनिष्ठता भी बहुत-कुछ आत्मनिष्ठता प्रतीत हुई और उन्होंने इलियट को 'मनोवैज्ञानिकता' से ग्रस्त मानते हुए और अधिक वस्तुनिष्ठ काव्य-सिद्धान्त के निर्माण की आवश्यकता बतलाई।[१] क्रमशः अमरीका में इस वस्तुनिष्ठ काव्य-सिद्धान्त का इतना प्रचलन हुआ कि शिकागो के एक समालोचक वर्ग ने 'नव्य-अरस्तूवाद' नाम से एक नितान्त वस्तुनिष्ठ काव्य-सिद्धान्त का रूप खड़ा कर दिया, जिसका मूल आधार उनके अनुसार, अरस्तू के खंडित काव्यशास्त्र का मध्यवर्ती भाग है। इस वर्ग का नेतृत्व प्रोफेसर आर० एस० क्रेन करते है तथा अन्य सहयोगी ओल्सन, मैककिओन, कीस्ट आदि है। इनकी मुख्य स्थापनाएँ प्रो० आर० एस० क्रेन द्वारा सम्पादित 'क्रिटिक्स एण्ड क्रिटिसिज्म · एंशिएंट एण्ड मॉडर्न' (शिकागो यूनिवर्सिटी प्रेस, शिकागो, १९५२) में सुलभ है।

परन्तु इस वस्तुनिष्ठ सिद्धान्त का वास्तविक प्रभावशाली विस्फोट १९४६ मे प्रो० डब्ल्यू० के० विमसाट और मुनरो वियर्ड्स्ले द्वारा संयुक्त रूप से लिखित निबंध 'अभिप्रायपरक हेत्वाभास' (द इन्टेन्शनल फैलेसी)[२] से हुआ। वस्तुतः इस आक्रमण का लक्ष्य आलोचना की वह पद्धति थी, जिसमें किसी कृति की समीक्षा करने के लिए रचनाकार के अभिप्राय की शोध आवश्यक मानी जाती है; किन्तु प्रकारान्तर से इसका उद्देश्य उस तथाकथित रोमाण्टिक काव्य-सिद्धान्त की जड़ पर कुठाराघात करना था, जिसके अनुसार प्रत्येक काव्यकृति रचनाकार की आत्माभिव्यक्ति है। आलोचक-द्वय विमसाट-वियर्ड्स्ले ने इस निबंध मे स्पष्ट घोषणा की कि : "किसी कृति की सफलता के निर्णय के लिए लेखक का 'अभिप्राय' न तो प्राप्य है, न स्पृहणीय। शास्त्रीय 'अनुकरण' सिद्धान्त के सर्वथा विपरीत यह रोमाण्टिक 'आत्माभिव्यक्ति' सिद्धान्त से संबद्ध है। इससे प्रेरणा, प्रामाणिकता, सच्चाई आदि संबंधी तथ्यों पर चाहे जितना प्रकाश पडता हो; किन्तु यह ठेठ साहित्य-समीक्षा के अन्तर्गत नही आता।[3] अन्त में आलोचक-द्वय ने इसे 'हेत्वाभास' घोषित करते हुए त्याज्य ठहराया।

युग और व्यक्ति-निरपेक्ष सृजन

जिस प्रकार इलियट ने काव्य के क्षेत्र मे रोमाण्टिक प्रवृत्ति की प्रतिक्रिया में निर्वैयक्तिकता की स्थापना की, उसी प्रकार मनोविज्ञान के क्षेत्र मे युग ने फ्रायड के व्यक्तिपरक 'न्यूरोसिस' की प्रतिक्रिया में 'सामूहिक अवचेतन' (कलेक्टिव अनकॉन्शस) सिद्धान्त को प्रस्तुत किया और उसके आधार पर कला-सृजन की गहराइयो को थाहने का प्रयास किया।

अपने विख्यात ग्रथ 'आत्मा की खोज में आधुनिक मानव' के 'मनोविज्ञान और

---

१ द न्यू क्रिटिसिज्म, पृ० १५२

२ द इन्टेन्शल फ़ैलेसी (सिवानी रिव्यू, ग्रीष्म, १९४६); विमसाट द्वारा 'वर्बल आइकन', १९५४ में पुनः प्रकाशित

3 वही, पृ० २

साहित्य'[1] शीर्षक अध्याय के अन्तर्गत युग ने कला-सृजन की मनोवैज्ञानिक व्याख्या प्रस्तुत की है। सृजन में संलग्न कवि-व्यक्तित्व की भूमिका पर विचार करते हुए युग ने आरंभ में ही स्वीकार कर लिया कि इच्छाशक्ति की स्वतन्त्रता के समान ही सृजनशीलता भी एक रहस्य है। सृजनशील व्यक्ति वस्तुतः एक पहेली है जिसका उत्तर अनेक प्रकार से देने का प्रयास किया जाता है, किन्तु सब व्यर्थ है।

इस दिशा में फ्रायडीय मनोविश्लेषण द्वारा प्रस्तुत 'न्यूरोसिस' संबंधी खोजों की सराहना करते हुए भी युग ने उनसे अपना असंतोष व्यक्त किया है। उदाहरण के लिए जब फ्रायड कहते हैं कि सभी कलाकार निरपवाद रूप से आत्मरति के शिकार होते हैं तो इस कथन में कुछ तथ्य हो सकता है किन्तु यह केवल कलाकार के व्यक्ति रूप पर लागू होता है, मनुष्य के कलाकार रूप से इसका कोई संबंध नहीं है। कलाकार की हैसियत से वह न तो आत्मरतियुक्त है न पर रतियुक्त और न किसी अन्य प्रकार की रति से युक्त। वह वस्तुनिष्ठ और निर्वैयक्तिक है—यहाँ तक कि अमानवीय भी क्योंकि एक कलाकार के नाते वह स्वयं कृति है, न कि एक मानव प्राणी।[2]

युग के अनुसार प्रत्येक सृजनशील व्यक्ति एक द्वैत है अथवा विरोधी प्रवृत्तियों का संश्लेषण। एक ओर वह अपने व्यक्तिगत जीवन से युक्त एक मानव प्राणी है तो दूसरी ओर एक निर्वैयक्तिक सृजन प्रक्रिया। एक व्यक्ति के नाते वह मानसिक रोगी हो सकता है, किन्तु उसके कलाकार व्यक्तित्व को तो हम उसकी कलात्मक उपलब्धि से ही समझ सकते हैं। युग के शब्दों में 'कला वस्तुतः एक आन्तरिक शक्ति है जो मानव प्राणी को सर्वथा अपने वश में करके उसे अपना यन्त्र बना लेती है। कलाकार स्वतन्त्र इच्छाशक्ति से संपन्न अपने लक्ष्यों की सिद्धि ढूँढनेवाला व्यक्ति नहीं, बल्कि ऐसा प्राणी है, जो अपने माध्यम से कला को अपने प्रयोजन की सिद्धि करने देता है। एक मानव प्राणी के नाते उसमें संवेग, इच्छाएँ और व्यक्तिगत लक्ष्य हो सकते हैं, किन्तु एक कलाकार के नाते वह एक उच्चतर अर्थ में मानव है—वह एक सामूहिक मानव है जो मानव जाति के मानसिक जीवन के अवचेतन को वहन और रूपायित करता है।'[3] इस कठिन दायित्व के निर्वाह में कभी-कभी उसे अपने सुख और उन सबका जिनमें साधारण मनुष्य का जीवन जीने योग्य होता है बलिदान करना पड़ता है।

युग ने सृजन प्रक्रिया को नारी-सुलभ गुण बतलाते हुए आगे यह कहा है कि

---

[1] ब्रूस्टर गिज़ेलिन द्वारा संपादित 'द क्रिएटिव प्रोसेस' पुस्तक में, पृ० २०८–२३ पर संकलित

[2] He is objective and impersonal—even inhuman—for as an artist he is his work, and not a human being. *Ibid.*, p. 220

[3] Art is a kind of innate drive that seizes a human being and makes him its instrument. The artist is not a person endowed with free will who seeks his own ends, but one who allows art to realize its purposes through him. As a human being he may have moods and a will and personal aims, but as an artist he is 'man' in a higher sense—he is 'Collective man'—one who carries and shapes the unconscious, psychic life of mankind. *Ibid.*, p. 221

सृजनात्मक कृति अवचेतन की गहराइयों से उत्पन्न होती है, जिसे मातृत्व-क्षेत्र भी कह सकते है। "जब कभी सृजन-शक्ति की प्रधानता होती है, मानव-जीवन सक्रिय इच्छा-शक्ति के विरुद्ध अवचेतन से अनुशासित और रूपान्तरित होता है और चेतन अहं गहनतम प्रवाह में बहकर घटनाओ का असहाय पर्यवेक्षक मात्र रह जाता है। प्रक्रियागत कृति कवि की नियति हो जाती है और उसके मानसिक विकास को निर्धारित करने लगती है।"[1] गेटे 'फ़ाउस्ट' की रचना नही करता, बल्कि 'फाउस्ट' गेटे की रचना करने लगता है, और वह 'फ़ाउस्ट' भी एक प्रतीक नही, तो क्या है? इससे हमारा आशय एक ऐसे रूपक से है, जो पर्याप्त परिचित होते हुए भी ऐमी अभिव्यंजना है, जिसकी मूल वस्तु कुछ ऐसी हे जो स्पष्टत: ज्ञात न होते हुए भी गहरे अर्थ मे जीवित है। इस अज्ञात वस्तु को युग ने 'आदिम बिम्ब' (आर्किटाइपल इमेज) कहा है। सामान्यत: ये आदिम बिम्ब मानव के अवचेतन में सुप्त पड़े रहते है और इस अवस्था मे मानव संस्कृति के उप:काल से चले आ रहे हे। जब तक वर्तमान जीवन की हलचले उन सुप्त आदिम बिम्बो को जाग्रत करके मार्ग-दर्शन प्राप्त करने की आवश्यकता का अनुभव नही करती, तब तक वे न तो किसी व्यक्ति के स्वप्न मे प्रकट होते है और न किसी कलाकृति मे ही।

युंग ने कलाकृति की उपमा स्वप्न से देते हुए कहा है कि स्वप्न के समान ही कलाकृति अपनी व्याख्या नहीं करती; वह यह नही कहती कि यह करो, यह न करो, वह केवल बिम्ब प्रस्तुत करती है, जिससे अपना-अपना निष्कर्ष निकालने के लिए प्रत्येक व्यक्ति स्वतंत्र है।

निष्कर्ष-स्वरूप युग ने अन्त मे यह कहा है कि कलात्मक सृजन और उसकी प्रभविष्णुता का रहस्य 'समभागी होने के रहस्य' (पार्टिसिपेशन मिस्टीक) की ओर वापसी में निहित है। वह अनुभव का ऐसा स्तर है, जहाँ व्यक्ति नही, केवल मानव-अस्तित्व का महत्त्व हे। इसीलिए प्रत्येक महान कलाकृति वस्तुनिष्ठ और निर्वैयक्तिक होती है, फिर भी हम में से प्रत्येक को और सबको प्रभावित करती है। इसीलिए कवि के व्यक्तिगत जीवन को उसकी कला के लिए आवश्यक मानने के स्थान पर अधिक-से-अधिक उसके सृजनात्मक कार्य के लिए सहायक या बाधक माना जा सकता है।

कवि-कर्तृत्व और भारतीय दृष्टि

भारतीय काव्यशास्त्र काव्य-सृजन में कवि के कर्तृत्व को न तो रोमाण्टिक-सिद्धान्त के समान चरम वैयक्तिक मानता है और न ही इलियट-युंग के समान कवि को माध्यम मात्र ही। इस दृष्टि-भेद का कारण कुछ तो ऐतिहासिक है और कुछ सांस्कृतिक। यदि संस्कृत काव्यशास्त्र रोमाण्टिक काव्यशास्त्र के समान काव्य को एकमात्र कवि-व्यक्तित्व से निस्सृत नही मानता तो इसलिए कि जिस समय संस्कृत काव्यशास्त्र का निर्माण हुआ था उस समय भारत मे आधुनिक व्यक्तिवाद का उदय नही हुआ था। प्राचीन भारतीय समाज-

---

[1] Whenever the creative force predominates, human life is ruled and moulded by the unconscious as against the active will, and the conscious ego is swept along on subterranian currents. The work in process becomes the poet's fate and determines his psychic development.

Ibid., p. 222.

व्यवस्था में व्यक्ति के महत्त्व को वैसी स्वीकृति प्राप्त न थी जिसके लिए अठारहवीं सदी के अन्त में फ्रांसीसी क्रान्ति हुई। इसलिए संस्कृत काव्यशास्त्र में सृजन के प्रसंग में स्पष्ट रूप में कवि-व्यक्तित्व को स्वीकार नहीं किया गया तो ऐतिहासिक दृष्टि से यह स्वाभाविक ही कहा जाएगा।

किन्तु भारत में कवि व्यक्तित्व का सर्वथा तिरस्कार भी नहीं किया गया और इसका कारण भारतीय धर्म, दर्शन और संस्कृति में विद्यमान है। यूरोप में तो ईसाई धर्म के प्रभाव के कारण सृजन का एकमात्र अधिकारी ईश्वर ही मान्य है, इसलिए किसी मनुष्य के लिए स्रष्टा होने का दावा करना जुर्म है। रोमाण्टिक कवि इसी अर्थ में विद्रोही कहे जाते हैं कि उन्होंने इतनी प्रबल रूढ़ि को तोड़कर ईश्वर के समकक्ष स्वयं को भी सृजन में समर्थ स्रष्टा कहा। भारतीय धर्म और दर्शन में इतनी सी बात के लिए किसी विद्रोह या क्रान्ति की आवश्यकता न थी। यहाँ ईश्वर के अनेक नामों में से एक नाम 'कवि' भी है जिसके अनुसार वह कर्ता है। इतना ही नहीं, वहाँ कवि प्रायः प्रजापति और ब्रह्मा कहा गया है और इस प्रकार उसकी सृजनशीलता पर बल दिया गया है।

आनन्दवर्धन ने एक प्रचलित मान्यता को उद्धृत करते हुए कहा है कि अपार काव्य संसार में कवि ही एक प्रजापति है और उसे जैसा विश्व जँचता है वैसा ही उसे परिवर्तित कर देता है।[1] आनन्दवर्धन के इस मत का समर्थन अभिनवगुप्त ने अभिनवभारती में एकाधिक प्रसंगों में किया है। एक स्थल पर उन्होंने भट्टनायक का मत सूचित करते हुए एक छन्द उद्धृत किया है जिसमें कहा गया है कि 'त्रैलोक्य रूप नाटक का निर्माण करने वाले शंभु जो कवि हैं उन्हें नमस्कार है।'[2] अन्यत्र अभिनवगुप्त ने पुनः कहा है कि 'इस प्रकार कवि को नाट्यवेद के शरीरभूत रूपक का निर्माण करने में पितामह अर्थात् ब्रह्मा के सदृश होना चाहिए।'[3] निर्माण-कार्य में कवि और ब्रह्मा का सादृश्य भारतीय चिन्तन में इतने सहज भाव से स्वीकृत था कि अभिनवगुप्त ने पुनः एक अन्य प्रसंग में इस मान्यता की आवृत्ति करते हुए कहा कि 'अपने हृदय के आयतन में सतत उदित होनेवाली प्रतिभा रूप वाग्देवता के अनुग्रह से उत्थित विचित्र अपूर्व अर्थों के निर्माण की शक्ति से युक्त और प्रजापति के समान अपनी इच्छा के अनुसार जगत का निर्माण करनेवाले कवि के लिए भी नाट्य वर्जित नहीं है।'[4]

यदि इन समस्त उद्धरणों का विश्लेषण किया जाए तो तीन बातें निष्कर्ष स्वरूप प्राप्त होंगी। एक तो यह कि कवि प्रजापति के समान है, दूसरी यह कि कवि में निर्माण शक्ति होती है और तीसरी यह कि निर्माण कार्य में कवि स्वच्छन्द, स्वतन्त्र अथवा अपनी

---

[1] अपारे काव्यसंसारे कविरेकः प्रजापतिः।
यथास्मै रोचते विश्वं तथेदं परिवर्तते॥ ध्वन्यालोक, पृ० ५३०

[2] नमस्त्रैलोक्यनिर्माणकवये शम्भवे यतः। हिन्दी अभिनवभारती, पृ० ३६

[3] एवं पितामहसदृशेन सर्वदा नाट्यवेदशरीर-रूपकं निर्माणं कविना भाव्यमिति।
वही, पृ० १०६

[4] कवेरपि स्वहृदयायतनसततोदितप्रतिभाभिधानपरवाग्देवतानुग्रहोत्थितविचित्रापूर्वार्थनिर्माणशक्तिशालिनः प्रजापतेरिव कामजनितजगतः। वही, पृ० ४९

इच्छा के अधीन है। कवि और प्रजापति की तुलना के विषय मे भारतीय संस्कृति इतनी उन्मुक्त है कि कभी-कभी कवि को प्रजापति से भी श्रेष्ठ माना जाता है; क्योंकि ब्रह्मा की सृष्टि मे तो षड्रस ही होते है, जबकि कवि की सृष्टि मे नव रस होते है। इसके अतिरिक्त ब्रह्मा की सृष्टि कारण-कार्य नियम मे आबद्ध होने के कारण बँधी हुई है, जबकि कवि नियति-कृत नियमो को तोडकर कारण-कला के परे भी सृष्टि करने को स्वतंत्र है।

अभिनवगुप्त के अनुसार : "कवि का सृजन कारण के अंशमात्र के बिना भी अपूर्ववस्तु को उत्पन्न कर देता है।"[१] इसी बात को दूसरे शब्दो मे दुहराते हुए मम्मट कहते है कि : "कवि की भारती नियति के बनाए हुए नियमो से रहित होती है तथा किसी अन्य तन्त्र के अधीन नही होती।"[२] पाश्चात्य सस्कृति मे धार्मिक पूर्वाग्रह के कारण जिस धारणा को कुफ्र समझा जाता था और जिसे घोषित करने मे कवि और विचारक बहुत बडे साहस का अनुभव करते थे, उसे भारत मे अत्यत सहज भाव से मान लिया गया था। फिर भी इसका अर्थ काव्य-सृजन मे रोमाण्टिक काव्यशास्त्र के समान कवि-व्यक्तित्व को केन्द्रीय मानना न था। सृजन-कार्य मे कवि को सर्वतंत्र-स्वतत्र मानते हुए भी भारतीय आचार्यों ने काव्य को कवि के व्यक्तिगत जीवन के साथ सपुक्त करके नही देखा और न उन्होने कही यह कहा कि व्यक्ति-रूप कवि अपनी सृष्टि का केन्द्र-विन्दु है।

निस्सदेह एक स्थान पर राजशेखर ने यह कहा है कि कवि का जैसा स्वभाव होता है, वैसी ही उसकी कविता भी होती है; क्योंकि कहावत है कि चित्रकार अपने ही अनुरूप चित्र बनाता है।[3] राजशेखर का यह कथन कोलरिज के उस वक्तव्य से आश्चर्यजनक साम्य रखता है, जिसमें उन्होने कहा है कि : "सो ही इज : सो ही राइट्स" अर्थात जैसा वह है : वैसा लिखता है। किन्तु ध्यान से देखने पर राजशेखर के कथन से कही यह नही प्रकट होता कि वे काव्य को कवि के व्यक्तिगत जीवन का प्रतिबिम्ब मानते है। काव्य कवि के व्यक्तित्व से प्रभावित होता है, यह तो आनदवर्धन और अभिनवगुप्त भी मानते थे, किन्तु उसका अर्थ कवि के व्यक्तिगत जीवन से प्रभावित होना नही, बल्कि कवि के काव्यात्मक व्यक्तित्व से प्रभावित होना है। आनदवर्धन ने स्पष्ट लिखा है कि . "कवि काव्य मे शृगारी हो तो सारा ससार रसमय हो जाता है और वही वीतराग है तो सब कुछ नीरस हो जाता है।"[४] इस कथन के सबंध मे अपना मत व्यक्त करते हुए अभिनवगुप्त कहते है कि : "शृंगारी से तात्पर्य शृंगारोक्त विभाव अनुभाव और व्यभिचारी की चर्वणा-रूप प्रतीति रखने वाला, न कि स्त्री-व्यसनी मन्तव्य है। अतएव भरत मुनि 'कवि के अन्तर्गत भाव' को 'काव्य के अर्थों का भावन

---

१ अपूर्वं यद्वस्तु प्रथयति बिना कारणकलां। ध्वन्यालोक-लोचन, पृ० १

२ नियतिकृतनियमरहितां ह्लादैकमयीमनन्यपरतन्त्राम्।
नवरसरुचिरां निर्मितिमादधती भारती कवेर्जयति॥ काव्यप्रकाश, १।१

3 स यत्स्वभावः कविस्तदनुरूपं काव्यम्। यादृशाकारश्चित्रकारस्तादृशाकारमस्य चित्रमिति प्रायो वादः। काव्यमीमासा, पृ० १२२

४ शृंगारी चेत्कविः काव्ये जातं रसमयं जगत्।
स एव वीतरागश्चेन्नीरसं सर्वमेव तत्॥ ध्वन्यालोक, पृ० ५३०

करता है' इत्यादि मे 'कवि' शब्द को ही मूर्धाभिषिक्त रूप मे प्रयोग करते है।[१] अभिनवगुप्त की व्याख्या से स्पष्ट है कि रस के आचार्य जब कवि को मूर्धाभिषिक्त स्थान देते हैं तो उनका तात्पर्य कवि-व्यक्ति से नही, बल्कि काव्य के रचयिता व्यक्तित्व से होता है। इसीलिए जब वे कहते है कि कवि के शृगारी होने पर सारा जगत रसमय हो जाता है तो स्पष्ट ही उनका सकेत कवि व्यक्ति के शृगारी होने की ओर नही, बल्कि काव्य के सृजन म रत सत्ता की ओर होता है। इसीलिए उन्होंने स्पष्ट कर दिया कि शृगारी से तात्पर्य स्त्री व्यसनी नही है, बल्कि विभावादि की चर्वणा-रूप प्रतीति से युक्त व्यक्ति से है। और यही रस सिद्धान्त की सृजन सबधी निर्वैयक्तिकता प्रकाशित होती है। जो भारतीय चिन्तन की मूल प्रकृति से पूर्णत परिचित नही हैं, उन्हे इस बात मे अन्तर्विरोध दिखाई पड सकता है कि सस्कृत आचार्य काव्य सृजन मे कवि को प्रजापति के समान सर्वतत्र स्वतन्त्र और मूर्धाभिषिक्त स्थान देते हुए भी काव्य को उसके वैयक्तिक जीवन से मुक्त रखने के विश्वासी थे। इसमे विरोधाभास हो सकता है, किन्तु वास्तविक अन्तर्विरोध नही है। भारतीय परपरा के अनुसार सृजन प्रक्रिया म कवि-कर्तृत्व की भूमिका इतनी गहन और विलक्षण है कि कभी कभी पश्चिम के रोमान्टिक विचार की चकाचौंध से प्रभावित सस्कृत काव्यशास्त्र के भारतीय विशेषज्ञ भी उसकी विलक्षणता को ठीक ठीक ग्रहण नही कर पाते और इस विषय म सस्कृत काव्यशास्त्र की परिसीमा की शिकायत कर बैठते हैं। उदाहरण के लिए, प्रो० एस० के० डे ने लिखा है कि "सस्कृत काव्यशास्त्र ने उस कवि व्यक्तित्व की उपेक्षा की है जिसके कारण कोई कलाकृति वैशिष्ट्य प्राप्त करती है।"[२] स्थिति यह है कि सस्कृत आचार्यों ने कवि-व्यक्ति की उपेक्षा भले ही की हो, किन्तु कवि-व्यक्तित्व अथवा कवि के 'काव्यात्मक' व्यक्तित्व के महत्त्व का सदैव स्वीकार किया है। स्वय आदिकवि के प्रथम उद्गार का विश्लेषण करते हुए अभिनवगुप्त कहते हैं कि "क्रौंच के द्वन्द्व-वियोग से अर्थात सहचरी के मारे जाने से, साहचर्य के ध्वस हो जाने के कारण उत्पन्न शोकरूप स्थायी भाव निरपेक्ष भाव होने के कारण विप्रलभ शृगारोचित रति स्थायी भाव से अतिरिक्त ही है न कि मुनि का शोक है, यह मानना चाहिए। क्योंकि ऐसा होने पर उस क्रौंच के दुःख म वह भी दुःखित हो जाते हैं, फिर रसात्मकता की बात नही बनेगी।"[३]

---

[१] शृगारीति। शृगारोक्तविभावानुभावव्यभिचारिचर्वणारूप प्रतीतिमयो न तु स्त्रीव्यसनीति मन्तव्यम्। अतएव भरतमुनि—'कवेरन्तर्गत भाव' 'काव्यार्थान् भावयति' इत्यादिषु कविशब्दमेव मूर्धाभिषिक्ततया प्रयुङ्क्ते। ध्वन्यालोक-लोचन, पृ० ५३०

[२] One of the greatest limitations of Sanskrit poetics which hindered its *growth into* a proper aesthetic was its almost total disinterest in the poetic personality by which a work of art attains its particular shape and individual character *Thereby it neglects a most vital aspect of* its task the study of poetry as the individualised expression of the poet's soul *Sanskrit Poetics as a Study of Aesthetics*, p 72

[३] क्रौंचस्य द्वन्द्वियोगेन सहचरीहननोद्भूतेन साहचर्यध्वसनेनोत्थितो शोक स्थायिभावो निरपेक्षभावत्वाद्विप्रलम्भशृगारोचितरतिस्थायिविभावादन्य एव न तु मुने शोक इति मन्तव्यम्। एव हि सति तद्दुःखेन सोऽपि दुःखित इति कृत्वा रसस्यात्मतेति निरवकाश भवेत। ध्वन्यालोक-लोचन, पृ० ८६–८८

जब आदि कवि वाल्मीकि को भी काव्य में अपने व्यक्तिगत शोक या क्रोध को व्यक्त करने की स्वतंत्रता नही है तो फिर किसी सामान्य कवि की बात ही क्या ? रस-सिद्धान्त के अनुसार, वस्तुतः यह प्रश्न कवि-व्यक्तित्व की प्रतिष्ठा-अप्रतिष्ठा का नही, बल्कि काव्य में सफल रस-निष्पत्ति का है और संस्कृत आचार्यों के अनुसार व्यक्तिगत राग-द्वेषों की अविकल अभिव्यक्ति काव्य मे रस की सृष्टि के लिए बाधक है, इसलिए कोई कवि चाहे जितना बड़ा हो और कवि का व्यक्तिगत अनुभव चाहे कितना अभिभूत कर देनेवाला हो, किन्तु अपने लौकिक रूप मे वह काव्य मे अभिव्यक्ति प्राप्त करने योग्य नही है। इस प्रकार काव्य का स्रष्टा अलौकिक कवि-व्यक्तित्व वाला व्यक्ति ही होता है जो बहुत-कुछ युंग की वस्तुनिष्ठ, आत्मेतर अथवा निर्वैयक्तिक चेतन सत्ता जैसा है।

सारांश यह कि संस्कृत काव्यशास्त्र का सर्जक कवि न तो सृजन-प्रक्रिया का निरंकुश नियंता स्रष्टा व्यक्ति है और न यंत्रवत आचरण करनेवाला माध्यम-मात्र; बल्कि वह प्रजापति की गरिमा मे युक्त किन्तु अपनी लौकिक सीमाओं से मुक्त रचनाकार है, जिसके व्यक्तित्व को भारतीय शब्दावली मे 'अलौकिक', 'साधारण' एवं 'प्रतिभानमय' कह सकते है।

यह सुखद संयोग है कि जिस निष्कर्ष पर भारतीय आचार्य लगभग सहस्र वर्ष पूर्व पहुँच चुके थे, वही अब पाश्चात्य चिन्तन भी लम्बी यात्रा के बाद पहुँच रहा है। सुप्रसिद्ध अमरीकी आलोचक जॉर्ज टी० राइट ने 'काव्य-निबद्ध कवि' नामक पुस्तक में इलियट, यीट्स और पाउण्ड के काव्य मे उक्ति-निबद्ध-व्यक्तित्व के स्वरूप पर विचार करते हुए कहा है कि : "काव्य, प्रगीत हो या नाट्य, प्रत्येक स्थिति में सीधे कवि के अनुभव को व्यक्त नही करता, बल्कि उसमें उस अनुभव का काव्य-रूप ही होता है। यहाँ तक कि कवि के नितान्त वैयक्तिक उद्‌गार समझे जाने वाले प्रगीत में भी रचनाकार कवि-व्यक्तित्व एवं काव्य-निबद्ध व्यक्ति के बीच न्यूनाधिक अन्तराल अवश्य विद्यमान रहता है।"[१] जॉर्ज राइट के ये निष्कर्ष स्पष्टतः भारतीय मत का पोषण करते है।

---

१ However accustomed we may be to the more direct lyric in which the thoughts or feelings of the poet..... are stated with unambiguous explicitness, art is formal and there must always be a distance, minimized or emphasized, between the maker of the poem and the persons in the poem. Poetry, dramatic or lyric, does not present fragments of human experience, but formalized versions of it......the persons, including the 'I' do not exist outside the poem, or at least do not exist in the same way. *The Poet in the Poem*, p. 7-8.

उपसंहार

भारतीय रस-सिद्धान्त और पाश्चात्य सौन्दर्यशास्त्र—दोनों ही चिन्तन-परंपराओ में अपने-अपने ढंग से कला और काव्य संबंधी आधारभूत प्रश्नों पर विचार करते हुए संतोषप्रद समाधान ढूंढने का प्रयास किया गया है। स्पष्टतः उनके ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक संदर्भ भिन्न रहे है। इसलिए चिन्तन-क्रम में निर्मित होनेवाली सौन्दर्यशास्त्रीय अवधारणाओं में भी भिन्नता सहज स्वाभाविक है। इनके अतिरिक्त उनके विवेच्य विषय की सीमाओं में भी व्याप्ति की दृष्टि से भेद है। परन्तु फिर भी इतना निश्चित है कि कला और काव्य से संबद्ध विचारणीय और आधारभूत प्रश्न बहुत-कुछ एक-से है। इसलिए सांस्कृतिक संदर्भों के आवरण को हटाकर पूर्व और पश्चिम की सौन्दर्यशास्त्रीय अवधारणाओं की तुलना संभव है। एक सार्वभौम संतुलित कलादृष्टि की दिशा मे अग्रसर होने के लिए इस कार्य की उपादेयता तो सहज सिद्ध है ही, इसके अतिरिक्त कोई दूसरा विकल्प भी नहीं है।

पाश्चात्य सौन्दर्यशास्त्र की शब्दावली मे कला का मूल तत्त्व 'सौन्दर्य' है और भारतीय रस-सिद्धान्त के अनुसार 'रस'। स्पष्टतः इन दोनों अवधारणाओं में भेद है। विद्वानों ने प्रायः इनके भेद पर बल दिया है और अपनी-अपनी परंपरा के मोह के कारण एक को दूसरे से श्रेष्ठ सिद्ध करने का प्रयास भी किया है। यदि किसी सार्वभौम कला-दृष्टि के विकास की चिन्ता न हो, तो इतने से ही संतोष किया जा सकता है। किन्तु सर्वविदित है कि इस प्रकार की पूर्वाग्रहयुक्त तुलना व्यर्थ है। पाश्चात्य-चिन्तन के 'सौन्दर्य' को स्थूल अवधारणा और भारतीय-चिन्तन के 'रस' को सूक्ष्म अवधारणा कह देने से दोनो के सापेक्ष महत्त्व का निर्णय नही हो जाता। संभवतः एक को सहसा स्थूल और दूसरे को सूक्ष्म कह देना समस्या को अत्यंत सरल और सुगम बना देना है। इसी प्रकार यह कहना भी पर्याप्त नही है कि किसी विदेशी भाषा मे 'रस' संज्ञा का ठीक-ठीक अनुवाद करना असंभव है; क्योंकि यदि 'रस' के लिए पाश्चात्य चिन्तन से कोई प्रतिशब्द या पर्याय ढूंढना कठिन है तो पाश्चात्य चिन्तन की सौन्दर्यशास्त्रीय संज्ञा 'ब्यूटी' का भी सटीक पर्याय 'सौन्दर्य' नही है। अन्तर है तो यही कि अपने यहाँ 'ब्यूटी' के लिए 'सौन्दर्य' शब्द को स्थिर करके जहाँ सतोष कर लिया गया है, पश्चिम के विचार-क्रम मे 'रस' को अपनी भाषा में ठीक-ठीक समझने के लिए निरन्तर एक के बाद दूसरे शब्द को आजमाने का प्रयास किया गया है। 'ध्वन्यालोक' का अनुवाद करते हुए याकोबी ने 'रस' के लिए जर्मन शब्द 'Stimmung' का प्रयोग किया तो एक विद्वान ने 'Geschmack' का और अन्य विचारक ने 'Saveur' का। अंग्रेजी में उसके लिए 'Taste', 'Flavour', 'Relish' 'Sentiment', 'Aesthetic Emotion' आदि अनेक शब्दों का प्रयोग सुलभ होता है।

भारतीय रस-सिद्धान्त और पाश्चात्य सौन्दर्यशास्त्र—दोनों ही चिन्तन-परंपराओ मे अपने-अपने ढंग से कला और काव्य संबंधी आधारभूत प्रश्नों पर विचार करते हुए संतोषप्रद समाधान ढूंढने का प्रयास किया गया है। स्पष्टतः उनके ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक संदर्भ भिन्न रहे है। इसलिए चिन्तन-क्रम में निर्मित होनेवाली सौन्दर्यशास्त्रीय अवधारणाओं में भी भिन्नता सहज स्वाभाविक है। इनके अतिरिक्त उनके विवेच्य विषय की सीमाओं में भी व्याप्ति की दृष्टि से भेद है। परन्तु फिर भी इतना निश्चित है कि कला और काव्य से संवद्ध विचारणीय और आधारभूत प्रश्न वहुत-कुछ एक-से है। इसलिए सांस्कृतिक संदर्भो के आवरण को हटाकर पूर्व और पश्चिम की सौन्दर्यशास्त्रीय अवधारणाओं की तुलना संभव है। एक सार्वभौम संतुलित कलादृष्टि की दिशा में अग्रसर होने के लिए इस कार्य की उपादेयता तो सहज सिद्ध है ही, इसके अतिरिक्त कोई दूसरा विकल्प भी नहीं है।

पाश्चात्य सौन्दर्यशास्त्र की शव्दावली मे कला का मूल तत्त्व 'सौन्दर्य' है और भारतीय रस-सिद्धान्त के अनुसार 'रस'। स्पष्टतः इन दोनों अवधारणाओं में भेद है। विद्वानो ने प्रायः इनके भेद पर वल दिया है और अपनी-अपनी परंपरा के मोह के कारण एक को दूसरे से श्रेष्ठ सिद्ध करने का प्रयास भी किया है। यदि किसी सार्वभौम कलादृष्टि के विकास की चिन्ता न हो, तो इतने से ही सतोप किया जा सकता है। किन्तु सर्वविदित है कि इस प्रकार की पूर्वाग्रहयुक्त तुलना व्यर्थ है। पाश्चात्य-चिन्तन के 'सौन्दर्य' को स्थूल अवधारणा और भारतीय-चिन्तन के 'रस' को सूक्ष्म अवधारणा कह देने से दोनो के सापेक्ष महत्त्व का निर्णय नही हो जाता। संभवतः एक को सहसा स्थूल और दूसरे को सूक्ष्म कह देना समस्या को अत्यंत सरल और सुगम वना देना है। इसी प्रकार यह कहना भी पर्याप्त नही है कि किसी विदेशी भापा मे 'रस' संज्ञा का ठीक-ठीक अनुवाद करना असंभव है; क्योंकि यदि 'रस' के लिए पाश्चात्य चिन्तन से कोई प्रतिशव्द या पर्याय ढूंढना कठिन है तो पाश्चात्य चिन्तन की सौन्दर्यशास्त्रीय संज्ञा 'व्यूटी' का भी सटीक पर्याय 'सौन्दर्य' नही है। अन्तर है तो यही कि अपने यहाँ 'व्यूटी' के लिए 'सौन्दर्य' शव्द को स्थिर करके जहाँ सतोप कर लिया गया है, पश्चिम के विचार-क्रम मे 'रस' को अपनी भापा मे ठीक-ठीक समझने के लिए निरन्तर एक के वाद दूसरे शव्द को आजमाने का प्रयास किया गया है। 'ध्वन्यालोक' का अनुवाद करते हुए याकोवी ने 'रस' के लिए जर्मन शव्द 'Stimmung' का प्रयोग किया तो एक विद्वान ने 'Geschmack' का और अन्य विचारक ने 'Saveur' का। अंग्रेजी में उसके लिए 'Taste', 'Flavour', 'Relish' 'Sentiment', 'Aesthetic Emotion' आदि अनेक शव्दों का प्रयोग सुलभ होता है।

किन्तु मुख्य प्रश्न इन प्रतिशब्दों के औचित्य का नहीं बल्कि दोनों चिन्तन-परंपराओं में प्राप्त होनेवाले मूल कला-तत्त्वों से द्योतित मान्यताओं की तुलना का है। इस दृष्टि से भारतीय रस और पाश्चात्य ब्यूटी की तुलना पर्याप्त रोचक हो सकती है।

न तो रस उतना सूक्ष्म है जितना समझा जाता है और न ब्यूटी ही उतनी स्थूल है जितनी कही जाती है। यदि स्थूलता का आधार ऐंद्रियता ही है तो आस्वादपरक 'रस' भी एक स्तर पर ऐंद्रिय व्यापार है। इसी प्रकार यदि सूक्ष्मता का आधार अतींद्रियता है तो रस के समान ही ब्यूटी को भी पश्चिमी चिन्तन में अतींद्रिय स्तर पर परिभाषित किया गया है। रस का संबंध यदि आत्मा से है तो ब्यूटी भी आइडिया तथा 'इंट्यूशन' जैसे सूक्ष्मतम अतींद्रिय तत्त्वों से संबद्ध की गई है। इसलिए स्थूलता-सूक्ष्मता के आधार पर इन दोनों अवधारणाओं में अन्तर करने का प्रयास निरर्थक है।

वस्तुतः रस और सौन्दर्य जितने विरोधी कहे जाते हैं उतने हैं नहीं। स्वयं रसवादी आचार्यों ने भी रस के अंतर्गत किसी-न-किसी रूप में सौन्दर्य-बोधक तत्त्व को सन्निविष्ट करने का प्रयास किया है। आनन्दवर्धन ने रसाभिबोधक तत्त्व को लावण्य कहा है जो सौन्दर्य का ही सूक्ष्मतम रूप है। इसी प्रकार पंडितराज जगन्नाथ ने रस को रमणीयता का वाहक कहा है। लावण्य और रमणीयता दोनों ही सौन्दर्यजातीय शब्द हैं। रसवादी आचार्यों ने यदि इस संदर्भ में सौन्दर्य शब्द का प्रयोग नहीं किया तो इसका स्पष्ट कारण है। संस्कृत काव्य-परंपरा में सौन्दर्य शब्द का संबंध अलंकार और रीति से स्थिर हो चुका था और उसे शरीरधर्मा ही माना जाने लगा था। इस प्रकार सौन्दर्य भाव एवं अनुभूति से रहित वस्तुगत गुण के रूप में स्वीकृत हो चला था। आनन्दवर्धन ने इसी कारण महाकवियों की वाणी में प्राप्त होनेवाले तत्त्व को प्रसिद्ध अवयवों के सौन्दर्य से अतिरिक्त किसी अनिर्वचनीय सौन्दर्य तत्त्व के रूप में निरूपित किया और परिपाटीविहित सौन्दर्य से उसकी विशिष्टता प्रकट करने के लिए लावण्य संज्ञा से अभिहित किया। इसी प्रकार पंडितराज की 'रमणीयता' में सौन्दर्य-बोधक वस्तुगत गुण के साथ हृदय के रमने का भी अर्थ निहित है जिससे उसमें अनुभूति-तत्त्व का भी समावेश हो जाता है। इस प्रकार 'रस' संज्ञा में कलागत सौन्दर्य के साथ ही उसकी अनुभूति का सौन्दर्य भी निहित है।

इस प्रकार पाश्चात्य सौन्दर्यशास्त्र में निरूपित सौन्दर्य शब्द की सीमा यह नहीं है कि वह स्थूल है बल्कि वह केवल कलागत सौन्दर्य का ही द्योतन करता है और उससे ग्राहक की अनुभूति का बोध नहीं होता।

पाश्चात्य सौन्दर्यशास्त्र की इस सीमा की ओर संकेत करते हुए जॉन ड्यूई ने बहुत पहले कहा था कि अंग्रेजी भाषा में 'आर्टिस्टिक' और 'एस्थेटिक' दो शब्दों से अभिहित होनेवाली वस्तु के लिए कोई एक शब्द नहीं है यदि एक शब्द से कलागत गुण का अभिधान होता है तो दूसरे से ग्राहक की अनुभूति का और एक उभयनिष्ठ संज्ञा के अभाव में दोनों में अंतर्निहित पारस्परिक संबंध का बोध नहीं हो पाता। जान ड्यूई के सम्मुख संभवतः भारतीय काव्यशास्त्र की रस संज्ञा नहीं थी इसीलिए उन्होंने पाश्चात्य सौन्दर्यशास्त्र के एक अभाव की ओर संकेत तो किया किन्तु कोई संतोषप्रद समाधान न ढूंढ सके। स्पष्ट ही यहाँ रस संज्ञा की विशिष्टता उल्लेखनीय है। रस की व्याप्ति में

आस्वाद्य पदार्थ और आस्वाद की अनुभूति दोनों ही पक्ष सहज सन्निविष्ट हैं। इसके अतिरिक्त दोनों ही पक्षों में रस के द्वारा अभिहित होनेवाला तत्त्व वस्तु-सौन्दर्य के साथ ही अनुभूति-संपृक्त भी है। रस से एक ओर जिस काव्यकृति का वोध होता है, उसमें विभावादि के साथ ही भाव-सौन्दर्य भी निहित है, दूसरी ओर उससे जिस सहृदयगत काव्यानुभूति की व्यंजना की जाती है, वह भी विभावादि के मानस-साक्षात्कार के साथ-साथ स्थायी भाव की चर्वणा से संश्लिष्ट होता है। निष्कर्ष यह कि पाश्चात्य सौन्दर्यशास्त्रीय चिन्तन की 'सौन्दर्य' नामक अवधारणा को स्वीकार करते हुए भी यदि सार्वभौम सौन्दर्यशास्त्रीय अनुशासन-पद्धति के अन्तर्गत भारतीय अवधारणा 'रस' को ग्रहण कर लिया जाए तो ड्यूई द्वारा निर्दिष्ट अभाव की पूर्ति हो जाए और कला संबंधी विषयनिष्ठ एवं विषयिनिष्ठ दोनों पक्षों को समेटने में समर्थ एक ही आधारभूत अवधारणा सुलभ हो जाए।

इसी प्रकार काव्यानुभूति की स्वरूप-व्याख्या संबंधी अवधारणाएँ भी तुलना की दृष्टि से अत्यंत रोचक है। रस-सिद्धान्त में काव्यानुभूति की विशिष्टता निरूपित करने के लिए 'अलौकिक' शब्द का प्रयोग किया गया है। संस्कृत आचार्यों ने रस को अलौकिक माना है, जो ठेठ भारतीय परिकल्पना है। अलौकिकता से संबद्ध भारतीय चिन्तन के पूरे संदर्भ को ध्यान में न रखने के कारण प्रायः उसका भ्रान्त अर्थ भी किया जाता है और भ्रमवश उसे लोक-जीवन से सर्वथा विच्छिन्न आध्यात्मिकता का पर्याय मान लिया जाता है। इस प्रकार का भ्रम पाश्चात्य विचारकों को ही नही, अपितु कभी-कभी भारतीय विचारकों को भी हुआ है। सामान्य जीवनानुभव और आध्यात्मिक अनुभव के द्वैतजन्य द्वन्द्व की चिन्तन-परंपरा में पोषित पाश्चात्य विचारक यदि रस की अलौकिकता का अर्थ ठीक-ठीक ग्रहण न कर सकें तो विशेष आश्चर्य नहीं, किन्तु भारतीय चिन्तन की शब्दावली से परिचित विद्वानों के लिए तो इस विषय में भ्रम की तनिक भी आशंका नहीं होनी चाहिए। प्राचीन भारतीय चिन्तक जब किसी वस्तु को अलौकिक कहते है तो उसका अर्थ नितान्त लोक-विच्छिन्न नही होता। अलौकिक का अर्थ—लोक-संबद्ध होते हुए भी लोक-भिन्न एवं लोक-विशिष्ट होता है; क्योंकि 'अ' उपसर्ग साम्य-युक्त वैषम्य का द्योतक है। अलौकिक को भ्रमवश आध्यात्मिक न मान लिया जाए, इस आशंका की कल्पना करके ही संस्कृत आचार्यो ने रस को योगि-प्रत्यक्ष अनुभूति से स्पष्टतः भिन्न कहा; और काव्यानुभूति को ब्रह्मानन्द का पर्याय नही, अपितु 'ब्रह्मानन्द सहोदर' तथा 'ब्रह्मास्वाद-सविध' माना।

इस प्रकार रस की अलौकिकता—लौकिकता और आध्यात्मिकता दोनों का अति-क्रमण करती है। कहना न होगा कि काव्यानुभूति की स्थिति के संबंध में पाश्चात्य सौन्दर्यशास्त्र का कोई भी सिद्धान्त इतना स्पष्ट नहीं है। अधिकांश सिद्धान्त किसी-न-किसी अतिवाद पर जा पड़ते है। यदि प्रकृतवादी विचारक काव्यानुभूति को जीवनानुभूति से संबद्ध करने की चिन्ता में उसे जीवनानुभूति से अभिन्न स्थापित कर देते है तो दूसरी ओर कलावादी विचारक उसे जीवन से सर्वथा विच्छिन्न एक सर्वथा अद्वितीय सत्ता के रूप में प्रतिष्ठित कर डालते है। इन दोनों अतिवादों के बीच जिन्होंने संतुलन स्थापित करने का प्रयास किया, उनके सामने भी कलानुभूति की विशिष्टता के निरूपण के लिए कोई युक्तिसंगत ठोस दार्शनिक आधार सुलभ न हो सका। वस्तुतः काव्यानुभूति की विशिष्टता का उल्लेख करना ही पर्याप्त नहीं है, बल्कि उस विशिष्टता के लिए सहृदयगत किसी निश्चित आधार

का निर्देश आवश्यक है। संस्कृत के रसवादी आचार्यों को भारतीय दर्शन की वह परंपरा सुलभ थी, जिसमें चेतना के चित् और चित्त नामक दो स्तरों की स्वीकृति है। काव्यानुभूति एक ओर चित्तवृत्तियों का आधार ग्रहण करती है तो दूसरी ओर उसका संबंध चित् के आस्वाद से भी है, चित्तवृत्तियाँ उसे लौकिक अनुभूतियों से संबद्ध करती हैं तो चित् तत्त्व उन लौकिक अनुभूतियों की सीमा से मुक्त करता है। इस प्रकार काव्यानुभूति को चिद्विशिष्ट-भाव रूप माना जाए अथवा भाव विशिष्ट-चिद्रूप, दोनों ही स्थितियों में उसकी अलौकिकता स्वतःसिद्ध है। रस की अलौकिकता के इस दार्शनिक आधार के सम्मुख प्रश्नचिह्न लगाए जाने की आशंका को स्वीकार करते हुए यह मानने में कठिनाई नहीं होगी कि काव्यानुभूति की अलौकिकता निरूपित करने के विषय में रस सिद्धान्त सर्वथा सुसंगत एवं युक्तिसंगत है। इस प्रकार सार्वभौम सौन्दर्यशास्त्रीय अनुशासन-पद्धति के लिए रस की 'अलौकिकता' भी पर्याप्त विचारणीय अवधारणा है।

रस सिद्धान्त की इसी प्रकार की एक अन्य महत्त्वपूर्ण उपलब्धि आनन्द-विषयक अवधारणा है। रसानुभूति एकान्त सुखात्मक होती है या दुःखात्मक भी—यह प्रश्न पूर्व और पश्चिम दोनों विचारधाराओं में विचारणीय रहा है। पूर्व में इस समस्या का समाधान उतना दुष्कर नहीं था, क्योंकि यहाँ यह प्रश्न केवल दुःखमूलक भावों पर आश्रित रसों के प्रसंग में उठा। इसके विपरीत पश्चिमी काव्यशास्त्र का आरंभ ही त्रासदी के संदर्भ में हुआ, जिसका आधार त्रास और करुणा—दोनों दुःखद अनुभूतियाँ थीं। अतः अनेक प्रकार से नैतिक, मनोवैज्ञानिक, कलात्मक आदि व्याख्याएँ प्रस्तुत कर इस अनुभूति के स्वरूप की व्याख्या की गई, और अन्ततः विविध व्याख्याओं के घटाटोप में इस प्रश्न पर बल दिया गया कि यह अनुभूति दुःखद इसलिए नहीं होती कि वह प्रत्यक्षानुभव रूप न होकर चर्वणा-रूप होती है। रस सिद्धान्त में इसीलिए रसानुभूति के लिए 'सुखद' शब्द का प्रयोग न कर 'आनन्द' का प्रयोग विशिष्ट अवधारणा के रूप में किया गया कि वह लौकिक जीवन में दुःख और सुख की वाचक शब्दावली से भिन्न है। इन आचार्यों ने यह भी स्पष्ट कर दिया कि यह अनुभूति दुःख से जितनी भिन्न है, उतनी ही लौकिक अर्थ में सुख से भी। इसीलिए 'आनन्द' की इस मनःस्थिति को इन आचार्यों ने 'संविद्-विश्रान्ति', 'समापत्ति', 'लय', चित्त की 'समाहिति' आदि अनेक पारिभाषिक शब्दों में समझाया ही नहीं, काव्यशास्त्रीय शब्दावली को समृद्ध भी किया। रसानुभूति की चर्वणारूपता या आस्वादरूपता तो रस-सिद्धान्त में आरम्भ से ही थी। इस प्रकार सौन्दर्यानुभूति के प्रसंग में, पाश्चात्य चिन्तन द्वारा प्रयुक्त 'प्लेजर' या 'ज्वॉय' आदि शब्दों की तुलना में रस-सिद्धान्त का 'आनन्द' शब्द अधिक अर्थगर्भी है।

काव्यानुभूति की स्वरूप-व्याख्या के विषय में पाश्चात्य सौन्दर्यशास्त्र के सम्मुख एक प्रश्न यह भी रहा है कि सौन्दर्यानुभूति भावप्रधान होती है अथवा ज्ञानप्रधान। यहाँ भी पाश्चात्य चिन्तन का हृदय-बुद्धि द्वन्द्व सक्रिय दिखाई पड़ता है। हृदय और बुद्धि को परस्पर विरोधी मानकर पाश्चात्य चिन्तन ने काव्यानुभूति के सन्तुलित रूप के निर्धारण के लिए दुर्लंघ्य दीवार खड़ी कर ली। यहाँ तक कि दोनों के बीच युक्तिसंगत सन्तुलन प्राप्त करने के लिए कोई आधार सहज सुलभ न हो सका। कहना न होगा कि प्राचीन भारतीय चिन्तन में हृदय और बुद्धि के बीच इस प्रकार के किसी द्वन्द्व की कल्पना दुर्लभ है। रस की अनुभूति

संवित् या चित् की जिस उच्च भूमि पर प्रतिष्ठित की गई है, वह हृदय और बुद्धि दोनों से कहीं ऊपर है। प्राचीन भारतीय चिन्तन में आनन्द ज्ञान का पर्याय है। इसी आधार पर अभिनवगुप्त ने अत्यंत सहज भाव से रस को प्रीति एवं व्युत्पत्ति दोनो से संवलित माना है; क्योंकि प्रीति और व्युत्पत्ति पर्याय है। रस-सिद्धान्त के अनुसार रस आनन्द या ज्ञान प्रदान नहीं करता, अपितु वह स्वयं आनन्दमय और ज्ञानमय है। इस दृष्टि से भी रस-सिद्धान्त विश्व सौन्दर्यशास्त्र के लिए एक महत्त्वपूर्ण समाधान प्रस्तुत करता है।

काव्यानुभूति के संदर्भ में रस-सिद्धान्त की सभवत: सबसे बड़ी देन शान्त रस की परिकल्पना है। यों तो शान्त रस की स्वीकृति भरत मुनि के 'नाट्यशास्त्र' मे भी मिलती है, किन्तु सभी रसों की परिणति शान्त रस मे होती है—इस स्पष्ट एवं निर्भ्रान्ति स्थापना का श्रेय अभिनवगुप्त को है। पश्चिम के सौन्दर्यशास्त्रियों ने भी यह स्वीकार किया है कि : "सौन्दर्यानुभूति में एक प्रकार की अनुचिन्तनजनित शान्ति एवं विश्रान्ति का अनुभव होता है, किन्तु इस विश्रान्ति का ठीक-ठीक निरूपण वहाँ परिलक्षित नही होता।" इसके विपरीत प्राचीन भारतीय परंपरा में यह शान्ति तत्त्व अनेक क्षेत्रों में व्यापक रूप से गृहीत रहा है। बौद्ध धर्म का 'निर्वाण' और संगीतशास्त्र का 'मौन' उदाहरण है। ऐसी चिन्तन-परंपरा के बीच शान्त-रस-पर्यवसायी रस-दशा की स्थापना सर्वथा सहज थी। निस्संदेह पश्चिम के आधुनिक विचारक आइ० ए० रिचर्ड्स ने 'संवेग-सतुलन' सिद्धान्त के रूप मे अत्यत महत्त्व-पूर्ण स्थापना की है और उसे एक प्रकार से सभी रसों की शान्त-पर्यवसान संबंधी मान्यता का ही अगला चरण माना जा सकता है। किन्तु यहाँ भी कदाचित् अभिनवगुप्त का शान्त रस-विवेचन पर्याप्त उपादेय हो सकता है।

काव्यानुभूति के स्वरूप से ही संवद्ध काव्यानुभूति की प्रक्रिया का प्रश्न है, जिसे स्पष्ट करने के लिए पाश्चात्य सौन्दर्यशास्त्र में मुख्यत: अनासक्ति (डिटैचमेंट), निर्वैयक्तिकता (इम्पर्सनैलिटी), मानसिक अन्तराल (साइकिकल डिस्टेंस), समानुभूति (एम्पेथी) आदि अनेक सिद्धान्तों की परिकल्पना की गई। निस्संदेह ये सिद्धान्त परस्पर परिशोधक ही नही अपितु परस्पर पूरक भी है और इस प्रकार ये सभी सिद्धान्त समग्र रूप से काव्यानुभूति की प्रक्रियागत समस्याओं को यथाशक्ति सुलझाने का प्रयास करते है। किन्तु इन विविध सिद्धान्तों के समकक्ष रस-सिद्धान्त में निरूपित एक अकेले 'साधारणीकरण' को रखकर विचार किया जाए तो तत्काल ही स्पष्ट हो जाएगा कि 'साधारणीकरण' काव्यानुभूति की प्रक्रिया संबंधी समस्त प्रश्नों के समाधान में कहीं अधिक समर्थ है। 'साधारणीकरण' भी भारतीय चिन्तन की उन विशिष्ट अवधारणाओं में से है, जिसे पाश्चात्य शब्दावली में अनूदित करना असंभवप्राय है। अंग्रेजी में प्राय: इसे 'जेनरलाइजेशन' 'यूनिवर्सलाइजेशन', 'ट्रान्सपर्सनलाइजेशन' आदि शब्दों के द्वारा समझाने का प्रयास किया गया है। किन्तु पूर्ववर्ती विवेचन से स्पष्ट है कि 'साधारणीकरण' की संपूर्ण अर्थवत्ता का द्योतन कराने में ये सभी शब्द अपर्याप्त है। साधारणीकरण केवल 'विशेष' को 'सामान्य' बनाना नहीं है; क्योंकि 'साधारण' ऐसा सामान्य है, जिसमें 'विशेष' की विशिष्टता पूर्णत: सुरक्षित रहती है। इसी प्रकार साधारणीकरण में समानुभूति के साथ ही अनासक्ति, निर्वैयक्तिकता एवं मानसिक अन्तराल भी बने रहते हैं। यह ऐसा तादात्म्य अथवा तन्मयीभवन है, जिसमें सहृदय का चित्त देश-काल-व्यक्ति-विषयक संबंधो से मुक्त होते हुए भी अपनी अस्मिता का आस्वाद

सर्वथा अनावश्यक कार्य घोषित करते हुए कला को केवल आस्वाद की वस्तु के रूप में ही स्वीकार किया है। जो विचारक सौन्दर्यानुभूति को कला की चरम उपलब्धि मानते हैं उनकी भी धारणा यही है कि कलाकृति को यथावत् स्वीकार करके उसका आस्वादन करना पर्याप्त है और यहाँ किसी प्रश्न के लिए अवकाश नहीं है। सौन्दर्यशास्त्र के विषय में पश्चिम में यह धारणा इतनी बद्धमूल है कि कला-समीक्षा की आवश्यकता अनुभव करने वाले विचारकों ने कला के संपूर्ण पक्षों पर विचार करने की सुविधा के लिए सौन्दर्यशास्त्र के पूरक रूप में कला-समीक्षा को एक पृथक् शास्त्र के रूप में निर्मित करके सौन्दर्यशास्त्र के साथ संबद्ध कर दिया। स्वयं जर्नल आफ एस्थेटिक्स एण्ड आर्ट क्रिटिसिज्म नामक पत्रिका को संज्ञा ही इस प्रवृत्ति की सूचक है और संभवतः इसी विचारधारा की पुष्टि के लिए जेरोम स्टोलनित्ज ने अपनी कला विषयक पुस्तक का नाम एस्थेटिक्स एण्ड फिलासफी आफ आर्ट क्रिटिसिज्म रखा। इन दोनों उदाहरणों से स्पष्ट है कि सौन्दर्यशास्त्र की परिसीमा में भी कला समीक्षा समाविष्ट नहीं है और इस प्रकार सौन्दर्यशास्त्र मूल्यांकनरहित कलास्वाद तक ही अपने को सीमित रखता है।

किन्तु इस स्थिति में अन्तर्निहित असंगति बहुत दिनों तक विचारकों से अलक्षित न रह सकी और व्यापक रूप में यह अनुभव किया गया कि व्यवहार में मूल्यांकनरहित आस्वाद की स्थिति असंभव है और यदि सौन्दर्यशास्त्रीय सिद्धान्तों से कलाकृति को समझने अथवा आस्वाद लेने में सहायता नहीं मिलती तो वे सिद्धान्त बुद्धि विलास मात्र हैं। असंगति के इस बोध ने आस्वाद और मूल्यांकन की अन्योन्याश्रयता की ओर ध्यान आकृष्ट किया और आस्वाद प्रक्रिया के बीच से उत्पन्न होनेवाले मूल्य बोध एवं आलोचनात्मक विवेक के अन्वेषण का प्रयास किया गया। पाश्चात्य सौन्दर्यशास्त्र का तत्संबंधी प्रयास संभवतः रस सिद्धान्त के शास्त्रीय रूप में निहित मूल्यांकन विधि को आलोकित करने में उपयोगी हो सकता है इसलिए आरंभ में सौन्दर्यशास्त्रीय मान्यताओं का संक्षिप्त आकलन अप्रासंगिक न होगा।

सौन्दर्यशास्त्र में सौन्दर्यानुभूति अथवा कलानुभूति का जो विवरण दिया जाता है उसमें प्रायः आलोचनात्मक वृत्ति तथा मूल्यांकन का उल्लेख नहीं होता क्योंकि अक्सर इन दोनों वृत्तियों को भिन्न समझा जाता है। कलानुभूति चित्त की ऐसी वृत्ति है जिसमें हम कलाकृति को अपने-आप में पर्याप्त और पूर्ण मानकर स्वीकार करते हैं और यथाशक्ति उसका आस्वादन करते हैं। आस्वाद की अवधि में ग्राहक से किसी प्रश्न की अपेक्षा नहीं की जाती। कलानुभूति मुख्यतः सहानुभूतिपरक व्यापार है जिसकी तुलना प्रेम से की गई है। इसमें ग्राहक कलाकृति को उसकी अपनी शर्तों पर स्वीकार करने के लिए बाध्य है क्योंकि कलाकृति मूलतः आस्वाद का विषय है। जैसा कि ड्यूई ने कहा है ग्राहक की रुचि केवल अनुभव प्राप्त करने में होती है।[1] क्योंकि कला एक अनुभव है इसलिए कुछ कलाकार और कलाशास्त्री कला समीक्षा और मूल्यांकन को सर्वथा अनावश्यक ही नहीं बल्कि कलानुभूति के मार्ग में बाधक मानते हैं।

निस्संदेह कलाकृति के रूप में जो कुछ तत्काल प्रस्तुत है उसे ग्रहण करना कलानु

कुल मिलाकर रस-सिद्धान्त की समस्त अवधारणाओं का वैशिष्ट्य उनकी परंपरा-संवद्ध एवं सुसंगत व्यवस्था-प्रणाली में है। प्रायः प्रत्येक अवधारणा एक ही साथ कवि-काव्य-सहृदय द्वारा निर्मित त्रिक के एक-एक विन्दु को क्रमशः स्पर्श करते हुए अन्ततः संपूर्ण काव्य तत्त्व को परिवेष्ठित कर लेती है। उदाहरण के लिए 'रस', 'साधारणीकरण', 'प्रतिभा' आदि में से कोई भी अवधारणा प्रस्तुत की जा सकती है। इससे काव्य की अखंडता के साथ ही काव्य के सभी तत्त्वों की परस्पर-संवद्धता का सहज ही वोध होता है। पाश्चात्य सौन्दर्य-शास्त्र के विवाद-संकुल स्वरूप को देखते हुए रस-सिद्धान्त की यह सुसंगत व्यवस्था-प्रणाली स्वभावतः अधिक स्पृहणीय प्रतीत होती है।

सैद्धान्तिक स्तर पर रस-सिद्धान्त और सौन्दर्यशास्त्र के पारस्परिक संवंधों का सिंहावलोकन करने के उपरान्त व्यावहारिक स्तर पर काव्य एवं कला के मूल्यांकन के संदर्भ में उनकी उपयोगिता का परीक्षण आवश्यक है।

जहाँ तक रस-सिद्धान्त की व्यावहारिक उपयोगिता का प्रश्न है, उसके विषय में कुछ विद्वानों ने संदेह व्यक्त किया है। उनके मत से रस-सिद्धान्त अपने शास्त्र-सम्मत रूप में काव्य के आस्वाद तक ही सीमित है; इसलिए उसे काव्य के मूल्यांकन में समर्थ मानना पूर्णतः संगत नहीं है। इस मत की युक्तियाँ कुछ-कुछ इस प्रकार की हैं : आस्वाद और मूल्यांकन में भिन्नता होती है। रसास्वाद में एकान्ततः आत्मपरक दृष्टि होती है। अपनी ही अस्मिता का भोग अधिक होता है, परन्तु मूल्यांकन में वस्तुपरक दृष्टि अधिक होती है। रसास्वाद में अनुकूल तत्त्वों के आस्वाद पर ही दृष्टि अधिक केन्द्रित रहती है, जवकि मूल्यांकन में अनुकूल एव प्रतिकूल दोनों ही तत्त्वों का ग्रहण प्रायः अपेक्षित होता है। रसा-स्वाद में आस्वाद्य वस्तु के विश्लेपण के लिए अवकाश ही नहीं होता, जबकि मूल्यांकन में उसका विश्लेपण ही प्रमुख स्थान ग्रहण करता है। रसास्वाद में सापेक्षिक दृष्टि का अभाव होता है और मूल्यांकन में सापेक्षिक एवं तुलनात्मक दृष्टि को प्रायः प्रश्रय मिलता है। रसा-स्वाद में एकान्ततः 'आस्था' अपेक्षित होती है, जवकि मूल्यांकन में 'सद्-असद्-विवेक' अधिक सहायक होता है।[१]

इस आरोप के निराकरण के लिए आधुनिक युग में ऐसे भी प्रयास हुए हैं, जिनमें रस-सिद्धान्त का विस्तार काव्य-सृजन तथा आस्वादन के साथ ही मूल्यांकन-प्रक्रिया तक कर दिया गया है; किन्तु इस पर भी आपत्ति करते हुए यह कहा गया है कि रस-तत्त्व को काव्य की निर्मिति, आस्वादन और मूल्यांकन प्रक्रियाओं से संवद्ध कर देने से उसकी व्यापकता और सार्वभौमिकता तो संभवतः सिद्ध हो जाएगी, परन्तु रस-तत्त्व की यह व्यापकता, व्यापकता के लिए ही वनी रहेगी, व्यावहारिक दृष्टि से इसकी उपयोगिता कुछ सीमित ही रहेगी।[२]

विचित्र सयोग है कि मूल्यांकन की दृष्टि से जिन आधारो पर रस-सिद्धान्त की सीमा की ओर संकेत किया गया है, लगभग उन्हीं आधारों पर सौन्दर्यशास्त्र की सीमा से भी कला-समीक्षा को वाह्य कहा गया है। तालसताय जैसे विचारक ने तो कला-समीक्षा को

---

[१] आलोचना ३३, जून १९६५

[२] वही

करता है। तात्पर्य यह कि साधारणीकरण व्यापार काव्यानुभूति की प्रक्रिया संबंधी विविध निषेधात्मक एवं विधेयात्मक क्रियाओं का अद्भुत समंजन है। इस काव्यशास्त्रीय अवधारणा की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसकी परिसीमा में एक ही साथ काव्यानुभूति की प्रक्रिया से संबद्ध कवि, काव्य एवं सहृदय—तीनों पक्षों के रूपान्तरण का विधान है। कहना न होगा कि विश्व सौन्दर्यशास्त्र की चिन्तन-प्रणाली इस भारतीय अवधारणा को स्वीकार करके निश्चित रूप से समृद्ध हो सकती है।

काव्यानुभूति के स्वरूप और प्रक्रिया पर विचार करने के साथ ही रस-सिद्धान्त ने उस अनुभूति के प्रमाण के रूप में 'प्रमाता' अथवा 'सहृदय' पर भी विचार किया है, क्योंकि अनन्त काव्यानुभूति का एक मूल प्रतिमान आवश्यक है। पाश्चात्य सौन्दर्यशास्त्र में इस कार्य के लिए 'आदर्श पाठक' अथवा 'आदर्श प्रेक्षक' का विधान किया गया है, किन्तु 'आदर्श पाठक' का रूप इतना अनिश्चित, अस्पष्ट एवं गौण है कि उसे देखते हुए रस-सिद्धान्त द्वारा निर्धारित 'सहृदय' संबंधी परिकल्पना कहीं अधिक स्पृहणीय प्रतीत होती है। यदि सहृदय-विषयक मान्यता में से पूर्वजन्म संबंधी बातें निकाल दी जाएँ तो अपने परिष्कृत रूप में 'सहृदय' आज भी काव्यानुभूति का प्रमाता स्वीकार किया जा सकता है।

काव्यकृति की स्वरूप-व्याख्या के संदर्भ में रस-सिद्धान्त की मुख्य अवधारणा है—ध्वनि अथवा व्यंजना। इसके द्वारा संस्कृत आचार्यों ने काव्य भाषा की वास्तविक प्रकृति का निरूपण किया है। ध्वनि या व्यंजना को अंग्रेज़ी में 'सजेशन' शब्द के द्वारा समझाने का प्रयास किया गया है, किन्तु तुलनात्मक सौन्दर्यशास्त्र की दिशा में कार्य करनेवाले विद्वानों ने सप्रमाण यह सिद्ध कर दिखाया कि व्यंजना-व्यापार का एक पक्ष वह भी है, जिसे संस्कृत काव्यशास्त्र में 'भावकत्व' अथवा विभावन-व्यापार की अभिधा दी गई है और अंग्रेज़ी में टी० एस० इलियट का अनुसरण करते हुए 'ऑब्जेक्टिव कोरिलेटिव' कहा जाता है। निस्संदेह पाश्चात्य सौन्दर्यशास्त्र अपनी वस्तुनिष्ठ दृष्टि की प्रधानता के कारण काव्य के घटक विविध तत्त्वों एवं काव्य-भाषा के स्वरूप पर विशेष विचार करने के लिए विख्यात है, किन्तु रस-सिद्धान्त में गृहीत व्यंजना व्यापार काव्य भाषा संबंधी शास्त्रीय मीमांसा का कहीं अधिक समर्थ सिद्धान्त है। संभवतः रिचर्ड्स द्वारा स्थापित भाषा का भावात्मक प्रयोग (इमोटिव यूज ऑफ लैंग्वेज) का सही अर्थ व्यंजना व्यापार के आलोक में ही उद्घाटित हो सकता है।

काव्य सृजन के संदर्भ में प्रायः पाश्चात्य सौन्दर्यशास्त्र रस-सिद्धान्त से अधिक विकसित एवं समृद्ध माना जाता है, जो एक सीमा तक ठीक भी है, किन्तु इस क्षेत्र में भी भारतीय आचार्यों द्वारा निरूपित 'प्रतिभा' सर्वथा उपेक्षणीय नहीं है। 'प्रतिभा' की परिकल्पना की विशेषता यह है कि एक ओर इसमें 'कल्पना' एवं 'सहजानुभूति' दोनों का समावेश हो जाता है तो दूसरी ओर वह अपने कारक रूप में कविगत शक्ति तथा भावक रूप में सहृदयगत सामर्थ्य—दोनों पक्षों को एक ही अवधारणा के अन्तर्गत सन्निविष्ट कर लेती है, और इस प्रकार कवि-सहृदय के बीच निहित अविच्छिन्न अन्योन्याश्रय संबंध को अनायास ही व्यक्त कर देती है। इसके अतिरिक्त संस्कृत आचार्यों ने प्रतिभा के द्वारा काव्य-सृजन में कवि-कर्तृत्व की निर्वैयक्तिक वैयक्तिकता का भी समाधान प्राप्त कर लिया था और साथ-साथ काव्य की सृजन-प्रक्रिया की सचेतनता-अचेतनता का सही अनुपात भी निर्धारित कर दिया था।

कुल मिलाकर रस-सिद्धान्त की समस्त अवधारणाओं का वैशिष्ट्य उनकी परंपरा-संवद्ध एवं सुसंगत व्यवस्था-प्रणाली में है। प्रायः प्रत्येक अवधारणा एक ही साथ कवि-काव्य-सहृदय द्वारा निर्मित त्रिक के एक-एक विन्दु को क्रमशः स्पर्श करते हुए अन्ततः संपूर्ण काव्य तत्त्व को परिवेष्ठित कर लेती है। उदाहरण के लिए 'रस', 'साधारणीकरण', 'प्रतिभा' आदि में से कोई भी अवधारणा प्रस्तुत की जा सकती है। इससे काव्य की अखंडता के साथ ही काव्य के सभी तत्त्वों की परस्पर-सवद्धता का सहज ही बोध होता है। पाश्चात्य सौन्दर्य-शास्त्र के विवाद-संकुल स्वरूप को देखते हुए रस-सिद्धान्त की यह सुसंगत व्यवस्था-प्रणाली स्वभावतः अधिक स्पृहणीय प्रतीत होती है।

सैद्धान्तिक स्तर पर रस-सिद्धान्त और सौन्दर्यशास्त्र के पारस्परिक संबंधों का सिंहावलोकन करने के उपरान्त व्यावहारिक स्तर पर काव्य एवं कला के मूल्यांकन के संदर्भ मे उनकी उपयोगिता का परीक्षण आवश्यक है।

जहाँ तक रस-सिद्धान्त की व्यावहारिक उपयोगिता का प्रश्न है, उसके विषय में कुछ विद्वानो ने संदेह व्यक्त किया है। उनके मत से रस-सिद्धान्त अपने शास्त्र-सम्मत रूप में काव्य के आस्वाद तक ही सीमित है; इसलिए उसे काव्य के मूल्याकन मे समर्थ मानना पूर्णतः संगत नही है। इस मत की युक्तियाँ कुछ-कुछ इस प्रकार की हैं : आस्वाद और मूल्यांकन में भिन्नता होती है। रसास्वाद में एकान्ततः आत्मपरक दृष्टि होती है। अपनी ही अस्मिता का भोग अधिक होता है, परन्तु मूल्याकन में वस्तुपरक दृष्टि अधिक होती है। रसास्वाद मे अनुकूल तत्त्वों के आस्वाद पर ही दृष्टि अधिक केन्द्रित रहती है, जबकि मूल्यांकन में अनुकूल एवं प्रतिकूल दोनों ही तत्त्वों का ग्रहण प्रायः अपेक्षित होता है। रसा-स्वाद में आस्वाद्य वस्तु के विश्लेषण के लिए अवकाश ही नही होता, जबकि मूल्याकन मे उसका विश्लेषण ही प्रमुख स्थान ग्रहण करता है। रसास्वाद में सापेक्षिक दृष्टि का अभाव होता है और मूल्याकन में सापेक्षिक एवं तुलनात्मक दृष्टि को प्रायः प्रश्रय मिलता है। रसा-स्वाद में एकान्ततः 'आस्था' अपेक्षित होती है, जबकि मूल्यांकन में 'सद्-असद्-विवेक' अधिक सहायक होता है।[१]

इस आरोप के निराकरण के लिए आधुनिक युग में ऐसे भी प्रयास हुए है, जिनमें रस-सिद्धान्त का विस्तार काव्य-सृजन तथा आस्वादन के साथ ही मूल्यांकन-प्रक्रिया तक कर दिया गया है; किन्तु इस पर भी आपत्ति करते हुए यह कहा गया है कि रस-तत्त्व को काव्य की निर्मिति, आस्वादन और मूल्यांकन प्रक्रियाओं से संबद्ध कर देने से उसकी व्यापकता और सार्वभौमिकता तो संभवतः सिद्ध हो जाएगी, परन्तु रस-तत्त्व की यह व्यापकता, व्यापकता के लिए ही बनी रहेगी, व्यावहारिक दृष्टि से इसकी उपयोगिता कुछ सीमित ही रहेगी।[२]

विचित्र संयोग है कि मूल्यांकन की दृष्टि से जिन आधारों पर रस-सिद्धान्त की सीमा की ओर संकेत किया गया है, लगभग उन्हीं आधारों पर सौन्दर्यशास्त्र की सीमा से भी कला-समीक्षा को बाह्य कहा गया है। तालसताय जैसे विचारक ने तो कला-समीक्षा को

---

[१] आलोचना ३३, जून १९६५

[२] वही

करता है। तात्पर्य यह कि साधारणीकरण व्यापार काव्यानुभूति की प्रक्रिया संबंधी विविध निषेधात्मक एवं विधेयात्मक क्रियाओं का अद्भुत समंजन है। इस काव्यशास्त्रीय अवधारणा की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसकी परिसीमा में एक ही साथ काव्यानुभूति की प्रक्रिया से संबद्ध कवि, काव्य एवं सहृदय—तीनों पक्षों के रूपान्तरण का विधान है। कहना न होगा कि विश्व सौन्दर्यशास्त्र की चिन्तन-प्रणाली इस भारतीय अवधारणा का स्वीकार करके निश्चित रूप से समृद्ध हो सकती है।

काव्यानुभूति के स्वरूप और प्रक्रिया पर विचार करने के साथ ही रस सिद्धान्त ने उस अनुभूति के प्रमाण के रूप में 'प्रमाता' अथवा 'सहृदय' पर भी विचार किया है, क्योंकि अंततः काव्यानुभूति का एक मूर्त प्रतिमान आवश्यक है। पाश्चात्य सौन्दर्यशास्त्र में इस कार्य के लिए 'आदर्श पाठक' अथवा 'आदर्श प्रेक्षक' का विधान किया गया है, किन्तु 'आदर्श पाठक' का रूप इतना अनिश्चित, अस्पष्ट एवं गौण है कि उसे देखते हुए रस-सिद्धान्त द्वारा निर्धारित 'सहृदय' संबंधी परिकल्पना कहीं अधिक स्पृहणीय प्रतीत होती है। यदि सहृदय-विषयक मान्यता में से पूर्वजन्म संबंधी बातें निकाल दी जाएँ तो अपने परिष्कृत रूप में 'सहृदय' आज भी काव्यानुभूति का प्रमाता स्वीकार किया जा सकता है।

काव्यकृति की स्वरूप-व्याख्या के संदर्भ में रस सिद्धान्त की मुख्य अवधारणा है—ध्वनि अथवा व्यंजना। इसके द्वारा संस्कृत आचार्यों ने काव्य भाषा की वास्तविक प्रकृति का निरूपण किया है। ध्वनि या व्यंजना को अंग्रेजी में 'सजेशन' शब्द के द्वारा समझाने का प्रयास किया गया है, किन्तु तुलनात्मक सौन्दर्यशास्त्र की दिशा में कार्य करनेवाले विद्वानों ने सप्रमाण यह सिद्ध कर दिखाया कि व्यंजना-व्यापार का एक पक्ष वह भी है, जिसे संस्कृत काव्यशास्त्र में 'भावकत्व' अथवा विभावन-व्यापार की अभिधा दी गई है और अंग्रेज़ी में टी० एस० इलियट का अनुसरण करते हुए 'ऑब्जेक्टिव कोरिलेटिव' कहा जाता है। निस्संदेह पाश्चात्य सौन्दर्यशास्त्र अपनी वस्तुनिष्ठ दृष्टि की प्रधानता के कारण काव्य के घटक विविध तत्त्वों एवं काव्य भाषा के स्वरूप पर विशेष विचार करने के लिए विख्यात है, किन्तु रस-सिद्धान्त में गृहीत व्यंजना-व्यापार काव्य-भाषा संबंधी शास्त्रीय मीमांसा का कहीं अधिक समर्थ सिद्धान्त है। संभवतः रिचर्ड्स द्वारा स्थापित भाषा का भावात्मक प्रयोग (इमोटिव यूज ऑफ लैंग्वेज) का सही अर्थ व्यंजना व्यापार के आलोक में ही उद्घाटित हो सकता है।

काव्य सृजन के संदर्भ में प्रायः पाश्चात्य सौन्दर्यशास्त्र रस-सिद्धान्त से अधिक विकसित एवं समृद्ध माना जाता है, जो एक सीमा तक ठीक भी है, किन्तु इस क्षेत्र में भी भारतीय आचार्यों द्वारा निरूपित 'प्रतिभा' सर्वथा उपेक्षणीय नहीं है। 'प्रतिभा' की परिकल्पना की विशेषता यह है कि एक ओर इसमें 'कल्पना' एवं 'सहजानुभूति' दोनों का समावेश हो जाता है तो दूसरी ओर वह अपने कारक रूप में कविगत शक्ति तथा भावक रूप में सहृदयगत सामर्थ्य—दोनों पक्षों को एक ही अवधारणा के अन्तर्गत सन्निविष्ट कर लेती है, और इस प्रकार कवि-सहृदय के बीच निहित अविच्छिन्न अन्योन्याश्रय संबंध को अनायास ही व्यक्त कर देती है। इसके अतिरिक्त संस्कृत आचार्यों ने प्रतिभा के द्वारा काव्य-सृजन में कवि-कर्तृत्व की निर्वैयक्तिक वैयक्तिकता का भी समाधान प्राप्त कर लिया था और साथ-साथ काव्य की सृजन प्रक्रिया की सचेतनता-अचेतनता का सही अनुपात भी निर्धारित कर दिया था।

कुल मिलाकर रस-सिद्धान्त की समस्त अवधारणाओ का वैशिष्ट्य उनकी परंपरा-संबद्ध एवं सुसगत व्यवस्था-प्रणाली में है। प्रायः प्रत्येक अवधारणा एक ही साथ कवि-काव्य-सहृदय द्वारा निर्मित त्रिक के एक-एक बिन्दु को क्रमशः स्पर्श करते हुए अन्ततः सपूर्ण काव्य तत्त्व को परिवेष्ठित कर लेती है। उदाहरण के लिए 'रस', 'साधारणीकरण', 'प्रतिभा' आदि मे से कोई भी अवधारणा प्रस्तुत की जा सकती है। इससे काव्य की अखडता के साथ ही काव्य के सभी तत्त्वों की परस्पर-सबद्धता का सहज ही बोध होता है। पाश्चात्य सौन्दर्य-शास्त्र के विवाद-संकुल स्वरूप को देखते हुए रस-सिद्धान्त की यह सुसंगत व्यवस्था-प्रणाली स्वभावतः अधिक स्पृहणीय प्रतीत होती है।

सैद्धान्तिक स्तर पर रस-सिद्धान्त और सौन्दर्यशास्त्र के पारस्परिक संबधो का सिंहावलोकन करने के उपरान्त व्यावहारिक स्तर पर काव्य एवं कला के मूल्याकन के संदर्भ मे उनकी उपयोगिता का परीक्षण आवश्यक है।

जहाँ तक रस-सिद्धान्त की व्यावहारिक उपयोगिता का प्रश्न है, उसके विषय मे कुछ विद्वानो ने संदेह व्यक्त किया है। उनके मत से रस-सिद्धान्त अपने शास्त्र-सम्मत रूप में काव्य के आस्वाद तक ही सीमित है; इसलिए उसे काव्य के मूल्याकन मे समर्थ मानना पूर्णत. संगत नही है। इस मत की युक्तियाँ कुछ-कुछ इस प्रकार की है: आस्वाद और मूल्याकन मे भिन्नता होती है। रसास्वाद में एकान्ततः आत्मपरक दृष्टि होती है। अपनी ही अस्मिता का भोग अधिक होता है, परन्तु मूल्याकन मे वस्तुपरक दृष्टि अधिक होती हे। रसास्वाद मे अनुकूल तत्त्वो के आस्वाद पर ही दृष्टि अधिक केन्द्रित रहती है, जबकि मूल्यांकन मे अनुकूल एव प्रतिकूल दोनो ही तत्त्वो का ग्रहण प्रायः अपेक्षित होता है। रसा-स्वाद में आस्वाद्य वस्तु के विश्लेपण के लिए अवकाश ही नही होता, जबकि मूल्याकन मे उसका विश्लेपण ही प्रमुख स्थान ग्रहण करता है। रसास्वाद मे सापेक्षिक दृष्टि का अभाव होता है और मूल्याकन मे सापेक्षिक एवं तुलनात्मक दृष्टि को प्रायः प्रश्रय मिलता है। रसा-स्वाद मे एकान्ततः 'आस्था' अपेक्षित होती है, जबकि मूल्याकन मे 'सद्-असद्-विवेक' अधिक सहायक होता है।[१]

इस आरोप के निराकरण के लिए आधुनिक युग में ऐसे भी प्रयास हुए है, जिनमे रस-सिद्धान्त का विस्तार काव्य-सृजन तथा आस्वादन के साथ ही मूल्याकन-प्रक्रिया तक कर दिया गया है; किन्तु इस पर भी आपत्ति करते हुए यह कहा गया है कि रस-तत्त्व को काव्य की निर्मिति, आस्वादन और मूल्याकन प्रक्रियाओं से संबद्ध कर देने से उसकी व्यापकता और सार्वभौमिकता तो संभवतः सिद्ध हो जाएगी, परन्तु रस-तत्त्व की यह व्यापकता, व्यापकता के लिए ही बनी रहेगी, व्यावहारिक दृष्टि से इसकी उपयोगिता कुछ सीमित ही रहेगी।[२]

विचित्र संयोग है कि मूल्याकन की दृष्टि से जिन आधारो पर रस-सिद्धान्त की सीमा की ओर संकेत किया गया है, लगभग उन्ही आधारों पर सौन्दर्यशास्त्र की सीमा से भी कला-समीक्षा को वाह्य कहा गया है। तालसताय जैसे विचारक ने तो कला-समीक्षा को

---

[१] आलोचना ३३, जून १९६५

[२] वही

करता है। तात्पर्य यह कि साधारणीकरण व्यापार काव्यानुभूति की प्रक्रिया संबंधी विविध निषेधात्मक एवं विधेयात्मक क्रियाओं का अद्भुत समंजन है। इस काव्यशास्त्रीय अवधारणा की सबसे बडी विशेषता यह है कि इसकी परिसीमा में एक ही साथ काव्यानुभूति की प्रक्रिया से संबद्ध कवि काव्य एवं सहृदय—तीनों पक्षों के रूपान्तरण का विधान है। कहना न होगा कि विश्व सौंदयशास्त्र की चिन्तन प्रणाली इस भारतीय अवधारणा का स्वीकार करके निश्चित रूप से समृद्ध हो सकता है।

काव्यानुभूति के स्वरूप और प्रक्रिया पर विचार करने के साथ ही रस सिद्धांत ने उस अनुभूति के प्रमाण के रूप में प्रमाता अथवा सहृदय पर भी विचार किया है, क्योंकि अंततः काव्यानुभूति का एक मूर्त प्रतिमान आवश्यक है। पाश्चात्य सौंदयशास्त्र में इस कार्य के लिए आदर्श पाठक अथवा आदर्श प्रेक्षक का विधान किया गया है किन्तु आदर्श पाठक का रूप इतना अनिश्चित अस्पष्ट एवं गौण है कि उसे देखते हुए रस सिद्धान्त द्वारा निर्धारित सहृदय संबंधी परिकल्पना कहीं अधिक स्पृहणीय प्रतीत होता है। यदि सहृदय विषयक मान्यता में से पूर्वजन्म संबंधी बातें निकाल दी जाएँ तो अपने परिष्कृत रूप में सहृदय आज भी काव्यानुभूति का प्रमाता स्वीकार किया जा सकता है।

काव्यकृति की स्वरूप-व्याख्या के संदर्भ में रस सिद्धान्त की मुख्य अवधारणा है—ध्वनि अथवा व्यंजना। इसके द्वारा संस्कृत आचार्यों ने काव्य भाषा की वास्तविक प्रकृति का निरूपण किया है। ध्वनि या व्यंजना को अंग्रेजी में सजेशन शब्द के द्वारा समझाने का प्रयास किया गया है किन्तु तुलनात्मक सौन्दयशास्त्र की दिशा में कार्य करनेवाले विद्वानों ने सप्रमाण यह सिद्ध कर दिखाया कि व्यंजना-व्यापार का एक पक्ष वह भी है जिसे संस्कृत काव्यशास्त्र में भावकत्व अथवा विभावन-व्यापार की अभिधा दी गई है और अंग्रेजी में टी० एस० इलियट का अनुसरण करते हुए आब्जेक्टिव कोरिलेटिव कहा जाता है। निस्संदेह पाश्चात्य सौन्दयशास्त्र अपनी वस्तुनिष्ठ दृष्टि की प्रधानता के कारण काव्य के घटक विविध तत्वों एवं काव्य भाषा के स्वरूप पर विशेष विचार करने के लिए विख्यात है किन्तु रस सिद्धान्त में गृहीत व्यंजना व्यापार काव्य भाषा संबंधी शास्त्रीय मीमांसा का कहीं अधिक समर्थ सिद्धान्त है। संभवतः रिचर्ड्स द्वारा स्थापित भाषा का भावात्मक प्रयोग (इमोटिव यूज आफ लैंग्वेज) का सही अर्थ व्यंजना व्यापार के आलोक में ही उद्‌घाटित हो सकता है।

काव्य-सृजन के संदर्भ में प्रायः पाश्चात्य सौन्दयशास्त्र रस सिद्धान्त से अधिक विकसित एवं समृद्ध माना जाता है जो एक सीमा तक ठीक भी है किन्तु इस क्षेत्र में भी भारतीय आचार्यों द्वारा निरूपित प्रतिभा सर्वथा उपेक्षणीय नहीं है। प्रतिभा की परिकल्पना की विशेषता यह है कि एक ओर इसमें कल्पना एवं सहजानुभूति दोनों का समावेश हो जाता है तो दूसरी ओर यह अपने कारक रूप में कविगत शक्ति तथा भावक रूप में सहृदयगत सामर्थ्य—दोनों पक्षों को एक ही अवधारणा के अंतर्गत सन्निविष्ट कर लेती है और इस प्रकार कवि-सहृदय के बीच निहित अविच्छिन्न अन्योन्याश्रय संबंध को अनायास ही व्यक्त कर देता है। इसके अतिरिक्त संस्कृत आचार्यों ने प्रतिभा के द्वारा काव्य-सृजन में कवि-कर्तृत्व की निर्वैयक्तिक वैयक्तिकता का भी समाधान प्राप्त कर लिया था और साथ-साथ काव्य की सृजन प्रक्रिया की सचेतनता अचेतनता का सही अनुपात भी निर्धारित कर दिया था।

कुल मिलाकर रस-सिद्धान्त की समस्त अवधारणाओ का वैशिष्ट्य उनकी परंपरा-संबद्ध एवं सुसंगत व्यवस्था-प्रणाली मे है। प्रायः प्रत्येक अवधारणा एक ही साथ कवि-काव्य-सहृदय द्वारा निर्मित त्रिक के एक-एक विन्दु को क्रमशः स्पर्श करते हुए अन्ततः संपूर्ण काव्य तत्त्व को परिवेष्ठित कर लेती है। उदाहरण के लिए 'रस', 'साधारणीकरण', 'प्रतिभा' आदि मे से कोई भी अवधारणा प्रस्तुत की जा सकती है। इससे काव्य की अखडता के साथ ही काव्य के सभी तत्त्वों की परस्पर-संबद्धता का सहज ही वोध होता है। पाश्चात्य सौन्दर्य-शास्त्र के विवाद-सकुल स्वरूप को देखते हुए रस-सिद्धान्त की यह सुसंगत व्यवस्था-प्रणाली स्वभावतः अधिक स्पृहणीय प्रतीत होती है।

सैद्धान्तिक स्तर पर रस-सिद्धान्त और सौन्दर्यशास्त्र के पारस्परिक संबंधों का सिंहावलोकन करने के उपरान्त व्यावहारिक स्तर पर काव्य एवं कला के मूल्याकन के सदर्भ मे उनकी उपयोगिता का परीक्षण आवश्यक है।

जहाँ तक रस-सिद्धान्त की व्यावहारिक उपयोगिता का प्रश्न है, उसके विषय मे कुछ विद्वानो ने संदेह व्यक्त किया है। उनके मत से रस-सिद्धान्त अपने शास्त्र-सम्मत रूप में काव्य के आस्वाद तक ही सीमित है; इसलिए उसे काव्य के मूल्याकन मे समर्थ मानना पूर्णतः संगत नही है। इस मत की युक्तियाँ कुछ-कुछ इस प्रकार की है: आस्वाद और मूल्याकन में भिन्नता होती है। रसास्वाद में एकान्ततः आत्मपरक दृष्टि होती है। अपनी ही अस्मिता का भोग अधिक होता है, परन्तु मूल्याकन मे वस्तुपरक दृष्टि अधिक होती है। रसास्वाद मे अनुकूल तत्त्वो के आस्वाद पर ही दृष्टि अधिक केन्द्रित रहती है, जबकि मूल्याकन मे अनुकूल एवं प्रतिकूल दोनों ही तत्त्वो का ग्रहण प्रायः अपेक्षित होता है। रसास्वाद मे आस्वाद्य वस्तु के विश्लेषण के लिए अवकाश ही नही होता, जवकि मूल्याकन मे उसका विश्लेषण ही प्रमुख स्थान ग्रहण करता है। रसास्वाद मे सापेक्षिक दृष्टि का अभाव होता है और मूल्याकन में सापेक्षिक एवं तुलनात्मक दृष्टि को प्रायः प्रश्रय मिलता है। रसास्वाद मे एकान्ततः 'आस्था' अपेक्षित होती है, जवकि मूल्याकन मे 'सद्-असद्-विवेक' अधिक सहायक होता है।[1]

इस आरोप के निराकरण के लिए आधुनिक युग मे ऐसे भी प्रयास हुए है, जिनमे रस-सिद्धान्त का विस्तार काव्य-सृजन तथा आस्वादन के साथ ही मूल्याकन-प्रक्रिया तक कर दिया गया है, किन्तु इस पर भी आपत्ति करते हुए यह कहा गया है कि रस-तत्त्व को काव्य की निर्मिति, आस्वादन और मूल्याकन प्रक्रियाओं से संबद्ध कर देने से उसकी व्यापकता और सार्वभौमिकता तो सभवतः सिद्ध हो जाएगी, परन्तु रस-तत्त्व की यह व्यापकता, व्यापकता के लिए ही बनी रहेगी, व्यावहारिक दृष्टि से इसकी उपयोगिता कुछ सीमित ही रहेगी।[2]

विचित्र सयोग है कि मूल्यांकन की दृष्टि से जिन आधारो पर रस-सिद्धान्त की सीमा की ओर संकेत किया गया है, लगभग उन्ही आधारों पर सौन्दर्यशास्त्र की सीमा से भी कला-समीक्षा को वाह्य कहा गया है। तालसताय जैसे विचारक ने तो कला-समीक्षा को

---

[1] आलोचना ३३, जून १९६५

[2] वही